एम.ए. पूर्वार्द्ध
राजनीति विज्ञान, चतुर्थ प्रश्नपत्र

लोक प्रशासन

(PUBLIC ADMINISTRATION)

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल
MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY - BHOPAL

Reviewer Committee

1. Dr. Akhilesh Sharma
   Professor, OSD
   RUSA, Bhopal (M.P.)

2. Dr. Bhavana Bhadoria
   Professor
   Govt. Hamidia College, Bhopal (M.P.)

3. Dr. Dhananjay Verma
   Professor
   Govt. MLB College, Bhopal (M.P.)

Advisory Committee

1. Dr Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

2. Dr L.S.Solanki
   Registrar
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

3. Dr L.P. Jharia
   Director DME
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

4. Dr. Akhilesh Sharma
   Professor, OSD
   RUSA, Bhopal (M.P.)

5. Dr. Bhavana Bhadoria
   Professor
   Govt. Hamidia College, Bhopal (M.P.)

6. Dr. Dhananjay Verma
   Professor
   Govt. MLB College, Bhopal (M.P.)

COURSE WRITERS

Prof. Arun Kumar Gupta, Principal, Sri Varshney College, Aligarh
Units (1.2-1.2.3, 1.4, 2.2-2.2.3, 2.3-2.5, 3.3-3.3.1, 3.4, 3.4.2, 3.8, 4.3, 5.2-5.4, 5.6-5.7)
Dr. Kirti Agrawal, Director and Chairperson, Smt. Vimla Devi Education Society
Units (3.2-3.2.4, 3.3.2, 3.4.1, 3.5-3.6, 3.7-3.7.3)
Amitabh Chaudhary, Former Faculty MAHALAXMI GROUP OF INSTITUTIONS, MEERUT
Units (3.9, 4.5-4.7)
Kalpana Agarwal, Lecturer, Department of Political Science, GDM (PG) Girls College, Modinagar, Ghaziabad
Units (1.0-1.1, 1.3, 1.5-1.9, 2.0-2.1, 2.2.4, 2.6-2.12, 3.0-3.1, 3.4.3, 3.7.4, 3.10-3.11, 3.12, 3.13-3.17, 4.0-4.1, 4.2, 4.4.1, 4.8-4.12, 5.0-5.1, 5.5, 5.8-5.12)
Sandia Bhardwaj, Lecturer, Agra University
Units (4.4, 4.4.2)

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

लोक प्रशासन

Syllabi	Mapping in Book
इकाई–1 लोक प्रशासन का अर्थ, प्रकृति एवं क्षेत्र – लोक प्रशासन का अर्थ एवं परिभाषा – लोक प्रशासन की प्रकृति एवं क्षेत्र – लोक प्रशासन का महत्व; लोक प्रशासन के मूल सिद्धांत; लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन	**इकाई 1** : लोक प्रशासन की मूल अवधारणाएं **(पृष्ठ 3–30)**
इकाई–2 संगठन का अर्थ, परिभाषा, समस्याएं, उपागम एवं सिद्धांत – संगठन का अर्थ, परिभाषा एवं समस्याएं – संगठन के उपागम – संगठन के सिद्धांत – संगठन सिद्धांत के व्यावहारिक पहलू; महाप्रबंधन के रूप में मुख्य कार्यकारी; सूत्र (लाइन) और स्टाफ अभिकरण – सूत्र अभिकरण – विभाग; ब्यूरो (मंडल) और आयोग; स्वतंत्र नियामकीय आयोग; क्षेत्रीय सेवाएं	**इकाई 2** : संगठन की सामान्य समस्या और सिद्धांत **(पृष्ठ 31–110)**
इकाई–3 प्रबंधन एवं वैज्ञानिक प्रबंधन : अर्थ, परिभाषा एवं कार्य – प्रबंध का अर्थ एवं परिभाषाएं – प्रबंधन के कार्य – वैज्ञानिक प्रबंधन – वैज्ञानिक प्रबंधन के कार्य; प्रशासन में नीति : निर्माण – लोक नीति निर्धारण का अर्थ – नीति क्रियान्वयन के क्षेत्र; प्रशासनिक नेतृत्व : अधिकार, प्रत्यायोजन, नीति आयोग – अधिकार – प्रत्यायोजन – नीति आयोग; संप्रेषण – संप्रेषण की अवधारणा : अर्थ एवं परिभाषाएं – संप्रेषण की प्रक्रिया; अभिप्रेरणा – अभिप्रेरणा का अर्थ, प्रक्रिया एवं प्रकार – अभिप्रेरणा के प्रकार; नियंत्रण की अवधारणा – नियंत्रण का अर्थ एवं प्रकृति – नियंत्रण की प्रक्रिया – नियंत्रण के उपकरण – पर्यवेक्षण; प्रबंधन में मानवीय संबंध : एल्टन मेथों; सिविल सेवा की भूमिका एवं महत्व; कार्मिक प्रशासन; लोक सेवकों की भर्ती : प्रशिक्षण, पदोन्नति – प्रशिक्षण – पदोन्नति; कर्मचारी या कर्मचारी संघ और यूनियन – श्रमिक संघ : एक परिचय – श्रमिक संघ की आवश्यकता – भारत में श्रमिक संघीकरण – व्यावसायिक संघ के उपयोगिता एवं त्रुटि।	**इकाई 3** : प्रबंधन **(पृष्ठ 111–300)**
इकाई–4 वित्तीय प्रशासन – वित्त प्रशासन का अर्थ, प्रकृति एवं क्षेत्र – वित्तीय प्रशासन की समस्याएं; बजट – संयुक्त राज्य अमेरिका में वित्तीय प्रशासन – भारत में बजट प्रक्रिया – निष्पादन बजट; वित्त मंत्रालय – भारत में संसदीय वित्तीय समितियां – लेखांकन और लेखा परीक्षक; प्रशासनिक विधि – प्रशासनिक विधि का उद्‌गम व विकास – इंग्लैण्ड की स्थिति – अमेरिका की स्थिति – प्रशासनिक विधि की संकल्पना – प्रशासनिक विधि की प्रकृति एवं विस्तार–क्षेत्र – प्रशासनिक विधि का बढ़ता महत्व; प्रशासनिक न्याय निर्णयन – प्रशासनिक न्याय निर्णयन : अर्थ एवं अवधारणा – प्रशासनिक न्यायिक निर्णयण के प्रकार – प्रशासनिक न्यायिक निर्णयन की संवृद्धि के कारण – प्रशासनिक न्याय निर्णयन के गुण एवं दोष; प्रत्यायोजित विधायन – प्रत्यायोजित विधायन का अर्थ – भारत में प्रत्यायोजित विधि का ऐतिहासिक विकास	**इकाई 4** : वित्त प्रशासन **(पृष्ठ 301–400)**

इकाई–5

प्रशासन पर विधायी नियंत्रण; प्रशासन पर कार्यकारी नियंत्रण; प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण; जनसंपर्क; प्रशासनिक सुधार – भारत में प्रशासनिक सुधार – प्रशासनिक सुधार आयोग; लोकपाल – लोकपाल का अर्थ एवं उद्देश्य – संसद में प्रस्तुत विभिन्न लोकपाल विधेयकों की विवेचना – लोकपाल और लोकायुक्त अधिनियम, 2013

इकाई 5 : प्रशासन पर नियंत्रण
(पृष्ठ 401–436)

विषय–सूची

परिचय **1–2**

इकाई 1 लोक प्रशासन की मूल अवधारणाएं **3–30**

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 लोक प्रशासन का अर्थ, प्रकृति एवं क्षेत्र
1.2.1 लोक प्रशासन का अर्थ एवं परिभाषा
1.2.2 लोक प्रशासन की प्रकृति एवं क्षेत्र
1.2.3 लोक प्रशासन का महत्व
1.3 लोक प्रशासन के मूल सिद्धांत
1.4 लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 2 संगठन की सामान्य समस्या और सिद्धांत **31–110**

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 संगठन का अर्थ, परिभाषा, समस्याएं, उपागम एवं सिद्धांत
2.2.1 संगठन का अर्थ, परिभाषा एवं समस्याएं
2.2.2 संगठन के उपागम
2.2.3 संगठन के सिद्धांत
2.2.4 संगठन सिद्धांत के व्यावहारिक पहलू
2.3 महाप्रबंधन के रूप में मुख्य कार्यकारी
2.4 सूत्र (लाइन) और स्टाफ अभिकरण
2.4.1 सूत्र अभिकरण
2.4.2 स्टाफ अभिकरण
2.4.3 विभाग
2.5 ब्यूरो (मंडल) और आयोग
2.6 स्वतंत्र नियामकीय आयोग
2.7 क्षेत्रीय सेवाएं
2.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.9 सारांश
2.10 मुख्य शब्दावली
2.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.12 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 3 प्रबंधन 111–300

3.0 परिचय

3.1 उद्देश्य

3.2 प्रबंधन एवं वैज्ञानिक प्रबंधन : अर्थ, परिभाषा एवं कार्य

- 3.2.1 प्रबंध का अर्थ एवं परिभाषाएं
- 3.2.2 प्रबंधन के कार्य
- 3.2.3 वैज्ञानिक प्रबंधन
- 3.2.4 वैज्ञानिक प्रबंधन के कार्य

3.3 प्रशासन में नीति निर्माण

- 3.3.1 लोक नीति निर्धारण का अर्थ
- 3.3.2 नीति क्रियान्वयन के क्षेत्र

3.4 प्रशासनिक नेतृत्व : अधिकार, प्रत्यायोजन, नीति आयोग

- 3.4.1 अधिकार
- 3.4.2 प्रत्यायोजन
- 3.4.3 नीति आयोग

3.5 संप्रेषण

- 3.5.1 संप्रेषण की अवधारणा : अर्थ एवं परिभाषाएं
- 3.5.2 संप्रेषण की प्रक्रिया

3.6 अभिप्रेरणा

- 3.6.1 अभिप्रेरणा का अर्थ, प्रक्रिया एवं प्रकार
- 3.6.2 अभिप्रेरणा के प्रकार

3.7 नियंत्रण की अवधारणा

- 3.7.1 नियंत्रण का अर्थ एवं प्रकृति
- 3.7.2 नियंत्रण की प्रक्रिया
- 3.7.3 नियंत्रण के उपकरण
- 3.7.4 पर्यवेक्षण

3.8 प्रबंधन में मानवीय संबंध : एल्टन मेयो

3.9 सिविल सेवा की भूमिका एवं महत्व

3.10 कार्मिक प्रशासन

3.11 लोक सेवकों की भर्ती : प्रशिक्षण, पदोन्नति

- 3.11.1 प्रशिक्षण
- 3.11.2 पदोन्नति

3.12 कर्मचारी या कर्मचारी संघ और यूनियन

- 3.12.1 श्रमिक संघ : एक परिचय
- 3.12.2 श्रमिक संघ की आवश्यकता
- 3.12.3 भारत में श्रमिक संघीकरण
- 3.12.4 व्यावसायिक संघ की उपयोगिता एवं त्रुटियां

3.13 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

3.14 सारांश

3.15 मुख्य शब्दावली

3.16 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

3.17 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 4 वित्त प्रशासन **301–400**

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 वित्तीय प्रशासन
4.2.1 वित्त प्रशासन का अर्थ, प्रकृति एवं क्षेत्र
4.2.2 वित्तीय प्रशासन की समस्याएं
4.3 बजट
4.3.1 संयुक्त राज्य अमेरिका में वित्तीय प्रशासन
4.3.2 भारत में बजट प्रक्रिया
4.3.3 निष्पादन बजट
4.4 वित्त मंत्रालय
4.4.1 भारत में संसदीय वित्तीय समितियां
4.4.2 लेखांकन और लेखा परीक्षक
4.5 प्रशासनिक विधि
4.5.1 प्रशासनिक विधि का उद्‌गम व विकास
4.5.2 इंग्लैण्ड की स्थिति
4.5.3 अमेरिका की स्थिति
4.5.4 प्रशासनिक विधि की संकल्पना
4.5.5 प्रशासनिक विधि की प्रकृति एवं विस्तार–क्षेत्र
4.5.6 प्रशासनिक विधि का बढ़ता महत्व
4.6 प्रशासनिक न्याय निर्णयन
4.6.1 प्रशासनिक न्याय निर्णयन : अर्थ एवं अवधारणा
4.6.2 प्रशासनिक न्यायिक निर्णयण के प्रकार
4.6.3 प्रशासनिक न्यायिक निर्णयन की संवृद्धि के कारण
4.6.4 प्रशासनिक न्याय निर्णयन के गुण एवं दोष
4.7 प्रत्यायोजित विधायन
4.7.1 प्रत्यायोजित विधायन का अर्थ
4.7.2 भारत में प्रत्यायोजित विधि का ऐतिहासिक विकास
4.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.9 सारांश
4.10 मुख्य शब्दावली
4.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.12 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 5 प्रशासन पर नियंत्रण **401–436**

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 प्रशासन पर विधायी नियंत्रण
5.3 प्रशासन पर कार्यकारी नियंत्रण
5.4 प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण
5.5 जनसंपर्क

5.6 प्रशासनिक सुधार
5.6.1 भारत में प्रशासनिक सुधार
5.6.2 प्रशासनिक सुधार आयोग
5.7 लोकपाल
5.7.1 लोकपाल का अर्थ एवं उद्देश्य
5.7.2 संसद में प्रस्तुत विभिन्न लोकपाल विधेयकों की विवेचना
5.7.3 लोकपाल और लोकायुक्त अधिनियम, 2013
5.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.9 सारांश
5.10 मुख्य शब्दावली
5.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.12 सहायक पाठ्य सामग्री

परिचय

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक 'लोक प्रशासन' विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित एम.ए. राजनीतिशास्त्र (पूर्वार्द्ध) के पाठ्यक्रम के अनुरूप लिखी गई है। लोक प्रशासन, प्रशासन का वह भाग है जो सामान्य जनता के लिए होता है। इसका संबंध सामान्य नीतियों अथवा सार्वजनिक नीतियों से होता है। लोक प्रशासन के अंतर्गत वे सब क्रियाएं आती हैं, जिनका उद्देश्य अधिकृत अधिकारियों द्वारा घोषित लोकनीतियों को क्रियानिवत करना होता है। इसमें उन सभी गतिविधियों का समावेश होता है जो दिए गए लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए की जाती हैं। इसके अंतर्गत सरकार के तीनों अंगों व्यवस्थापिक कार्यपालिका एवं न्यायपालिक द्वारा संपादित कार्य शामिल हैं। लोक प्रशासन का विषय बहुत व्यापक और विविधतापूर्ण है। इसका सिद्धांत अंतः अनुशासनात्मक है, क्योंकि यह अपने दायरे में अर्थशास्त्र, राजनीति विज्ञान, प्रबंधशास्त्र और समाजशास्त्र जैसे अनेक सामाजिक विज्ञानों को समेटता है। लोकतंत्र में लोक प्रशासन का उद्देश्य ऐसे उचित साधनों द्वारा, जो पारदर्शी तथा सुस्पष्ट हों, जनता का अधिकतम कल्याण करना है।

अध्ययन की सुविधा के लिए संपूर्ण पुस्तक को पांच इकाइयों में समायोजित किया गया है। प्रत्येक इकाई का आरंभ उस इकाई के परिचय से होता है। प्रत्येक इकाई के प्रारंभ में विषय का विश्लेषण करने से पहले उसके निहित उद्देश्यों को स्पष्ट कर दिया गया है। इकाई के बीच–बीच में अपनी प्रगति जांचिए के माध्यम से विद्यार्थियों के बौद्धिक स्तर को जांचने का प्रयास किया गया है।

प्रभावी पुनर्कथन के लिए प्रत्येक पाठ के अन्त में सारांश, मुख्य शब्दावली और स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास दिए गए हैं।

पुस्तक की समस्त इकाइयों का विवरण निम्न प्रकार है–

पहली इकाई में लोक प्रशासन का अर्थ, प्रकृति, क्षेत्र लोक प्रशासन के मूल सिद्धांत तथा लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन को समझाया गया है।

दूसरी इकाई में संगठन के प्रमुख सिद्धांतों सूत्र अभिकरण तथा क्षेत्रीय सेवाओं का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

तीसरी इकाई प्रबंधन पर केंद्रित है जिसमें प्रबंधन और उसके कार्य, वैज्ञानिक प्रबंधन, प्रशासन में नीति निर्माण, प्रशासनिक नेतृत्व, अधिकार, प्रत्यायोजन, प्रशासनिक योजना आयोग, अभिप्रेरणा, सिविल सेवा की भूमिका, कार्मिक प्रशासन लोक सेवाकों की भर्ती तथा कर्मचारी संघ और यूनियन के कार्यों का स्तरीय विश्लेषण किया गया है।

चौथी इकाई वित्त से प्रशासन संबंधित है, जिसमें वित्त प्रशासन का अर्थ, प्रकृति, क्षेत्र, समस्याएं बजट, संयुक्त राज्य अमेरिका में वित्तीय प्रशासन, भारत में बजट प्रक्रिया, प्रशासनिक विधि तथा प्रशासनिक न्याय निर्णयन के कार्यों की विवेचना की गई है।

पुस्तक की पांचवीं इकाई प्रशासन नियंत्रण पर केंद्रित है, जिसमें प्रशासन पर विधायी नियंत्रण, प्रशासन पर कार्यकारी नियंत्रण, प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण, जनसंपर्क, प्रशासनिक सुधार तथा लोकपाल एवं लोकायुक्त की भूमिका का वर्णन किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक लोक प्रशासन को सरल भाषा में रुचिकर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। हमें पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक पाठकों की जिज्ञासा को शांत कर विषय को समझने में सहायक सिद्ध होगी।

टिप्पणी

इकाई 1 लोक प्रशासन की मूल अवधारणाएं

टिप्पणी

संरचना

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 लोक प्रशासन का अर्थ, प्रकृति एवं क्षेत्र
  1.2.1 लोक प्रशासन का अर्थ एवं परिभाषा
  1.2.2 लोक प्रशासन की प्रकृति एवं क्षेत्र
  1.2.3 लोक प्रशासन का महत्व
1.3 लोक प्रशासन के मूल सिद्धांत
1.4 लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1.0 परिचय

देश की स्वाधीनता के अनंतर लोक प्रशासन कानून और व्यवस्था के क्षेत्र तक सीमित न रहकर जनजीवन से संबद्ध गतिविधियों के लिए भी महत्वपूर्ण हो गया है। विकास के चरण प्रगति की विविध दिशाओं में जिस गति से बढ़ रहे हैं उसी क्रम में नये–नये संगठनों का निर्माण एवं विधिवत संचालन प्रशासकों के लिए नित्य नई चुनौतियां प्रस्तुत कर रहा है। विभिन्न योजनाओं में देश के नागरिकों की बढ़ती हुई अभिरुचि के साथ ही प्रशासक वर्ग का उत्तरदायित्व भी बढ़ता जा रहा है।

लोक प्रशासन एक विशिष्ट शैक्षिक क्षेत्र है। यह मुख्य रूप से सरकारी कार्यकलापों में प्रयुक्त तंत्र एवं प्रक्रियाओं से संबंध रखता है। 'लोक प्रशासन' प्रशासन का वह भाग है जो एक विशिष्ट राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत कार्य करता है। लोक प्रशासन राजनीतिक निर्णयों को कार्यरूप में परिणत करने का एक साधन है। कार्य पूरा करने के लिए योजना बनाना, उद्देश्यों एवं लक्ष्यों का निर्माण करना, निर्णय लेना, जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए विधायिका एवं अन्य सामाजिक संस्थाओं के साथ कार्य करना, संगठनों का निर्माण एवं पुनर्निर्माण करना, कर्मचारियों को निर्देश देना, नेतृत्व प्रदान करना, कार्य करने की विधियां खोजना, सरकारी अधिकारियों द्वारा किए गए कार्य और उन पर नियंत्रण रखना आदि सभी लोक प्रशासन ही है।

इस इकाई में लोक प्रशासन का अर्थ, प्रकृति, क्षेत्र, महत्व व लोक प्रशासन के मूल सिद्धांतों को विस्तार से समझाया गया है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- लोक प्रशासन का अर्थ, प्रकृति एवं क्षेत्र को जान पाएंगे;

- लोक प्रशासन के महत्व का आकलन कर पाएंगे;
- लोक प्रशासन के मूल सिद्धांतों का विश्लेषण कर पाएंगे;
- लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में अंतर जान पाएंगे।

टिप्पणी

1.2 लोक प्रशासन का अर्थ, प्रकृति एवं क्षेत्र

'प्रशासन' मूल रूप में संस्कृत का शब्द है। यह 'प्र' उपसर्ग, 'शास' धातु से बना है। इसका अर्थ है–प्रकृष्ट या उत्कृष्ट रीति से शासन करना। आजकल शासन का अभिप्राय 'सरकार' से समझा जाता है; किंतु इसका वास्तविक अर्थ– निर्देश देना, पथ प्रदर्शन करना, आदेश या आज्ञा देना है। वैदिक युग में प्रशासन का प्रयोग इसी अर्थ में होता था।

1.2.1 लोक प्रशासन का अर्थ एवं परिभाषा

प्रशासन के लिए अंग्रेजी में Administration शब्द का प्रयोग होता है। यह मूलतः Ad उपसर्ग एवं सेवा करने का अर्थ देने वाली लैटिन भाषा की धातु Ministrare से बना है। इसका मूल अभिप्राय एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति के हित की दृष्टि से उसकी सेवा का कोई कार्य करना है। 16वीं शताब्दी में 'प्रशासन' शब्द का प्रयोग 'प्रबंध' के अर्थ में होने लगा था।

जब लोग कुछ उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक साथ मिलकर परस्पर सहयोग करते हैं तो उन क्रियाओं को 'प्रशासन' कहा जाता है, इन्हें वे अपने निश्चित लक्ष्य की पूर्ति के लिए संपन्न करते हैं। जब किसी सरकारी कार्य को करने में लोग परस्पर सहयोग करते हैं, तो उन क्रियाओं का प्रबंध और निर्देशन किया जाता है, इसलिए कुछ वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मनुष्यों तथा सामग्री के उचित संगठन तथा निर्देशन को भी 'प्रशासन' कहा जाता है।

लोक प्रशासन क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देना बड़ा कठिन है। इस विषय के लेखकों ने लोक प्रशासन के अर्थ के बारे में भिन्न–भिन्न मत व्यक्त किए हैं। जब भी लोग कुछ उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आपस में मिलकर कार्य करते हैं, तो उन क्रियाओं को 'प्रशासन' कहा जाता है जिन्हें वे अपने निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति के लिए संपन्न करते हैं। यदि वे क्रियाएं 'व्यक्तिगत हित' की अपेक्षा 'सार्वजनिक हित' अथवा 'लोकहित' के लिए की जाती हैं, तो उन्हें लोक प्रशासन की संज्ञा दी जाती है। चूंकि सरकारी क्रियाएं सार्वजनिक हित के लिए संपन्न की जाती हैं, इसलिए सरकारी कार्यों के प्रशासन को 'लोक प्रशासन' कहा जाता है। आयकर अधिकारी द्वारा करों का संग्रह, पुलिस द्वारा अपराधियों की गिरफ्तारी तथा सड़कों, सार्वजनिक मार्गों, नदियों के पुलों और नहरों का निर्माण आदि लोक प्रशासन की क्रियाओं के कुछ उदाहरण हैं। लोक प्रशासन तथा प्रशासन के अन्य रूपों में मुख्य भेद यही है कि लोक प्रशासन का अंतिम उद्देश्य सर्व–सामान्य का हित करना होता है।

लोक प्रशासन में सरकार की क्रियाएं सम्मिलित की जाती हैं। सरकार की तीन शाखाएं होती हैं : व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका। क्या लोक प्रशासन में सरकार के तीनों अंगों के कार्य सम्मिलित हैं? लोक प्रशासन के विद्वानों में इस प्रश्न

पर मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि लोक प्रशासन का संबंध सरकार के तीनों ही अंगों से होना चाहिए। इनका मत है कि चूंकि प्रशासन की समस्याएं सरकार के तीनों अंगों के सामने आती हैं अतः ऐसा कोई कारण नहीं है कि लोक प्रशासन के अंतर्गत सरकार के संपूर्ण कार्य का अध्ययन न किया जाए।

टिप्पणी

अन्य विद्वान लोक प्रशासन के अध्ययन को सरकार की केवल कार्यपालिका शाखा तक ही सीमित रखते हैं। उनका विचार है कि लोक प्रशासन का संबंध केवल सार्वजनिक नीति को लागू करने तथा पूरा करने से है। इसका संबंध सरकार की केवल कार्यपालिका शाखा की क्रियाओं से ही है। उनके मतानुसार लोक प्रशासन सरकार की संपूर्ण कला का एक भाग है।

इस प्रकार लोक प्रशासन क्या है? इस प्रश्न के उत्तर को लेकर विद्वान एक मत नहीं हैं। इस कठिनाई के कारण ही ग्लेडन को यह कहने की प्रेरणा मिली–''लोक प्रशासन में एक सर्वव्यापकता पाई जाती है, जिससे इसकी परिभाषा करने में बाधा उपस्थित होती है। प्रशासन को केवल गतिशीलता के साथ तथा सरकार के बदलते हुऐ कार्यों को दृष्टिगत रखते हुए भी समझा जा सकता है। इस बात का पता लगाने के लिए कि इसमें कोई मौलिक तत्व भी पाया जाता है या नहीं, यह आवश्यक है कि इसका अध्ययन गहराई के साथ, समय की गतिशीलता के साथ और सुचारू रूप से किया जाए।"

आधुनिक विचारकों के अनुसार, प्रशासन एक सुनिश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए मनुष्यों द्वारा परस्पर सहयोग से की जाने वाली एक सामूहिक क्रिया है। कुछ विचारकों के अनुसार प्रशासन की कुछ परिभाषाएं निम्नलिखित हैं–

फिफ्नर के अनुसार, ''मनुष्य तथा भौतिक साधनों का संगठन और नियंत्रण ही प्रशासन है।''

नीग्रो के अनुसार, ''प्रशासन लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य तथा सामग्री दोनों का संगठन है।''

लूथर गुलिक ने लिखा है, ''प्रशासन का संबंध कार्यों को संपन्न कराने से है जिससे कि निर्धारित लक्ष्य पूरे हो सकें।''

विलोबी के अनुसार, ''अपने व्यापक अर्थ में लोक प्रशासन उस कार्य का प्रतीक है जो कि सरकारी कार्यों के वास्तविक संपादन से संबद्ध होता है। चाहे वह कार्य सरकार की किसी भी शाखा से संबंधित क्यों न हो। अपने संकुचित अर्थ में वह केवल प्रशासकीय शाखा की कार्यवाहियों को संकेत करता है।''

इस प्रकार लोक प्रशासन की मूलतः दो प्रकार की परिभाषाएं आती है– एक व्यापक और दूसरी संकुचित। यदि लोक प्रशासन के व्यापक अर्थ को लिया जाए, तो उसमें वह कार्य सम्मिलित किया जाता है जो कि सरकार की तीनों शाखाओं (व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका) के प्रशासन से संबद्ध क्रियाओं से संबंधित होता है।

एल.डी. ह्वाइट का कहना है कि ''लोक प्रशासन में वे सभी कार्य आ जाते हैं, जिनका उद्देश्य सार्वजनिक नीतियों को पूरा करना अथवा क्रियान्वित करना है।''

टिप्पणी

ह्वाइट ने लोक प्रशासन की परिभाषा व्यापक अर्थों में की है। इसके अंतर्गत सरकार के विभिन्न अंगों की वे विभिन्न क्रियाएं सम्मिलित की जाती हैं जो कि वे कानून, न्याय, सामाजिक कल्याण, स्वास्थ्य एवं सफाई आदि क्षेत्रों में संपन्न करते हैं। ह्वाइट ने आगे कहा है कि ''लोक प्रशासन की व्यवस्था उन सभी कानूनों, नियमों, क्रियाओं, संबंधों, संहिताओं और रीति–रिवाजों का मिश्रण है, जो कि सार्वजनिक नीति को पूरा करने अथवा कार्यान्वित करने के लिए किसी भी सरकार के अधिकार क्षेत्र में किसी भी समय प्रचलित होते हैं।

लूथर गुलिक के अनुसार, ''लोक प्रशासन प्रशासन के विज्ञान का वह भाग है जो सरकार से संबंधित है और इसलिए उसका संबंध कार्यपालिका से है, जहां कि सरकार का कार्य मुख्य रूप से होता है।''

फिफ्नर के शब्दों में, ''लोक प्रशासन का अर्थ है सरकार का काम करना, फिर चाहे वह कार्य स्वास्थ्य प्रयोगशाला में एक्स–रे मशीन को संचालित करने का हो अथवा एक टकसाल में सिक्के ढालने का।''

साइमन जैसे विचारक का मत है कि, ''जन साधारण की भाषा में लोक प्रशासन से अभिप्राय उन क्रियाओं से है जो केंद्र, राज्य तथा स्थानीय सरकारों की कार्यपालिका शाखाओं द्वारा संपादित की जाती हैं।''

लोक प्रशासन की वास्तविकताओं को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि लोक प्रशासन का व्यापक दृष्टिकोण लोक प्रशासन के अर्थ एवं क्षेत्रों को समुचित ढंग से व्यक्त करता है लोक प्रशासन की विभिन्न परिभाषाओं का समुचित विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं में एकरूपता नहीं है। वे भिन्न–भिन्न दृष्टिकोण अपनाती हैं। कतिपय विद्वान 'विषय वस्तु' की दृष्टि से लोक प्रशासन को प्रतिपादित करते हैं तो अन्य विद्वान 'तकनीकी ज्ञान' की दृष्टि से लोक प्रशासन का सिंहावलोकन करते हैं। असल में लोक प्रशासन के स्वरूप को निश्चित नहीं बताया जा सकता है, जिस प्रकार भौतिक विज्ञान के स्वरूप को बताया जा सकता है। लोक प्रशासन से संबंधित इन विभिन्न परिभाषाओं के प्रसंग में ग्लेडन का कहना बिलकुल उपयुक्त प्रतीत होता है कि ''लोक प्रशासन बहुरूपीय है तथा इसकी परिभाषा करना अत्यंत कठिन है। सरकार के बदलते हुऐ कार्यों के संबंध में ही इसे समझाया जा सकता है।''

1.2.2 लोक प्रशासन की प्रकृति एवं क्षेत्र

लोक प्रशासन कला है या विज्ञान, इस विषय के संबंध में प्रबल मतभेद है। कुछ विचारक इसे कला और विज्ञान दोनों मानते हैं, किंतु अन्य विद्वानों के अनुसार यह विज्ञान नहीं हो सकता है। लोक प्रशासन का प्रयोग दो अर्थों में किया जा सकता है। प्रथम अर्थ में–लोक प्रशासन का शासकीय मामलों में संचालन की विधि अथवा प्रक्रिया के रूप में प्रयोग किया जाता है। द्वितीय अर्थ में यह बौद्धिक अन्वेषण का क्षेत्र भी माना जाता है।

अपने प्रथम रूप में लोक प्रशासन निश्चित ही कला है, परंतु प्रश्न है कि क्या शासकीय विषयों में अध्ययन के विषय में लोक प्रशासन को विज्ञान की संज्ञा दी जा सकती है? इसके लिए लोक प्रशासन के कला और विज्ञान के स्वरूप की विस्तृत विवेचना आवश्यक है।

टिप्पणी

कला से अभिप्राय– कला व्यवस्थित अभ्यास है (Art is skillfulAnd systematical practice) ज्ञान को यथार्थ जीवन में व्यवस्थित करना कला है। कला का अपना ही कौशल होता है और वह व्यवस्थित व्यवहार में आती है। ग्लेडन के अनुसार, ''कला में ज्ञान की आवश्यकता होती है, किंतु यह सिद्धांत की अपेक्षा अभ्यास पर अधिक बल देती है। अतः कलाकार के लिए उस शास्त्र का विद्वान होने की अपेक्षा उस कार्य को करने में कुशल होना चाहिए।

कला की विशेषता उसका हृदयकारी होना है। जब कोई कलाकार साधारण–सी क्रिया को अपने अभ्यास और प्रतिभा के स्पर्श से ऐसा मोहक बना दे कि दिल की कली खिल उठे, तो उसे कला कहा जाएगा। कुछ व्यक्तियों को ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा के रूप में कला प्राप्त होती है, तो प्रदत्त कुछ व्यक्ति अपने कठोर परिश्रम से उसकी विशेष तकनीकों में कुशलता प्राप्त करके कला ग्रहण करते हैं। कला कई प्रकार की है; जैसे ललित कला, संगीत कला इत्यादि। इसमें कुशलता पाने के लिए अध्ययन और ज्ञान की अपेक्षा अभ्यास, जन्मजात सहज प्रक्रिया और साधन अधिक महत्व रखते हैं।

लोक प्रशासन कला है– लोक प्रशासन को अनेक विद्वानों ने कला माना है। प्रशासन में क्रियापक्ष की प्रधानता है। प्रशासन में वही व्यक्ति सफल हो सकता है, जो दूसरों से काम करवाने का ढंग जानता हो। अतः प्रशासन एक कला है। ह्वाइट के शब्दों में, ''लोक प्रशासन असल में विज्ञान है या नहीं, यह बात भविष्य के निर्णय पर छोड़ देनी चाहिए। परंतु वर्तमान में यह कला अवश्य है।''

डॉ. महादेव प्रसाद शर्मा के अनुसार, ''लोक प्रशासन भी चिरकाल से एक कला विशेष के रूप में माना जाता रहा है।'' कौटिल्य, अकबर, टोडरमल, बिस्मार्क और सरदार पटेल जैसे प्रतिभा संपन्न प्रशासकों ने अपने शासन कौशल से चमत्कार कर दिखाया और उनके प्रशंसक जगत ने उन्हें महानतम कलाकारों की श्रेणी में रखा है।

लोक प्रशासन एक कला है क्योंकि प्रायः यह देखा गया है कि प्रशासक प्रशिक्षण द्वारा बनाए जाते हैं, न कि पैदा होते हैं। प्रशासन एक विशेष प्रक्रिया है, जिसमें एक विशेष ज्ञान तथा तकनीकी कौशल की आवश्यकता होती है। अन्य कलाओं की भांति प्रशासन को भी अभ्यास से सीखा जा सकता है। वर्तमान में प्रशासनिक दक्षता के लिए 'निपुण' तथा 'विशिष्ट' प्रकार के दक्ष लोगों की आवश्यकता सरकार के विभिन्न आयामों में महसूस की जा रही है। प्रशासनिक कला में निपुण व्यक्ति में कुछ गुणों के जरूरत होती है; जैसे–धैर्य, नियंत्रण, आदेश की एकता, हस्तांतरण आदि। लूथर गुलिक के अनुसार, ''एक अच्छे प्रशासक को पोस्डकॉर्ब (POSDCORB) तकनीकों में पारंगत होना चाहिए।''

यदि प्रशासन कला है तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उसका माध्यम या साधन क्या है? प्रशासन का मुख्य साधन यह है कि, सबसे पहले तो वह अपने–आप को संगठन के द्वारा व्यक्त करता है, फिर वह संगठन के सदस्यों के द्वारा तथा उसके बाद अपने को इन्हीं लोगों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश के द्वारा स्वरूप देता है।

संक्षेप में, निम्न तर्कों के आधार पर लोक प्रशासन को कला माना जा सकता है–

- **सर्वमान्य सिद्धांत**–प्रत्येक कला के कतिपय सर्वमान्य सिद्धांत होते हैं। इसी प्रकार लोक प्रशासन के भी कुछ सर्वमान्य सिद्धांत हैं। यदि प्रशासक इसकी

टिप्पणी

उपेक्षा करे तो उसे किसी भी हालत में सफलता नहीं मिल सकती। इस दृष्टिकोण से लोक प्रशासन स्पष्ट कला होने का दावा कर सकता है।

- **अभ्यास की आवश्यकता**– हर कला का एक विशेष कौशल होता है। उसे हासिल करने के लिए कलाकार को अनुभवी विशेषज्ञों से प्रशिक्षण लेना और उसका अभ्यास करना होता है। इस प्रकार प्रशासन का भी कौशल होता है और एक अच्छा प्रशासक बनने के लिए प्रशिक्षण, अनुभव और अभ्यास की आवश्यकता होती है।
- **विशेष रुचि एवं योग्यता**– जिस प्रकार किसी भी कला में सफलता प्राप्त करने के लिए विशेष रुचि एवं गुणों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार एक कुशल प्रशासक बनने के लिए भी विशेष रुझान तथा गुण आवश्यक माने जाते हैं।
- **विकास की प्रक्रिया**– विकास की प्रक्रिया की दृष्टि से लोक प्रशासन एक कला है। जिस प्रकार अन्य कलाओं का कृत्रिम विकास होता है, उसी प्रकार लोक प्रशासन का धीरे–धीरे विकास हुआ है और अभी हो रहा है।
- **परिवर्तनशीलता**–जिस प्रकार अन्य कलाएं और उनकी प्रक्रिया या पद्धतियां परिवर्तनशील हैं, उसी प्रकार लोक प्रशासन की प्रक्रियाएं भी समय और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं।

  जो विचारक प्रशासन को कला नहीं मानते उनका कहना है कि प्रशासन की सफलता और असफलता मानवीय वातावरण एवं परिस्थितियों पर निर्भर करती है। एक स्थान पर शासक उन्हीं तकनीकों से सफल हो जाता है और दूसरे स्थान पर असफल हो जाता है। सुकरात प्रशासन को कला मानते हुए भी एक विशेष प्रकार का प्रशिक्षण आवश्यक समझता है।

संक्षेप में, लोक प्रशासन एक कला है क्योंकि यह सिद्धांतों की अपेक्षा व्यवहारों पर अधिक बल देता है।

क्या लोक प्रशासन विज्ञान है?

क्या लोक प्रशासन एक विज्ञान है? आधुनिक युग विज्ञान की प्रधानता का युग है और विज्ञान को एक विशेष सम्मान प्राप्त है। 'विज्ञान' के साथ संबद्ध होने वाले विषय की महिमा बढ़ जाती है। अतः समाज विज्ञान के अन्य विषयों; जैसे–राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास आदि की भांति लोक प्रशासन को भी भौतिक, रसायन, गणित आदि के समकक्ष विज्ञान मानने का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है। प्रायः समस्त सामाजिक विज्ञानों के संबंध में यह विवाद सदैव ही चला आया है कि उन्हें विज्ञान स्वीकार किया जाए अथवा कला। लोक प्रशासन में भी यही विवाद चल रहा है।

लोक प्रशासन विज्ञान है अथवा नहीं, इस प्रश्न का उत्तर वस्तुतः 'विज्ञान' शब्द के अर्थ पर निर्भर करता है।

विज्ञान क्या है? ज्ञान के क्रमबद्ध अध्ययन को विज्ञान कहते हैं। विज्ञान में क्या है और उसका निश्चित परिणाम क्या होगा के आदर्श के अनुकूल आगे बढ़ने की बात निहित रहती है। ज्ञान क्रमबद्ध अध्ययन में विज्ञान की अनुसंधानिक प्रकृति का समावेश होता है। ग्लेन और गुलिक के अनुसार, ''जिस क्षेत्र का हम अनुसंधान करना चाहते

हैं उसकी ओर एक निश्चित प्रकार की पद्धति ही विज्ञान का वास्तविक चिह्न है।'' विज्ञान में मुख्य रूप से निम्न तीन विशेषताएं होती हैं–

(क) विज्ञान ज्ञान का एक व्यवस्थित भंडार है।

(ख) उसके परिणाम सार्वजनिक, सार्वदेशिक व शाश्वत होते हैं।

(ग) उसकी अध्ययन पद्धति परिणात्मक एवं निश्चयात्मक होती है।

टिप्पणी

कुछ विद्वानों के अनुसार लोक प्रशासन विज्ञान है, जैसे बहुत से प्राकृतिक विज्ञान हैं। इस दृष्टिकोण के समर्थक बर्नार्ड तथा बीयर्ड हैं। दूसरी तरफ वाल्डो और वालास जैसे विद्वान हैं, मानते हैं कि लोक प्रशासन कभी भी विज्ञान नहीं बन सकता। इस बारे में सारे प्रयास निरर्थक हैं। तीसरे प्रकार के विचारक भी हैं जिनकी मान्यता है कि लोक प्रशासन विज्ञान नहीं है परंतु होकर रहेगा और यह संभव है। उर्विक, टेलर, साइमन, फिफ्नर, रिग्स आदि विद्वानों ने अपनी इस मान्यता के लिए केवल तर्क ही नहीं दिए हैं अपितु वैज्ञानिक शोधों से लोक प्रशासन को पहले से अधिक वैज्ञानिक बनाया है।

लोक प्रशासन को विज्ञान न मानने के कारण–अनेक विचारक लोक प्रशासन को विज्ञान नहीं मानते। एल.डी. ह्वाइट ने इस कथन को कि लोक प्रशासन विज्ञान है अथवा नहीं, भविष्य के लिए स्थगित करने की सलाह दी है। लोक प्रशासन को विज्ञान न मानने के निम्नलिखित कारण बताए जाते हैं–

1. **निश्चितता का अभाव**–अन्य सामाजिक विज्ञानों के समान लोक प्रशासन को निश्चितता की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। लोक प्रशासन के निष्कर्ष पूर्णता से वंचित रहते हैं। इसके विपरीत प्राकृतिक विज्ञानों के नियमों में निश्चितता रहती है। अतः निश्चितता ही 'विज्ञान' का लक्षण है तो कोई भी सामाजिक विज्ञान, विज्ञान होने का दावा नहीं कर सकता। इसलिए लोक प्रशासन को भी विज्ञान नहीं माना जा सकता।
2. **सार्वभौमिक नियमों का अभाव**–'विज्ञान' की प्रमुख विशेषता उसके नियमों या सिद्धांतों का सार्वभौमिक होना है। लोक प्रशासन के क्षेत्र में सर्वसम्मत सिद्धांतों का अभाव है। हेनरी फियोल, उर्विक, टेलर तथा अन्य लेखकों ने समय–समय पर सर्वसम्मत सिद्धांतों की रचना की चेष्टा की परंतु इनमें से कोई भी किसी दूसरे के द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों को स्वीकार करने को तैयार नहीं हुआ। स्पष्ट है कि सर्वसम्मत सिद्धांतों के अभाव में लोक प्रशासन को विज्ञान बताना अटपटा तो है ही।
3. **पर्यवेक्षण तथा तथ्य परीक्षण का अभाव**–विज्ञान में पर्यवेक्षण तथा प्रयोग का सहारा लिया जाता है, वैसा लोक प्रशासन में संभव नहीं है। लोक प्रशासन का संबंध चेतनाशील मनुष्यों एवं उनके व्यवहारों से है। मनुष्य में अपनी स्वतंत्र इच्छा, उद्देश्य और प्रयोजन होते हैं। अतः लोक प्रशासन के विभिन्न तथ्यों को मानव समाज से पृथक करके प्रयोगशाला में उसे किसी विधि से नापा और परखा नहीं जा सकता, जैसा रसायन या भौतिक विज्ञान आदि विज्ञानों के नियमों में किया जाता है।
4. **आदर्शात्मक**–विज्ञान में नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों का कोई स्थान नहीं होता जबकि लोक प्रशासन के सिद्धांत निरंतर प्रशासकीय क्रिया की तथ्य परक एवं आदर्शमूलक धारणाओं अर्थात 'क्या है?' और 'क्या होना चाहिए?' के बीच झूलते

टिप्पणी

रहते हैं। लोक प्रशासन को विज्ञान इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि इसमें आदर्शात्मकता, भावनात्मकता और मूल्यपरकता होती है।

5. **भविष्यवाणी का अभाव**—लोक प्रशासन को विज्ञान न मानने का एक कारण यह है कि इसमें भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। प्राकृतिक विज्ञानों; जैसे—रसायन विज्ञान एवं भौतिक विज्ञान में पदार्थ के निश्चित गुण धर्मों के आधार पर भविष्यवाणी की जा सकती है जबकि लोक प्रशासन में यह संभव नहीं है।

संक्षेप में, लोक प्रशासन को तब तक विज्ञान नहीं कहा जा सकता है, जब तक कि उसके द्वारा तीन शर्तों की पूर्ति नहीं की जाती—

प्रथम : प्रशासन के आदर्शों एवं मूल्यों को सुस्पष्टता से परिभाषित किया जाना चाहिए।

द्वितीय : लोक प्रशासन के क्षेत्र में मानव स्वभाव का सुनिश्चित ज्ञान अर्जित होना चाहिए।

तृतीय : विपरीत संस्कृतियों के अध्ययनों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए जिससे प्रशासन के ऐसे सिद्धांतों को विकसित किया जा सके जो संस्कृतिबद्धता से ग्रस्त न हों।

लोक प्रशासन को विज्ञान मानने के पहलू : लोक प्रशासन को तीन तर्कों के आधार पर विज्ञान माना जा सकता है—

1. **कालांतर में लोक प्रशासन विज्ञान का रूप ले लेगा**—लोक प्रशासन का वर्तमान अध्ययन हमारे सामने लोक प्रशासन के बारे में सुसंबद्ध विचारों का एक ढांचा मात्र प्रस्तुत करता है। यह ढांचा और अधिक अध्ययन तथा विश्लेषण का आधार बन सकता है। जब यह अध्ययन तथा विश्लेषण पर्याप्त सीमा तक पहुंच जाएगा तो लोक प्रशासन भी अन्य सामाजिक विज्ञानों की भांति एक विज्ञान के रूप में सुस्थापित हो जाएगा। उर्विक ने इस विचार का समर्थन किया है।

2. **लोक प्रशासन अपने वर्तमान स्वरूप में एक विज्ञान है**—दूसरे ऐसे विचारक भी हैं जो मानते हैं कि लोक प्रशासन अपने वर्तमान स्वरूप में एक विज्ञान ही है। यह एक वैसा विज्ञान है, जैसे अन्य सामाजिक विज्ञान। अर्थात् इसके अध्ययन के लिए लगभग सुनिश्चित क्षेत्र निर्धारित कर लिया गया है तथा भारी संख्या में ऐसे तथ्यों का संग्रह कर लिया गया है कि जिन पर वैज्ञानिक अध्ययन की पद्धतियों को प्रयोग किया जा रहा है।

3. **लोक प्रशासन में पर्याप्त यथार्थता और निश्चितता है**—ऐसे विचारक भी हैं जो लोक प्रशासन के बारे में काफी यथार्थता और निश्चितता का दावा करते हैं। उनका विचार है कि लोक प्रशासन में निष्कर्ष भले ही प्रशासक को यह न बता सके कि उसे क्या निर्णय लेना चाहिए, परंतु उन्होंने इतनी सुनिश्चितता अवश्य प्राप्त कर ली है कि वे उसे गलत मार्ग अपनाने से सावधान करते हैं। चार्ल्स ए. बीयर्ड इसी विचार के समर्थक हैं। प्रो. बीयर्ड मानते हैं कि लोक प्रशासन के क्षेत्र में ऐसे नियम और स्वयं सिद्ध सूत्रों का विकास हो गया है जिनके बारे में अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे व्यावहारिक

प्रयोग में लाए जा सकते हैं। अनुभव से यह सिद्ध होता है कि प्रशासन के क्षेत्र में विशेषज्ञ नित्य असंख्य पूर्वानुमान लगाते हैं तथा जब–जब उसकी उपेक्षा की जाती है, परिणामों से पूर्वानुमान सही सिद्ध होते हैं।

टिप्पणी

निष्कर्ष : उपर्युक्त तर्कों के आधार पर लोक प्रशासन को विज्ञान मानना उचित है, परंतु उसे भौतिक विज्ञान की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता क्योंकि उसमें भौतिक विज्ञानों की भांति पूर्णता नहीं पाई जाती है। दूसरी ओर, यदि 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग अनुभव और पर्यवेक्षण से प्राप्त नियमों के समूहों के लिए किया गया हो, जिसके बारे में भविष्यवाणी की जा सकती है, तो निश्चय ही लोक प्रशासन उतना ही विज्ञान है जितना अर्थशास्त्र अथवा मनोविज्ञान।

लोक प्रशासन को एक सामाजिक विज्ञान के रूप में नकारना पूर्णतः भ्रामक और गलत होगा। एक सामाजिक विज्ञान होने के नाते यह तो मानकर चलना ही होगा कि वह भौतिकशास्त्र या रसायनशास्त्र नहीं बन सकता किंतु यह कहना भी सही नहीं है कि उसके निष्कर्ष उतने ही अराजकतावादी हैं जैसे पिकासों की चित्रकला। कतिपय आशावादी, कर्मठ और उद्यमशील समाज वैज्ञानिक यह मानते हैं कि निकट भविष्य में लोक प्रशासन विज्ञान बनने जा रहा है।

चार्ल्सवर्थ की भांति यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि लोक प्रशासन विज्ञान भी है और कला भी। उन्हीं के शब्दों में, ''प्रशासन कला है क्योंकि इसमें उत्तमता, नेतृत्व, उत्साह तथा उच्च विचारों की आवश्यकता होती है।.... यह एक विज्ञान है क्योंकि इसमें आगमनात्मक विश्लेषण, सतर्कता युक्त नियोजन तथा विवेकपूर्ण साधनों की आवश्यकता है।''

निष्कर्षतः लोक प्रशासन उसी भांति एक सामाजिक विज्ञान है, जिस प्रकार राजनीति विज्ञान और प्रबंध विज्ञान है।

लोक प्रशासन का क्षेत्र

परिवर्तन के इस युग में लोक प्रशासन जैसे गतिशील विषय का क्षेत्र निश्चित करना बहुत कठिन है। लोक प्रशासन के अध्ययन क्षेत्र के विषय में विचारकों में बड़ा मतभेद है। मूल भेद इन प्रश्नों को लेकर है कि क्या लोक प्रशासन शासकीय कामकाज का केवल प्रबंधकारी अंग है अथवा सरकार के समस्त अंगों का समग्र अध्ययन? क्या लोक प्रशासन सरकारी नीतियों का क्रियान्वयन है अथवा वह नीति निर्धारण में भी प्रभावी भूमिका का निर्वहन करता है?

लोक प्रशासन के क्षेत्र में चार दृष्टिकोण प्रचलित हैं–

1. व्यापक दृष्टिकोण 2. संकुचित दृष्टिकोण 3. पोस्डकॉर्ब दृष्टिकोण, तथा 4. लोक कल्याणकारी दृष्टिकोण।

1. व्यापक दृष्टिकोण–कुछ विद्वानों; जैसे एल.डी. ह्वाइट, मार्क्स आदि ने लोक प्रशासन के क्षेत्र के संबंध में व्यापक दृष्टिकोण अपनाया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार लोक प्रशासन सरकार के तीनों अंगों–कार्यपालिका, विधायिका एवं न्यायपालिका से संबंधित है। इस दृष्टिकोण के अनुसार लोक प्रशासन के क्षेत्र में वे सभी क्रियाकलाप सम्मिलित हैं जिनका प्रयोजन लोक–नीति को पूरा करने या क्रियान्वित करना होता है। प्रो. ह्वाइट ने लोक प्रशासन के व्यापक दृष्टिकोण से परिभाषा करते हुए लिखा है–

टिप्पणी

''लोक प्रशासन में वे सभी कार्य आते हैं जिनका उद्देश्य सार्वजनिक नीति को पूरा करना अथवा लागू करना होता है।'' इसी प्रकार मार्क्स ने भी लोक प्रशासन की व्यापक अर्थों में परिभाषा दी है। उनके शब्दों में, अपने व्यापकतम क्षेत्र में लोक प्रशासन के अंतर्गत सार्वजनिक नीति से संबंधित समस्त क्रियाएं आती हैं। विलोबी ने भी लिखा है – ''अपने व्यापक अर्थ में लोक प्रशासन उस कार्य का प्रतीक है जो सरकारी कार्यों के वास्तविक संपादन से संबद्ध होता है, चाहे वे कार्य सरकार की किसी भी शाखा से संबंधित क्यों न हों।

लोक प्रशासन के विषय क्षेत्र के बारे में निग्रो की व्याख्या अधिक व्यापक है, क्योंकि उनमें अन्य सभी पक्षों के अलावा लोक प्रशासन तथा राजनीति एवं सामाजिक प्रणाली के आपसी संबंधों को भी सम्मिलित किया गया है। निग्रो ने प्रशासन की व्याख्या इस प्रकार की है–

(क) लोक प्रशासन लोक समाज में सहयोगी एवं सामूहिक प्रयास है।

(ख) लोक प्रशासन में विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका और इस तीनों के परस्पर संबंध शामिल हैं।

(ग) लोक प्रशासन की लोक नीति की रचना में प्रमुख भूमिका है और इस प्रकार राजनीति प्रकिया का अंग है।

(घ) लोक प्रशासन समाज की सेवा करने के क्रम में निजी समूहों और व्यक्तियों से घनिष्ठ रूप से संबंधित है।

व्यापक अर्थ में लोक प्रशासन का क्षेत्र निम्न प्रकार सामने आता है–

2. संकुचित दृष्टिकोण–कतिपय विद्वानों; जैसे साइमन, लूथर गुलिक आदि ने भी लोक प्रशासन में क्षेत्र के संबंध में संकुचित दृष्टिकोण अपनाया है। उनके अनुसार, लोक प्रशासन से अभिप्राय उन क्रियाओं से है जो केंद्र, राज्य तथा स्थानीय सरकारों की कार्यपालिका शाखाओं द्वारा संपादित की जाती हैं। संक्षेप में, लोक प्रशासन में कार्यपालिका के संगठन, उसकी कार्य प्रणाली एवं कार्य पद्धति का अध्ययन किया जाना चाहिए।

इस दृष्टिकोण से लोक प्रशासन के क्षेत्र में निम्नलिखित बातें आती हैं–

(i) **कार्यरत कार्यपालिका का अध्ययन**–लोक प्रशासन, प्रशासन की वह शाखा है जो कार्यरत कार्यपालिका का अध्ययन करती है। यहां कार्यपालिका से तात्पर्य केवल असैनिक कार्यपालिका से है। लोक प्रशासन कार्यपालिका की उन समस्त असैनिक क्रियाओं से संबंधित रहता है जो निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए की जाती हैं। यथार्थ में राष्ट्रीय, राजकीय एवं स्थानीय प्रत्येक प्रकार के प्रशासन के लिए कार्यपालिका ही उत्तरदायी रहती है।

(ii) **सामान्य प्रशासन का अध्ययन**–लोक प्रशासन सामान्य प्रशासन की सभी समस्याओं से संबंधित रहता है। उसके क्षेत्र में प्रशासनिक नीतियां, लक्ष्य निर्धारण, प्रशासन के ऊपर निर्देशन, निरीक्षण तथा नियंत्रण आदि सम्मिलित हैं।

(iii) **संगठन संबंधी समस्याओं का अध्ययन**–लोक प्रशासन इसका भी अध्ययन करता है कि विभिन्न प्रशासनिक क्रियाओं को सुचारू रूप से संपन्न करने के

लिए सेवाएं किस प्रकार संगठित की जाएं। लोक प्रशासन के क्षेत्र में असैनिक सेवाओं के मित्र सूत्र, उसके संगठनों तथा क्षेत्रीय संगठनों का व्यापक अध्ययन करते हैं।

टिप्पणी

(iv) **सेवावर्ग की समस्याओं का अध्ययन**–लोक प्रशासन के क्षेत्र में पदाधिकारियों की भर्ती, प्रशिक्षण, सेवाओं की दशा, अनुशासन तथा कर्मचारी संघ आदि समस्याओं का विस्तृत अध्ययन किया जाता है।

(v) **सामग्री प्रदाय संबंधी समस्याओं का अध्ययन**–लोक प्रशासन की परिधि में विविध सामग्री की खरीददारी, उसे स्टोर करना और कार्य करने के यंत्र तथा साज–सज्जा आदि समस्याएं भी सम्मिलित हैं।

(vi) **वित्त संबंधी समस्याओं का अध्ययन**–लोक प्रशासन के अंतर्गत बजट, करारोपण और वित्त से संबंधित अन्य प्रश्नों का भी समुचित अध्ययन किया जाता है।

(vii) **प्रशासकीय उत्तरदायित्व का अध्ययन** – लोक प्रशासन के अंतर्गत प्रशासकों के विभिन्न प्रकार के उत्तरदायित्वों का पर्याप्त अध्ययन किया जाता है। प्रशासक स्वच्छंद आचरण नहीं कर सकते हैं। वे जनता, विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के प्रति किस प्रकार उत्तरदायी रहते हैं, इसका अध्ययन भी लोक प्रशासन का महत्वपूर्ण पहलू है।

3. पोस्डकॉर्ब दृष्टिकोण (POSDCORB VIEW) – लोक प्रशासन के कार्य क्षेत्र के संबंध में लूथर गुलिक ने जिस मत को प्रतिपादित किया है उसे पोस्डकॉर्ब कहा जाता है। लूथर गुलिक से पहले उर्विक तथा हेनरी फेयोल आदि विद्वानों ने भी पोस्डकॉर्ब दृष्टिकोण अपनाया था, परंतु इन विचारों को सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने का श्रेय गुलिक को ही जाता है। पोस्डकॉर्ब शब्द अंग्रेजी के सात शब्दों के प्रथम अक्षरों को मिलाकर बनाया गया है। वे शब्द इस प्रकार हैं–

P	=	Planning	=	योजना बनाना
O	=	Organisation	=	संगठन करना
S	=	Staffing	=	कर्मचारियों की व्यवस्था करना
D	=	Directing	=	निर्देशित करना
Co	=	Coordination	=	समन्वय करना
R	=	Reporting	=	रिपोर्ट देना
B	=	Budgeting	=	बजट तैयार करना

P **(पी) योजना बनाना** – प्लानिंग अर्थात् नियोजन कार्यों की रूपरेखा तैयार करना और निश्चित ध्येय की प्राप्ति के लिए रीतियों का निर्धारण करना।

O **(ओ) संगठन करना** – इसका उद्देश्य प्रशासकीय ढांचे को इस तरह संगठित करना है ताकि प्रशासन कार्यों का विभाजन उचित ढंग से किया जा सके और विभागों में समन्वय किया जा सके।

टिप्पणी

S **(एस) कर्मचारियों की व्यवस्था करना** – स्टाफ अर्थात संपूर्ण कर्मचारी वर्ग की नियुक्ति, प्रशिक्षण और उनके लिए कार्य करने की अनुकूल दशाओं का निर्माण करना।

D **(डी) निर्देशित करना** – इसके अंतर्गत वे निर्णय आते हैं जो निर्णायकों द्वारा कर्मचारियों के कार्यों के संबंध में लिए जाते हैं। ये निर्णय सामान्य आदेश के रूप में सन्निहित करके प्रशासकीय कर्मचारियों तक पहुंचाए जाते हैं।

Co **(को) समन्वय करना** – कार्य के विभिन्न भागों को परस्पर संबंधित करना अथवा उनमें समन्वय स्थापित करना।

R **(आर) रिपोर्ट देना** – इसका उद्देश्य वरिष्ठ तथा निम्न कर्मचारियों के कार्यों के संबंध में निरीक्षण अधिकारियों को सूचित करना है। इसका उद्देश्य निरीक्षण के लिए अभिलेख तैयार करना है।

B **(बी) बजट तैयार करना** – इसके अंतर्गत वित्त व्यवस्था का संक्षिप्त अध्ययन करते हैं। विशेष रूप से इसका अध्ययन बजट तैयार करने से है।

उपर्युक्त 'पोस्डकॉर्ब' क्रियाएं सभी संगठनों में संपन्न की जाती हैं। प्रशासन का कोई भी क्षेत्र हो तथा कोई भी उद्देश्य हो, से प्रबंध संबंधी सामान्य समस्याएं सब में एक सरीखी और अनिवार्य होती हैं। लोक प्रशासन के कार्य क्षेत्र के संबंध में 'पोस्डकॉर्ब' विचार को सामान्यतया स्वीकार किया जाता है।

पोस्डकॉर्ब सिद्धांत की आलोचना – पोस्डकार्ब सिद्धांत के विरुद्ध यह कहा जाता है कि वह अत्यंत स्वेच्छाचारी तथा काल्पनिक है और जिसके अंतर्गत प्रशासन के वास्तविक तत्व को छोड़ दिया गया है। इस सिद्धांत की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि इससे लोक प्रशासन से संबद्ध एक महत्वपूर्ण तत्व की उपेक्षा की गई है। वह तत्व है–पाठ्य विषय का ज्ञान। इस आलोचना के प्रमुख प्रतिपादक लेविस मेरियम हैं। उन्हीं के शब्दों में, ''किसी भी प्रशासकीय अभिकरण के प्रभावशाली एवं प्रशासन के लिए उससे संबंधित पाठ्य विषय का गहरा ज्ञान प्राप्त कर लेना नितांत अनिवार्य है।''

पोस्डकॉर्ब दृष्टिकोण केवल प्रशासन की तकनीकी से संबंधित है, उसके पाठ्य विषय से नहीं। पोस्डकॉर्ब को यदि प्रशासन का सामान्य तत्व स्वीकार कर लिया जाए, तो उसके अर्थ होंगे प्रशासन के हृदय को बाहर निकाल फेंकना क्योंकि उसका संबंध प्रबंधक तक ही सीमित नहीं है वरन् शिक्षा, चिकित्सा तथा सुरक्षा आदि से भी है। पोस्डकॉर्ब विचार और पाठ्य विषय दोनों को मिलाने से है। लोक प्रशासन का कार्य क्षेत्र पूर्णरूपेण निर्धारित होता है।

लेविस मेरियम के शब्दों में, ''कैंची के दो फलकों के समान लोक प्रशासन दो फलकों वाला औजार है। उस औजार का एक फलक है पोस्डकॉर्ब के अंतर्गत आने वाले क्षेत्रों का ज्ञान है। दूसरा फलक है उस पाठ्य विषय का ज्ञान जिसमें कि यह तकनीकी लागू की जाती है। उस औजार को प्रभावशाली बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसके दोनों ही फलक ठीक हों।''

वे विद्वान भी पोस्डकॉर्ब विचार की आलोचना करते हैं जो प्रशासन के क्षेत्र में मानवीय संबंधों के दृष्टिकोण के समर्थक हैं। इस प्रयोगकर्ता का कहना है कि उत्पादकता काम करने वालों की सेवा की दशाओं पर निर्भर रहती है। प्रशासन में इस लक्ष्य की उपेक्षा करना ठीक नहीं है। पोस्डकॉर्ब इस लक्ष्य के प्रति उदासीन है। लोक

प्रशासन के अंतर्गत केवल प्रशासन की तकनीकों एवं विधियों का ही अध्ययन नहीं किया जाना चाहिए जो उन तकनीकों एवं विधियों को प्रयुक्त करते हैं।

टिप्पणी

4. लोक–कल्याणकारी दृष्टिकोण – लोक प्रशासन के क्षेत्र से संबंधित एक अन्य दृष्टिकोण कल्याणकारी दृष्टिकोण है। इसे आदर्शवादी दृष्टिकोण भी कहा जाता है। इस दृष्टिकोण के समर्थक राज्य के शासन और लोक प्रशासन में अधिक अंतर नहीं मानते। उनके अनुसार वर्तमान समय में राज्य लोक कल्याणकारी है अतः लोक प्रशासन भी लोक कल्याणकारी है। दोनों का लक्ष्य एक ही है–जनहित अथवा जनता को प्रत्येक प्रकार से सुखी बनाना। इस दृष्टिकोण के समर्थक कहते हैं कि आज लोक प्रशासन सभ्य जीवन का रक्षक मात्र ही नहीं वह सामाजिक न्याय तथा सामाजिक परिवर्तन का भी महान साधन है। इससे स्पष्ट होता है कि लोक प्रशासन का क्षेत्र जनता के हित में किए जाने वाले सभी कार्यों तक फैला हुआ है।

अतः कहा जा सकता है कि वर्तमान युग में लोक प्रशासन की क्रियाओं का क्षेत्र अत्यंत व्यापक हो गया है और समाजवादी व जनकल्याणकारी विचारधारा की प्रगति के साथ–साथ वह निरंतर बढ़ता ही जा रहा है। लोक प्रशासन के अंतर्गत केंद्र, राज्य तथा स्थानीय सभी स्तरों की सरकारों के संगठन एवं कार्य प्रणाली का अध्ययन किया जाता है। पोस्डकॉर्ब द्वारा दर्शायी गई तकनीकों का भी अध्ययन किया जाता है और मानवीय संबंधों का भी। लोक प्रशासन के अंतर्गत केवल प्रशासन की तकनीकों एवं विधियों का ही अध्ययन नहीं किया जाना चाहिए वरन् इसको अपना ध्यान उन मनुष्यों पर भी केंद्रित करना चाहिए जो कि उन तकनीकों एवं विधियों का प्रयोग करते हों और जो प्रशासनिक संगठनो में काम करते हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि लोक प्रशासन से संबंध सिर्फ सार्वजनिक नीतियों को कार्यान्वित करने से नहीं है, बल्कि उनकी समस्याओं पर भी विचार करने से है। वास्तव में, लोक प्रशासन के क्षेत्र का निर्धारण इस बात पर निर्भर करता है कि राज्य की जनता सरकार से क्या चाहती है। यदि वह राज्य से अधिक से अधिक कार्यों को पूरा करने की आशा रखती है, तो प्रशासन के क्षेत्र में वृद्धि होना स्वाभाविक है। राज्य के कार्यक्षेत्र में वृद्धि के साथ–साथ लोक प्रशासन का क्षेत्र बढ़ता ही जा रहा है। प्रशासन को चुस्त और कार्यकुशल बनाने के लिए इसका अध्ययन क्षेत्र और विस्तृत होता जा रहा है। आधुनिक युग में लोक प्रशासन के अंतर्गत विकास प्रशासन, बैंक प्रशासन, जीवन बीमा निगम प्रशासन, लाइसेंस प्रशासन, जिला प्रशासन, प्रखंड प्रशासन, ग्राम प्रशासन इत्यादि अनेक विषयों का अध्ययन होने लगा है।

लोक प्रशासन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

लोक प्रशासन की कला मानव समाज में इसके आदिकाल से चली आ रही है। जब आदि मानव वन्य जीवन व्यतीत कर रहा था, उस समय में इस कला के बीज निहित थे। वह इसकी सहायता से ही अपनी उन्नति कर सका। किंतु शास्त्रीय विषय के रूप में इसका विधिवत विवेचन और व्यवस्थित अध्ययन 18वीं शताब्दी के अंतिम चरण से आरंभ हुआ।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य (प्राचीन काल)

लोक प्रशासन प्रबंध की क्रिया तथा ज्ञान की पृथक शाखा या विषय दोनों हैं। प्रबंध क्रिया के रूप में लोक प्रशासन उतना ही पुराना है जितना सामाजिक जीवन।

टिप्पणी

प्राचीन मिस्र, चीन, भारत और मेसोपोटामिया की नदी–घाटियां सभ्यता की प्राचीनतम जन्मभूमि तो थीं ही, इस घाटियों में ही लोक प्रशासन ने आरंभ में एक मूर्त रूप ग्रहण किया। मिस्र में नील नदी के जल मार्गों के नियमन की आवश्यकता के कारण केंद्रित कर्मचारीतंत्रात्मक प्रशासन की प्राचीनतम व्यवस्था का विकास हुआ। प्रतियोगिता परीक्षाओं द्वारा भर्ती की जाने वाली लोक सेवाओं का विकास चीन में ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में ही हो गया था। प्राचीन भारत में प्रशासन की कला राजशास्त्र का अंग समझी जाती थी तथा गंगा–सिंधु घाटी के ग्राम समाज, गणराज्यों तथा राजतंत्रात्मक राज्यों में हमें इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि वहां बहुत प्राचीन काल से एक पर्याप्त सुविकसित प्रशासकीय व्यवस्था विद्यमान थी। रामायण, महाभारत तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्रशासन के कतिपय उन्नत नियमों का वर्णन किया गया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'लोक प्रशासन' विषय का विस्तृत और व्यवस्थित ढंग से विवेचन किया गया है। उसमें शासन के विभिन्न पदाधिकारियों के कर्तव्यों और दायित्वों का पूरा विवरण है तथा सरकारी अधिकारियों और लगान वसूली से जुड़े कर्मचारियों की भर्ती और प्रशिक्षण के बारे में विस्तार से व्याख्या की गई है।

प्राचीन यूनान के नगर राज्यों में भी लोक प्रशासन का संगठित रूप हमें प्राप्त होता है। रोमन शासकों ने लोक प्रशासन को वैधानिक मानदंड एवं स्वरूप प्रदान किए। मध्यकालीन सामंतवाद ने प्रशासन के क्षेत्र में एक अराजकतापूर्ण विकेंद्रीकरण का समावेश किया परंतु उसके खंडित सूत्रों को फ्रांस, इंग्लैंड व रूस के नवोदित राजतंत्रों ने पुनः संगठित व समायोजित कर दिया। राजा की सत्ता के विस्तार तथा केंद्रीकरण का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि राजमहलों के कर्मचारियों की संख्या में निरंतर वृद्धि होती चली गई। इसके फलस्वरूप राज्य के प्रशासन कार्य को मंत्रालयों, विभागों और उसके क्षेत्रीय कार्यकलापों में संगठित कर लिया गया। एक ऐसी लोक सेवा की रचना हुई जिसके कर्मचारियों को पूर्णतया सिफारिश के आधार पर भर्ती किया जाता था। फ्रांस संसार का सबसे पहला देश था जिसने अपनी लोक सेवा के कर्मचारियों को योग्यता व गुणों के आधार पर भर्ती किया। इस प्रकार संगठित की जाने वाली लोक सेवा की सफलता ने दूसरे देशों का ध्यान भी अपनी ओर आकर्षित किया तथा कालांतर में उन्होंने इसी पद्धति का अनुसरण करना आरंभ कर दिया। औद्योगिक क्रांति तथा लोकतंत्र के विकास के कारण प्रशासन के क्षेत्र तथा उसके कार्यों के बारे में अनेक समस्याएं उत्पन्न हो गईं। विश्व–युद्धों ने प्रशासकीय समस्याओं को और अधिक जटिल बना दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रशासन का संगठन व उसकी कार्य–विधि पहले की अपेक्षा अधिक तकनीकी एवं दुरूह हो गई। अब आर्थिक संकट, सामाजिक न्याय तथा सामाजिक सुरक्षा से संबंधित समस्याओं के निराकरण का भार लोक प्रशासकों पर आ पड़ा है।

लोक प्रशासन के अध्ययन का विकास (अर्वाचीन काल)

यद्यपि प्रशासन का अनुभव प्राचीनकाल से चला आ रहा है, पर इसका अध्ययन अभी हाल के वर्षों में ही होने लगा है। प्रशासकीय व्यवस्था की ओर अधिक ध्यान अभी हाल के वर्षों में इन कारणों से दिया जाने लगा है–

(i) वर्तमान राज्यों में सरकार का प्रशासनिक कार्य बहुत अधिक बढ़ गया है, अतः प्रशासनिक व्यवस्था एवं कार्यपद्धति का अध्ययन आवश्यक हो गया है। (ii) लोक

टिप्पणी

प्रशासन पर राष्ट्रीय आय का काफी बड़ा अंश खर्च हो जाता है, अतः यह आवश्यक हो गया है कि इस धन को उचित रूप में खर्च किया जाए और हर प्रकार की फिजूलखर्ची रोकी जाए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भी लोक प्रशासन का अध्ययन आवश्यक हो गया है। (iii) चूंकि प्रशासन विज्ञान है, अतः यह आवश्यक है कि अन्य विज्ञानों की भांति इसका भी अध्ययन किया जाए। जब सरकार का काम इतना बढ़ गया है, तो यह प्रश्न उठता है कि इन कामों को अच्छी तरह कैसे किया जाए। इसके लिए प्रशासनिक समस्याओं के अध्ययन एवं अनुसंधान की आवश्यकता प्रतीत हुई।

एक क्रिया के रूप में तो लोक प्रशासन काफी प्राचीन है तथापि अध्ययन की एक शाखा या विद्या के रूप में उसका उदय वर्तमान काल में ही संभव हुआ है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि एक लंबे समय तक प्रशासन संबंधी समस्त चिंतन राजनीति, नीतिशास्त्र तथा विधिशास्त्र जैसी विधाओं के साथ घुला–मिला रहा। यही कारण है कि रामायण और महाभारत जैसे ग्रंथों के भीतर राजनीतिक चिंतन के साथ ही प्रशासन संबंधी चिंतन भी पर्याप्त मात्रा में सन्निहित है। स्मृतियां हिंदुओं के विधि ग्रंथ हैं। उनमें न्यायिक संगठन एवं सामान्य प्रशासन का विस्तार से वर्णन किया गया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र ने राज्य के सैद्धांतिक आधारों की अपेक्षा प्रशासन की समस्याओं का अधिक विश्लेषण किया गया है। इसमें राजतंत्र, नौकरशाही, भ्रष्टाचार, समन्वय, भूराजस्व, कराधान आदि विषयों का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। अबुल फजल द्वारा लिखित ग्रंथ (अकबर के काल में) आइन–ए–अकबरी लोक प्रशासन का एक उल्लेखनीय ग्रंथ माना जाता है। मैकियावेली की रचना 'प्रिन्स' में शासन संचालन एवं प्रशासन काल की विस्तृत व्याख्या मिलती है।

आधुनिक काल में राजनीति शास्त्र के ग्रंथों तथा राजनीतिज्ञों के संस्मरणों में समय–समय पर प्रशासनिक विषयों की विवेचना की गई, परंतु लोक प्रशासन को अध्ययन का स्वतंत्र विषय नहीं माना गया। 17वीं शताब्दी तक तो 'लोक प्रशासन' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया था। यूरोपीय भाषाओं में 'लोक प्रशासन' शब्द का प्रचलन 17वीं शताब्दी में हुआ, जब सम्राटों द्वारा लोक कार्यों में प्रशासन तथा उनकी निजी घरेलू व्यवस्था के बीच अंतर किया जाना जरूरी हुआ। आधुनिक लोक प्रशासन का अध्ययन पहली बार प्रशा (जर्मनी) में प्रारंभ हुआ जहां उसे परीवीक्षाधीन लोक कर्मचारियों के प्रशिक्षण पाठ्यक्रम में स्थान दिया गया। जर्मनी और ऑस्ट्रिया में 1500 से 1700 के बीच पनपे कैमरेवादियों ने सरकारी कर्मचारियों के कॉडर, स्वरूप, कार्यों और अपेक्षित व्यवहार के क्षेत्र में अनुसंधान पर जोर दिया। संयुक्त राज्य अमरीका में 18वीं शताब्दी के अंत में प्रकाशित विश्वकोष 'फेडरेलिस्ट' के 72वें परिच्छेद में अमरीका के पहले वित्तमंत्री अलेक्जैंडर हैमिल्टन ने लोक प्रशासन के अभिप्राय और क्षेत्र की सुस्पष्ट व्याख्या की। सन् 1812 में फ्रेंच लेखक चार्ल्स जीन बोनिन (Charles Jean Bonnin) ने 'लोक प्रशासन के सिद्धांत (Principles D'Administration Publique) नामक इस विषय की पहली पुस्तक लिखी। बोनिन ने ही नेपोलियन के शासन काल में 1800 के प्रारंभिक काल में हुई प्रशासनिक क्रांति के बाद सरकारी अधिकारियों के लिए प्रशासनिक संहिता का मसौदा तैयार किया। फ्रांस में कई और रचनाएं भी प्रकाशित हुईं जिनमें 1895 में प्रकाशित विवेचन की पुस्तक 'एडमिनिस्ट्रेटिव स्टडीज' (Administrative Studies) का नाम उल्लेखनीय है। फिर भी लोक प्रशासन का जनक अमरीकी विद्वान वुडरो विल्सन को ही माना जाता है और इस विषय का जन्म सन् 1887 में हुआ मानते हैं।

टिप्पणी

1.2.3 लोक प्रशासन का महत्व

लोक प्रशासन का महत्व हमारे दैनिक जीवन में निरंतर बढ़ता जा रहा है। 19वीं शताब्दी में राज्य 'पुलिस राज्य' माना जाता था और उसका कार्यक्षेत्र सीमित और कार्य निषेधात्मक थे। किंतु आज 'पुलिस राज्य' का स्थान जनकल्याणकारी राज्य की सकारात्मक अवधारणा ने ले लिया है। वर्तमान में राज्य के कार्यों में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। हमारे जीवन का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो जो राज्य की क्रियाओं से प्रभावित न होता हो। राज्य की समस्त क्रियाओं और गतिविधियों का क्रियान्वयन व संचालन लोक प्रशासन द्वारा होता है। अतः राज्य के बढ़ते हुए दायित्वों एवं गतिविधियों के साथ लोक प्रशासन का महत्व भी बढ़ता जा रहा है।

आधुनिक राज्य को प्रशासकीय राज्य ((Administrative State) कहा गया है जहां 'झूले से लेकर कब्र' (From cradle to garve) तक व्याष्टि जीवन के प्रत्येक मोड़ पर व्यक्ति लोक प्रशासन के संबंधित रहता है। लोक प्रशासन व्यक्ति के जन्म से पूर्व ही उसमें रुचि लेने लगता है तथा मृत्यु के उपरांत भी अपनी अभिरुचि बनाए रखता है। गर्भवती माता के समुचित आहार एवं दवाइयों की व्यवस्था करना, व्यक्ति की मृत्यु का सरकारी अभिलेख में उल्लेख करना, बेरोजगारी, अभाव, प्राकृतिक आपदा, महामारी प्रकोप इत्यादि के समय नागरिकों की सहायता करना लोक प्रशासन के महत्व को दर्शाता है।

राज्य की नीतियों को कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व लोक प्रशासन पर ही होता है। राज्य की नीतियां चाहे वे कितनी अच्छी क्यों न हों, उसके परिणाम तभी अच्छे निकल सकते हैं, जब उन्हें कुशलतापूर्वक एवं सत्यनिष्ठा से लागू किया जाए। प्रशासन सरकार का व्यक्तित्व है, सरकार के हाथ, पैर और चक्षु है, सरकार की सफलता का रहस्य है। इसलिए वर्तमान युग को प्रशासनिक राज्य का युग (Age ofAdministrative State) कहा गया है।

भारत में ग्यारहवें आम चुनाव (1996) के उपरांत केंद्र में कई संविद सरकारें बनीं और बिगड़ीं (इसमें अटल बिहारी वाजपेयी, एच.डी. देवगौड़ा और इंद्र कुमार गुजराल की सरकारें सत्तारूढ़ हुईं और उनका पतन हुआ) परंतु प्रशासन में व्यवस्था एवं स्थिरता बनी रही। प्रशासन तो वह स्थूल एवं संगठित वस्तु है, जिसे फ्रांस जैसी भयंकर राज्य क्रांति भी नहीं हिला सकी।

आधुनिक युग में प्रशासन सामाजिक परिवर्तन (Social Change) तथा सुधार संशोधन का एक महान अभियान है। महान सामाजिक परिवर्तनों को नियोजित एवं व्यवस्थित रूप में क्रियान्वित करने का भार देश के लोक प्रशासन के कंधों पर ही है। हमारे देश में।बेरोजगारी, गरीबी, छुआछूत मिटाने के लिए राज्य दृढ़ संकल्प लिए हुए हैं। नीति निर्देशन सिद्धांतों को अमल में लाने के लिए समाजवादी समाज के निर्माण और कल्याणकारी आदर्शों के यथार्थ क्रियान्वयन के लिए राज्य कटिबद्ध हैं। चार्ल्स ए. बीयर्ड का मत है कि, प्रशासन के विषय से अधिक महत्वपूर्ण अन्य कोई विषय नहीं होता। सभ्य शासन एवं मेरे विचार में सभ्यता का भविष्य भी, हमारी इस क्षमता पर निर्भर करता है। हम एक सभ्य समाज के कार्यों की पूर्ति के लिए एवं कुशल प्रशासकीय दर्शन, विज्ञान एवं व्यवहार का विकास कर सकें।

टिप्पणी

ब्रिटिश प्रशासन विशेषज्ञ ग्लेडन के शब्दों में, ''लोकतंत्र में प्रशासन प्रत्येक नागरिक के अध्ययन, चिंतन और मनन का विषय है, भले ही वह छात्र हो या मजदूर, विचारक हो या सरकारी कर्मचारी। सभी व्यक्ति उत्तम जीवन बिताना चाहते हैं, इसमें लोक प्रशासन बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अतः वर्तमान युग में यह अति आवश्यक हो गया है।''

अपनी प्रगति जांचिए

1. किस शताब्दी में 'प्रशासन' शब्द का प्रयोग 'प्रबंध' के अर्थ में होने लगा?
   (क) 14वीं शताब्दी (ख) 15वीं शताब्दी
   (ग) 16वीं शताब्दी (घ) 18वीं शताब्दी
2. किस विचारक के अनुसार, "एक अच्छे प्रशासक को पोस्डकॉर्ब तकनीकों में पारंगत होना चाहिए।"
   (क) लुथर गुलिक (ख) फिफ्नर
   (ग) नीग्रो (घ) एल.डी. ह्वाइट

1.3 लोक प्रशासन के मूल सिद्धांत

प्रो. वार्नर ने अधिक स्पष्टता और विस्तार के साथ लोक प्रशासन के आठ आधारभूत सिद्धांतों का निरूपण किया है, जिनकी प्रो. ह्वाइट ने विस्तार से निम्नांकित रूप में व्याख्या की है।

1. राजनीतिक निर्देशन का सिद्धांत

लोक प्रशासन को एक ऐसे अभिकरण के रूप में कार्यशील रहना चाहिए जो राजनीतिक कार्यपालिका के नियंत्रण में कार्य करता हो और उसके प्रति उत्तरदायी रहता हो। राजनीतिक कार्यपालिका के नियंत्रण नीतियों का अनुपालन करना लोक प्रशासकों का कर्तव्य है।

प्रशासकीय संगठन सामान्यतः दूसरों की इच्छानुसार कार्य करता है। उसके पास स्वयं का कोई उपक्रम नह होता और यदि होता भी है तो केवल उन विषयों के बारे में जो ऐसे उच्चतर कार्यपालिका द्वारा सौंपी जाए।

प्रशासन यद्यपि स्थायी कार्यपालिका है तथापि उसे अस्थायी राजनीतिक कार्यपालिका के संरक्षण में कार्य करना होता है और इसका यह स्वाभाविक निष्कर्ष है कि प्रशासकीय कर्मचारियों को राजनीतिक क्षेत्र में सक्रिय भाग लेने से बचना चाहिए। भारत में प्रशासकीय कर्मचारियों को राजनीति में सक्रिय भाग लेने का निषेध है।

2. लोक उत्तरदायित्व का सिद्धांत

लोक प्रशासन का अन्तिम उद्देश्य जनता की हित साधना है। अतः वह अन्तिम रूप में जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। राजनीतिक कार्यपालिका द्वारा लोक प्रशासन का उत्तरदायित्व जनता के प्रतिस्थापित होता है।

टिप्पणी

लोक प्रशासकों को स्वयं को जनता का स्वामी न सेवक मानना चाहिए। उनका यह कर्तव्य है कि वे जनता की कठिनाइयों को दूर करें और जनता की समस्याओं का समाधान करने को सदैव तैयार रहें। यही कारण है कि प्रशासकीय कार्यों के व्यापक अभिलेख रखे जाते हैं ताकि यदि व्यवस्थापिकाओं में अथवा अन्यत्र कोई प्रश्न उठे तो प्रशासकीय कर्मचारी प्रमाणित उत्तर दे सकें।

लोक प्रशासकों से यह अपेक्षित है कि वे जनता के साथ निष्पक्ष और समान व्यवहार करें, किसी वर्ग अथवा व्यक्ति के साथ पक्षपात न करें। ऐसा करने पर ही लोक प्रशासन जन विश्वसनीयता अर्जित कर सकता है।

3. सामाजिक आवश्यकता का सिद्धांत

लोक प्रशासन जनता के हित के लिए है अर्थात् उसका उद्देश्य सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति होना चाहिए। लोक प्रशासन को सम्यता और संस्कृति का रक्षक तथा शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने वाला यन्त्र इसलिए कहा जाता है कि वह सामाजिक यान्त्रिक संगठन का केन्द्र है और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के सिद्धांत का आचरण करता है। लोक प्रशासन के सिद्धांत की अन्तिम कसौटी यह है कि वह जन आकांक्षाओं के कितना अनुरूप है।

योजनाएं बना लेना आसान है, लेकिन उनका वास्तविक महत्व तो उनके क्रियान्वयन, ईमानदार और कुशलता में है तो योजनाओं के समुचित क्रियान्वयन द्वारा वह देश और समाज को लाभान्वित कर सकता है। सामाजिक प्रगति के संदर्भ में लोक प्रशासन की मात्रात्मक सफलता की अपेक्षा गुणात्मक सफलता अधिक महत्वपूर्ण है।

4. कार्यकुशलता का सिद्धांत

लोक प्रशासकों से अपेक्षा की जाती है कि वे अधिकाधिक कार्यकुशल बनें, युक्ति एवं विवेक से काम लें तथा अपनी कार्यक्षमता को इतना बढ़ाएं कि वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति सुगम हो जाए। प्रशासनिक कार्यकुशलता का विकास करने के लिए प्रशासन में यथासम्भव स्थिरता लाई जाए अर्थात् जल्दी–जल्दी परिवर्तन की नीति को छोड़ा जाए, अधिकारियों और कर्मचारियों के कर्तव्यों का स्पष्ट एवं निश्चित निर्धारण किया जाए, प्रशासक–उपक्रम की स्थापना की जाए, पदोन्नति के न्यायगत नियम बनाए जाएं निर्णय में शीघ्रता और सुनिश्चितता लाई जाए तथा उत्तरदायित्व एवं शीघ्रता आदि के लिए पदाधिकारियों को प्रोत्साहन दिया जाए।

कम से कम व्यय पर अधिक से अधिक कुशलता और कार्यक्षमता के सिद्धांत का आचरण किया जाए। प्रशासनिक कार्य कुशलता बहुत कुछ राजनीतिक और स्थाई कार्यपालिका के पारम्परिक संबंध पर भी आश्रित हैं। यदि दोनों के संबंध मधुर और समन्वयात्मक हैं तो प्रशासन की गाडी सुचारू रूप से चलती है।

यह उचित है कि भर्ती की समुचित व्यवस्था की जाए और राजनीतिक कार्यपालिका के निर्देश और उसकी नीतियों में स्पष्टता बढ़ती जाए। राजनीतिक कार्यपालिका नीति–निर्धारण में स्थाई कार्यपालिका के कुशल कर्मचारियों से परामर्श ले और उनका सहयोग प्राप्त करें। कार्यकुशलता ही लोक प्रशासन की सफलता की कुंजी होती है।

टिप्पणी

5. जन–सम्पर्क का सिद्धांत

सुनियोजित जन–सम्पर्क लोकप्रिय प्रशासन की कल्पना के बिना निरर्थक है। लोक कल्याणकारी राज्य में लोक सम्पर्क का महत्व निर्विवाद है। प्रशासन के क्षेत्र में लोक–सम्पर्क के कुछ मूलभूत उद्देश्य होते हैं। यथा–

- सरकार द्वारा संचालित अभियानों (उदाहरणार्थ– अल्प बचत या परिवार नियोजन) में जन साधारण को सहयोग के लिए प्रेरित करना,
- सरकारी नियमों और कानूनों का पालन,
- सरकारी नीतियों के समर्थन के लिए जनता में प्रचार आदि।

लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली में सरकार के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह समय–समय पर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर अपनी नीतियों से जनता को अवगत कराती रहे। जनता के सतर्क और सक्रिय समर्थन के अभाव में इन नीतियों का परिपालन भी कठिन है। कई बार सरकार के आन्तरिक अथवा बाह्य विरोधियों के जवाब में जवाबी प्रचार भी करना पड़ता है। इस प्रकार की भूमिका! लोक सम्पर्क को निभानी पड़ती हैं।

पुनश्च– प्रशासन का एक मूल उद्देश्य जनता की आवश्यकताओं को समझना और उन्हें दूर करने का प्रयास करना है। लोक सम्पर्क के माध्यम से कठिनाइयों को खोजकर उनका उचित निदान करना अधिक सुगम हो जाता है।

भारत में लोकसम्पर्क के लिए केन्द्रीय सूचना तथा प्रसार मन्त्रालय के अन्तर्गत निम्नलिखित विभाग या शाखाएं कार्यरत हैं–

(1) आकाशवाणी,

(2) पत्र–सूचना कार्यालय,

(3) रजिस्ट्रार, न्यूजपेपर्स ऑफ इण्डिया,

(4) फिल्म डिवीजन,

(5) प्रकाशन विभाग,

(6) विज्ञापन तथा दृश्य प्रचार निदेशालय,

(7) फोटो डिवीजन,

(8) संदर्भ तथा अनुसन्धान विभाग, और

(9) क्षेत्रीय प्रचार विभाग।

6. संगठन का सिद्धांत

प्रशासन एक सहकारी प्रक्रिया है। इसमें अनेक व्यक्ति पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार मिलकर कार्य करते हैं। योजनाबद्ध व्यवहार किसी संगठन की मूल विशेषता होती हैं। लोक प्रशासन को सफलता की सीढ़ियां चढ़ने के लिए संगठन के सिद्धांत का अनुसरण करना चाहिए। प्रशासकीय विभागों में पारस्परिक आदान–प्रदान के साथ–साथ समन्वय होना नितान्त आवश्यक है।

संगठन में दो बातें सम्मिलित हैं– श्रम–विभाजन और कार्य–विशेषीकरण। दोनों की सफलता इस बात में है कि किसी भी कार्य के आते ही जनता और सरकारी

टिप्पणी

कर्मचारियों को यह पता लग जाए कि उसका संबंध सरकार के किस विभाग तथा संगठन के किस सोपान से हो।

संगठन की सफलता के लिए आवश्यक है कि लाइन तथा स्टॉक अभिकरणों में स्पष्ट विभाजन हो। कोई भी प्रशासनिक क्रिया संगठन के बिना संचालित नह की जा सकती। प्रशासन और संगठन के बीच अटूट संबंध है।

7. विकास एवं प्रगति का सिद्धांत

लोक प्रशासन सामाजिक हित के साध्य की उपलब्धि का साधन है। अतः स्वाभाविक है कि वह सामाजिक प्रगति के साथ कदम मिलाकर चले तथा सामाजिक आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुरूप अपने स्वरूप, संगठन और प्रक्रियाओं में परिवर्तन एवं संशोधन के लिए तैयार रहे।

उसमें नए मूल्यों और दृष्टिकाणों के अनुकूल ढलने का लचीलापन हो। सिद्धांत और व्यवहार में लोक प्रशासन यह मानकर चले कि लोक कल्याणकारी राज्य में उसका व्यापक दायित्व है और उसे समाज की विभिन्न समस्याओं तथा आवश्यकताओं का निदान करते हुए देश को विकास और प्रगति के पथ पर अग्रसर करना है।

अतः लोक प्रशासन सदैव वैज्ञानिक और मानवीय दृष्टिकोण को अपनाते हुए पुराने घिसे–पिटे तर्कों के स्थान पर नवीन पद्धतियों को प्रयोग में लाए तथा लोक–सम्पर्क का अधिकाधिक विकास करें। अपनी गति और शक्ति बनाए रखने के लिए लोक प्रशासन सभी आवश्यक वैज्ञानिक और आधुनिक उपाय अपनाता रहे। वह राजनीतिक इंजन से बल प्राप्त करें और निकम्मे नौकरशाही के आवरण को हटाकर लोक–हित का जामा पहने।

8. अन्वेषण अथवा खोज का सिद्धांत

लोक प्रशासन में यद्यपि भौतिक विज्ञान की तरह प्रयोगशालाएं स्थापित नहीं की जा सकतीं तथापि मस्तिष्क और अनुभव द्वारा उसकी सामग्री अवश्य ही एकत्रित की जा सकती है जिसके आधार पर कार्योपयोगी निष्कर्ष निकाले जा सकें, प्रशासनिक कुशलता बढ़ाई जा सके तथा प्रशासनिक उद्देश्यों की पूर्ति की दिशा में तेजी से अग्रसर हुआ जा सके। भारत सरकार का दिल्ली स्थित लोक प्रशासन संस्थान प्रशासकीय खोज के क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य कर रहा है। उसने अनेक खोज कार्यक्रमों और योजनाओं को संचालित किया है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. प्रो. वार्नर ने लोक प्रशासन के कितने आधारभूत सिद्धांतों का निरूपण किया है?

   (क) पांच (ख) छह

   (ग) सात (घ) आठ

4. निम्न में से कौन–सा विभाग भारत में लोकसंपर्क के लिए केंद्रीय सूचना तथा प्रसार मंत्रालय के अंतर्गत कार्यरत है?

   (क) आकाशवाणी (ख) फिल्म डिवीजन

   (ग) क्षेत्रीय प्रचार विभाग (घ) उपर्युक्त सभी

1.4 लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन

टिप्पणी

प्रशासन को सामान्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जाता है – लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन। किसी देश की सरकार द्वारा किए जाने वाले और समूची जनता से संबंध रखने वाले कार्यों को 'लोक प्रशासन' के अंतर्गत समझा जाता है जबकि 'निजी प्रशासन' से अभिप्राय उन कार्यों से है वे कार्य जो व्यक्तिगत या गैर सरकारी संस्था द्वारा निजी लाभ के लिए किए जाते हैं। इनमें लोकहित की भावना नहीं होती। लोक प्रशासन और निजी प्रशासन के प्रति दो विचित्र प्रकार के दृष्टिकोण पाए जाते हैं। पहला दृष्टिकोण इन दोनों में किसी प्रकार का भेद नहीं मानता, दोनों को एक ही मानता है, किंतु दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार दोनों में पर्याप्त भेद है।

लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में समानता

लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के मध्य काफी समानताएं हैं। ऐसे अनेक विचारक हैं, जो लोक प्रशासन में समान तकनीक एवं तौर तरीकों के हिमायती हैं। यही कारण है कि पश्चिम के अनेक विश्वविद्यालयों में लोक प्रशासन एवं व्यावसायिक (निजी) प्रशासन के एक सामान्य विभाग की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ। भारत के हैदराबाद नगर में 'एडमिनिस्ट्रेटिव स्टाफ कॉलेज' की स्थापना से भी इस समानता की पुष्टि हो जाती है क्योंकि यही दोनों क्षेत्रों के प्रबंधन प्रशासकों को इस आधार पर प्रशिक्षित करता है कि दोनों में अनेक समान लक्षण मौजूद हैं। आधुनिक समाज में व्यापक जन कल्याण में वृद्वि के लिए दोनों क्षेत्रों के प्रशासकों में परस्पर समझ और सहयोग आवश्यक है।

फ्रांसीसी चिंतक हेनरी फेयोल, मेरी पार्कर फॉले और उर्विक के अनुसार प्रशासन के मूल तत्व प्रायः एक से ही रहते हैं, चाहे वे निजी क्षेत्र के प्रशासन के हों या सार्वजनिक क्षेत्र के। हेनरी फेयोल ने लिखा है, ''मैंने जो प्रशासन शब्द का अर्थ प्रस्तुत किया है और जिसे सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है, उससे प्रशासन द्वारा की जाने वाली सेवाओं का क्षेत्र काफी विस्तृत हो जाता है।'' इसमें न केवल सार्वजनिक सेवाएं अपितु प्रत्येक आकार प्रकार और प्रयोजन को पूरा करने वाले सभी प्रकार के उद्योग सम्मिलित हैं। इन सब में योजना बनाने, संगठन, आदेश समन्वय, नियंत्रण के कार्यों की आवश्यकता होती है। समुचित रूप से कार्य करने के लिए सभी में एक जैसे सामान्य नियमों के अनुसार कार्य करना पड़ता है। अब केवल एक ही ऐसा प्रशासन है जिसे सार्वजनिक एवं निजी विषयों में समान रूप से अच्छी तरह से उपयोग में लाया जा सकता है। उर्विक ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए कहा है, ''यह बात गंभीरतापूर्वक सोचना कठिन है कि बैंक में काम करने वाले व्यक्तियों का एक अलग जीव रसायन विज्ञान होता है, प्राध्यापकों का एक पृथक शरीर क्रिया ज्ञान तथा राजनीतिज्ञों का एक अलग रोग मनोविज्ञान होता है। वस्तुतः ये सब लोगों के लिए समान रूप से एक जैसे ही होते हैं।''

लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन में जहां स्पष्ट अंतर है, वहां कुछ बातों में समानता भी है। उर्विक सार्वजनिक और निजी प्रशासन में किसी भी प्रकार का अंतर करना उचित नहीं समझते हैं और वह इन दोनों की निम्नलिखित समानताओं पर बल देते हैं–

टिप्पणी

1. **संगठन की आवश्यकता** – प्रशासन चाहे सरकारी स्तर का हो या निजी स्तर का, संगठन की आवश्यकता दोनों में पड़ती है। संगठन प्रशासन का शरीर है। यदि मानवीय एवं भौतिक साधनों का उचित संगठन न किया जाए, तो प्रशासन के लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं हो सकती।

2. **कार्य प्रणाली में समानता** – बड़े पैमाने के एक व्यावसायिक उद्यम के प्रशासन तथा एक बड़ी सरकारी सेवा के प्रशासन दोनों की कार्य प्रणाली लगभग एक सी होती है। एक बड़े उद्यम, चाहे वह सरकारी हो या गैर सरकारी, के समुचित प्रशासन के लिए नियोजन, संगठन, आदेश, समन्वय तथा नियंत्रण की आवश्यकता होती है। प्रशासन चाहे सरकारी कार्यों का हो या निजी व्यवसाय का, उसके लक्ष्यों को पूरा करने के लिए कुछ सामान्य सिद्धांतों तथा कार्य विधियों का पालन करना होता है। प्रबंधन एवं संगठन संबंधी अनेक तकनीकें सरकारी तथा गैर सरकारी दोनों ही प्रकार के प्रशासन में समान रूप से अपनाई जाती हैं। आंकड़े एकत्र करने, हिसाब किताब रखने, फाइलें रखने, रिपोर्ट तैयार करने आदि से संबंधित अनेक कौशल प्रशासन के दोनों ही रूपों में पाए जाते हैं। इन दिनों व्यापारिक संगठन की कई विधियों ने लोक प्रशासन को अत्यधिक प्रभावित किया है।

3. **अधिकारियों के समान उत्तरदायित्व** – दोनों प्रशासनों के दायित्व समान और पदाधिकारियों के ध्येय एक जैसे होते हैं – अपने नियत कार्य क्षेत्र में काम करते हुए उपलब्ध मानवीय एवं भौतिक सामग्री का इस प्रकार उपयोग करना कि यथासंभव अच्छे परिणाम प्राप्त हो सकें। दोनों प्रशासनों से जिस कौशल की आवश्यकता होती है, वह बहुत कुछ एक जैसा होता है। यही कारण है कि कई बार सरकारी प्रशासन के कर्मचारियों को निजी प्रशासन में भर्ती कर लिया जाता है। भारत में सरकारी सेवा से निवृत्त हो जाने के बाद अनेक अधिकारियों को निजी उद्यम काम पर रख लेते हैं।

4. **जनसंपर्क** – जनसंपर्क के अभाव में प्रशासन सफल नहीं हो सकता। दोनों ही प्रशासनों में जनसंपर्क आवश्यक होता है। पहले निजी प्रशासन में जनसंपर्क की आवश्यकता महसूस की गई, परंतु अब सरकारी प्रशासन में भी यह आवश्यक माना जाने लगा है।

5. **अन्वेषण** – प्रशासनिक चुनौतियों एवं समस्याओं के निवारण के लिए दोनों में ही अन्वेषण की आवश्यकता रहती है। नई खोजों द्वारा नवीन सिद्धांत, प्रक्रियाएं, उपकरण आदि का पता लगा कर उनकी सहायता से प्रशासन को अधिक क्षमतावान एवं उन्नतिशील बनाया जाता है। दोनों ही प्रशासनों में निपुण कर्मचारियों को शोध कार्य में लगाया जाता है।

वस्तुतः आधुनिक काल में व्यावसायिक प्रणालियां तथा मानदंड लोक प्रशासन की रीतियों को प्रभावित करते रहे हैं। यह प्रभाव विशेष रूप से कार्यालय प्रबंधन तथा आर्थिक और औद्योगिक संस्थाओं के क्षेत्र पर अधिक पड़ा है। सार्वजनिक निगम की कल्पना के पीछे भावना यह रही है कि व्यावसायिक प्रबंधन के संगठन और प्रणालियों को लोक प्रशासन के क्षेत्र में लागू किया जाए। दूसरी ओर बहुत से व्यावसायिक

प्रशासन पर लोक प्रशासन की प्रणालियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है – विशेष रूप से कार्मिक प्रशासन, निवृत्ति, कार्मिक कल्याण आदि क्षेत्रों में।

टिप्पणी

इस प्रकार दोनों प्रशासनों में संगठन एवं प्रबंधन संबंधी अनेक तकनीकें एवं प्रबंधन पद्धतियां समान होती हैं। प्रशासन के इन दोनों रूपों के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना कठिन है।

लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में विषमता

लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के बीच अनेक समानताएं होते हुए भी लोक प्रशासन में अनेक ऐसे लक्षण पाए जाते हैं जो निजी प्रशासन में नहीं पाए जाते। प्रो. हर्बर्ट साइमन ने लिखा है कि ''सामान्य लोगों की दृष्टि से लोक प्रशासन राजनीति, नौकरशाही और लालफीताशाही से ग्रस्त होता है, जबकि निजी प्रशासन राजनीति से मुक्त और काम के प्रति चुस्त होता है।''

सर जोशिया स्टैंप ने लिखा है कि निम्नलिखित चार सिद्धांतों का अनुसरण करने के कारण लोक प्रशासन, निजी प्रशासन से भिन्न है–

(1) एकरूपता का सिद्धांत (2) बाह्य वित्तीय नियंत्रण का सिद्धांत (3) मंत्रियों के उत्तरदायित्व का सिद्धांत तथा (4) सीमांत लाभ का सिद्धांत।

पॉल एच. एपलबी के अनुसार लोक प्रशासन में निजी प्रशासन की अपेक्षा सार्वजनिक आलोचना और जांच की संभावना अधिक होती है। निजी तथा लोक प्रशासन में अंतर इस प्रकार हैं–

1. **लाभ का तत्व** – लाभ प्राप्त करने का लक्ष्य, जो निजी प्रशासन का मूल आधार है, लोक प्रशासन में निर्धारित नहीं किया जा सकता। एक व्यापारी अपने लाभ पर अच्छी तरह विचार करने के बाद ही व्यापार शुरू करता है। परंतु लोक प्रशासन के सम्मुख कार्य प्रारंभ करने या न करने का ऐसा कोई मापदंड नहीं होता। वह लोक कल्याण की दृष्टि से कार्य करता है।
2. **सेवा की भावना** – नीग्रो के शब्दों में, ''जनता के लिए की जाने वाली सेवाएं लोक प्रशासन का वास्तविक हृदय हैं।'' लोक प्रशासन द्वारा जिन सेवाओं का संचालन किया जाता है, वे प्रजातंत्र के उन मूल उद्देश्यों की पूर्ति करती हैं, जिनके बिना समाज के जीवन, सभ्यता और संस्कृति का विकास संभव नहीं है। इस प्रकार इसका मुख्य लक्ष्य समाज की सेवा है। किंतु निजी प्रशासन में इस प्रकार का कोई प्रतिबद्ध दृष्टिकोण नहीं अपनाया जाता।
3. **सार्वजनिक उत्तरदायित्व** – निजी प्रशासन जनता के प्रति उस रूप में उत्तरदायी नहीं होता जिस रूप में लोक प्रशासन होता है। लोक प्रशासन को समाचार पत्रों तथा राजनीतिक दलों की आलोचनाओं का सामना करना पड़ता है। कोई भी विशिष्ट कदम उठाने से पूर्व प्रशासकों को इस बात पर सावधानी के साथ विचार करना पड़ता है कि उस पर जनता की प्रतिक्रिया क्या होगी। प्रत्येक सरकारी कर्मचारी को जनता की आलोचना रूपी बारूद के बीच रहना तथा कार्य करना पड़ता है। लोक प्रशासन को जनता के सामने अपने कार्यों का औचित्य सिद्ध करना पड़ता है। उस पर विधायिका और न्यायपालिका का नियंत्रण रहता है। इस प्रकार जनता के प्रति उत्तरदायित्व लोक प्रशासन का

टिप्पणी

एक ऐसा लक्षण है, जो निजी प्रशासन में नहीं पाया जाता।

4. **व्यवहार की एकरूपता** – लोक प्रशासन के अंतर्गत व्यवहार में कुछ एकरूपता अथवा समानता पाई जाती है। लोक प्रशासन द्वारा किसी प्रकार का विशिष्ट व्यवहार किए बिना समाज के सभी सदस्यों को वस्तुएं तथा सेवाएं प्रदान की जाती हैं। निजी प्रशासन में विशिष्ट व्यवहार परिस्थिति के अनुसार विशिष्ट व्यवहार करना पड़ता है। एक दुकानदार उस व्यक्ति को उधार देने में संकोच नहीं करता, जो उससे प्रतिदिन सामान लेता है, परंतु डाकखाने का कर्मचारी किसी को भी उधार नहीं दे सकता।

5. **एकाधिकार की दृष्टि से वैषम्य** – लोक प्रशासन में प्रायः शासन का एकाधिकार होता है तथा उनके कार्यों को कोई भी व्यक्ति घरेलू रूप में नहीं करता। जैसे डाक, रेलवे आदि का संपादन सरकारी रूप में ही किया जाता है। निजी डाकखाने या रेलवे की व्यवस्था हर कोई नहीं कर सकता। इसके विपरीत निजी प्रशासन में इस प्रकार का एकाधिकार नहीं पाया जाता। एक ही वस्तु का उत्पादन या व्यवसाय अनेक व्यापारियों द्वारा किया जाता है।

6. **कानूनों व नियमों का प्रभाव** – लोक प्रशासन कानूनों एवं नियमों के दायरे में सीमित होता है। इसमें खरीददारी, ठेके, निविदा आदि सभी कार्य कुछ निश्चित नियमों के अनुसार किए जाते हैं। किंतु निजी प्रशासन में कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़ कर नियम या कानून की कोई विशेष पाबंदी नहीं होती। निजी उद्योगों में सुविधानुसार कार्य किए जाते हैं। लोक प्रशासन के कार्यों का औचित्य न केवल उसके परिणामों में बल्कि उसकी प्रक्रिया में भी देखा जाता है। निजी प्रशासन में स्वतंत्रता अपेक्षाकृत अधिक रहती है।

7. **जीवन के लिए आवश्यक एवं अपरिहार्य सेवाएं** – लोक प्रशासन के कार्यों में एक प्रकार की अनिवार्यता होती है, जिसका निजी प्रशासन के क्षेत्र में अभाव होता है। शांति और सुव्यवस्था, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि विभिन्न क्षेत्रों से जुड़े कर्यों का संपादन करना लोक प्रशासन की बाध्यता होती है। इसके विपरीत निजी प्रशासन इस बाध्यता से सर्वथा मुक्त होता है।

8. **भिन्न आचार संहिताएं** – लोक प्रशासन और निजी प्रशासन के क्षेत्रों में आचार के सूत्र अलग–अलग होते हैं। उदाहरणार्थ लोक प्रशासन अपनी सेवाओं का विज्ञापन उस प्रकार नहीं कर सकता, जिस प्रकार व्यावसायिक संस्थान कर सकते हैं। लोक प्रशासन में नैतिकता बनाए रखना अनिवार्य है, किंतु निजी प्रशासन में ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं होती।

9. **लालफीताशाही के दृष्टिकोण से अंतर** – लोक प्रशासन का संगठन नौकरशाही के आधार पर होता है जबकि निजी प्रशासन का संगठन व्यापारिक आधार पर। लोक प्रशासन में प्रशासकीय कार्य की गति धीमी होने तथा प्रशासकीय प्रक्रिया की जटिलता के कारण लालफीताशाही, भ्रष्टाचार जैसी प्रशासनिक बुराइयों के पनपने की प्रबल संभावना रहती है। निजी प्रशासन के क्षेत्र में प्रशासकीय कार्य तेज गति से संपन्न किए जाते हैं और निर्णय लेने में विलंब नहीं होता।

10. **वित्तीय नियंत्रण की दृष्टि से अंतर** – लोक प्रशासन में वित्त विभाग तथा प्रशासन पृथक–पृथक कार्य करते हैं। लोक प्रशासन में वित्तीय क्षेत्र पर सरकार का नियंत्रण रहता है जबकि निजी प्रशासन में ऐसा नहीं होता। निजी प्रशासन में धन निवेशकर्ता के पास रहता है, जिसका उपयोग वह इच्छानुसार कर सकता है। लोक प्रशासन में अधिकारी सार्वजनिक धन का उपयोग जनता के प्रतिनिधि के रूप में विधायिका की नियंत्रण सीमा में रह कर ही कर सकते हैं।
11. **सेवा सुरक्षा की दृष्टि से विषमता** – लोक प्रशासन में कर्मचारियों की सेवाओं की सुरक्षा सुनिश्चित रहती है। इसके विपरीत निजी क्षेत्र में कार्यरत कर्मचारियों की सेवाओं के स्थायित्व की कोई सुनिश्चितता नहीं होती और वे मनोवैज्ञानिक रूप से अपने को सतत असुरक्षित अनुभव करते हैं। कभी–कभी वित्तीय अथवा अन्य कारणों से निजी क्षेत्र के उद्यम बंद हो जाते हैं और ऐसे में उनमें कार्यरत कर्मचारियों की सेवा स्वतः समाप्त हो जाती है। इस प्रकार निजी प्रशासन के क्षेत्र में कार्यरत कर्मचारियों को अपनी सेवा के स्थायित्व की कोई गारंटी नहीं होती।
12. **क्षेत्रगत असमानता** – लोक प्रशासन का क्षेत्र विशाल होता है जबकि निजी प्रशासन का क्षेत्र अत्यंत सीमित होता है। लोक प्रशासन जीवन के सभी क्षेत्रों में कार्यरत है, जबकि निजी प्रशासन का दायरा कुछ विशिष्ट क्षेत्रों तक ही सीमित रहता है।

निष्कर्षत : दोनों में अंतर केवल मात्रा का है, गुण तथा प्रकार का नहीं। विस्तृत अर्थों में लोक प्रशासन और निजी प्रशासन भिन्न नहीं हैं, वरन् वे एक ही प्रशासन के दो भिन्न रूप हैं, दोनों में कई लक्षण एक जैसे हैं। दोनों में प्रबंधन एवं संगठन की कई तकनीकें और प्रक्रियाएं समान हैं। हेनरी फेयोल ने लिखा है, ''सभी प्रकार के प्रशासनों में योजना, संगठन, आदेश, समन्व्य एंव नियंत्रण की आवश्यकता होती है और अपना कार्य भलीभांति संपन्न कराने के लिए सभी को एक जैसे सामान्य सिद्धांतों का पालन करना होता है।''

इस तरह कुछ विचारकों के अनुसार प्रशासन के भेद करना अतार्किक है। फिर भी, सत्य है कि लोक प्रशासन की रीतियां व उसका वातावरण मौलिक रूप से उसका अपना होता है और वह निजी प्रशासन से निश्चित रूप से भिन्न होता है। संक्षेप में, कहा जा सकता है कि दोनों एक ही सिक्के के दो पहलुओं के समान हैं, किंतु दोनों की कुछ तकनीकें तथा मूल्य अलग–अलग हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

5. लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन किसके अभाव में सफल नहीं हो सकता?

   (क) जनसंपर्क (ख) संगठन

   (ग) प्रबंधन (घ) नियोजन

6. "जनता के लिए की जाने वाली सेवाएं लोक प्रशासन का वास्तविक हृदय हैं।" उपर्युक्त कथन किस विचारक का है?

   (क) हेनरी फेयोल (ख) नीग्रो

   (ग) लेविस मेरियम (घ) ग्लेन और गुलिक

टिप्पणी

1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ग)
2. (क)
3. (घ)
4. (घ)
5. (क)
6. (ख)

1.6 सारांश

लोक प्रशासन में एक सर्वव्यापकता पाई जाती है, जिससे इसकी परिभाषा करने में बाधा उपस्थित होती है। प्रशासन को केवल गतिशीलता के साथ तथा सरकार के बदलते हुऐ कार्यों को दृष्टिगत रखते हुए भी समझा जा सकता है। इस बात का पता लगाने के लिए कि इसमें कोई मौलिक तत्व भी पाया जाता है या नहीं, यह आवश्यक है कि इसका अध्ययन गहराई के साथ समय की गतिशीलता के साथ और सुचारू रूप से किया जाए।

हर कला का एक विशेष कौशल होता है। उसे हासिल करने के लिए कलाकार को अनुभवी विशेषज्ञों से प्रशिक्षण लेना और उसका अभ्यास करना होता है। इस प्रकार प्रशासन का भी कौशल होता है और एक अच्छा प्रशासक बनने के लिए प्रशिक्षण, अनुभव और अभ्यास की आवश्यकता होती है।

विकास की प्रक्रिया की दृष्टि से लोक प्रशासन एक कला है। जिस प्रकार अन्य कलाओं का कृत्रिम विकास होता है, उसी प्रकार लोक प्रशासन का धीरे–धीरे विकास हुआ है और अभी हो रहा है।

लोक प्रशासन को एक सामाजिक विज्ञान के रूप में नकारना पूर्णतः भ्रमिक और गलत होगा। एक सामाजिक विज्ञान होने के नाते यह तो मानकर चलना ही होगा कि वह भौतिकशास्त्र या रसायनशास्त्र नहीं बन सकता किंतु यह कहना भी सही नहीं है कि उसके निष्कर्ष उतने ही अराजकतावादी हैं जैसे पिकासों की चित्रकला। कतिपय आशावादी, कर्मठ और उद्यमशील समाज वैज्ञानिक यह मानते हैं कि निकट भविष्य में लोक प्रशासन विज्ञान बनने जा रहा है।

लोक प्रशासन इसका भी अध्ययन करता है कि विभिन्न प्रशासनिक क्रियाओं को सुचारू रूप से संपन्न करने के लिए सेवाएं किस प्रकार संगठित की जाएं। लोक प्रशासन के क्षेत्र में असैनिक सेवाओं के मित्र सूत्र, उसके संगठनों तथा क्षेत्रीय संगठनों का व्यापक अध्ययन करते हैं।

एक क्रिया के रूप में तो लोक प्रशासन काफी प्राचीन है तथापि अध्ययन की एक शाखा या विद्या के रूप में उसका उदय वर्तमान काल में ही संभव हुआ है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि एक लंबे समय तक प्रशासन संबंधी समस्त चिंतन राजनीति, नीतिशास्त्र तथा विधिशास्त्र जैसी विधाओं के साथ घुला–मिला रहा।

टिप्पणी

आधुनिक काल में राजनीति शास्त्र के ग्रंथों तथा राजनीतिज्ञों के संस्मरणों में समय–समय पर प्रशासनिक विषयों की विवेचना की गई, परंतु लोक प्रशासन को अध्ययन का स्वतंत्र विषय नहीं माना गया। 17वीं शताब्दी तक तो 'लोक प्रशासन' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया था।

लोक प्रशासन को एक ऐसे अभिकरण के रूप में कार्यशील रहना चाहिए जो राजनीतिक कार्यपालिका के नियंत्रण में कार्य करता हो और उसके प्रति उत्तरदायी रहता हो। राजनीतिक कार्यपालिका के नियंत्रण नीतियों का अनुपालन करना लोक प्रशासकों का कर्तव्य है।

लोक प्रशासन जनता के हित के लिए है अर्थात् उसका उद्देश्य सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति होना चाहिए। लोक प्रशासन को सम्यता और संस्कृति का रक्षक तथा शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने वाला यन्त्र इसलिए कहा जाता है कि वह सामाजिक यान्त्रिक संगठन का केन्द्र है और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के सिद्धांत का आचरण करता है।

संगठन की सफलता के लिए आवश्यक है कि लाइन तथा स्टॉक अभिकरणों में स्पष्ट विभाजन हो। कोई भी प्रशासनिक क्रिया संगठन के बिना संचालित नह की जा सकती। प्रशासन और संगठन के बीच अटूट संबंध है।

लोक प्रशासन द्वारा किसी प्रकार का विशिष्ट व्यवहार किए बिना समाज के सभी सदस्यों को वस्तुएं तथा सेवाएं प्रदान की जाती हैं। निजी प्रशासन में विशिष्ट व्यवहार परिस्थिति के अनुसार विशिष्ट व्यवहार करना पड़ता है।

लोक प्रशासन का संगठन नौकरशाही के आधार पर होता है जबकि निजी प्रशासन का संगठन व्यापारिक आधार पर। लोक प्रशासन में प्रशासकीय कार्य की गति धीमी होने तथा प्रशासकीय प्रक्रिया की जटिलता के कारण लालफीताशाही, भ्रष्टाचार जैसी प्रशासनिक बुराइयों के पनपने की प्रबल संभावना रहती है।

1.7 मुख्य शब्दावली

- **पोस्डकॉर्ब** : लूथर गुलिक द्वारा प्रस्तुत प्रबंध तकनीक का सारांश
- **संस्थागत संरचनात्मक उपागम** : लोक प्रशासन के अध्ययन का एक दृष्टिकोण
- **विनियोजन अधिनियम** : कार्यपालिका शाखा को धन व्यय करने का अधिकार देने वाला अधिनियम।
- **सार्वजनिक उत्तरदायित्व** : व्यक्तिगत रूप से न होकर सामूहिक रूप से उत्तरदायी होना।
- **अन्वेषण** : विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा नवीन खोज।

1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. लोक प्रशासन से आप क्या समझते हैं?
2. पोस्डकार्ब क्या है? यह अंग्रेजी के कितने अक्षरों से मिलकर बनाया गया है?

टिप्पणी

3. लोक प्रशासन के मूल सिद्धांत कौन–कौन से हैं?
4. जन–संपर्क सिद्धांत के उद्देश्य बताइए।
5. भारत के लोकसंपर्क के लिए केंद्रीय सूचना तथा प्रसार मंत्रालय में कौन–सी शाखाएं कार्यरत हैं?
6. निजी प्रशासन किसे कहते हैं?
7. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए–

   (क) अन्वेषण सिद्धांत, (ख) जनसंपर्क का सिद्धांत।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. लोक प्रशासन किसे कहते हैं? विश्लेषण कीजिए।
2. किन तर्कों के आधार पर लोक प्रशासन को कला माना जाता है?
3. लोक प्रशासन को विज्ञान न मानने के कारणों का उल्लेख कीजिए।
4. लोक प्रशासन के क्षेत्रों का वर्णन कीजिए।
5. लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन में विद्यमान समानताओं का वर्णन कीजिए।
6. लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन में अंतर स्पष्ट कीजिए।

1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

Pfiffner, J.M. *Public Administration*, New York: The Ronald Company, 1946.

Waldo, D. *The Study of Public Administration*, New York: Random House, 1967.

Riggs, F.W. *The Ecology of Public Administration*, New York: Asia Publishing House, 1961.

Maheshwari, S.R. *Theories and Concepts in Public Administration*, New Delhi: Allied Publishers Ltd., 1991.

इकाई 2 संगठन की सामान्य समस्या और सिद्धांत

टिप्पणी

संरचना

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 संगठन का अर्थ, परिभाषा, समस्याएं, उपागम एवं सिद्धांत
  2.2.1 संगठन का अर्थ, परिभाषा एवं समस्याएं
  2.2.2 संगठन के उपागम
  2.2.3 संगठन के सिद्धांत
  2.2.4 संगठन सिद्धांत के व्यावहारिक पहलू
2.3 महाप्रबंधन के रूप में मुख्य कार्यकारी
2.4 सूत्र (लाइन) और स्टाफ अभिकरण
  2.4.1 सूत्र अभिकरण
  2.4.2 स्टाफ अभिकरण
  2.4.3 विभाग
2.5 ब्यूरो (मंडल) और आयोग
2.6 स्वतंत्र नियामकीय आयोग
2.7 क्षेत्रीय सेवाएं
2.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.9 सारांश
2.10 मुख्य शब्दावली
2.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.12 सहायक पाठ्य सामग्री

2.0 परिचय

संगठन वह सामाजिक व्यवस्था है जिसका एक उद्देश्य होता है और जो अपने कार्यों की समीक्षा करते हुए स्वयं का नियंत्रण करता है। मनुष्य अपने लाभ के लिए व्यक्तिगत व सामूहिक प्रयास करता है। जब समूह के साथ कोई भी प्रयास किया जाता है तो उसे संगठन के नाम से जाना जाता है। संगठनों की स्थापना सामाजिक व प्रशासनिक दोनों स्तरों पर की जाती है। संगठन का गठन किसी मूल उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाता है।

संगठन प्रबंध की एक ऐसी प्रक्रिया है जो सामूहिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए भिन्न–भिन्न प्रतिभाओं व योग्याताओं के धनी व्यक्तियों को आपस में मिलाती है और उन्हें सुनिश्चित संबंधों, समन्वय तथा संप्रेषण के द्वारा एक संगठन में बांधती है। संगठन एक गतिशील तत्व है क्योंकि इसमें कार्यों का निर्धारण तथा वर्गीकरण, अधिकारों व दायित्वों का बंटवारा तथा पारस्परिक संबंधों का निर्धारण संगठन के आंतरिक व बाह्य वातावरण तथा संगठनकर्ताओं के अनुभव और ज्ञान के अनुसार बदलता रहता है। यह पारस्परिक संबंधों का एक ऐसा ढांचा है जिसके द्वारा व्यवसाय को एकरूपता प्रदान की जाती है और व्यक्तियों के प्रयास को समन्वित किया जाता है। संगठन के सभी विभागों के उद्देश्य इस प्रकार निश्चित होने चाहिए ताकि वे मुख्य रूप से संस्था के मूल उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक हो सकें। संगठन के अंतर्गत कर्मचारी, समाज और संस्था तीनों की दृष्टि से कार्यक्षमता का मूल्यांकन किया जाता है।

टिप्पणी

इस इकाई में संगठन का अर्थ, समस्या, संगठन के उपागम और सिद्धांतों को विस्तारपूर्वक समझाया गया है।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- संगठन का अर्थ, परिभाषा और समस्याओं को जान पाएंगे;
- संगठन के उपागमों का विश्लेषण कर पाएंगे;
- संगठन के सिद्धांतों की विवेचना कर पाएंगे;
- संगठन के प्रमुख कार्यकारी का आकलन कर पाएंगे;
- सूत्र (लाइन) और स्टाफ अभिकरण का विश्लेषण कर पाएंगे;
- स्वतंत्र नियामकीय आयोग तथा क्षेत्रीय सेवाओं की समीक्षा कर पाएंगे।

2.2 संगठन का अर्थ, परिभाषा, समस्याएं, उपागम एवं सिद्धांत

सुनिश्चित उद्देश्य से अस्तित्व में आए मानव समूह को संगठन कहते हैं। संगठन के कार्य को अलग–अलग व्यक्तियों में बांटने की एक नीति है। इसमें इस बात पर विचार करना चाहिए कि इसके कार्यों को किस प्रकार बांटा जाए और किस आधार पर संगठन को बनाया जाए। बहुत सारे विद्वानों का मानना है कि जिस प्रकार दर्जी एक पैंट की कटिंग करके उसकी सिलाई करता है यानी काटो और सिल दो की नीति अपनाता है; उसी प्रकार संगठन का निर्माण भी किया जाता है।

संगठन को बनाना व उसको चलाने के कार्य में पहले कार्य को बांटा जाता है फिर उन बांटे गए कार्यों को समन्वित किया जाता है।

2.2.1 संगठन का अर्थ, परिभाषा एवं समस्याएं

संगठन मानवीय समूह है। लेकिन केवल मानवीय समूह को ही संगठन नहीं कह सकते हैं। उसी मानव समूह को संगठन कह सकते हैं जिसमें लोग निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इकट्ठे होते हैं। संगठन में मानवीय तत्व का महत्व होता है। इसके साथ ही भौतिक संसाधनों का भी संगठन में काफी महत्व है। जब तक इन्हें एक साथ नहीं किया जायेगा, संगठन के उद्देश्य सफल नहीं होंगे।

डिमॉक, विव कोइंग के अनुसार– "एक दूसरे पर निर्भर सभी भागों या अंगों को उचित क्रम देकर इकट्ठा करना व इकाई का निर्माण करना ही संगठन है। जिससे किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अधिकार, समन्वय तथा नियंत्रण का प्रयोग किया जा सके।"

ग्लेडन ने संगठन को एक जीवन्त तथा परिवर्तनशील अवयव माना है।

संगठन एक सामाजिक अस्तित्व होता है जिसका एक संयुक्त लक्ष्य होता है एवं वह बाह्य परिवेश से जुड़ा होता है। भारतीय शासन भी एक संगठन है। वह विभिन्न मंत्रालयों व विभागों के द्वारा अपने कार्य करता है। इसका लक्ष्य देश में शांति व सुरक्षा

बनाए रखना है तथा नागरिकों की मूलभूत आवश्यकताओं को पूर्ण करते हुए देश को बाह्य ख़तरे से बचाए रखना एवं निम्नतर व अधोगामी एवं धर्मनिरपेक्षता के उत्थान को सुनिश्चित करते हुए अर्थव्यवस्था को सुनिश्चित करना है।

टिप्पणी

सामान्य भाषा में किसी कार्य को योजनाबद्ध ढंग से करना ही संगठन है। आक्सफोर्ड शब्दकोश के अनुसार संगठन शब्द का अर्थ 'किसी वस्तु का व्यवस्थित ढांचा तैयार करना' अथवा किसी वस्तु का आकार निश्चित करना तथा उसे कार्य करने की स्थिति में लाना है।

संगठन में तीन तत्व निहित हैं–

1. यह कार्य किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाता है।
2. इसमें सहयोग की भावना होती है।
3. यह अनेक व्यक्तियों द्वारा अलग–अलग और सामूहिक रूप से किया जाता है।

गठन का अर्थ है 'व्यवस्था'। व्यवस्था में विशेष रूप से व्यक्तियों एवं कार्यों को नियोजित किया जाता है। इस प्रकार संगठन का आशय अनेक लोगों की उस स्थिति या ढांचे से है, जिसमें वे पहले से ही निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए योजनाबद्ध रीति से कार्य करते हैं तथा एक दूसरे का सहयोग करते हुए अपने निर्धारित कर्तव्य का पालन सुव्यवस्थित रूप से करते हैं।

परिभाषाएं

लूथर गुलिक ने संगठन को पारिभाषित करते हुए कहा है, ''संगठन सत्ता का एक औपचारिक ढांचा है, जिसके द्वारा किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विभागीय कार्यों को क्रमबद्व किया जाता है और उनके बीच समन्वय स्थापित किया जाता है।''

फिफनर के अनुसार, ''संगठन में व्यक्तियों के व्यक्तियों से तथा समूहों के समूहों से संबंध होते हैं, जिनके बीच श्रम का विभाजन व्यवस्थित ढंग से किया जाता है।''

जॉन एम. गौस के अनुसार, ''संगठन का अर्थ है कर्मचारियों की व्यवस्था करना ताकि कार्यों एवं उत्तरदायित्वों के उचित विभाजन से निश्चित उद्देश्य सरलतापूर्वक पूरा किया जा सके।''

मूने एवं रैली – "किसी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए आयोजित मानव सहयोग ही संगठन कहलाता है।"

हरबर्ट साइमन – "आपसी सहयोग करने वाले लोगों के वर्ग को संगठन कहते हैं।"

ई. एन ग्लेडन – "उद्योग में कार्य करने वाले मनुष्यों के बीच संबंधों का ऐसा स्वरूप है जिससे उद्योग के कार्यों की पूर्ति होती है।"

मैक्फॉरलैण्ड – "मनुष्यों के निश्चित समूह द्वारा लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए किए जाने वाले कार्यों को संगठन कहते हैं।"

एल. उरविक – "उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक क्रियाओं का निर्धारण करना व उसे क्रमबद्ध करना जो अलग–अलग व्यक्ति को सौंपी जा सके उसे संगठन कहते हैं।"

आर.सी. डेविस – "व्यक्तियों का एक ऐसा समूह जो नेताओं के आदेशों के सामान्य उद्देश्यों की प्राप्त करने हेतु सहयोग करते हैं संगठन कहलाते हैं।"

टिप्पणी

लूथर गुलिक – "सत्ता पक्ष का ढांचा है जिसके द्वारा निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कार्यों का बंटवारा व निर्धारण किया जाता है व उनमें आपसी समन्वय स्थापित किया जाता है उसे संगठन कहते हैं।"

चेस्टर इराविंग बनार्ड – "दो या दो से अधिक व्यक्तियों की सचेतक समन्वित कार्य करने की विधि को संगठन कहते हैं।"

ऊपर वर्णित परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर संगठन की दो मुख्य विशेषताएं उभर कर आती हैं – पहली, संगठन एक प्रशासकीय ढांचा है तथा दूसरी, संगठन में कार्यरत व्यक्तियों के एक दूसरे से संबंध होते हैं। यह कोई कोरा ढांचा नहीं है। डिमॉक एवं डिमॉक के अनुसार, ''संगठन संरचना एवं मानव संबंध दोनों ही है। संगठन को केवल एक ढांचा मानना और जिन लोगों से वह बनता है, उनकी उपेक्षा करना पूर्णतः वास्तविकता से परे अथवा अयथार्थवादी बात होगी।''

संगठन को दो भागों में विभाजित किया जाता है – औपचारिक तथा अनौपचारिक।

(क) औपचारिक संगठन

इसे यांत्रिक, इंजीनियरिंग या संरचनात्मक–कार्यात्मक संगठन भी कहा जाता है। ऐसे संगठन में प्रत्येक स्तर पर स्थिति, अधिकार एवं दायित्व को स्पष्ट रूप में परिभाषित कर दिया जाता है। ऐसे संगठन में संपूर्ण संगठन संरचना संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कोशिश करती रहती है। इसमें अधिकार और आदेश उच्च पदस्थ पदाधिकारियों से निम्नतम स्तर के कर्मचारियों तक प्रत्यायोजित होते हैं। बर्नार्ड ने ठीक ही कहा है कि ''जब दो या दो से अधिक व्यक्तियों की क्रियाएं एक निर्धारित ध्येय की ओर जान बूझकर समन्वित की जाती हैं, तो उसे औपचारिक संगठन कहा जाता है।'' इसे और स्पष्ट करते हुए बर्नार्ड कहते हैं, ''औपचारिक संगठन में संयंत्र की पद्धति, नीतियां, नियम आदि शामिल होते हैं, जो यह बताते हैं कि तकनीकी उत्पादन के कार्य के प्रभावी ढांचे से निष्पादन के लिए एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ क्या संबंध होगा? यह मानव संगठन और तकनीकी संगठन के मध्य अपेक्षित संबंधों को निर्धारित करता है।''

प्रो. एल. डी. ह्वाइट के अनुसार, ''औपचारिक संगठन संबंधों की एक औपचारिक घोषित प्रतिकृति है, जो शासन में कानून व उच्चतम प्रबंधन की सहायता से स्थापित की जाती है। यह किए जाने वाले कार्य की प्रकृति व मात्रा पर आधारित होता है। इसे चित्र या रेखाचित्र द्वारा अंकित किया जा सकता है भले ही वह पूर्ण न हो।''

'प्रशासन के तत्व' नामक पुस्तक में एल. उर्विक ने लिखा है, ''संगठन का तात्पर्य उस औपचारिक ढांचे से है, जिसकी रचना स्पष्ट सिद्धांतों, नियमों एवं उपनियमों के आधार पर विशेषज्ञों द्वारा की जाती है।''

ऊपर वर्णित परिभाषाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उचित ढंग से संगठित लोगों के सामूहिक प्रयास असंगठित लोगों के निजी प्रयासों के योग से कहीं ज्यादा अच्छे नतीजे देते हैं। इसमें वैज्ञानिक शुद्धता तथा तर्कसंगत संरचना का समावेश होता है, प्रत्येक चरण व स्तर पर चिंतन–मनन कर श्रेष्ठ मार्ग अपनाया जाता है और विभिन्न घटकों को एकीकृत कर उच्च तथा अधीनस्थ कर्मचारियों के आपसी संबंधों का लिखित विवरण तैयार किया जाता है। इन सब के फलस्वरूप परिणाम अच्छे

टिप्पणी

निकलते हैं। मानव संसाधन को उचित कार्य विभाजन से उत्तम समन्वय स्थापित करके नियम–उपनियमों के अनुरूप और कानून की सीमा में काम करना होता है। इसमें अनुशासन पर पर्याप्त जोर दिया जाता है। इस विश्लेषण के आधार पर औपचारिक संगठन के लक्षण या विशेषताएं इस प्रकार हो सकती हैं–

1. यह सोच समझकर और गंभीरता से चिंतन–मनन कर बनाया गया संगठन होता है।
2. यह पूर्णतया अवैयक्तिक होता है।
3. यह उच्च पदस्थ अधिकारियों द्वारा निम्न पदस्थ अधिकारियों में सत्ता के प्रत्यायोजन पर निर्भर होता है।
4. संगठन के प्रत्येक चरण में सत्ता व दायित्व को, स्पष्ट उल्लेख कर, कर्मचारियों के बीच स्पष्ट कर दिया जाता है, जिससे कार्य में दोहराव कम होता है। इसे चार्ट या रेखाचित्र की सहायता से व्यक्त किया जा सकता है।
5. इसमें आदेश की सत्ता के सिद्धांत का पालन क्रमिक प्रक्रिया के सिद्वांत के माध्यम से होता है।

औपचारिक संगठन के गुण–हेन्स और मैसी ने गहन अध्ययन कर औपचारिक संगठन के निम्न गुण बताए हैं–

1. कर्मचारियों में स्पष्ट अधिकार एवं दायित्व सौंपे जाने से आपसी मतभेद, कलह या संघर्ष की संभावना कम रहती है।
2. सत्ता एवं दायित्व के स्पष्ट उल्लेख से कर्मचारी काम करने में टालमटोल नीति का अनुसरण नहीं कर पाते।
3. कार्यों के दोहराव की संभावना कम रहती है।
4. उद्देश्य की प्राप्ति में आसानी होती है।
5. किसी एक व्यक्ति का अत्यधिक प्रभाव नहीं रहता।
6. पक्षपात, भाई–भतीजावाद और भ्रष्टाचार की संभावना कम रहती है।
7. कर्मचारियों द्वारा संपादित कार्यों का उच्च अधिकारियों द्वारा मूल्यांकन निरंतर होता रहता है।
8. कार्यों के स्पष्ट होने के कारण कर्मचारियों की सुरक्षा की भावना को बल मिलता है।

औपचारिक संगठन के दोष–इन लाभों के बावजूद इस संगठन के अनेक दोष भी होते हैं। आर. बर्जर के अनुसार, ''बार–बार हम मानवीय समस्याओं को अमानवीय साधनों से अमानवीय आधार सामग्री के रूप में सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। यह मेरी एक सीधी–सीधी धारणा है कि मानवीय समस्या को मानवीय समाधान की आवश्यकता है।''

इस संगठन के प्रमुख दोष इस प्रकार हैं–

1. इसमें कर्मचारियों को स्वेच्छा से कोई पहल करने का अधिकार नहीं होता, वे पग–पग पर नियमों एवं कानूनों से बंधे होते हैं।

टिप्पणी

2. इसमें अधिकारी कई बार अपने अधिकारों का अनुचित रूप से अपने हित में प्रयोग करते हैं।
3. इस संगठन में कार्यरत लोग सामाजिक संगठनों की मान्यताओं एवं भावनाओं पर ध्यान नहीं देते।
4. यह संगठन यंत्रवत होता है, जो मनुष्य से ज्यादा अपने नियमों एवं नीतियों को महत्व देता है।
5. औपचारिक संगठन अनौपचारिक संप्रेषण में बाधाएं उपस्थित करता है।
6. इसमें समन्वय की समस्या अत्यंत गंभीर होती है।

(ख) अनौपचारिक संगठन

यह एक सामान्य अनुभव है कि प्रत्येक संगठन में प्रायः लोग औपचारिक सीमाओं से निकलकर अनौपचारिक सामाजिक संगठन का निर्माण करते हैं। इसका कारण यह है कि अधिकांश लोग समूहों के सदस्यों के रूप में रहते और कार्य करते हैं। प्रत्येक छोटे समूह का अपना अनौपचारिक आचरण होता है। यहां अनौपचारिक संगठन के अर्थ तथा उसकी प्रवृत्ति का विश्लेषण प्रस्तुत है।

अनौपचारिक संगठन का आशय उन व्यक्तिगत तथा सामाजिक संबंधों से है, जो लोगों को एक दूसरे से एक साथ संगठित होने पर स्वतः उदित होते हैं। बर्नार्ड के अनुसार, ''एक संगठन उस समय अनौपचारिक माना जाता है, जब अंतर्वैयक्तिक संबंधों का समूह अनजाने में संयुक्त उद्देश्य के लिए स्थापित हो जाता है।'' ये संगठन मनुष्य की सामाजिक–मनौवैज्ञानिक भावनाओं की नींव पर निर्मित होते हैं। प्रो. डेविस के अनुसार, ''अनौपचारिक संगठन को ऐसे व्यक्तिगत एवं सामाजिक संबंधों के जाल या तंत्र रूप में देखा जाता है, जिसे औपचारिक संगठन द्वारा आत्यंतिक रूप से स्थापित नहीं किया जाता।''

एल्टन मियो तथा उनके साथी संगठन की अनौपचारिक धारणा के प्रमुख प्रवर्तक हैं। इन लोगों ने बेस्टर्न इलेक्ट्रिक कम्पनी के हॉथोर्न संयंत्र में कुछ प्रयोग किए। उन्होंने पाया कि जब कुछ लोग दीर्घकाल तक मिलकर कार्य करते हैं, तो उनमें भावनात्मक तथा वैयक्तिक संबंध विकसित हो जाते हैं, जो औपचारिक संबंधों से भिन्न होते हैं। इन संबंधों को ही अनौपचारिक संगठन कहा जाता है।

साइमन, स्मिथ बर्ग तथा थाम्पसन के अनुसार, ''अनौपचारिक से आशय यह है कि सदस्यों का यथार्थ व्यवहार संगठन की औपचारिक योजना के प्रतिकूल होता है।''

यह अवधारणा लोगों, मानवीय अभिप्रेरणाओं और अनौपचारिक सामूहिक कार्यपालन पर बहुत अधिक बल देती है। इसलिए इसे संगठन की मानवतावादी अवधारणा भी कहते हैं। इस दृष्टिकोण का आग्रह यह है कि संगठन के रूप पर विचार करते समय सदैव यह ध्यान रखना चाहिए कि यह कोई जड़ वस्तु नहीं बल्कि क्रियाशील व्यक्तियों का समूह है। ह्वाइट ने अनौपचारिक संगठन का अर्थ बताते हुए लिखा है, ''ऐसे कार्यात्मक संबंध जो कि लंबे अर्से तक एक साथ कार्य करने वाले लोगों के पारस्परिक अंतः क्रियाओं के फलस्वरूप विकसित होते हैं।'' ह्वाइट का मानना है कि ऐसे संबंध अलिखित होते हैं, अनौपचारिक होते हैं और रेखाचित्र द्वारा दर्शाए नहीं जा सकते।

टिप्पणी

अनौपचारिक संगठन व्यक्तियों के क्रियात्मक संबंधों की प्रतिकृति है, न कि टुकडों को जोड़कर इमारत बनाने की निर्वैयक्तिक प्रक्रिया।

अनौपचारिक संगठन की विशेषताएं–अनौपचारिक संगठन की निम्नलिखित विशेषताएं हैं–

1. यह स्वतः उत्पन्न होता है।
2. यह व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाया गया सामाजिक ढांचा है।
3. संगठन के औपचारिक चार्ट में इसका स्थान नहीं होता।
4. प्रबंधकीय पद सोपान के अंतर्गत यह सभी स्तरों पर पाया जाता है।
5. यह रीति रिवाजों, पारस्परिक संबंधों तथा सामाजिक समूहों की आदतों से विकसित होता है।
6. इसमें मानवीय भावनाओं को उचित स्थान प्रदान किया जाता है।
7. इसका सांगठनिक व्यवहार जटिल होता है। इसे समझने के लिए मनुष्य की बहुमुखी प्रकृति को समझना अत्यंत आवश्यक है।

अनौपचारिक संगठन में मनुष्य को कोई मशीन या उसका पुर्जा नहीं माना जाता, बल्कि इस संगठन को मानवीय भावनाओं, रुचियों, आदतों, आकांक्षाओं आदि से जुड़ा समझा जाता है। किसी औपचारिक संगठन की सफलता ऐसे अनौपचारिक संगठन के जन्म, विकास और सहयोग पर निर्भर होती है। आज के औद्योगिक युग में जब जीवन और उद्योग की जटिलता अति उग्र रूप धारण कर चुकी है, कोई भी औपचारिक संगठन की मदद के अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। स्ट्रॉस और सैयल्स लिखते हैं, ''औपचारिक संगठन एक ऐसी वास्ताविकता है जिसकी उपेक्षा प्रबंधन केवल अपनी जोखिम पर ही कर सकता है।''

जे. ए. लिंटरर के शब्दों में, ''यह संगठन मनुष्य के जीवन का एक जरूरी एंव महत्वपूर्ण अंग है।'' अनौपचारिक संगठन औपचारिक संगठन के कार्यों को प्रभावित करते हैं। इसलिए आज बड़े–बड़े औपचारिक संगठन इन अनौपचारिक संगठनों को न केवल मान्यता देते हैं, बल्कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इनके विकास में अहम भूमिका निभाते हैं। दोनों ही आज की परिस्थितियों में एक दूसरे के पूरक हो गए हैं।

अनौपचारिक संगठन के गुण–अनौपचारिक संगठन के गुण इस प्रकार हैं–

1. यह औपचारिक संगठन की कमियों को पूरा करता है।
2. यह मानव समाज को आत्मसंतोष एवं स्थायित्व प्रदान करता है।
3. संप्रेषण क्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।
4. अनौपचारिक संगठन औपचारिक संगठन के प्रबंधन को मानवीय आधार पर कार्य करने व योजना बनाने की प्रेरणा देता है।
5. यह प्रबंधक की योग्यताओं में कमी को दूर करता है।

अनौपचारिक संगठन के दोष–उक्त लाभों के साथ–साथ अनौपचारिक संगठन के कुछ दोष भी हैं, जो इस प्रकार हैं–

टिप्पणी

1. यह स्वभाव से विद्रोही होता है।
2. यह एक समूह की मनोवैज्ञानिक भावना के अनुरूप कार्य करता है।
3. यह उत्पादकता में अधिक वृद्धि करने हेतु प्रबंधन के प्रयत्नों को अप्रभावकारी बनाता है।
4. इसमें असत्य समाचारों का प्रसारण होता है।

अनौपचारिक संगठन के कार्य–चेस्टर बर्नार्ड ने इसके तीन महत्वपूर्ण कार्यों का उल्लेख किया है–

1. संप्रेषण के साधन के रूप में जो उच्च और अधीनस्थों के बीच आचरण के प्रमाण स्थापित करने में सहायक होते हैं।
2. अनौपचारिक संगठन, संगठन में एकता बनाए रखने में सहायक होता है, जिससे लोगों में कार्य करने की ललक पैदा होती है।
3. यह लोगों में स्वयं के लिए आदर, सम्मान, प्रतिष्ठा और स्वतंत्रता की भावना को पुष्ट करने में सहायक होता है। औपचारिक संगठन में कई बार व्यक्ति अपने विचार रखने में संकोच करता है, जबकि वही व्यक्ति अनौपचारिक संगठन में अपने विचार पूर्ण स्वतंत्रता और निर्भीकता से रख सकता है। क्लब, संघ, समितियां आदि अनौपचारिक संगठन के ऐसे ही रूप हैं, जहां लोग स्वतंत्रतापूर्वक और सम्मानजनक ढंग से आपने विचारों को अनौपचारिक ढंग से पेश करते हैं और अंत में यही विचार औपचारिक संगठन के निर्देशक तत्व बन जाते हैं।

औपचारिक एवं अनौपचारिक संगठन में अंतर

	औपचारिक संगठन		अनौपचारिक संगठन
1.	इसमें अधिकार एवं कार्यों पर बल दिया जाता है।	1.	इसमें लोगों के आपसी संबंधों पर बल दिया जाता है।
2.	यह सत्ता के प्रत्यायोजन पर आधारित होता है।	2.	यह लोगों के आपसी संबंधों पर आधारित होता है।
3.	इसका उदय सत्ता के विभाजन से होता है।	3.	यह सहयोग व आवश्यकता की भावना से उदित होता है।
4.	यह जानबूझकर निश्चित समय पर निर्मित किया जाता है।	4.	यह स्वतः तथा अनायास ही निर्मित होता है।
5.	इसमें अधिकार व्यक्ति विशेष को दिए जाते हैं।	5.	इसमें अधिकार संपूर्ण संगठन में निहित होते हैं।
6.	इसमें नियम, उपनियम, कानून, कर्तव्य और दायित्व परिभाषित और लिखित होते हैं।	6.	इसमें नियम प्रायः अलिखित होते हैं और परम्पराओं का महत्व अधिक होता है।
7.	इसमें नियमों को चित्र, चार्ट या रेखाचित्र द्वारा दर्शाया जाता है।	7.	इसमें नियमों का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है।
8.	ऐसे संगठन बड़े और विशाल हो सकते हैं।	8.	इसका आकार प्रायः छोटा होता है।
9.	यह तकनीकी उद्देश्यों से निर्मित होता है, जिसका उद्देश्य अधिकतम उत्पादन है।	9.	यह मानव की सामाजिक संतुष्टि के फलस्वरूप क्रियाशील होता है।
10.	यह अधिक स्थायित्व लिए हुए होता है।	10.	यह अपेक्षाकृत कम स्थायी होता है।
11.	यह मनुष्य की स्वतंत्रता की प्रवृत्ति पर अंकुश रखता है।	11.	यह स्वतंत्रता की भावना का पोषक होता है।

टिप्पणी

इन अंतरों के बावजूद दोनों ही संगठन एक दूसरे के पूरक हैं। एक शरीर है तो दूसरा आत्मा। कोई भी अकेला एक–दूसरे से कटकर अपने स्वतंत्र अस्तित्व की प्राप्ति नहीं कर सकता। दोनों ही एक दूसरे की शक्ति हैं और दोनों मिलकर ही हमारे सामाजिक एवं प्रबंधकीय उद्देश्यों को पूरा करते हैं। अतः दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं।

संगठन की समस्याएं (Problems of Organization)

संगठन से सम्बन्धित प्रमुख समस्याओं का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

(1) **विभाजन के आधार की समस्या** : संगठन की सर्वप्रमुख समस्या यह है कि कार्य का विभाजन किस आधार पर किया जाए एवं विभिन्न क्रियाओं को किस आधार पर कार्य इकाइयों में समूहबद्ध किया जाए कुशल एवं दृढ़ प्रशासनिक संगठन के लिए कार्य विभाजन का सुनिश्चित आधार होना परमावश्यक है।

(2) **कार्य–विभाजन स्तर की समस्या** : इसका तात्पर्य है कि कितने स्तरों पर कार्य का उप–विभाजन किया जाए और इन विभिन्न स्तरों को एक–दूसरे के साथ किस प्रकार सम्बद्ध किया जाए? यह समस्या पदसोपान (Hierarchy) एवं 'नियन्त्रण के विस्तार' (Span of Control) से सम्बन्धित है।

(3) **आन्तरिक कार्य–विभाजन की समस्या** : संगठन से सम्बन्धित एक समस्या यह है कि कार्य–विभाजन के द्वारा संगठन के अन्दर किन इकाइयों का निर्माण हो तथा इन इकाइयों को किस प्रकार परस्पर सम्बन्धित किया जाये?

(4) **सत्ता–वितरण की समस्या** : एक समस्या यह उत्पन्न होती है कि प्रशासनिक अधिकारियों एवं अधीनस्थ अधिकारियों के मध्य किस प्रकार अधिकार या सत्ताविभाजन किया जाए तथा उस प्रदत्त अधिकार का दुरुपयोग किस प्रकार रोका जाए अधार, संगठन में सत्ता वितरण व नियन्त्रण किस प्रकार हो? यह समस्या 'सत्ता के हस्तान्तरण' 'केन्द्रीकरण बनाम विकेन्द्रीकरण' एवं 'आदेश की एकता' से सम्बन्धित है।

(5) **इकाइयों के मध्य समन्वय की समस्या** : संगठन की विभिन्न इकाइयों के मध्य पारस्परिक सहयोग एवं समन्वय की भावना किस प्रकार जाग्रत की जाये यह भी एक प्रमुख समस्या है।

संगठन की उपर्युक्त समस्याओं का निराकरण होने पर ही संगठन की सफलता की अपेक्षा की जा सकती है।

2.2.2 संगठन के उपागम

उपागम एक प्रकार का ढांचा है, जिसके माध्यम से प्रश्नों या समस्याओं को समझने के लिए आधारभूत सामग्री का विश्लेषण किया जाता है। अर्थात् उपागम या दृष्टिकोण का अर्थ मानकों का एक समूह है, जिसके आधार पर सैद्धांतिक विचार–विमर्श के लिए प्रश्न या घटना के अध्ययन की अनेक विधियां हो सकती हैं।

लोक प्रशासन के अध्ययन से संबंधित अनेक उपागम प्रचलित हैं। कुछ विद्वानों ने इन्हें दो वर्गों में विभाजित किया है – आदर्शवादी और अनुभूतिपरक। अध्ययन का आदर्शवादी उपागम आदर्श पर अधिक जोर देता है और यह बताने का प्रयास करता

टिप्पणी

है कि लोक प्रशासन की वास्तविक स्थिति क्या है। इसका संबंध तथ्यों से अधिक मूल्यों से होता है। इस तरह यह मूल्यों पर जोर देने वाला उपागम है। इसके विपरीत अनुभूतिपरक उपागम अनुभूति पर आधारित होता है और तथ्यों पर जोर देता है। दोनों के अपने–अपने तर्क हैं।

वस्तुतः लोक प्रशासन में उपागम का अध्ययन संगठन के विशेष संदर्भ में किया जाता है। इन उपागमों को निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है–

1. शास्त्रीय व यांत्रिक उपागम

संगठन की शास्त्रीय विचारधारा को 'पुरातनवादी विचारधारा', 'प्रतिष्ठित विचारधारा' 'परंपरावादी विचारधारा', 'यांत्रिक विचारधारा', 'औपचारिक विचारधारा', 'संरचनात्मक सिद्धांत' भी कहा जाता हैं। संगठन की शास्त्रीय प्रबंध विचारधारा प्रशासकों में विद्यमान है। शास्त्रीय सिद्धांतों की सर्वाधिक विशेषता है इसके संगठन सिद्धांतों के निमार्ण के प्रति विशेष आग्रह। शास्त्रीय विचारकों ने संगठन में कार्य–विभाजन करने के सच्चे आधारों को खोजने तथा कुशलता के लिए कार्य समन्वय के प्रभावी तरीकों को ढूंढने का प्रयास किया। उन्होंने विभिन्न गतिविधियों तथा उनके अंतर्संबंधों की सही परिभाषा पर बल दिया और कार्य सुचारु रूप से करने के लिए संगठन में कार्यरत लोगों पर वर्जना तथा नियंत्रण पद्धति के माध्यम से सत्ता के प्रयोग का सुझाव दिया। इस उपागम के अंतर्गत हेनरी फेयोल, लूथर गुलिक, उर्विक, फ्रेडरिक टेलर तथा मैक्स वेबर के विचारों का अध्ययन किया जाता है।

शास्त्रीय या यांत्रिक उपागम लोक प्रशासन में संगठन के प्रति एक दृष्टिकोण को कहा जाता है। प्रशासन वह साधन है जिसके द्वारा कुछ लक्ष्यों की प्राप्ति की जाती है और जिसके लिए संगठन अत्यधिक आवश्यक तत्व माना जाता है। लोक प्रशासन में इसी संगठन की अवधारणा को समझने के लिए यांत्रिक उपागम का प्रादुर्भाव हुआ है।

यांत्रिक उपागम लोक प्रशासन में संगठन को एक सरंचनात्मक व्यवहार मानता है। इस उपागम का प्रवर्तक उर्विक को माना जाता है। उर्विक का कहना है कि संगठन का निर्माण यंत्र की तरह किया जा सकता है। इस उपागम के अनुसार प्रशासन एवं उसके वास्तविक संगठन से उसकी रूपरेखा अधिक महत्व रखती है। इसके अनुसार प्रशासन के क्षेत्र में भी विज्ञान की तरह कुछ ऐसे निश्चित सिद्धांतों का निरूपण हो चुका है, जिनके आधार पर संगठन की रूपरेखा का निर्माण पहले किया जा सकता है। इसी रूपरेखा के अनुकूल संगठन में कर्मचारियों को लगाया जा सकता है। इस सिद्धांत ने यह माना है कि कर्मचारी नियोजन के लिए है। इस उपागम के अनुसार लोक प्रशासन के संगठन में मनुष्य की वही स्थिति है, जो मशीन के लिए पुर्जों की होती है। इसी प्रकार कर्मचारी संगठन के लिए कार्य करते हैं। इसे शास्त्रीय उपागम इसलिए कहते हैं क्योंकि यह संगठन का प्रारंभिक विचार था। वहीं इसे यांत्रिक उपागम इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसकी सरंचना को अधिक महत्व दिया जाता है, कर्मचारियों की इच्छाओं और आकांक्षाओं को नहीं।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि यांत्रिक उपागम दो विश्वासों पर आधृत है – पहला, लोक प्रशासन ने संगठन स्थापित करने के कुछ ऐसे वैज्ञानिक और सार्वभौम सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है, जिन्हें प्रत्येक संदर्भ में प्रयोग में लगाया जा सकता है, और दूसरा, एक मान्यता यह भी है कि प्रशासन के संगठन

टिप्पणी

में किसी भी व्यक्ति को कहीं भी उपयोग में लाया जा सकता है।

इस उपगाम की पांच विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार है।

(1) **यांत्रिक** – जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह उपागम प्रशासन में संगठन को यंत्र के सामान समझता है। उसमें शामिल लोगों को कहीं भी उपयोग में लाया जा सकता है।

(2) **एकल** – यह उपागम इस अर्थ में एकल है कि प्रशासन के संगठन में व्यक्ति को उसके सहयोगी से अलग कर दिया जाता है। मशीन के पुर्जे की तरह यह उपागम व्यक्ति को उसके सहयोगियों से अलग कर देखता और समझता है।

(3) **स्वैच्छिक** – यह उपागम इस धारणा पर आधृत है कि व्यक्ति सामाजिक नियंत्रण से मुक्त होता है। नियंत्रण के अभाव के कारण उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध भी काम करने के लिए बाध्य किया जा सकता है।

(4) **स्थिरता** – इस उपागम का उद्देश्य स्थिरता को प्रोत्साहित करना है। यह इस बात पर जोर देता है कि प्रशासन के संगठन में बदलती हुई परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तन करना आवश्यक नहीं है।

(5) **आर्थिक** – इस उपागम में आर्थिक महत्व पर जोर दिया गया है।

• आलोचना

हर्बर्ट साइमन ने शास्त्रीय उपागम की कटु आलोचना की है। वह कहते हैं कि शास्त्रीय या यांत्रिक उपागम से तात्पर्य यह है कि किस विशेष स्थिति में कौन सा उपागम ध्यान देने योग्य है। साइमन ने प्रशासन के सिद्धांतों को प्रशासन की कहावत मात्र कहा है। सुब्रह्मण्यम ने कहा है कि सभी शास्त्रीय विचारकों का अपने सिद्धांतों में प्रबंध की ओर झुकाव दिखाई देता है। वह केवल प्रबंध की समस्याओं के प्रति चिंतित थे, न कि प्रबंध तथा व्यक्तियों से संबंधित अन्य संगठनात्मक समस्याओं के प्रति।

इस सिद्धांत को व्यक्तिपरक कहकर भी इसकी आलोचना की गई है, क्योंकि व्यक्तियों को संगठन में उनके साथियों से अलग रखकर देखना एक संकुचित विचार है। यह कार्य करने वाले लोगों की अपेक्षा कार्य के प्रति अधिक चिंतित है। इसने मानव तत्व तथा मानव व्यवहार को कम महत्व दिया है। यह व्यक्ति को संगठन का एक पुर्जा मात्र मानता है। इस विचारधारा से औपचारिक संगठन का जन्म होता है।

इन आलोचनाओं के बावजूद यह स्वीकार करना पड़ेगा कि शास्त्रीय सिद्धांत से संगठन के संबंध में कुछ निश्चित विचार उभर कर सामने आए हैं। ये विचार इस प्रकार हैं–

1. शास्त्रीय विचारकों का मानना है कि प्रशासन एक ऐसा कार्य है, जिसकी बुद्धिपरक खोज आवश्यक है।
2. प्रबंध तथा संगठन की समस्या के प्रति लोगों को सोचने तथा उसमें शामिल करने के लिए विवश करना भी एक व्यावहारिक उपलब्धि है।
3. इससे सत्ता, उत्तरदायित्व तथा प्रत्यायोजन के प्रति गंभीर चिंतन प्रारंभ हुआ।
4. कुछ सीमा तक औद्योगिक संगठन में उत्पादन को संगठन का आधार बनाने तथा बढ़ाने में इन विचारकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई

5. शासत्रीय सिद्धांत की सीमाओं और त्रुटियों ने ही संगठनात्मक व्यवहार में और अधिक अनुसंधान का मार्ग प्रशस्त किया।

टिप्पणी

2. वैज्ञानिक प्रबंधन उपागम

विश्व में हुई अनेक क्रांतियों में संयुक्त अमेरिका की प्रबंधन क्रांति का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है। इसे फ्रेडरिक टेलर ने एक आंदोलन का रूप दिया। उन्होंने लोक प्रशासन में अनेक प्रविधियों के साथ एक विचारधारा का प्रतिपादन किया। सन् 1911 में प्रकाशित अपनी पुस्तक दि पिंसिपल्स ऑफ साइंटिफिक मैनेजमेंट में टेलर ने बताया कि किस तरह श्रमिकों की प्रबंधन की वैज्ञानिक विधि का उपयोग उत्पादकता की गुणवत्ता में उल्लेखनीय सुधार ला सकता है। कार्यों के प्रचलित तरीकों में सुधार और कार्यों को सरल करने के लिए जरूरी वैज्ञानिक प्रबंधन विधियों का उपयोग किया गया ताकि श्रमिकों को उनके विशिष्ट कार्यों का निष्पादन एक ''बेहतरीन'' ढंग से करने के लिए प्रशिक्षित किया जा सके।

औद्योगिक इंजीनियरी, जिसका कारखाना प्रबंधन का एक भाग होता है, का लक्ष्य किसी निर्दिष्ट वस्तु का उत्पादन वांछित स्तर एवं विशेषताओं के साथ निम्नतम मूल्यों पर करना होता है। इस विषय में टेलर ने अपना पहला योगदान 'कारखाना प्रबंधन' की रचना के रूप में दिया। उनका दूसरा निबंध 'धातु काटने की कला पर' था जिसे उन्होंने सन् 1906 में अमेरिकन सोसाइटी ऑफ मेकेनिकल इंजीनियर्स की सभा में अध्यक्षीय उद्‌बोधन के रूप में पढ़ा। इस निबंध में डॉ. टेलर ने औद्योगिक प्रबंधन के नवीन विज्ञान की नींव डाली। उन्होंने कहा कि जिस प्रकार न्यूनतम मूल्य पर सर्वोत्तम कार्य करने वाले एक इंजीनियर को सर्वश्रेष्ठ इंजीनियर माना जाता है, उसी प्रकार औद्योगिक प्रगुणता में वह प्रबंधन सर्वोत्तम है, जो नियंत्रण के साधनों को इस तरह संगठित करता है कि प्रत्येक कर्मचारी सर्वोत्तम कार्यकुशलता के साथ कार्य कर सके और उसे तदनुरूप वेतन मिले। टेलर के अनुसार कार्यों के नियोजन को उसके कार्यान्वयन से पृथक रखना आवश्यक है। नियोजन कार्य के लिए मानसिक क्षमताओं से युक्त प्रशिक्षित विशेषज्ञों और कार्यान्वयन के लिए शारीरिक रूप से शक्तिशाली लोगों तथा योग्य मार्गदर्शकों की आवश्यकता होती है।

वैज्ञानिक प्रबंधन में सर्वप्रथम पुराने प्रबंधन की सभी प्रविधियों, उपकरणों आदि का अन्वेषण किया जाता है। यदि आवश्यक हुआ, तो श्रमिकों से भी परामर्श एवं सहयोग लेकर उनमें सुधार किया जाता है। फिर उनकी समय गति का अध्ययन किया जाता है और देखा जाता है कि किन बिंदुओं पर श्रमिक का कार्य सरल बनाया तथा उसकी गति को तेज किया जा सकता है। इस प्रकार विभिन्न श्रमिकों द्वारा संपादित विभिन्न प्रयोगों के आधार पर उस प्रविधि के समय, गति, उपयोग, उत्पादन आदि को मानकीकृत कर उसे समान रूप से लागू कर दिया जाता है। वास्तव में, कार्य प्रबंधन में 'कार्यकुशलता' को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

टेलरवादी प्रबंधन विज्ञान के निम्नलिखित आधार स्तंभ हैं–

(1) एक सच्चे प्रबंधन एवं कार्य विज्ञान का विकास, (2) कार्यकर्ता का वैज्ञानिक आधार पर चयन, (3) उसका वैज्ञानिक शिक्षण एवं विकास और (4) प्रबंधक एवं श्रमिक के बीच मैत्रीपूर्ण सहयोग।

टिप्पणी

टेलर के अनुसार, सार रूप में वैज्ञानिक प्रबंधनवाद 'एक पूर्ण मानसिक क्रांति' है, जिसमें श्रमिक अपने कार्य, अपने सहयोगियों तथा अपने नियोजकों के प्रति तत्परतापूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं। इसी तरह प्रबंधकगण – फोरमैन, अधीक्षक, मालिक, निदेशक मंडल आदि – अपने सहयोगियों के प्रति अपने दायित्वों का पूरी क्षमता के साथ निर्वाह करते हैं।

टेलर के अनुसार प्रबंधन को जानना जरूरी है। प्रबंधन एक विज्ञान है, जो निर्धारित कानूनों, नियमों व सिद्धांतों पर आधारित है। उन्होंने तर्क दिया कि प्रबंधन में ऐसे अनेक सिद्धांत शामिल हैं, जो निजी तथा सरकारी दोनों संगठनों पर लागू होते हैं। उनके अनुसार प्रबंधन का मुख्य उद्देश्य नियुक्तिकर्ता की अधिक से अधिक समृद्धि के साथ–साथ प्रत्येक कामगार को भी अधिक से अधिक वेतन दिलाना है। उनके वैज्ञानिक प्रबंधन का दर्शन यह है कि नियुक्तिकर्ता, कामगारों तथा उपभोक्ताओं के हितों में कोई टकराव नहीं हो।

टेलर का विचार है कि वैज्ञानिक प्रबंधन के दर्शन को उसकी प्रविधियों का पर्याय नहीं समझा जाना चाहिए। वह इस वैज्ञानिक प्रबंधन उपागम को एक व्यापक औद्योगिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन दर्शन के रूप में देखते हैं, जिसका उद्देश्य कम से कम व्यय पर अधिक से अधिक उत्पादन और कर्मचारियों को अधिक से अधिक वेतन की व्यवस्था करना है। साथ ही, आपस में अधिक से अधिक सामंजस्यपूर्ण संबंधों का विकास भी इसका एक महती उद्देश्य है।

- **मूल्यांकन**

टेलरवाद वैज्ञानिक प्रबंधन को लोक प्रशासन के निकट लाने में भी सफल सिद्ध हुआ। इससे संगठन के एक स्वच्छ सिद्धांत को विकसित करने की प्रेरणा मिली। टेलरवाद के परिणामस्वरूप शासन एवं उसकी प्रक्रियाओं के प्रति सर्वत्र नया दृष्टिकोण अपनाया गया। शोध, तथ्य और मापन टेलर का अमूल्य योगदान है। उनके 'समय और गति' संबंधी अध्ययन वैज्ञानिक प्रबंधन की मुख्य आधारशिला बन गए। टेलर पहले विचारक थे, जिन्होंने अच्छे कार्य निष्पादन की विधि की खोज की शुरुआत की। औद्योगिक प्रबंधन के अध्ययन में परिमाणवाचक तकनीकों का प्रयोग करने वाले भी वे पहले व्यक्ति थे। आधुनिक वैज्ञानिक प्रबंधन, अनुसंधान पद्धति अध्ययन, समय विचार, प्रणाली या व्यवस्था विश्लेषण, आदि सभी टेलर की विरासत का हिस्सा हैं। टेलर के साथियों हेनरी एल. गैंट तथा फ्रैंक गिल्ब्रैथ ने उनके कार्यों को आगे बढ़ाया। गैंट ने टेलर की प्रेरणात्मक पद्धति में सुधार किया और 'कार्य एवं बोनस योजना' का विकास किया। फ्रैंक गिल्ब्रैथ ने गति अध्ययन में रुचि ली। उन्होंने कार्य पर 18 गतियों की पहचान की। जिसे वे 'दि आरबीएलआइजीएस' की संज्ञा देते हैं। टेलर ने मूलतः औद्योगिक क्षेत्र में काम किया, किंतु उनके विचारों का प्रभाव अन्य क्षेत्रों, सरकारी तथा सैनिक संगठनों पर भी पड़ा।

विभिन्न आलोचकों ने वैज्ञानिक प्रबंधन दृष्टिकोण की आलोचना की है जो सार रूप में यहां प्रस्तुत है।

प्रथम, वैज्ञानिक प्रबधन का संबंध मुख्यतः यांत्रिक अर्थों में प्रबंधन की संगठनात्मक क्षमता से था। इसमें मुनष्य को मशीन का एक भाग माना जाता है। मनुष्य मशीन नहीं है, इसलिए यह एक आपत्तिजनक दृष्टिकोण है। द्वितीय, टेलरवाद में यह तर्क दिया गया है कि उच्च मजदूरी श्रमिक को कार्य की प्रेरणा देती है। वस्तुतः इसमें मानव

टिप्पणी

प्रेरणा गलत की गई है और श्रमिक को क्रियाशील बनाने का अति सरलीकरण कर दिया गया है।

3. नौकरशाही उपागम

मैक्स वेबर का नाम नौकरशाही से अभिन्न रूप से जुड़ा है। उन्होंने प्रशासनिक संगठन के इस औपचारिक रूप का गहन अध्ययन किया। यद्यपि 'नौकरशाही' शब्द से निरंकुशता, संकुचित दृष्टिकोण, अनुत्तरदायित्व आदि भाव जुड़े हैं, परंतु किसी भी प्रशासनिक समस्या के समाधान हेतु हम 'संगठन' के इसी स्वरूप पर आश्रित हैं। वेबर नौकरशाही तथा उससे संबंधित अन्य संरचानाओं जैसे सत्ता, औचित्य वैधानिकता का अध्ययन करते हैं। उनके अनुसार समाज के संगठन के मूल में शक्ति या प्रभुत्व है।

वेबर ने प्रभुत्व के कुल तीन प्रकार माने – पारंपरिक प्रभुत्व, श्रद्धा पर आधारित प्रभुत्व, तथा वैधानिक या कानूनी प्रभुत्व। नौकरशाही इनमें से अंतिम श्रेणी में आती है।

वेबर ने इस बात पर बल दिया कि किसी संगठन के उद्देश्यों की उचित रूप से प्राप्ति के लिए नौकरशाही अनिवार्य है। संस्थाओं के उद्देश्य भिन्न हो सकते हैं, यद्यपि उनके नौकरशाही तंत्र की विशेषताएं एक–सी होती हैं। वेबर ने किसी आनुभविक नौकरशाही का विश्लेषण न करके इसका केवल एक 'आदर्श' के रूप में अध्ययन किया। कानूनी सत्ता का विशुद्ध रूप नौकरशाही के प्रशासनिक कर्मचारी वर्ग को नियुक्त करता है। उस संगठन का सर्वोच्च अध्यक्ष निर्वाचन के आधार पर नियुक्त होता है। उसकी सत्ता का आधार कानूनी सक्षमता होती है।

वेबर ने नौकरशाही की अनेक विशेषताएं बताई हैं, जैसे पद सोपान व्यवस्था, निर्धारित कार्य क्षेत्र, नियम और कानून की सर्वोच्चता, जीवनयापन एवं उन्नति के श्रेष्ठ साधन, तकनीकी विशिष्टता, व्यक्तिगत योग्यता के आधार पर कुशल एवं योग्य व्यक्तियों का चयन, इनका व्यावसायिक स्वरूप तथा इन सबसे मिलकर बना एक सक्षम, कार्यकारी तथा विशिष्ट प्रशासनिक संगठन।

लक्ष्य प्राप्ति के लिए आधुनिक संगठनों में उनके कार्यों को श्रम–विभाजन के सिद्धांत के अनुसार विभाजित एवं वितरित कर दिया जाता है। इससे उच्च मात्रा में विशेषीकरण संभव हो जाता है। पहले संरचना के रूप में एक सोपानबद्ध सत्ता संगठित करने के कारण उसका आकार एक 'पिरामिड' जैसा हो जाता है। प्रत्येक वरिष्ठ अधिकारी अपने अधीनस्थ के निर्णयों एवं कार्यों के प्रति उत्तरदायी होता है। औपचारिक रूप से बनाए गए नियमों और विनियमों के अंतर्गत उन निर्णयों एवं कार्यों को अधिशासित किया जाता है। इससे उनके तथा सत्ता संरचना के बीच एकरूपता आ जाती है, जिसके फलस्वरूप प्रशासन की विभिन्न गतिविधियों में समन्वय स्थापित हो जाता है। इन नियमों से कार्मिक वर्ग के सदस्यों के स्थानांतरित होते रहने पर भी उनके संचालन में निरंतरता एवं स्थिरता बनी रहती है। एक विशेष प्रशासनिक वर्ग संगठन में संचार–मार्ग को प्रवाही बनाए रखता है। यह वर्ग संगठन की पत्रावलियों तथा लिखित अभिलेखों, जिनमें सरकारी निर्णयों एवं कार्यों का उल्लेख होता है, के प्रति उत्तरदायी होता है।

वेबर के शब्दों में, ''ये सभी विशेषताएं मिलकर संगठन को 'अधिकाधिक कुशलता' प्राप्त करने में सक्षम बना देती हैं। सिद्धांततः यह 'आदर्श प्रकार' विभिन्न क्षेत्रों में सभी प्रकार के संगठनों के लिए लागू होता है – चाहे वह निजी हो या सरकारी।

नौकरशाही सत्ता अपने विशुद्ध रूप में वहां लागू होती है, जहां प्रशासन में अधिकाधिक बौद्धिकता को आधार बनाया गया हो। नौकरशाही की बुराई कितनी ही क्यों न की जाए, सरकारी कार्यालयों में बैठे कर्मचारियों के बिना प्रशासनिक कार्यों का संचालन सरलता से एवं प्रभावशाली ढंग से नहीं हो सकता। नौकरशाही प्रशासन का मूलभूत आधार ही ज्ञान पर आश्रित नियंत्रण का प्रयोग है। यही विशेषता उसे बौद्धिक बना देती है। इसी बौद्धिकता के कारण उसे असाधारण शक्ति प्राप्त हो जाती है।''

वेबर के शब्दों में, ''शासन व्यवस्था (संगठन) चाहे पूंजीवादी हो अथवा समाजवादी, यदि तकनीकी कुशलता पर आश्रित बृहद् प्रशासनिक कार्य करने हों, तो विशेषीकृत नौकरशाही को छोड़ कर कोई अन्य विकल्प नहीं है।''

4. निर्णय निर्धारण उपागम

हर्बर्ट साइमन ने संरचनात्मक उपागम पर कड़ा प्रहार किया तथा निर्णय निर्धारण प्रक्रिया में मूल्य प्रक्रियाओं के संदर्भ में मानव व्यवहार का विश्लेषण किया।

साइमन के लिए प्रशासन 'कार्य कराने' की कला है। उन्होंने उन प्रक्रियाओं तथा विधियों पर बल दिया, जिनसे कार्यवाही सुनिश्चित हो। उनके अनुसार प्रशासनिक विश्लेषण में उस चयन प्रक्रिया पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है, जो कार्यवाही से पहले की जाती है। वस्तुतः 'कार्यवाही' की अपेक्षा 'क्या करना है' के प्रश्न पर उचित ध्यान नहीं दिया गया। निर्णय लेना चयन की वह प्रक्रिया है, जिस पर कार्यवाही आधारित होती है। साइमन का मानना है कि इस पहलू को अच्छी तरह से समझे बगैर प्रशासन का अध्ययन अधूरा रह जाएगा।

साइमन के अनुसार किसी भी संगठन में कार्योत्पादन स्तर से ऊपर के लोग (अर्थात् प्रबंधक) महत्वपूर्ण समझे जाते हैं, क्योंकि उन्हें निर्णय लेने जैसे महत्वपूर्ण कार्य करने पड़ते हैं। उन्हें संगठनात्मक लक्ष्यों या उद्देश्यों को प्राप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना पड़ता है। उदाहरण के लिए सिपाही युद्ध के मैदान में लड़ते हैं और अपने स्तर पर कुछ निर्णय भी लेते हैं, परंतु जनरल द्वारा बनाई गई व्यापक रणनीति ही युद्ध का परिणाम निर्धारित करती है।

संगठन में कर्मचारी स्तर से ऊपर के प्रबंधक अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। वे निर्णय तथा योजना बनाते हैं एवं कर्मचारी वर्ग को निर्देश करते हैं। छोटे संगठनों में, पर्यवेक्षक वर्ग का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से पड़ता है जबकि बड़े तथा जटिल संगठनों में प्रभाव अप्रत्यक्ष होता है। इसलिए साइमन कहते हैं कि एक प्रभावी संगठन में निचले स्तर पर कर्मचारी वर्ग से ऊपर प्रशासक वर्ग (प्रबंधक) गठन होता है, जो कर्मचारी वर्ग को समन्वित कर सके। उनका यह भी कहना है कि संगठनों का कार्य उस विचार शैली पर निर्भर करता है, जिसका कर्मचारियों के निर्णय तथा व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है।

संक्षेप में निर्णय निर्धारण उपागम के अनुसार प्रशासनिक क्रिया समूह की क्रिया होती है। संगठनों में निर्णय निर्माण एक व्यक्ति या परिवार के मामले से भिन्न अधिक व्यवस्थित प्रक्रिया होती है। इस प्रक्रिया में साइमन के अनुसार, तीन महत्वपूर्ण चरण होते हैं। वे हैं –निर्णय निर्माण प्रक्रिया में तत्वों की पृथक प्रक्रिया करना, इन तत्वों को चुनने या निर्धारित करने की प्रक्रिया तथा संगठन के सदस्यों को इन तत्वों की जानकारी देना। संगठन व्यक्ति से उसकी निर्णय लेने की स्वायत्तता का एक भाग

टिप्पणी

लेकर संगठनात्मक निर्णय निर्माण प्रक्रियाओं का अधिकार दे देता है, सत्ता का निर्धारण करता है तथा इसके चयन पर सीमाएं भी लगाता है।

इस प्रकार मानव व्यवहार तथा उसकी संरचना एक सामूहिक प्रयास के साथ अंतर्संबद्ध संगठन के व्यवहारवादी उपागम का सार है। संगठन सिद्धांत के विकास तथा वृद्धि में व्यवहारवादी उपागम एक नया और महत्वपूर्ण मोड़ है।

5. परिवेशीय या पारिस्थितिक उपागम

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राजनीति एवं प्रशासन में पारिस्थितिक उपागम का प्रचलन प्रारंभ हुआ। इसे संगठन के अध्ययन के तुलनात्मक उपागम के नाम से भी जाना जाता है। इस उपागम के प्रवर्तन के पीछे तर्क यह था कि पश्चिमी संगठन, सिद्धांत एवं उपागम तीसरी दुनिया के विकासशील देशों की प्रशासनिक समस्याओं का अध्ययन करने के लिए अपर्याप्त हैं। अतः प्रशासनिक समस्याओं के अध्ययन के लिए ऐसे उपागम की आवश्यकता है, जो यहां कि परिस्थितियों की उपज हो।

लोक प्रशासन अपने परिवेश से अलग रहकर कार्य नहीं करता। परिवेश और वातावरण प्रशासन को प्रभावित करते हैं। पारिस्थितिक शब्द जीव विज्ञान से लिया गया है। यह प्राणियों तथा उनके भौतिक एंव सामाजिक पर्यावरण की अंतःक्रिया का अध्ययन है। जिस प्रकार एक पौधे के विकास के लिए विशेष प्रकार की जलवायु, मिट्टी, नमी, तापमान आदि की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार प्रत्येक समाज का विकास उसके अपने इतिहास, आर्थिक संरचना, मूल्यों, राजनीतिक व्यवस्था आदि से जुड़ा होता है।

लोक प्रशासन के अध्ययन के पारिस्थितिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन जे. एम. गॉस, रॉबर्ट ए. डहल तथा रॉबर्ट ए. मार्टिन ने किया, जिसे आगे चल कर फ्रेड डब्लू. रिग्स ने पल्लवित किया। विकासशील देशों की प्रशासनिक व्यवस्थाओं के अपने अध्ययन में रिग्स ने एक विस्तृत परिप्रेक्ष्य में प्रशासनिक तथा आर्थिक, तकनीकी, राजनीतिक तथा संचार कारकों के बीच संबंध का विश्लेषण किया है। थाइलैंड तथा फिलिपीन्स में अपने अध्ययनों के आधार पर उन्होंने उदाहरण देकर बताया कि किस प्रकार पर्यावरण प्रशासनिक व्यवस्थाओं को प्रभावित करता है।

रिग्स ने तीसरी दुनिया के देशों के संदर्भ में कई प्रकार के समाजों का वर्गीकरण किया। इसमें समपार्श्वीय समाज, बहुकार्यात्मक समाज एवं 'साला मॉडल' आदि हैं। इन समाजों की सामाजिक संरचनाओं एवं महत्वपूर्ण तत्वों का अध्ययन रिग्स के विश्लेषण का मुख्य विषय है।

'शाला प्रारूप' – शाला स्पेनिश भाषा का शब्द है। इसका प्रयोग प्रायः लैटिन अमेरिकी देशों में सरकारी कार्यालयों के लिए किया जाता है। इसे एक अल्पकार्यात्मक समाज में 'ब्यूरो' तथा बहुकार्यात्मक समाज में 'चेंबर' कहा जाता है।

रिग्स ने समपार्श्वीय समाज की नौकरशाही के लिए 'शाला' शब्द का प्रयोग किया है। शाला मॉडल, विकासशील देशों की, जिन्हें रिग्स समपार्श्विक समाज कहा जाता है, प्रशासन व्यवस्थाओं का 'आदर्श रूप' में प्रतिनिधित्व करता है। इसमें आदिम कालीन एवं आधुनिक, दोनों प्रकार के प्रशासनों की विशेषताएं पाई जाती हैं। सरकारी अधिकारी प्रतियोगिता परीक्षाओं के आधार पर चुने जाते हैं। किंतु चयन में भाई–भतीजावाद, रिश्वत आदि चलते हैं। 'शाला' अधिकारी सामाजिक कल्याण की अपेक्षा निजी उन्नति या धन प्राप्ति को प्राथमिकता देता है। उसके व्यवहार तथा निष्पादन पर पुरातनतावाद

या रूढ़िवाद हावी रहता है, जिसके परिणामस्वरूप नियमों एवं विनियमों का क्रियान्वयन व्यापक रूप से नहीं हो पाता।

टिप्पणी

रिग्स ने समपार्श्वीय समाज को एक असंतुलित राज्य कहा है, जिसमें राजनीतिक नेताओं की संवैधानिक शक्तियों के होते हुए भी नौकरशाही हावी रहती है। परिणामस्वरूप साला अधिकारी समपार्श्वीय समाज की निर्णय निर्माण प्रक्रियाओं में अल्पकार्यात्मक समाज की तुलना में अधिक प्रभावशाली भूमिका निभाते हैं। रिग्स का कहना है कि नौकरशाही के व्यवहार तथा प्रशासनिक कार्य प्रदर्शन में घनिष्ठ संबंध है। एक नौकरशाह जितना अधिक शक्तिशाली होगा, प्रशासक उतना ही प्रभावहीन होगा।

इस प्रकार रिग्स ने तीसरी दुनिया के प्रशासनिक संगठनों एवं समस्याओं के अध्ययन के लिए इस उपागम का आश्रय लिया। यह उपागम इन देशों की समस्याओं को समझने में पर्याप्त सहायक सिद्ध हुआ है।

6. व्यवस्थावादी उपागम

व्यवस्थावादी उपागम नया नहीं है। इसकी खोज सर्वप्रथम प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन के लिए की गईं टॉलकाट पारसन्स ने सामाजिक संरचनाओं के अध्ययन के लिए इसे समाज विज्ञानों के संदर्भ में अपनाया। इस प्रकार राजनीतिशास्त्री, मनोवैज्ञानिक तथा प्रशासन के विश्लेषक तथ्य और घटना की व्याख्या एवं विश्लेषण में व्यवस्थावादी उपागम का प्रयोग करते रहे हैं। वर्तमान समय में प्रशासन के विश्लेषण में इस उपागम का व्यापक प्रयोग हो रहा है।

व्यवस्थावादी उपागम को जानने के पूर्व 'व्यवस्था' को जानना अति आवश्यक है। व्यवस्था का तात्पर्य वस्तुओं की व्यवस्था के उस ढांचे से है, जिससे वे परस्पर इस प्रकार जुड़ें या संबद्ध हों कि एक पूर्ण या एकीकृत व्यवस्था का निर्माण हो। एक व्यवस्था का निर्माण परस्पर संबद्ध एवं अन्योन्याश्रित तत्वों से होता है, जो क्रिया, अंतःक्रिया एवं विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा पूरी व्यवस्था को पूर्ण बनाते हैं।

व्यवस्था सिद्धांत एक व्यापक उपागम है, जिसमें असल जोर व्यक्ति और संपूर्ण संगठन पर रहता है। जिस तरह शांत सरोवर में पत्थर फेंकने से हर दिशा में लंबी लहरें उठती हैं, उसी प्रकार अधिकांश क्रियाएं परस्पर संबंधित होती हैं और उनका क्षेत्र सामान्यतया अपेक्षित क्षेत्र से कहीं विस्तृत होता है। व्यवस्था उपागम में संगठन को एक समेकित और उद्देश्यपूर्ण संस्था के रूप में विकसित करना होता है, जो परस्पर संबद्ध तत्वों से निर्मित हो। व्यवस्था सिद्धांत किसी संगठन के विभिन्न खंडों का अलग–अलग अध्ययन करने की बजाय प्रबंधकों को ऐसा दृष्टिकोण प्रदान करता है कि वे संगठन को संपूर्ण और बड़े तथा बाहरी वातावरण के भाग के रूप में देखें। व्यवस्था सिद्धांत से यह भी पता चलता है कि किसी भी संगठन के किसी एक भाग की गतिविधि का प्रभाव अन्य सभी भागों की गतिविधि पर पड़ता है। प्रबंधक का कार्य यह सुनिश्चित करना है कि संगठन के सभी भागों में आपस में समन्वय हो ताकि उसके लक्ष्य प्राप्त किए जा सकें।

यहां प्रसिद्ध विचारक चेस्टर बर्नाड के विचारों का उल्लेख समीचीन है। चेस्टर बर्नार्ड मूलतः एक व्यवहारवादी विचारक हैं क्योंकि उन्होंने संगठन के प्रबंधन के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर जोर दिया। वह संगठन को एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में देखते हैं, इसलिए उन्हें व्यवस्थावादी विचारक कहा जाता है।

टिप्पणी

बर्नार्ड इस उपागम का प्रारंभ एक विशेष प्रश्न से करते हैं कि किन परिस्थितियों में व्यक्ति सहयोग एवं सहकारी व्यवहार की अपेक्षा करता है? वास्तव में सहयोग उन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए होता है, जिन्हें व्यक्ति अकेला प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। चूंकि संगठन में कई लोगों का सहयोग होता है, इसमें निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं तथा जटिल जीव वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक कारक निरंतर पारस्परिक क्रिया करते रहते हैं। सहयोगी संगठन को अपने अस्तित्व के लिए संगठन के उद्देश्यों को पूरा करने के अर्थ में प्रभावी एवं व्यक्तिगत उद्देश्यों को पूरा करने के प्रति व्यावहारिक होना चाहिए। इस प्रकार संगठन और व्यक्ति दोनों महत्वपूर्ण बन जाते हैं। प्रभावशीलता तथा कुशलता का यही चिंतन सहयोगी व्यवहार के उनके सिद्धांत का मूल आधार है।

सहयोग के तथ्यों का परीक्षण करते हुए उसके कारणों की खोज बर्नार्ड भौतिक तथा क्रियात्मक कारणों में करते हैं। लोग सहयोग करते हैं, क्योंकि कोई अकेला व्यक्ति अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता। उसकी शारीरिक सीमाएं उसे सहयोग के लिए अन्य लोगों की ओर ले जाती हैं। सहयोग के तथ्यों को परखने की एक दृष्टि यह है कि प्रकृति अकेले व्यक्ति को इस तरह विवश कर देती है कि वह सहयोग के बिना समस्याओं पर विजय नहीं पा सकता। उदाहरण के लिए, एक शिलाखंड है, जिसे एक व्यक्ति उठाना चाहता है, परंतु वह उठा नहीं पाता। उसकी इस असमर्थता को दो दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है – एक, वह इतना छोटा है कि शिलाखंड को उठा नहीं सकता, दूसरे शिलाखंड इतना बड़ा है कि उसे उठाया नहीं जा सकता। एक दृष्टिकोण से सीमा शरीरिक है तथा दूसरे से भौतिक। यदि एक बार आदमी शिलाखंड को उठाने का लक्ष्य तय कर ले, तो दोनों ही प्रकार से सहयोगी आवश्यक हो जाएगा।

बर्नार्ड के अनुसार, सहयोगी व्यवस्थाएं औपचारिक संगठनों को जन्म देती हैं। संगठन की परिभाषा देते हुए बर्नार्ड कहते हैं, "संगठन सोच–समझ कर समन्वित की गई व्यक्तिगत गतिविधियों या शक्तियों का नाम है। संगठन उस समय बनता है जब (अ) लोग परस्पर बातचीत करने में समर्थ हों, (ब) वे कार्य में सहयोग देने के इच्छुक हों, (स) उद्देश्य साझा हों।" इसे और स्पष्ट करते हुए बर्नार्ड कहते हैं, "संगठन की कार्यशक्ति सहयोगी व्यवस्था के लिए शक्ति प्रदान करने की लोगों की तत्परता पर निर्भर करती है। इस तत्परता के लिए यह विश्वास आवश्यक है कि उद्देश्य पूरा किया जा सकता है। तत्परता की निरंतरता उद्देश्य को पूरा करने की प्रक्रिया में व्यक्तिगत रूप से सहयोग करने वाले लोगों की संतुष्टि पर भी निर्भर करती है। यदि संतुष्टि आवश्यक त्याग से अधिक न हो, तो तत्परता लुप्त हो जाती है तथा संगठन में अकुशलता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यदि संतुष्टि त्याग से अधिक हो, तो तत्परता निरंतर बनी रहती है तथा संगठन में कुशलता आ जाती है।"

बर्नार्ड के मत में एक सामान्य संगठन में सहयोग के लिए एक अन्य तत्व भी महत्वपूर्ण है और वह है सत्ता। यह अपने विशिष्ट गुण धर्म के कारण अपने सदस्यों का सहयोग प्राप्त करने में सक्षम होता है। इसमें संचार का महत्वपूर्ण गुण होता है, जिसके कारण यह संगठन के सदस्यों को मान्य होता है।

संक्षेप में, चेस्टर बर्नार्ड का मानना है कि संगठन मूल रूप से सहयोग पर आधारित एक व्यवस्था है। संगठनात्मक व्यवस्था का यह विशिष्ट क्षेत्र है, जिसमें

कार्यपालिका को एक सहयोगी व्यवस्था के लक्ष्यों को प्राप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है।

टिप्पणी

7 व्यवहारवादी उपागम

परंपरागत पद्धतियां लोक प्रशासन के अध्ययन एवं विश्लेषण के लिए पर्याप्त नहीं थीं। अतः विद्वानों ने व्यवहारवादी पद्धति का आश्रय लिया। इसके अनुसार प्रशासन में कार्यरत सभी व्यक्तियों एवं व्यक्ति समूहों के व्यक्तिगत एवं सामूहिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। प्रसिद्ध विद्वान एवं प्रशासन शास्त्री हर्बर्ट ए. साइमन ने इस पद्धति को सर्वप्रथम लोक प्रशासन के संदर्भ में प्रस्थापित किया। इसके अतिरिक्त ब्लाडमर्टन, बीडनर, रिग्स आदि विद्वानों ने व्यवहारी पद्धति का समर्थन किया।

वास्तव में, लोक प्रशासन के सम्यक् अध्ययन के लिए मानवीय व्यवहार और आचरण का निष्पक्ष परीक्षण एवं अध्ययन आवश्यक है। प्रशासनिक संगठनों की व्यावहारिक गतिविधियों का सावधानी से अध्ययन कर ही प्रशासन को कुशल, दक्ष एवं सर्वमान्य बना सकते हैं। इस पद्धति की सहायता से ही लोक प्रशासन के विषय में कुछ सामान्य सिद्धान्त निश्चित किए जा सकते हैं। प्रत्येक प्रशासकीय संगठन में कार्य करने वाले व्यक्तियों की कुछ भावनाएं होती हैं। मानव–व्यवहार सामाजिक वातावरण से नियंत्रित और मर्यादित होता है। लोक प्रशासन के लिए इस व्यवहार का अध्ययन करना आवश्यक है। इसका अध्ययन व्यवहारवादी पद्धति द्वारा ही संभव है।

व्यवहारवादी उपागम में, कार्यवाही से पूर्व की प्रक्रिया को समझने का प्रयास किया जाता है। इसे निर्णय निर्धारण की प्रक्रिया के नाम से जाना जाता है। निर्णय लेने की आवश्यकता उस समय उत्पन्न होती है, जब कोई कार्य करने के लिए व्यक्ति के समक्ष अनेक विकल्प होते हैं। परंतु व्यक्ति को छंटनी की प्रक्रिया के कारण उसे केवल एक ही विकल्प का चयन करना होता है। अतः निर्णय अनेक विकल्पों के स्थान पर उस एक विकल्प को ध्यान में रख कर करना चाहिए जो उसके सर्वथा अनुकूल हो। अर्थात मनुष्य की बुद्विमानी इसमें है कि वह ऐसे विकल्प का चयन करे, जिससे परिणाम अधिक से अधिक सकारात्मक और कम से कम नकारात्मक हो।

यह पद्धति अनुभूतिमूलक (Empirical) होती है। अनुभव, निरीक्षण, परिस्थिति, यह पद्धति छोटे से विशाल की ओर, वैचारिक से व्यवहार की ओर, एकाग्रता से समग्रता की ओर बढ़ने में मदद करती है। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, इस पद्धति की सहायता से लोक प्रशासन से संबंधित कुछ सिद्धांत बनाए जा सकते हैं। उन सिद्धांतों के परीक्षण से लोक प्रशासन के उदाहरणों को स्पष्ट किया जा सकता है। इस पद्धति के प्रयोग से ही हमें इस बात की जानकारी प्राप्त हो सकती है कि किस तरह प्रशासकीय संगठन सही रूप से कार्य करते हैं तथा उसके कर्मचारी वास्तविक रूप में कैसा व्यवहार करते हैं।

स्मिथवर्ग ने इस पद्धति के चार प्रमुख लक्षणों की चर्चा की है। प्रथमतः इसकी सहायता से प्रशासकीय संस्था को सामाजिक व्यवस्था के रूप में देखा जा सकता है। दूसरे, इस पद्धति का प्रयोग कर प्रशासकीय संस्था में काम करने वाले की प्रेरणा, उनके आपसी संबंध, निर्णय–प्रक्रिया, सत्ता का स्वरूप आदि के प्रसंग में लोक प्रशासन का अध्ययन किया जा सकता है। तीसरे, व्यवहारवादी पद्धति में प्रशासन में लोक–संपर्क

और संचार–व्यवस्था को बहुत अधिक महत्व प्रदान किया गया है। अंत में, इस पद्धति का महत्व इसी से स्पष्ट होता है कि इसमें संप्रभुता के कानूनी सिद्धांत की जगह मान्यता के सिद्धान्त को महत्वूपर्ण माना गया है।

टिप्पणी

स्पष्ट है कि लोक प्रशासन की अध्ययन–पद्धतियों में व्यवहारवादी पद्धति लोकप्रिय हो गई है। आलोचकों ने इस पद्धति की निम्नांकित कमजोरियों पर प्रकाश डाला है–

(क) यह पद्धति मूल्यगत नहीं, मूल्यविहीन दृष्टिकोण को जन्म देती है जो अत्यंत विनाशकारी है।

(ख) व्यवहारवादियों के व्यवहार एवं आचरण सत्य से तथा तथ्य से बहुत दूर होते जा रहे हैं।

(ग) यह पद्धति अध्ययनयंत्र की कमी के कारण सामाजिक सत्य की गहराई को खोज निकालने में सर्वथा अपने को कमजोर पाती है।

फिर भी, परंपरावादी दृष्टिकोण के पूरक के रूप में इसके महत्व को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। ठीक ही कहा जाता है कि किसी विषय के अध्ययन में तथा दोनों दृष्टिकोणों के अध्ययन में भी यह बात सहीं है।

2.2.3 संगठन के सिद्धांत

आज संगठन संबंधी विभिन्न सिद्धांत अथवा विचारधाराएं प्रचलित हैं, लेकिन संगठन के वर्तमान विकास की अवस्था में 'विचारधारा' शब्द का प्रयोग करना उचित नहीं होगा। फिर भी इसका प्रयोग इसलिए किया जा रहा है क्योंकि यह शब्द प्रचलित हो गया है। इसके अंतर्गत शास्त्रीय सिद्धांत या विचारधारा, मानव संबंध विषयक विचारधारा तथा व्यवस्था विचारधारा का अध्ययन किया जाता है।

संगठन के सिद्धांत कोई भौतिक विज्ञान के नियम नहीं हैं, जो हर स्थान एवं समय पर सत्य सिद्ध होते हों। न ही ये सिद्धांत निगमनात्मक रीति से विकसित किए गए हैं। ये आगमनात्मक या व्याप्तिमूलक निष्कर्षों जैसे हैं और प्रशासकीय क्रियाओं के गंभीर, सुविचारित एवं निरंतर निरीक्षण का परिणाम हैं। संगठन के ये सिद्धांत न तो कठोर हैं और न निरपेक्ष। हर आवश्यकता के अनुरूप वांछित नमनीयता एवं क्षमता इन सिद्धांतों का सार हैं।

सूत्र एवं स्टाफ अभिकरण संगठन के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। ये दोनों ही शब्द सैनिक शब्दावली से लिए गए हैं। इनका प्रयोग नागरिक प्रशासन में किया जाता है। सामान्य परिस्थितियों में संगठन अनौपचारिक और अस्पष्ट होता है; किंतु कार्य में वृद्धि होने पर उसमें काम करने वालों की संख्या बढ़ती है और संगठन अधिक स्पष्ट और औपचारिक रूप धारण कर लेता है।

भारत में लोक उद्यमों का संबंध विभिन्न क्रियाकलापों से है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इनका संबंध ऋण देने, व्यापार के नियमन, विकास कार्यों के संगठन, यंत्रों, औषधियों के निर्माण, जल एवं स्थल यातायात के संचालन, भवन निर्माण, विद्युत उत्पादन एवं वितरण, दुग्ध उत्पादन एवं वितरण आदि से है। इसी के साथ सार्वजनिक कार्यों के प्रशासन में संगठन के आयोग स्वरूप का व्यापक रूप से प्रयोग किया जाता है।

टिप्पणी

मुख्य कार्यपालिका हर देश की प्रशासन व्यवस्था के शीर्ष पर होती है। प्रशासन एक पिरामिड की भांति है जो आधार पर सबसे अधिक विस्तृत होता है और ऊपर की ओर क्रमशः छोटा होता जाता है। प्रशासन के शीर्ष पर मुख्य पदाधिकारी होता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात लोकप्रशासन में हुई व्यवहारवादी क्रांति के बाद प्रशासकीय संगठन के कई सिद्धांतों का विकास हुआ है। व्यवहारवादी क्रांति के बाद ही संगठन के संबंध में भौतिक या संरचनात्मक सिद्धांतों में लोगों का विश्वास नहीं रह गया और इसकी जगह पर नए–नए सिद्धांतों की खोज शुरू हुई। आधुनिक युग में संगठन संबंधी व्यवहारवादी सिद्धांत, क्रीड़ा सिद्धांत, विनिश्चय सिद्धांत, सूचना सिद्धांत, संचार सिद्धांत, समूह सिद्धांत, अभिप्रेरणा सिद्धांत इत्यादि का उदय हुआ। यहां प्रमुख सिद्धांतों पर अलग–अलग विचार किया जा रहा है–

1. **व्यवहारवादी सिद्धांत** – इस सिद्धांत के समर्थकों का कहना है कि क्योंकि संगठन के वास्तविक रूप की जानकारी के लिए सिर्फ उसके औपचारिक ढांचे और व्यावहारिक रूप में भिन्नता नहीं की जा सकती, ऐसा कभी–कभी ही हो सकता है, इसलिए दोनों पर ध्यान देना आवश्यक है।

2. **क्रीड़ा सिद्धांत** – इस सिद्धांत के समर्थकों का कहना है कि संगठन के नियम क्रीड़ा के नियम की तरह होते हैं। इसके समर्थकों में वॉन न्यूमेन और मोर्गेन्स्टर्न के नाम विशेष रूप से आते हैं। यह सिद्धांत बताता है कि "भविष्य के संभावित व्यवहार का प्रतिनिधित्व करने वाला विचार एक वृक्ष की तरह है, जिसमें अनेक शाखाएं हैं। प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता रहती है कि वह उचित शाखा ग्रहण कर ले।'' यह सिद्धांत यह भी मानता है कि व्यक्ति के सामने कई विकल्प होते हैं, जिनमें से वह अच्छे को चुनता है। यह सिद्धांत यह भी बताता है कि प्रतिद्वंद्वितापूर्ण स्थिति में किसी व्यक्ति को एक मिली–जुली रणनीति अपनानी चाहिए ताकि उसके विरोधी उसे बाहर न निकाल सकें। इस सिद्धांत का लोकप्रशासन और प्रशासकीय संगठन पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है।

3. **निश्चय सिद्धांत** – यह सिद्धांत बताता है कि जब किसी संगठन का सामान्य लक्ष्य निश्चित कर लिया जाता है, तो निर्णय लेने की प्रक्रिया समाप्त नहीं होती है। इसके अनुसार निर्णय लेने और लागू करने की प्रक्रियाओं में घनिष्ठ संबंध है। साइमन के शब्दों में प्रशासन के सामान्य सिद्धांत में संगठन के उन सभी सिद्धांतों को शामिल किया जाना चाहिए, जो उचित निर्णय लेना संभव बनाते हैं – ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार इसमें प्रभावशाली व्यवहार के सिद्धांतों को शामिल किया जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार संगठन के निर्णय लेने की प्रक्रिया पर जिन चीजों का प्रभाव पड़ता है, उनका भी अध्ययन आवश्यक है। जहां परम्परागत विचारधाराएं संगठन की व्यवहार प्रक्रिया पर अधिक जोर देती है, वहां यह सिद्धांत निर्णय की प्रक्रिया पर अधिक जोर देता है। इस प्रकार इसे क्रांतिकारी सिद्धांत कहा जा सकता है।

4. **सूचना सिद्धांत** – इस सिद्धांत के अनुसार संगठन के कर्मचारियों एवं अधिकारियों को प्राप्त होने वाली सूचना पर ही संगठन द्वारा लिए जाने वाले निर्णयों का प्रकार एवं प्रकृति निर्भर करती है। अतः सही निर्णय संभव हो इसके लिए कर्मचारियों और अधिकारियों को सही सूचना प्राप्त होनी चाहिए। अधिकारियों में सूचना को अच्छी तरह समझने और उसे काम में लाने की क्षमता होनी चाहिए।

टिप्पणी

5. **संचार सिद्धांत** – इस सिद्धांत की सफलता और कार्यकुशलता उस संगठन की संचार व्यवस्था के रूप एवं प्रकार पर निर्भर करती है। संचार के उचित साधनों के प्रयोग पर ही संगठन के कर्मचारी एवं अधिकारी तत्कालीन समस्याओं एवं कार्यवाहियों की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। ऐसा होने पर ही आसानी से निर्णय लिया जा सकता है। संचार के द्वारा संगठन में उच्च पदाधिकारी नीचे के अधिकारियों को सूचनाएं एवं आदेश भेजते हैं। इससे संगठन में सही निर्णय लेने में आसानी होती है और साथ ही कार्यकुशलता भी बढ़ती है।
6. **समूह सिद्धांत** – इस सिद्धांत की यह मान्यता है कि संगठन में हितों एवं सामाजिक संबंधों के अनुरूप गुटों का निर्माण हो जाता है। इन गुटों से भी निर्णय लेने की प्रक्रिया में बड़ी सहायता प्राप्त होती है तथा संचार व्यवस्था पर भी इसका प्रभाव पड़ता है।
7. **अभिप्रेरणा सिद्धांत** – संगठन के संबंध में एक और सिद्धांत है, जो कर्मचारियों की अभिप्रेरणाओं पर अधिक जोर देता है। इस सिद्धांत का कहना है कि संगठन का रूप एवं कार्यप्रणाली उसके सदस्यों के अभिप्रायों के साथ–साथ बदलते रहते हैं।

संगठन के संबंध में मानवीय दृष्टिकोण भी है, जिसके अनुसार संगठन की बनावट और कार्यप्रणाली पर मानवीय संबंधों का भी गहरा प्रभाव पड़ता है।

2.2.4 संगठन सिद्धांत के व्यावहारिक पहलू

संगठन कार्य कुशलता हेतु जन–संरचना का निर्माण करने में नेतृत्व करता है। इच्छित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु संगठन–प्रक्रिया में कुछ कदमों की शृंखला को ध्यान में रखना आवश्यक होता है।

(क) पद सोपान

पद सोपान अंग्रेजी शब्द Hierarcy (हायरार्की) का हिंदी रुपांतर है, जिसका अर्थ होता है निम्नस्तर पर उच्चस्तर का श्रेणीबद्ध प्रशासन। संगठन में ऊपर से नीचे तक उच्च पदाधिकारियों एवं अधीनस्थों को परस्पर संबद्ध करने की व्यवस्था पद सोपान कहलाती है। मुने तथा रेले ने पदसोपान को स्केलर प्रक्रिया के रूप में लिया। हेनेरी फेयोल ने इसे सोपानात्मक शृंखला कहा है।

पिफ्नर तथा शेरवुड ने पद सोपान को निम्नांकित चार भागों में विभाजित किया है–

(i) कार्यात्मक पद सोपान

(ii) प्रतिष्ठा का पद सोपान

(iii) कुशलता का पद सोपान

(iv) वेतन का पद सोपान

पद सोपान की प्रमुख विशिष्टताएं निम्नलिखित हैं–

- शीर्ष पर विभागाध्यक्ष होता है, जिसमें संपूर्ण सत्ता निहित होती है।
- सम्पूर्ण प्रशासकीय संगठन का नेतृत्वकर्ता शीर्षस्थ पदाधिकारी अपने अधीनस्थ कार्मिकों को आवश्यक निर्देश–आदेश देता है।

टिप्पणी

- उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को सत्ता हस्तांतरण करके कुछ शक्तियां व अधिकार प्रदान करता है।
- संगठन की विविध इकाइयों के बीच एकीकरण कर सिद्धांत लागू होने के कारण सभी इकाइयां परस्पर गुंथी हुई रहती हैं।
- एक व्यवस्थित क्रम होने की वजह से संगठन की विविध इकाइयों के कार्यों में परस्पर समन्वय एवं तालमेल बना रहता है।

(ख) आदेश की एकता

किसी भी संगठन में अथवा प्रतिष्ठान में यदि विभिन्न अधिकारी अलग–अलग आदेश देंगे तो असमंजस की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी और कर्मचारियों द्वारा उनका परिपालन असंभव हो जायेगा। इसलिए संगठन के अन्तर्गत एक ही आदेश चलता है। यह क्रमिक रूप में आता है, अर्थात् प्रत्येक अधिकारी अपने तत्कालीन उच्चाधिकारी से आदेश ग्रहण करता है और संबंधित अंधीनस्थ कार्मिकों तक पहुंचाता है।

(ग) नियंत्रण की परिधि

बहुत अधिक अनुशासन या सख्त नियंत्रण संगठन के कर्मचारियों को असहज करता है। उनकी गतिविधियों पर ऋणात्मक प्रभाव पड़ता है और संगठन की उद्देश्य–पूर्ति में अवरोध की स्थिति आती है। इसलिए नियंत्रण की एक सीमा अपेक्षित होती है।

नियंत्रण की सीमित परिधि होने पर ही सारे कार्य सुचारु रूप से संपादित किए जाते हैं। ऐसे संगठन में कार्य कुशलता अधिक पाई जाती है। सापेक्षिक नियंत्रण, सहज उत्तरदायित्व, व्यवहारिक नेतृत्व आदि सभी तत्व मिलकर प्रभावी कार्य–कौशल की सृष्टि करते है। कोई भी अधिकारी किसी अन्य के कार्यक्षेत्र का अतिक्रमणा नहीं करता है और न ही अव्यवस्था फैलने का भय रहता है।

(घ) समन्वय

डॉ. एम.पी. शर्मा के शब्दों में कहे तो 'संगठन एक धागा है, जिसके द्वारा विभिन्न हिस्से एक साथ सिले जाते हैं। पद सोपान प्रक्रिया के कारण संगठन में उसकी सभी इकाइयां नीचे से ऊपर तक पूर्णतया एक सूत्र में बंधी होती हैं। संगठन में समन्यवय बना रहता है।

संगठन में सत्ता का सूत्र सर्वोच्च अधिकारी के पास होता है। इसलिए वह संगठन की अथवा विभाग की सभी शाखाओं में समन्य स्थापित किये रहता है।

(ङ) व्यक्तियों का प्रत्यायोजन

इस प्रणाली में सत्ता एक जगह सिमट कर नहीं रह जाती है। सत्ता का हस्तांतरण हो जाता है। प्रत्येक उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थों को आवश्यक शक्तियां सौंपता है और तदनुरूप कार्य भी। इस तरह अधीनस्थ कर्मचारी अधिकार तथा अपनत्व भावना से अपने कर्तव्यों का निर्वाह कर पाते हैं।

पद सोपानिक प्रबंधन के कारण संगठन का आकार पिरामिड की तरह होता है, जो ऊपर से नुकीला रहता है और नीचे फैलते–फैलते व्यापक आकार वाला हो जाता है। सत्ता, आदेश और नियंत्रण एक–एक सीढ़ी नीचे उतरते ऊपर से नीचे की ओर

टिप्पणी

जाता है। प्रत्येक अधीनस्थ कर्मचारी के लिए ठीक उसके ऊपर वाला अधिकारी ही उचित माध्यम होता है। उसकी जबावदेही मूलतः उसी अधिकारी के प्रति होती है।

(च) केन्द्रीकरण बनाम विकेन्द्रीकरण

जिन उपक्रमों में निर्णय लेने का अधिकार मात्र शीर्ष स्तरीय प्रबंध को होता है, वे केन्द्रीकृत संगठन कहलाते हैं। उन संगठनों में जहां निर्णय लेने में निम्न स्तरीय प्रबंध को भी भागीदार बनाया जाता है, वे विकेन्द्रीकृत संगठन कहे जाते हैं।

वर्तमानकालीन अनेक सुव्यवस्थित व्यावसायिक संस्थानों की स्थिति केन्द्रीकरण एवं विकेन्द्रीकरण दोनों तरह की है। पूर्ण केन्द्रीकरण तभी कहलाता है जब प्रबंध में निर्णय लेने का अधिकार केवल शीर्ष स्तरीय प्रबंधक को होता है। ऐसी संरचना प्रबंध सोपानिकी की आवश्यकता को अनावश्यक कर देती है।

पूर्ण विकेन्द्रीकरण में सभी अधिकारों का अंतरण निम्न स्तर के कर्मचारियों को कर दिया जाता है। इसमें उच्च स्तरीय प्रबंध की आवश्यकता नहीं रह जाती। इस प्रकार पूर्ण केन्द्रीकरण और पूर्ण विकेन्द्रीकरण दोनों ही अवस्थाएं व्यवहार्य नहीं कही जा सकती हैं।

कोई भी उपक्रम कभी भी न हो पूरी तरह केन्द्रीकृत हो सकता है और न ही पूरी तरह विकेन्द्रीकृत। जब कोई संस्था आकार एवं जटिलताओं की ओर गतिशील होती है, तब यह देखा गया है कि वह संस्था निर्णयों में विकेन्द्रीकरण को अपनाती है। ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि बड़े–बड़े संस्थानों में जहां, कार्मिकों को प्रत्यक्ष व अतिनिकट से कार्य–संचालन में आलिप्त किया जाता है; उनका ज्ञान तथा अनुभव उन उच्च स्तरीय प्रबंधकों से कहीं अधिक होता है जो संस्थान से अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े हुए होते हैं।

केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण दोनों कार्यविधियों में पारस्परिक संतुलन स्थापित करना आवश्यक होता है। यही कारण है कि प्रत्येक संस्थान में केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण दोनों ही स्वरूप देखने को मिलते हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

1. किस उपागम के अंतर्गत सर्वप्रथम पुराने प्रबंधन की सभी प्रविधियों, उपकरणों आदि का अन्वेषण किया जाता है?

   (क) शास्त्रीय उपागम (ख) वैज्ञानिक उपागम

   (ग) व्यवस्थावादी उपागम (घ) नौकरशाही उपागम

2. पारिस्थितिक उपागम का दूसरा नाम क्या है?

   (क) व्यवहारवादी (ख) नौकरशाही

   (ग) तुलनात्मक (घ) वैज्ञानिक

3. लोक प्रशासन के अध्ययन में हर्बर्ट साइमन ने किस उपागम को लागू किया?

   (क) वैज्ञानिक प्रबंधन उपागम (ख) शास्त्रीय उपागम

   (ग) निर्णय निर्धारण उपागम (घ) व्यवस्थावादी उपागम

टिप्पणी

2.3 महाप्रबंधन के रूप में मुख्य कार्यकारी

भारत में सार्वजनिक उद्यम महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इनकी भूमिका देश में आर्थिक विकास के क्षेत्र में निजी क्षेत्र के होने के बावजूद महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार सार्वजनिक कार्यों के प्रशासन में संगठन के आयोग स्वरूप का व्यापक प्रयोग किया जाता है। मंडल भी इसी श्रेणी में आते हैं। वर्तमान समय में आयोगों तथा मंडलों का व्यापक प्रयोग आरंभ हो गया है, जिनका गठन करने का उल्लेख संविधान में किया गया है। कोई देश चाहे साम्यवादी हो या पूंजीवादी, संसदीय प्रणाली वाला हो अथवा अध्यक्षात्मक प्रणाली, उसके प्रशासन के शीर्ष पर प्रधान के रूप में एक अभिकर्ता या अभिकरण होता है, जिसे मुख्य कार्यपालिका के नाम से जाना जाता है। मुख्य कार्यपालिका प्रशासन रूपी पिरामिड का शीर्ष है, जिसका आधार नीचे की ओर विस्तृत होता है। मुख्य कार्यपालिका प्रशासन की रीढ़ है।

मुख्य कार्यपालिका

प्रत्येक देश में प्रशासन के शीर्ष पर एक अभिकरण होता है, जिसे मुख्य कार्यपालिका कहा जाता है। व्यावसायिक संगठन के प्रशासनिक प्रमुख को 'महाप्रबंधक' अथवा सामान्य प्रबंधक के नाम से संबोधित किया जाता है। मुख्य कार्यपालिका राज्य के प्रशासकीय यंत्र का पर्यवेक्षण, निदेशन और नियंत्रण करती है। यह प्रशासन का राजनीतिक नेतृत्व भी करती है। किसी भी देश की मुख्य कार्यपालिका का रूप वहां की संवैधानिक व्यवस्था के अनुरूप निर्धारित होता है। मुख्य कार्यपालिकाओं के मुख्य रूप विभिन्न देशों में प्रचलित हैं – संसदात्मक–अध्याक्षात्मक, वास्ताविक–नाममात्र की, एकल–बहुल। संसदात्मक कार्यपालिका के ब्रिटेन और भारत मुख्य उदाहरण हैं तथा अध्यक्षात्मक कार्यपालिका का सर्वोत्तम उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका है। स्विटजरलैंड में बहुल कार्यपालिका प्रचलित है।

अर्थ एवं व्याख्या

मुख्य कार्यपालिका का अभिप्राय उस व्यक्ति या व्यक्ति समूह से है जो किसी देश की प्रशासकीय व्यवस्था का अध्यक्ष होता है। राजकीय इच्छा की अभिव्यक्ति कार्यपालिका द्वारा होती है। प्रत्येक राज्य का प्रशासकीय संगठन पिरामिड की तरह होता है जिसमें आधार की व्यापकता ऊपर की ओर अग्रसर होते हुए क्रमिक रूप से इतनी सीमित होती जाती है कि अंत में त्रिकोण के दोनों भाग एक बिंदु पर जाकर मिल जाते हैं।

मुख्य कार्यपालिका प्रशासकीय पिरामिड का शिखर होता है। डिमाक के शब्दों में, ''मुख्य कार्यकारी कठिनाइयों को दूर करने वाला, पर्यवेक्षक तथा आगामी कार्य का प्रवर्तक होता है।'' कहीं पर राजा मुख्य प्रशासक होता है जैसे ब्रिटेन में, कहीं राष्ट्रपति जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका या भारत में, तो कहीं और उसका स्वरूप एक समिति का होता है जैसे स्विटजरलैंड में। मुख्य कार्यपालक केवल राष्ट्रीय स्तर पर नहीं होते, संघात्मक शासन व्यवस्था में वे प्रांतीय व स्थानीय स्तर पर भी पाए जाते हैं। राष्ट्रीय स्तर के मुख्य प्रशासक की शक्तियां बहुत व्यापक होती हैं।

लोक प्रशासन में मुख्य कार्यकारी पदाधिकारी की स्थिति केंद्रीय होती है। वह देश के प्रशासन का प्रधान होता है। उसे ही संपूर्ण प्रशासकीय प्रबंध व्यवस्था का नेतृत्व

टिप्पणी

करना होता है। मुख्य कार्यकारी पदाधिकारी के महत्व को इंगित करते हुए चार्ल्स बोर्ड ने लिखा है कि ''उच्च स्तरीय नीति के विकास में नेतृत्व प्रशासकीय प्रबंधक के साथ इतना घुलमिल गया है कि अधिकांश सरकारों में तथा प्रायः सभी व्यक्तिगत संगठनों में तीनों कार्यों को जान बूझ कर एक ही व्यक्ति को सौंप दिया गया है।'' डा. विलोबी ने लिखा है कि जिस प्रकार व्यापारिक संगठनों में महाप्रबंधक प्रबंधन मंडल की देख–रेख में उसके द्वारा निर्धारित की गई नीतियों के अनुसार कारखाने का संचालन करता है उसी प्रकार अमेरिका में राष्ट्रपति कांग्रेस द्वारा निर्धारित की गई नीति को क्रियान्वित करता है और उसका संचालन करता है। प्रशासन के प्रधान के रूप में राज्य के समूचे प्रशासकीय यंत्र का नियंत्रण, निरीक्षण और निर्देशन करना उसका कार्य होता है, अतः उसकी तुलना निजी उद्योग के किसी बड़े कारखाने के महाप्रबंधक से की जा सकती है।

मुख्य कार्यपालिका की आवश्यकता : सामाजिक विज्ञान शब्दकोश के अनुसार, कार्यपालिका या 'इक्जेक्यूटिव' का प्रयोग व्यापक अर्थ में सारे सरकारी शासन को चलाने वाले सभी अधिकारियों के लिए किया जाता है। इसे यह नाम देने का कारण यह है कि यह विधान सभा द्वारा पारित किए गए कानूनों को कार्य रूप में परिणत करती है।

लोक प्रशासन में कार्यपालिका को ही संपूर्ण प्रशासकीय प्रबंध व्यवस्था में नेतृत्व करना होता है। इसकी आवश्यकता निम्नलिखित कारणों से स्पष्ट होती है।

1. प्रशासकीय विभागों में एकता बनाए रखने के लिए मुख्य कार्यपालिका का होना आवश्यक है। विशेषीकरण के कारण प्रशासकीय विभागों में होने वाले पारस्पारिक संघर्ष का निपटारा जितनी कुशलता के साथ मुख्य कार्यपालक कर सकता है, उतनी कुशलता के साथ अन्य कोई अधिकारी नहीं कर सकता।
2. लोक प्रशासन को जनता के कल्याण के लिए अधिक से अधिक तथा उत्तम से उत्तम सेवाएं उपलब्ध करानी चाहिए। ऐसा तभी किया जा सकता है जब कार्यपालिका शाखा में एकता रहे और एक बड़े केंद्र को उत्तरदायी बना दिया जाए।
3. मुख्य कार्यपालिका द्वारा ही विधायिका को, जिसमें जन प्रतिनिधि होते हैं, प्रशासन के संबंध में समस्त सूचनाएं प्राप्त होती रहती हैं।
4. मुख्य कार्यपालिका में यदि प्रशासकीय सत्ता केंद्रित कर दी जाए, तो अपव्यय पर अंकुश लग सकता है।
5. प्रशासन को मितव्ययिता एवं कार्य कुशलता के साथ चलाने के लिए शक्तियों को मुख्य कार्यपालिका में केंद्रित करना आवश्यक है।

मुख्य कार्यपालिका के विभिन्न रूप : मुख्य कार्यपालिका का रूप किसी देश की संवैधानिक व्यवस्था के स्वरूप के आधार पर निश्चित किया जाता है। मुख्य कार्यपालिका के विभिन्न रूपों का विवरण इस प्रकार है–

संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक मुख्य कार्यपालिका

संसदात्मक कार्यपालिका एवं अध्यक्षात्मक व्यवस्था कार्यपालिकाओं के बीच अग्रलिखित महत्वपूर्ण अंतर है :

टिप्पणी

1. संसदात्मक व्यवस्था में वास्तविक कार्यपालिका एक बहुलवादी निकाय होता है। वहां मंत्रिमंडल में प्रधानमंत्री तथा उसके मंत्री होते हैं। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक व्यवस्था में मुख्य कार्यपालिका एक व्यक्ति होता है। राष्ट्रपति ही वास्तविक शक्तियों का प्रयोग करता है। उसके सचिवों में प्रशासन की वास्तविक शक्तियां नहीं होती हैं। वे राष्ट्रपति के केवल परामर्शदाता होते हैं।

   संसदात्मक व्यवस्था की अपेक्षा अध्यक्षात्मक व्यवस्था में नियंत्रण के क्षेत्र की समस्या अधिक गंभीर होती है। प्रशासन के प्रति जनता का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण भी दोनों व्यवस्थाओं में भिन्न–भिन्न होता है। किंतु संसदात्मक व्यवस्था में शक्ति के कई व्यक्तियों में विभाजित होने के कारण यह स्थिति नहीं रहती। प्रधानमंत्री चाहते हुए भी अपनी मनमानी नहीं कर सकता।

2. संसदात्मक व्यवस्था में मंत्रिमंडल के सदस्य संसद में से लिए जाते हैं। वे मंत्रिमंडल में बैठते हैं तथा उसकी कार्यवाहियों में सक्रियता से भाग लेते हैं। इसके अतिरिक्त संसद के प्रति उनका सामूहिक उत्तरदायित्व होता है। अध्यक्षात्मक व्यवस्था में शक्ति विभाजन सिद्धांत को अपनाकर इन दोनों निकायों को अलग–अलग कर दिया जाता है।

3. संसदात्मक कार्यपालिका सदैव विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है, जबकि अध्यक्षात्मक कार्यपालिका का संसद के प्रति ऐसा कोई उत्तरदायित्व नहीं होता है। वह सैद्धांतिक रूप से जनता के प्रति उत्तरदायी होती है, किंतु इस उत्तरदायित्व को प्रभावशाली बनाने के लिए कोई कार्यवाहक व्यवस्था नहीं की जाती। इसलिए संसद एवं जनता कार्यपालिका को अधिक शक्ति नहीं देना चाहती और आवश्यक शक्ति देते समय भी संकोच करती है।

   यदि दोनों प्रकार की कार्यपालिकाओं के वास्तविक व्यवहार की विवेचना करें तो ज्ञात होगा कि अध्यक्षात्मक देशों में भी कार्यपालिका को अनियंत्रित नहीं छोड़ा जाता। इसी प्रकार संसदात्मक कार्यपालिका भी नीति के विस्तार के मामले में विधायिका की अनुचर मात्र नहीं रहती।

4. मुख्य कार्यपालिका के ये दोनों ही देश की कुछ विशेष परिस्थितियों के परिणाम होते हैं। दोनों के अपने–अपने गुण तथा दोष हैं। एक ही व्यवस्था को प्रत्येक देश में लागू नहीं किया जा सकता। अध्यक्षात्मक कार्यपालिका में एक व्यक्ति के महत्वपूर्ण होने के कारण उसके द्वारा निर्णय बड़ी शीघ्रता से लिए जा सकते हैं, यहां निर्देश एवं आदेश की एकता रहती है। कार्यपालिका में अपेक्षाकृत अधिक स्थायित्व पाया जाता है।

   कतिपय विचारकों की दृष्टि में अध्यक्षात्मक व्यस्था की तुलना में संसदात्मक व्यवस्था अधिक महत्वपूर्ण है। अमेरिकी राष्ट्रपति विल्सन अपने देश की व्यवस्था में संसदात्मक व्यवस्था के अनुसार परिवर्तन करना चाहते थे। अध्यक्षात्मक कार्यपालिका की अपनी कुछ कठिनाइयां होती हैं।

नाममात्र की एवं वास्तविक कार्यपालिका – संसदात्मक व्यवस्था के अंतर्गत कार्यपालिका के दो रूप पाए जाते हैं – नाममात्र की कार्यपालिका तथा वास्तविक कार्यपालिका। नाममात्र की कार्यपालिका के नाम पर प्रशासन के समस्त कार्य संचालित

टिप्पणी

होते हैं जबकि शक्तियों का वास्तविक प्रयोग उसके द्वारा नहीं किया जाता। शक्तियों का सही अर्थों में प्रयोग वास्तविक कार्यपालिका करती है।

सिद्धांततः नाममात्र की कार्यपालिका कानून एवं संविधान की समस्त शक्तियां राष्ट्रपति या राजा के हाथों में सौंप देती है, किंतु वास्तविक अर्थों में इन शक्तियों का प्रयोग विभिन्न मंत्रियों के माध्यम से होता है और इस प्रकार उसकी सारी शक्तियां मंत्रिमंडल के हाथ में चली जाती हैं। राष्ट्रपति अथवा राजा का कार्य केवल निर्देश, परामर्श एवं चेतावनी देना रह जाता है। भारत एवं ब्रिटेन की शासन व्यवस्थाओं को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

- **संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक मुख्य कार्यपालिका के गुण–दोष**

(अ) संसदात्मक कार्यपालिका के गुण–दोष

संसदात्मक कार्यपालिका के प्रमुख गुण निम्नवत हैं–

– यह प्रजातंत्र प्रणाली होने के कारण लोकमत का ध्यान रखते हुए लोक–कल्याणकारी कार्य करने का प्रयत्न करती है।

– लोकतंत्रीय सिद्धांतों की रक्षा बहुत सीमा तक संसदात्मक मुख्य कार्यपालिका व्यवस्था में ही संभव है, क्योंकि इसमें जन–प्रतिनिधियों की प्रत्यक्ष जवाबदेही जनता के प्रति होती है।

– इस शासन–प्रणाली में कार्यपालिका निरंकुश नहीं हो पाती, क्योंकि उसे किसी भी कानून को पारित कराने के लिए व्यवस्थापिका पर निर्भर रहना पड़ता है।

– कार्यरत मंत्रिपरिषद को किसी भी समय परिवर्तित किया जा सकता है।

– राजनीतिक दलों का बाहुल्य होने से इस प्रणाली में सभी दल अपने–अपने कार्यक्रम रखकर राजनीतिक चेतना जागृत करने में लगे रहते हैं।

कोई भी व्यवस्था ऐसी नहीं हो सकती जो कमियों से सर्वथा मुक्त हो। संसदात्मक मुख्य कार्यपालिका में मूलतः निम्नांकित दोष देखे जा सकते हैं–

- इस कार्यपालिका में मंत्रिमण्डल का कार्यकाल अनिश्चित होता है। बहुमत के मुद्दे पर सरकार के अस्थिर होने की संभावना बनी रहती है।
- गैर सत्तासीन दल के योग्यतम व्यक्ति तक की सेवाओं का लाभ जनता को नहीं मिल पाता।
- डायसी के अनुसार, "युद्ध और राष्ट्रीय संकट के समय यह प्रणाली सर्वथा अनुपयुक्त होती है।"

(ब) अध्यक्षात्मक कार्यपालिका के गुण–दोष

अध्यक्षात्मक मुख्य कार्यपालिका के कतिपय गुण निम्नलिखित हैं–

(i) स्थाई सरकार

(ii) नीतिगत एकता

(iii) संकटकाल के लिए उपयुक्त

(iv) दलबन्दी का अभाव

टिप्पणी

(v) निरंकुशता की कमी

(vi) प्रशासन में कुशलता

(vii) किसी भी दल के योग्य व्यक्ति को महत्व

(viii) नागरिकों की स्वतंत्रता एवं अधिकारों की रक्षा

(ix) बेहतर कानूनों का निर्माण

(x) बहुदलीय प्रणाली के लिए उपयुक्त

अध्यक्षात्मक सरकार के यद्यपि अनेक लाभ हैं तथापि इसे अनुत्तरदायी व निरंकुश कहकर इसकी आलेचना की जाती है। इस कार्यपालिका को दोषपूर्ण बताने वाले तर्क इस प्रकार हैं–

– सर्वाधिकार राष्ट्रपति के पास होने के कारण वह निरंकुश बन सकता है।

– कार्यपालिका व विधायिका में सामंजस्य की कमी के कारण गतिरोध की स्थिति बनने पर शासन में गतिशीलता का अभाव संभव है।

– वैकल्पिक सरकार का प्रावधान नहीं होने से स्थिति–विशेष में राज्याध्यक्ष को बदलना संभव नहीं हो सकता है।

– कार्यपालिका की शक्तियों का केन्द्रीकरण लोकतंत्र की आत्मा के विरुद्ध है।

– लोचशीलता के अभाव के विशेष परिस्थिति में कानून निर्माण संभव नहीं होता।

– व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में गतिरोध के फलस्वरूप न्यायिक निरंकुशता का जन्म हो सकता है।

– राष्ट्रपति विदेशों से दृढ़तापूर्णक संबंध स्थापित नहीं कर पाता, क्योंकि इसके लिए उसके पास पर्याप्त शक्तियां नहीं होती।

कार्यपालिका के अन्य रूप

मुख्य कार्यपालिका के कुछ अन्य रूप भी पाए जाते हैं। स्विटजरलैंड की कार्यपालिका संसदीय एवं अध्यक्षात्मक कार्यपालिकाओं का मिलाजुला रूप है। इसके सात सदस्य होते हैं। इसमें प्रधानमंत्री के पद जैसा कोई पद नहीं होता।

सभी सदस्यों का स्तर प्रायः एक जैसा होता है। संसदीय व्यवस्था की भांति ही उसके सभी सदस्यों को विधायिका में स्थान प्राप्त होता है। वे उसकी कार्यवाहियों में भाग लेते हैं, यद्यपि उन्हें मत देने का अधिकार नहीं होता। अध्यक्षात्मक कार्यपालिका की भांति यह एक निश्चित समय के लिए चुनी जाती है और कार्यकाल के समाप्त होने के पूर्व इसे च्युत नहीं किया जा सकता। यदि संसद उसकी राय न माने, तो उसे त्यागपत्र नहीं देना होता है। वह संसद की इच्छा के अनुसार अपनी विधियों में परिवर्तन करके लंबे कार्यकाल तक अपने पद पर बनी रह सकती है।

सोवियत संघ की कार्यपालिका की अपनी अलग विशिष्टता है। इसके सदस्यों को मंत्री तथा अध्यक्ष को प्रधानमंत्री कहा जाता है। इन सभी को सर्वोच्च परिषद द्वारा चुना जाता है। औपचारिक रूप से मंत्री सर्वोच्च परिषद के प्रति उत्तरदायी होते हैं, किंतु यथार्थ में उनका उत्तरदायित्व साम्यवादी दल के ब्यूरो के प्रति होता है। दो प्रकार के मंत्री होते हैं– सर्वसंघ मंत्री और सर्वगण मंत्री। दोनों का कार्यक्षेत्र अलग–अलग होता है।

टिप्पणी

प्रत्येक मंत्री की सहायता के लिए एक परामर्शदात्री निकाय या परिषद होती है। यहां राष्ट्रपति नहीं होता। राज्य के अध्यक्ष के कार्यों का संपादन प्रिसिडियम के सभापति द्वारा किया जाता है। सोवियत संघ में सिद्धांत तथा व्यवहार के बीच भारी अंतर है। व्यवहार में समस्त निर्देशन एंव समन्वय संबंधी कार्य गुप्त रूप से किया जाता है।

अधिनायकवादी तथा सर्वाधिकारी देशों में कार्यपालिका का रूप कुछ भिन्न होता है। आज विश्व के लगभग सभी देशों से इस प्रकार की व्यवस्थाएं हट गई हैं और लोकतंत्रात्मक आधार पर समानता, स्वतंत्रता एवं भ्रातृत्व की भावनाओं का विकास हो गया है। फलस्वरूप कार्यपालिका के रूप में भारी परिवर्तन आए हैं, उसने अपना पुराना चोला उतार कर नवीन परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढाल लिया है।

स्थानीय कार्यपालिकाएं – ऊपर कार्यपालिका के जिन रूपों का वर्णन किया गया है, उनका संबंध राष्ट्रीय स्तर से अथवा राज्य स्तर से है। जो कार्यपालिकाएं स्थानीय स्तर पर कार्य करती हैं, उनका रूप भिन्न होता है। स्थानीय स्तर की कार्यपालिका के मुख्यतः चार प्रकार हैं।

1. **एकल तथा बहुल** – एक व्यक्ति की कार्यपालिका के उदाहरणस्वरूप अमेरिका के मेयर तथा सिटी मैनेजर, जर्मनी के बुर्गोमास्टर, फ्रांस के मेयर तथा भारत में स्थानीय संस्थाओं के अध्यक्ष, सभापति एवं कार्यपालिका अधिकारी को लिया जा सकता है। बहुल कार्यपालिका के अंतर्गत समिति, आयोग एवं बोर्ड आदि आते हैं।
2. **उत्तरदायी एवं अनुत्तरदायी** – कुछ स्थानीय कार्यपालिकाएं उत्तरदायी हैं जबकि कुछ अन्य अनुत्तरदायी।
3. **केंद्रित तथा विकेंद्रित** – कुछ स्थानीय कार्यपालिकाएं शक्ति को अपने हाथों में केंद्रित रखती हैं और कुछ अन्य इसका प्रयोग विकेंद्रित रूप में करती हैं।
4. **राजनीतिक एवं अराजनीतिक** – कुछ स्थानीय कार्यपालिकाओं का स्वरूप राजनीतिक होता है तथा उसके अधिकारी विशेषज्ञ नहीं होते जबकि कुछ अन्य का स्वरूप अराजनीतिक होता है और उनके अधिकारी विशेषज्ञ होते हैं।

अराजनीतिक एवं विशेषज्ञों से पूर्ण कार्यपालिका में पहल अथवा नेतृत्व करने का गुण नहीं होता और संभवतः यही कारण है कि राष्ट्र एवं राज्य स्तर पर इस प्रकार की कार्यपालिकाओं का प्रयोग नहीं किया जाता।

मुख्य कार्यपालिका के कार्य और शक्तियां

मुख्य कार्यकारी को दो प्रकार के कार्य करने होते हैं –राजनीतिक और प्रशासनिक। मुख्य कार्यपालिका कतिपय राजनीतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए गठित की जाती है। मुख्य कार्यपालिका के विभिन्न कार्यों का विवेचन यहां प्रस्तुत है।

• राजनीतिक कार्य

आधुनिक युग जनतंत्रात्मक शासन व्यवस्था का युग है। इसमें मुख्य कार्यपालिका के राजनीतिक क्रियाकलाप अत्यंत महत्वपूर्ण होते हैं। उसे सर्वप्रथम व्यवस्थापिका तथा अपने राजनीतिक दल का पूर्ण सहयोग प्राप्त करना होता है। साथ ही, अपने पद से संबंधित कर्तव्यों के पालन तथा प्रशासन के सुचारु संचालन के लिए उसे आवश्यक

टिप्पणी

विधियों तथा वित्त की आवश्यकता होती है। द्वितीय उसे विधानमंडल तथा जनता का मार्ग–दर्शन एवं आवश्यकतानुसार नेतृत्व भी करना होता है, क्योंकि मुख्य कार्यकारी जनता तथा विधानमंडल की इच्छाओं की पूर्ति का यंत्र मात्र नहीं है। तृतीय उसे लोकमत का गंभीर अध्ययन करना होता है, जन सम्पर्क बढ़ाना होता है। जन सम्पर्क के कार्यों से वह प्रशासन का जनता में प्रतिनिधित्व करता है तथा उसके समर्थन में लोकमत का निर्माण करता है। ज्यों ही उसे ऐसा प्रतीत होता हैं कि कोई विरोधी प्रवृत्ति उत्पन्न हो रही है, वह उसके निवारण के लिए आवश्यक कदम उठाता है।

- **प्रशासकीय कार्य**

मुख्य कार्यपालिका के प्रशासनिक कार्यों का विवरण निम्न प्रकार है–

(क) **प्रशासकीय नीति का निर्धारण करना** – सर्वप्रथम मुख्य कार्यकारी को प्रशासकीय नीति की आधारभूत रूपरेखाएं तय करनी होती हैं। सम्पूर्ण प्रशासन के लिए नीति ही मार्गदर्शन का कार्य करती है। समय–समय पर सामान्य और विशिष्ट नीति संबंधी निर्देश लागू करना कार्यपालिका का ही कार्य है। मुख्य कार्यकारी ही नीतियों से संबंधित ऐसे निर्णय करता है, जो लोक प्रशासन के कार्य संचालन पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं।

प्रबंध नीति के गंभीर प्रश्नों पर मुख्य कार्यपालिका द्वारा ही निर्णय लिया जाता है। साधारणतया नीति निर्माण विधायिका का कार्य समझा जाता है। परंतु व्यवहार में नीति निर्माण के कार्य में मुख्य कार्यकारी सबसे अधिक भाग लेता है। व्यवहार में अधिकांश अवसरों पर वही मूल नीति का निर्माण करता है, क्योंकि विधायिका द्वारा निर्मित विधियों में समूची प्रशासकीय क्रिया का उल्लेख नहीं होता। मूल नीतियों के निर्धारण में मुख्य कार्यकारी अपनी विवेक शक्ति का उपयोग भी करता है।

(ख) **नियोजन संबंधी कार्य** – प्रशासकीय कार्यों में दूसरा महत्वपूर्ण कार्य नियोजन है। साधारण शब्दों में किसी भी कार्य की पूर्व तैयारी को नियोजन कहते हैं। कार्य आरंभ करने से पूर्व हम उसके विषय में सोचते हैं, रूपरेखा तैयार करते हैं, यही नियोजन है।

प्रशासनिक लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए निर्धारित नीतियों के भीतर उनका क्रियान्वयन करना मुख्य कार्यकारी का एक महत्वपूर्ण कार्य हैं। साधनों और धन का भी उसे उचित नियोजन करना होता है। उसे समय–समय पर सुधार, संशोधन तथा पुनर्गठन हेतु भी नियोजन कार्य करना होता है।

(ग) **समन्वय** – प्रशासनिक घटकों के कार्यों में सामंजस्य स्थापित करना मुख्य कार्यकारी का एक अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य है। अधिकारीगण संगठन तथा कार्यालय प्रशासन के कार्य में व्यस्त रहते हैं। उचित सामंजस्य के अभाव में उनमें मतभेद, टकराव, गतिरोध एवं दोहराव उत्पन्न हो सकता है।

यदि निम्न स्तरों पर संघर्षों और मतभेदों का निवारण न हो, तो अंततः वे प्रमुख कार्यकारी के समक्ष प्रस्तुत किए जाते हैं और उसे उनके प्रति निर्णय लेने का पूरा अधिकार होता है। वह विभिन्न विभागों में समुचित समन्वय एवं तालमेल बनाए रखने के लिए अनेक अंतर्विभागीय कड़ियों की स्थापना कर सकता है।

टिप्पणी

(घ) **पदाधिकारियों की नियुक्ति एवं पदच्युति** – मुख्य कार्यकारी को शासन के उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति करने का अधिकार होता है, जैसे भारत में राष्ट्रपति, राज्यपालों, उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों, राजदूतों, संघ लोक सेवा आयोग के सदस्यों आदि की नियुक्ति करता है। जिन पदाधिकारियों की नियुक्ति मुख्य कार्यकारी द्वारा की जाती है, उन्हें वह पदच्युत भी कर सकता है, परंतु इस हेतु उसे विशेष संवैधानिक प्रावधानों का पालन करना होता है। नियुक्ति के अपने इस अधिकार द्वारा कार्यपालिका प्रशासकीय संगठन पर प्रभुत्व बनाये रखती है।

(ङ) **संगठन की विस्तृत रूपरेखा निश्चित करना** – यद्यपि संगठन की रूपरेखा व्यवस्थापिका निर्धारित करती है, किंतु उसका विस्तृत आंतरिक स्वरूप कार्यपालिका द्वारा निश्चित किया जाता है। प्रशासकीय लक्ष्यों को पूरा करने के लिए विभाग, ब्यूरो, आयोग, निगम, कार्यालय आदि स्थापित किए जाते हैं। कभी–कभी प्रशासन की क्षमता में वृद्धि करने हेतु विद्यमान अभिकरणों के आंतरिक संगठन में हेर–फेर अथवा उनका पुनर्गठन करना पड़ता है। ये सारे कार्य मुख्य कार्यकारी द्वारा ही किए जाते हैं।

(च) **निर्देश एवं आदेश जारी करने का अधिकार** – प्रशासनिक प्रमुख के रूप में मुख्य कार्यकारी का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य है सम्पूर्ण प्रशासन के कार्यों का निरीक्षण करना तथा उन पर नियंत्रण रखना। यह कार्य इसलिए विशेष महत्व रखता है, क्योंकि मुख्य कार्यकारी शासन के विभिन्न कार्य स्वयं नहीं करता है। ये कार्य वह अधीनस्थ पदाधिकारियों से करवाता है। वह अपनी बहुत सी शक्तियां अधीनस्थ कर्मचारियों को हस्तांतरित कर देता है। इसलिए यह देखना उसका दायित्व है कि अधीनस्थ पदाधिकारी प्रदत्त शक्तियों का दुरुपयोग न करें। इस हेतु उसे निरीक्षण एवं नियंत्रण की व्यापक शक्तियां प्राप्त हैं। वह किसी भी विभाग की जांच का आदेश दे सकता है, किसी भी विभाग से दस्तावेज, अभिलेख आदि जो चाहे आवश्यक कार्यवाही के लिए मंगवा सकता है। वह आवश्यक निर्देश, अधिशासी आज्ञा, घोषणा आदि कर सकता है। इस प्रकार मुख्य कार्यकारी निर्देश एवं आदेश जारी कर प्रशासन का नेतृत्व करता है।

(छ) **बजट और वित्तीय प्रबंधन पर नियंत्रण रखना** – प्रशासन के लिए धन की व्यवस्था करना मुख्य कार्यकारी का दायित्व है। कार्यपालिका ही बजट बनाती है, उसे व्यवस्थापिका के सामने प्रस्तुत करती है और व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत होने के पश्चात उसे क्रियान्वित करती है। मुख्य कार्यकारी आर्थिक योजनाएं बनाता है तथा आर्थिक नीतियों की पहल निर्धारित करता है।

(ज) **जन संपर्क स्थापित करना** – मुख्य कार्यकारी को संगठन के सार्वजनिक संबंधों का प्रबंध भी करना होता है। आधुनिक युग में जन संपर्क का महत्व बहुत बढ़ गया है। लोक प्रशासन का अंततोगत्वा जनता से ही संबंध है। अपने समस्त कार्यों के लिए सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है।

कार्यपालिका के लिए यह आवश्यक है कि वह लोगों को सरकारी योजनाओं तथा नीतियों के बारे में जानकारी एवं सूचनाएं देती रहे, ताकि वे उनमें रुचि लें। मुख्य कार्यकारी प्रशासन व जनता के बीच की कड़ी है।

टिप्पणी

जन संपर्क स्थापित करने के लिए कार्यपालिका समाचार–पत्र, रेडियो आदि का सहारा लेती है। वर्तमान समय में प्रमुख कार्यकारी के लिए विविध कल्याणकारी समूहों एवं जनता के विभिन्न समुदायों के साथ भी मधुर संपर्क रखना आवश्यक हो गया है।

विभिन्न मत – मुख्य कार्यकारी के कर्तव्यों के लिए लूथर गुलिक ने 'पोस्डकोर्ब' शब्द की रचना की है। उनके अनुसार कार्यपालिका के प्रशासनिक कार्य इस प्रकार हैं–

1. योजना बनाना, 2. संगठन करना, 3. कर्मचारियों की व्यवस्था करना, 4. निर्देश देना, 5. समन्वय करना, 6. प्रतिवेदन देना, 7. बजट तैयार करना।

मुख्य कार्यपालिका के कार्यों को डॉ. एल. डी. ह्वाइट ने आठ भागों में विभाजित किया है–1. अनुकूल वातावरण की रचना, 2. नीति निर्माण, 3. निर्देश जारी करना, 4. बजट बनाना, 5. सेविवर्ग का चयन करना, 6. निरीक्षण व नियंत्रण, 7. पद विमुक्ति एवं 8. जन संपर्क।

प्रो. वीग ने मुख्य कार्यपालिका के कार्यों को दो भागों में बांटा है– प्रशासकीय नियोजन एवं निर्देश और समन्वय एवं प्रशासकीय प्रतिवेदन।

चेस्टर बर्नार्ड ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'दि फंक्शन ऑफ दि इग्जेक्यूटिव' में मुख्य कार्यकारी पदाधिकारी के तीन प्रधान कार्य बताए हैं –

1. संगठन में संचार स्थापित करना।
2. संगठन में उसके सदस्यों से आवश्यक सेवाएं लेना।
3. उद्देश्य एवं लक्ष्यों का निर्धारण करना।

निष्कर्ष : मुख्य कार्यकारी की शक्तियों के उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि वह किसी अधिनायक के समान होता है। व्यवहार में वह अपनी समस्त वैधानिक सत्ता का प्रयोग उसी प्रकार अकेला नहीं कर सकता, जिस प्रकार किसी टीम का कप्तान अकेले ही सारा खेल नहीं खेल सकता।

मुख्य कार्यपालिका जनता के समक्ष प्रशासन का प्रतिनिधित्व करती है। इस कठिन कार्य को संपन्न करने के लिए आवश्यक है कि उस व्यक्ति में ठोस निर्णय करने की शक्ति, पहल करने की प्रेरणा एवं कार्य क्षमता विद्यमान हो। उसमें लोगों को परखने एवं समझने की सूझबूझ और योग्यता होनी चाहिए। उसमें सोचने और शीघ्र निर्णय लेने की असाधारण शक्ति होनी चाहिए। उसके व्यक्तित्व में इतना आकर्षण होना चाहिए कि वह अन्य अधीनस्थ सेविवर्ग में आत्मविश्वास पैदा कर सके और साथ ही उन्हें उचित सम्मान दिला सके। वह एक मुख्य कार्यकारी के रूप में तभी सफल हो सकता है जब उसमें समुचित नेतृत्व के गुण हों।

यद्यपि प्रशासन में मुख्य कार्यपालिका की भूमिका केंद्रीय होती है, परंतु प्रशासकीय पद सोपान के प्रत्येक स्तर पर अधीनस्थ अधिकारी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। डॉ. एम. पी. शर्मा के अनुसार, ''औपचारिक दृष्टि से निर्णय मुख्य कार्यकारी के होते हैं, परंतु वास्तव में निर्णय विकास की एक दीर्घ प्रक्रिया के परिणाम होते हैं।'' व्यवहार में प्रत्येक निर्णय के पीछे समूचे संगठन की शक्ति होती है, जिसमें मुख्य कार्यकारी की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण होती है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

4. व्यावसायिक संगठन के प्रशासनिक प्रमुख को किस नाम से संबोधित किया जाता है?

   (क) महाप्रबंधक (ख) प्रबंधक

   (ग) कोषाध्यक्ष (घ) कार्यपालिका अध्यक्ष

5. संयुक्त राज्य अमेरिका में कौन–सी कार्यपालिका प्रचलित है?

   (क) बहुल कार्यपालिका (ख) एकल कार्यपालिका

   (ग) अध्यक्षात्मक कार्यपालिका (घ) संसदात्मक कार्यपालिका

6. बहुल कार्यपालिका किस देश में प्रचलित है?

   (क) भारत (ख) स्विट्जरलैंड

   (ग) कनाडा (घ) जापान

2.4 सूत्र (लाइन) और स्टाफ अभिकरण

प्राथमिक तथा संस्थागत क्रियाओं के अंतर के आधार पर अभिकरणों में भेद किया जाता है। अभिकरण दो प्रकार के होते हैं – सूत्र तथा स्टाफ। मोटे रूप में यह कहा जा सकता है कि 'सूत्र' अभिकरण वह अभिकरण है, जो विभाग के प्राथमिक कार्य को संपन्न करता है। इसके विपरीत स्टाफ या कार्मिक वह अभिकरण है, जो विभाग के गृह प्रबंध संबंधी या प्रबंधात्मक कार्य का संपादन करता है।

जब किसी इकाई या अभिकरण को सूत्र अथवा स्टाफ इकाई के नाम से पुकारा जाता है, तो इसका केवल इतना अर्थ होता है कि उसके कार्य प्रमुख या उस वर्ग से संबंधित हैं। साइमन तथा अन्य लेखकों का मत है कि अधिकांश मामलों में सूत्र तथा स्टाफ के बीच रेखा खींचना असंभव होता है। दोनों के बीच में अंतर यथार्थतः यह है कि जब कोई विशेष इकाई स्थापित की जाती है, तो उसके पक्ष में विभिन्न तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं। किंतु जब इकाइयां एक बार स्थापित हो जाती हैं, तो उनकी क्रियाओं की प्रकृति में कोई अंतर नहीं किया जा सकता।

स्टाफ और लाइन शब्द सैनिक प्रशासन की शब्दावली से ग्रहण किए गए हैं। सेना में दो प्रकार की इकाइयां होती हैं – सूत्र या लाइन इकाई तथा स्टाफ इकाई। सूत्र इकाई में वे लोग आते हैं, जो युद्ध के मैदान में सेना को आदेश देते हैं, उसका संचालन एवं नेतृत्व करते हैं। उनके पास वास्ताविक शक्ति रहती है। वे सेना के मुख्य उद्देश्य की पूर्ति का कार्य करते हैं। इन अधिकारियों को लाइन या 'सूत्र' अधिकारी की संज्ञा दी जाती है। अधिकारी पदसोपान की श्रृंखला में आबद्ध रहते हैं। उदाहरणार्थ, किसी भी सैनिक संगठन में सर्वोच्च शिखर पर सेनाध्यक्ष होता है तथा उसके नीचे क्रम से जनरल, कर्नल, मेजर, कैप्टन, लेफ्टिनेंट और सेकंड लेफ्टिनेंट रहते हैं।

परंतु युद्धरत सेना के लिए रसद, दवाइयां, हथियार, गोला–बारूद आदि की आवश्यकता पड़ती है। स्टाफ इकाइयां इनकी पूर्ति करती हैं। वे स्वयं युद्ध नहीं लड़तीं,

टिप्पणी

परंतु सेना के मुख्य उद्देश्य की पूर्ति में अप्रत्यक्ष रूप से सहायता करती हैं। इनकी सहायता के बिना सैनिक युद्ध नहीं जीत सकते।

सूत्र और स्टाफ धारणा का उपयोग सर्वप्रथम सैनिक संगठन में हुआ तथा उस संकल्पना को नागरिक संगठन और प्रशासन पर लागू किया गया। सूत्र और स्टाफ दो अलग–अलग अभिकरण हैं, जिनमें निम्नलिखित अंतर हैं –

1. स्टाफ का संबंध सूत्र को अनुकूल परामर्श देने तथा नियोजन से है, जबकि सूत्र का संबंध कार्यों का संपादन करने से है।
2. स्टाफ अधिकरियों तथा स्टाफ इकाइयों एवं सूत्र आधिकारियों और सूत्र इकाइयों के मध्य दूसरा भेद यह है कि स्टाफ अधिकारी और स्टाफ इकाइयां आदेश देने की शक्ति का प्रयोग नहीं करतीं। वे केवल परामर्श देते हैं तथा सहायता करते हैं। इसके विपरीत सूत्र अधिकारी और सूत्र इकाइयां आदेश देने का कार्य करती हैं।
3. सूत्र क्रियात्मक है और स्टाफ संस्थागत है।
4. सूत्र का कर्तव्य लक्ष्य का प्राप्त करना तथा स्टाफ का कर्तव्य सूत्र को लक्ष्य प्राप्त करने के योग्य बनाना है।
5. स्टाफ सदैव पृठभूमि में रहता है। वह निर्णयों के लिए भूमिका तैयार करता है परंतु निर्णय नहीं करता। निर्णय करने की समूची शक्ति सूत्र अधिकारियों के हाथों में रहती है। सूत्र अभिकरण के कर्मचारी प्रत्यक्ष रूप से कार्य करते हैं।
6. सूत्र के कार्य प्राथमिक रूप से होते हैं, जिसके लिए सरकार का अस्तित्व होता है तथा स्टाफ का कार्य विभागों की सार्थकता को बनाए रखना होता है।
7. सूत्र के कार्य साध्य हैं और स्टाफ के कार्य साधन। स्टाफ का मुख्य संबंध अनुसंधान करने तथा जानकारियां प्राप्त कर उनका संग्रह करने, योजना बनाने तथा सूत्र अधिकारियों को सहायता देने से है।
8. सूत्र का कार्य नीतियों का क्रियान्वयन करना है, जबकि स्टाफ का कार्य नीतियों के निर्णय में केवल सहायता देना है।

स्टाफ एवं सूत्र के संबंध

सैनिक प्रशासन की तुलना में लोक प्रशासन स्टाफ इकाइयां उतनी विकसित नहीं हो पाई हैं। फलतः स्टाफ तथा लाइन को पूर्णतः पृथक करना कठिन है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वहां स्टाफ कार्य होते ही नहीं। इसका अर्थ केवल यह है कि सूत्र अधिकारियों तथा इकाइयों को उनके प्रधान कार्य के अतिरिक्त स्टाफ कार्य भी करने पड़ते हैं। उदाहरणार्थ भारत में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा योजना आयोग दोनों ही क्रमशः स्टाफ अभिकरण हैं, किंतु साथ ही वे कई बार सूत्र अभिकरणों को निर्देश भी देते हैं। विश्वविद्यालय में प्रोफेसर लाइन का कार्य करते है, किंतु वहीं वे विभिन्न समितियों, सीनेट आदि के सदस्य के रूप में स्टाफ कार्य भी करते हैं। डॉ. एम. पी. शर्मा के अनुसार, ''संगठन जितना बड़ा होगा, सूत्र और स्टाफ का भेद उतना ही अस्पष्ट होता जाएगा।"

टिप्पणी

संबंधों की नवीन प्रवृत्ति–यह विचार कि स्टाफ अभिकरण सूत्र अभिकरणों से पृथक तथा भिन्न हैं, बीते युग की बात है और पूर्णतया गलत है। वर्तमान में संगठन में इस प्रकार की विभाजन रेखा खींचना कठिन है कि कहीं सूत्र प्रारंभ होता है और स्टाफ कार्य समाप्त होता है। स्टाफ अधिकारी सूत्र विभाग के लिए केवल सूचनाओं का संग्रह ही नहीं करता अपितु, वह सूत्र अधिकारियों की निर्णय करने की प्रक्रिया में अत्यंत सक्रिय रूप से भाग लेता है। स्टाफ का कार्य केवल परामर्श देना ही नहीं है, अपितु नीतियों को क्रियान्वित करने की कार्यवाही में भी उसका महत्वपूर्ण योगदान होता है। स्टाफ जब विभिन्न मामलों के समाधान से संबद्ध परामर्श देता है, तब वह क्रियाओं के सीमित क्षेत्र का उत्तरदायित्व भी लेता है। प्रायः यह देखा गया है कि स्टाफ इकाई अथवा विभाग का अध्यक्ष भी अपने संगठन के भीतर आदेश देने की शक्ति का प्रयोग करता है।

विशेषतः प्राविधिक स्टाफ के विषय में यह बात बहुत अधिक सही है क्योंकि वह अपने निश्चित क्षेत्र में कार्य करने वाले सूत्र कर्मचारियों पर कृत्यमूलक अधीक्षण का प्रयोग और नियंत्रण करता है। यद्यपि यह सत्य है कि स्टाफ अधिकारी सूत्र अधिकारी से अपने आदेश का पालन अपनी शक्ति से नहीं कराता, वरन् उसका आदेश इतना मूल्यवान होता है कि सूत्र अधिकारी के लिए उसका पालन अनिवार्य हो जाता है। उदाहरणार्थ, शासन के विभिन्न सूत्र अभिकरणों को भर्ती एवं कर्मचारियों की नियुक्ति के विषय में लोक सेवा आयोग की संस्तुति माननी ही पड़ती है। साइमन ने ठीक ही लिखा है कि ''यह धारणा भ्रम और अंधविश्वास पर आधारित है कि स्टाफ केवल परामर्श देता है, वह आदेश या निर्देश जारी नहीं करता।''

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्टाफ तथा सूत्र किसी भी प्रशासनिक संगठन के दो महत्वपूर्ण पहिये हैं। अतः प्रशासन की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि वे सहयोग तथा सद्भाव के साथ एकजुट होकर प्रशासनिक तंत्र को गति प्रदान करें। इन दोनों में कोई ऊंचा या नीचा नहीं होता, वरन् दोनों ही समान स्तर पर कार्य करते हैं। इन अभिकरणों के बीच कोई सहज विरोध नहीं है, यह अलग बात है कि विशेष परिस्थितियों में उनमें टकराव या मनमुटाव हो जाए। लपोवस्की के शब्दों में, ''वस्तुतः स्टाफ और सूत्र किसी भी संगठन के परिपूरक लक्षण होते हैं न कि विरोधी।'' सूत्र और स्टाफ अभिकरणों के संबंधों के सौहार्द को ध्यान में रखते हुए डिमॉक का कहना है, ''सूत्र तथा स्टाफ के बीच उचित समायोजन प्रबंध के कठिनतम क्षेत्रों में से एक है।''

लोक प्रशासन में जब से मानव संबंधों के महत्व पर जोर दिया जाने लगा है, तब से इन दोनों इकाइयों के भेद से संबंधित परम्परावादी दृष्टिकोण प्रभावहीन नजर आने लगे हैं। अब यह माना जाने लगा है कि औपचारिक रूप से सत्ता चाहे किसी भी अभिकरण के किसी भी अधिकारी को सौंप दी जाए, यह कदापि आवश्यक नहीं कि वास्तविक व्यवहार में भी उस सत्ता का प्रयोग वही करेगा। अनौपचारिक संबंधों के सहारे शक्ति का वास्तविक उपभोक्ता कोई अन्य व्यक्ति भी बन सकता है।

2.4.1 सूत्र अभिकरण

संगठन का प्रारंभिक कार्य सूत्र अभिकरण द्वारा संपन्न किया जाता है। प्रत्येक बड़ा प्रशासकीय संगठन इकाइयों या खंडों में विभक्त होता है। सूत्र इकाइयों का संबंध नीति के निर्माण से होता है। उनके हाथों में शक्ति होती है, जिसके आधार पर वे निर्णय ले

सकती हैं तथा आदेश पारित कर सकती हैं। ये क्रियाशील अभिकरण हैं। ह्वाइट के शब्दों में, ''सूत्र अभिकरण उन प्राथमिक उद्देश्यों से संबद्ध रहते हैं, जिनके लिए शासन स्थापित किया जाता है। लपोवस्की के शब्दों में, ''सूत्र संगठन में सत्ता तथा उत्तरदायित्व की रेखाएं ऊपर से नीचे तक फैली होती हैं। इसलिए इन्हें 'लाइन' या सूत्र की संज्ञा दी जाती है।''

सूत्र व अभिकरण के प्रमुख उदाहरण विभाग, सार्वजनिक निगम तथा स्वतंत्र नियामक आयोग हैं। उदाहरणस्वरूप भारत की केंद्र सरकार के कुछ विभाग इस प्रकार हैं– गृह, विदेश, सूचना एवं प्रसारण, सुरक्षा, मानव संसाधन, कानून और न्याय, इस्पात और खान, निर्माण और आवास आदि। ये विभाग सूत्र कहलाते हैं क्योंकि ये अभिकरण विभाग के मुख्य कार्य का निष्पादन करते हैं। सार्वजनिक निगम तथा अमेरिकी स्वतंत्र नियामक आयोग भी एक प्रकार के सूत्र अभिकरण हैं।

2.4.2 स्टाफ अभिकरण

स्टाफ कार्य की प्रकृति का समुचित वर्णन उसके शाब्दिक अर्थ में मिलता है। अंग्रेजी भाषा में स्टाफ का अर्थ छड़ी अथवा हाथ का ऐसा डंडा है, जिस पर चलते समय शरीर का बोझ डाला जा सके, परंतु जो स्वयं यह निर्णय न कर सके कि कब चलना है और किस दिशा में चलना है। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार कोई वृद्ध व्यक्ति छड़ी का सहारा लेकर चलता है, उसी प्रकार संगठन में सूत्र अभिकरण स्टाफ अभिकरणों का सहारा लेकर संगठन को चलाते हैं। स्टाफ अभिकरणों का कार्य गृह प्रबंध संबंधी अथवा प्रबंधन संबंधी सेवाओं का संपादन करना है ताकि मुख्य उद्देश्य की पूर्ति हो सके। स्टाफ अभिकरण पदसोपान से पृथक रहते हैं।

प्रो. ह्वाइट के अनुसार, ''स्टाफ उच्च श्रेणी के पदाधिकारी को परामर्श देने वाला एक अभिकरण होता है, जिसका कोई क्रियात्मक उत्तरदायित्व नहीं होता।'' मूने के शब्दों में, ''स्टाफ कार्यपालिका के व्यक्तित्व का ही विस्तार है। इसका अर्थ है अधिक आंखें, अधिक कान और अधिक हाथ जो उसकी योजना बनाने तथा क्रियान्वित करने में उसे सहायता दे सकें।'' एक पुरानी ब्रिटिश सैनिक कहावत के अनुसार, ''स्टाफ सेवाएं वे खच्चर हैं, जो लड़ने वाले खच्चरों के लिए सामग्री ढोते हैं।"

ऊपर वर्णित परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि स्टाफ का कार्य परामर्श देना तथा सहायता पहुंचाना है। ओलिवर शेल्डन के शब्दों में, ''स्टाफ संगठन को विचार के लिए जानबूझ कर बनाया जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि सूत्र का संगठन क्रियान्वयन के लिए होता है।'' परंतु अब नई अवधारणा के अनुसार स्टाफ तथा सूत्र संगठन के इस भेद को बढ़ा–चढ़ा कर प्रस्तुत नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्रशासकीय क्रियाओं को सूत्र तथा स्टाफ की पूर्णतः पृथक–पृथक इकाइयों में विभाजित करना प्रायः असंभव है। भारतीय प्रशासन के संदर्भ में ऐसा ही निष्कर्ष है, यहां ऐसी कोई शब्दावली तथा ऐसा कोई ढांचा नहीं है, जो सूत्र तथा स्टाफ के बीच भेद कर सकें। भारत में इन शब्दों का उपयोग संगठन के ढांचे में नहीं किया जा सकता। प्रतिरक्षा, विदेशी मामलों तथा केंद्रीय करों के संग्रह को छोड़कर लगभग संपूर्ण केंद्र एक बड़ा स्टाफ संगठन है। इन तथा कुछ अन्य अपवादों को छोडकर नई दिल्ली में कोई भी सूत्र कार्य नहीं है। दूसरे शब्दों में, इन अपवादों को छोड़कर केंद्र सरकार में कोई वास्तविक तथा पूर्ण प्रशासन नहीं है।

टिप्पणी

स्टाफ की आवश्यकता–विशाल संगठनों के भीतर इतने कार्य होते हैं कि एक मुख्य कार्यकारी पदाधिकारी के लिए यह संभव नहीं होता कि वह उन सबको पूरा कर सके।

मूने के अनुसार, ''मुख्य प्रशासक को सतत बहुत सी बातों तथा बहुत से तथ्यों पर विचार करना होता है और समस्याओं के निवारण के लिए विशेष ज्ञान एवं निपुणता की आवश्यकता होती है। अतः किसी एक व्यक्ति के लिए यह संभव नहीं होता कि वह किसी की सहायता के बिना सभी उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर सके।'' मुख्य प्रशासक अपने महान कर्तव्यों एवं दायित्वों का निर्वाह दूसरे व्यक्तियों की सहायता से करता है। जो प्रशासकीय इकाई या अधिकारी उसे सहायता देते हैं, स्टाफ अभिकरण या स्टाफ अधिकारी कहलाते हैं। मुख्य प्रशासक को अपने विविध कार्यों को संपन्न करने में सहायता, विशिष्ट परामर्श तथा तथ्यों एवं आंकड़ों की आवश्यकता होती है। उसके लिए ये सब कार्य स्टाफ इकाइयां करती हैं। स्टाफ का हर कर्मचारी अपना अधिकांश समय सामग्री एकत्र करने, उसका अध्ययन करने तथा बौद्धिक कार्यों से कुछ समाधान प्रस्तुत करने में लगाता है। वह संगठन की विचार व नियोजन करने वाली भुजा है।

स्टाफ अभिकरण के कार्य–स्टाफ इकाइयों का संबंध प्रशासन के संस्थागत या गृह प्रबंध संबंधी कार्यों से होता है। स्टाफ अभिकरण सूत्र की योजना बनाने में सहायता करता है। वह उसे परामर्श देता है तथा तथ्यान्वेषण कर प्रत्येक प्रकार की सहायता पहुंचाता है।

मूने ने स्टाफ के कार्यों के मुख्य तीन पहलू माने हैं – सूचना संबंधी, परामर्श संबंधी तथा पर्यवेक्षण संबंधी।

1. सूचना संबंधी कार्य का आशय स्टाफ अभिकरण के सूत्र अधिकारी को आवश्यक सूचनाएं प्रदान करने से है, जिससे उसे संगठन के प्राथमिक काम को पूरा करने में सहायता मिलती है। स्टाफ अभिकरण संबंधी तथ्य एकत्र करता है और उन्हें सूत्र अधिकारी के समक्ष प्रस्तुत करता है।
2. परामर्श संबंधी कार्य का आशय स्टाफ अभिकरण के सूत्र अभिकरण को प्रशासन के प्रत्येक कार्य से संबद्ध सूत्र उपलब्ध कराने से है। इससे निर्णय लेने में सुविधा होती है। स्टाफ द्वारा दिए गए परामर्श को मानना या ना मानना सूत्र अभिकरण पर निर्भर करता है, किंतु सूत्र अधिकारी को परामर्श देना स्टाफ अधिकारी का कर्तव्य है।
3. पर्यवेक्षण संबंधी कार्य से आशय यह है कि स्टाफ अभिकरण यह देखे कि उच्च श्रेणी के सूत्र अधिकारियों के निर्णय अधीनस्थ कर्मचारियों तक पहुंचे और क्रियान्वित किए गए या नहीं। कार्य के निष्पादन में यदि कठिनाइयां उत्पन्न हों, तो उन्हें दूर करने का प्रयास करना भी स्टाफ का काम है।

फिफनर ने स्टाफ के सात कार्यों का उल्लेख किया है– (1) सूत्र अभिकरण को परामर्श देना, (2) प्रशासन में समन्वय स्थापित करना, (3) खोज तथा अन्वेषण करना, (4) योजनाएं बनाना, (5) जन सम्पर्क स्थापित करना तथा सूचनाएं एकत्र करना, (6) विभागों की सहायता करना और (7) विभागीय अध्यक्ष से प्राप्त शक्तियों का उनकी सीमाओं के अंतर्गत उपयोग करना।

टिप्पणी

ह्वाइट के शब्दों में, "सिविल स्टाफ का कार्य प्रशासकीय समस्याओं का अध्ययन करना, योजना बनाना, परामर्श देना और अवलोकन करना है, परंतु निर्देश करना उसका कार्य नहीं है।"

प्रशासनिक ढांचे में मुख्य कार्यकारी पदाधिकारी से आशा की जाती है कि वह संपूर्ण प्रशासन की निगरानी में कार्य संपन्न करेगा। परंतु मुख्य कार्यकारी पदाधिकारी अकेले संपूर्ण प्रशासनिक कार्यों का सम्पादन नहीं कर सकता। इसलिए उसकी सहायता के लिए कई अभिकरण होते हैं। जिस अभिकरण के हाथ में सत्ता होती है, और जिसका कार्य आदेश देना एवं निर्णय करना होता है, उसे 'लाइन' कहते है, तथा 'लाइन' को परामर्श एवं सहायता देने वाले अभिकरण को 'स्टाफ' कहा जाता है।

स्टाफ अभिकरणों के प्रकार–स्टाफ को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है–

1. सामान्य स्टाफ
2. तकनीकी स्टाफ
3. सहायक स्टाफ

1. **सामान्य स्टाफ** – मुख्य निष्पादक अथवा कार्यपालिका को प्रशासकीय कार्य के संपादन में सामान्य रूप से सहायता पहुंचाने वाले कर्मचारी वर्ग को सामान्य स्टाफ के नाम से पुकारा जाता है। यह वर्ग परामर्श देता है, तथ्यों को एकत्र करता है तथा महत्वपूर्ण विषयों को विचार के लिए कार्यपालिका के सम्मुख प्रस्तुत करता है। प्रत्येक देश में इस वर्ग के लिए एक मंतव्य अभिकरण का प्रावधान किया जाता है। भारत में मुख्य कार्यपालिका का सामान्य स्टाफ इस प्रकार है –

   (1) मंत्रिपरिषद सचिवालय, (2) प्रधानमंत्री सचिवालय, (3) वित्त मंत्रालय, (4) योजना आयोग, (5) गृह मंत्रालय, (6) संगठन तथा प्रणाली संभाग, (7) केंद्रीय सांख्यिकीय संगठन, (8) विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, (9) लोक सेवा आयोग आदि।

   ब्रिटेन में ब्रिटिश राज कोष एवं अमेरिका में ह्वाइट हाउस कार्यालय तथा बजट ब्यूरो सामान्य स्टाफ अभिकरणों के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। हेनरी फेयोल ने इन मंतव्य अभिकरणों की अपरिहार्यता का वर्णन इस प्रकार किया है, ''कार्य करने की उनकी योग्यता तथा क्षमता कुछ भी हो, बड़े उद्यमों के प्रधान अपने सभी दायित्वों को अकेले कभी पूरा नहीं कर सकते। इसी कारण बाध्य होकर उन्हें ऐसे लोगों के समूह का सहारा लेना पड़ता है, जिनके पास शक्ति, योग्यता तथा समय हो। लोगों का यही समूह प्रबंधन के कर्मचारी वर्ग का गठन करता है। यह प्रबंधक के व्यक्तित्व की सहायता, संबलन और विस्तार हैं, जो कर्त्तव्यों के फलन में प्रबंधक की सहायता करते हैं। केवल बड़े–बड़े उद्यमों में ही इस कर्मचारी वर्ग का एक पृथक निकाय होता है।"

   सामान्य कर्मचारी अपना कार्य दक्षता एवं कुशलता के साथ कर सकें, इसके लिए उनमें इन गुणों का होना आवश्यक है –

   (1) हर मामले का समुचित ज्ञान, (2) सहयोग के साथ कार्य करने, आपस में बातचीत तथा विचार विमर्श करने की क्षमता, (3) महत्वाकांक्षा तथा प्रसिद्धि से

टिप्पणी

दूर रहने की प्रवृत्ति (4) धैर्य, सहनशीलता, गंभीरता, आज्ञाकारिता एवं लगनशीलता, (5) किसी समस्या का प्रशासन की सम्पूर्ण आवश्यकताओं के प्रसंग में मूल्यांकन करने की क्षमता (6) दूसरों के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने की कला में निपुणता (7) दूसरों को समझने का गुण और अपने विचारों को स्पष्टतः तथा प्रबलता के साथ व्यक्त करने का साहस और (8) अपना नाम गुप्त रखने का उत्साह।

2. **तकनीकी स्टाफ** – इस श्रेणी के स्टाफ में वे कर्मचारी आते हैं जिन्हें कुछ विशिष्ट तकनीकी ज्ञान प्राप्त हो। मुख्य कार्यकारी को प्रशासन में प्राविधिक मामलों को भी निपटाना पड़ता है। ऐसे मामलों में उन्हें तकनीकी परामर्श देने के लिये कतिपय विशेषज्ञों को रखा जाता है। इनमें चिकित्सक, शिक्षा प्रणाली के विशेषज्ञ, वकील, मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक आदि आते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक युग में मुख्य कार्यकारी के लिए तकनीकी कर्मचारियों की आवश्यकता दिन–प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।

3. **सहायक स्टाफ** : कार्यालयों में कई सामान्य कार्य होते हैं जैसे आय–व्यय संबंधी कार्य, हिसाब–किताब की जांच करने का कार्य, कर्मचारियों की नियुक्ति, मुद्रण आदि। पहले विभाग अपने ये कार्य अलग–अलग किया करते थे, किंतु हाल में यह अवधारणा बनी कि इन सामान्य कार्यों के लिए 'सामान्य अभिकरण' स्थापित करना अधिक सुविधाजनक एवं लाभप्रद होगा। इसलिए विभिन्न विभागों के कार्यों के संपादन के लिए सामान्य अभिकरण स्थापित किए गए हैं। इससे धन, समय और शक्ति की काफी बचत होती है।

स्टाफ को आदेश देने, नियंत्रण एवं सत्ता–संचालन से संबंधित पद्धति

यह बात सत्य है कि स्टाफ का कार्य परामर्श देना और सेवा करना है, किंतु वह सूत्र अभिकरणों पर सत्ता का प्रयोग नहीं करता है। अर्नेस्ट डेल ने अपने ग्रंथ 'प्लानिंग एंड डिवेलपिंग कम्पनी ऑर्गेनाइजेशन' में पांच ऐसी स्थितियों का वर्णन किया है, जिनमें स्टाफ कर्मचारी आदेश देते हैं और सूत्र अधिकारियों की गतिविधियों को प्रभावित करते हैं। ये स्थितियां इस प्रकार हैं।

1. **विचारों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करना** – विचारों को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने की कला में दक्ष हों, तो स्टाफ अधिकारी सूत्र अधिकारियों को अपने विचार स्वीकार करने के लिए प्रेरित कर सकते हैं।

2. **तकनीकी सामर्थ्य** – सूत्र अधिकारी तकनीकी स्टाफ के परामर्श की उपेक्षा नहीं कर सकते।

3. **पद के आधार पर आदेश** – प्रायः स्टाफ का पद और वेतन सूत्र अधिकारियों से उच्चतर होते हैं। इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव सूत्र अधिकारियों पर होता है और उन्हें स्टाफ कर्मचारी की बात माननी पड़ती है।

4. **मुख्य कार्यकारी की अनुमति से आदेश** – स्टाफ का अधिकारी प्रमुख कार्यकारी के बहुत निकट होता है और उसके मस्तिष्क को इतनी अच्छी तरह जानता है कि स्टाफ के आदेश वास्तव में अध्यक्ष के ही आदेश माने जा सकते हैं। मुख्य कार्यकारी समय–सयम पर उसे आदेश देने की अनुमति देता है। यदि कोई सूत्र अधिकारी स्टाफ के अधिकारी के प्रस्तावों से सहमत नहीं हो, तो सूत्र

टिप्पणी

अभिकरण के उच्च अधिकारियों को कह सकता है जो उस अधिकारी को स्टाफ का परामर्श मानने के लिए बाध्य कर सकते हैं।

5. **सूत्र अधिकारियों के कार्य के प्रति उदासीनता बरतने की स्थिति में** – कभी–कभी सूत्र अधिकारी किसी के प्रति चुप्पी साध लेते हैं। ऐसी स्थिति में स्टाफ का अधिकारी उन्हें कार्य करने के लिए आग्रह कर सकता है।

सहायक अभिकरण

सहायक स्टाफ की सेवा प्रधान सेवा न होकर गौण होती है अर्थात वह विभाग के प्रमुख कार्य का प्रत्यक्ष अंग नहीं होती। विलोबी ने इन सेवाओं को संस्थामूलक अथवा गृह प्रबंधन संबंधी क्रियाओं की संज्ञा दी है। ह्वाइट ने इन्हें 'सहायक सेवा' कहा है। गृह प्रबंधन अथवा सहायक सेवाएं उन उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक होती हैं, जिनके लिए विभाग स्थापित किए जाते हैं। इन क्रियाओं उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन कहा जा सकता है।

हमारे देश में कुछ सहायक अभिकरण हैं – लोक सेवा आयोग, भारत सरकार का प्रेस, केंद्रीयकरण मंडल, प्रकाशक ब्यूरो, लोक निर्माण विभाग, केंद्रीय लेखा परीक्षण विभाग आदि। ये सहायक अभिकरण प्रशासन के प्राथमिक अभिकरण नहीं हैं। ये अभिकरण प्रशासकीय विभागों के सहायक एवं पूरक हैं। ह्वाइट के अनुसार, ''ये सूत्र अभिकरणों की सेवा करते हैं। ये आवश्यक सामान्य कार्यों को पूरा करके उन्हें सहायता पहुंचाते हैं, जैसे माल तथा सामग्री खरीद कर, सरकारी मुद्रण के ठेके लेकर आदि।''

सहायक अभिकरण तथा स्टाफ अभिकरण में अंतर

साइमन आदि विचारकों के अनुसार अधिकांश मामलों में सहायक तथा स्टाफ कार्यों के मध्य विभाजक रेखा खींचना असंभव होता है। सहायक तथा स्टाफ अभिकरण कई दृष्टियों से समान होते हैं, जैसा कि नीचे उल्लेख किया गया है।

1. दोनों सूत्र अभिकरणों को सहायता पहुंचाते हैं, ताकि वे विभाग के उद्देश्यों को पूरा कर सकें। उनकी अपनी कोई वैध स्थिति नहीं होती। ह्वाइट के अनुसार ''स्टाफ और सहायक दोनों अभिकरणों का अस्तित्व इसलिए है कि वे केंद्रीय निष्पादन अभिकरणों अर्थात् सूत्र विभागों के कार्य को सरल बनाएं।''
2. दोनों विभाग के गृह प्रबंधन संबंधी कार्यों का संपादन करते हैं। ये सूत्र अधिकारियों की सेवा करने वाले गौण अभिकरण है। ह्वाइट के अनुसार, ''एक विशाल एवं जटिल संगठन में स्टाफ और सहायक दोनों प्रकार के अभिकरण आवश्यक होते हैं, किंतु वे गौण होते हैं। वे सूत्र अभिकरण की सेवा करते हैं। सूत्र अभिकरण जनता की सेवा करता है।"
3. सूत्र अभिकरण की तुलना में ये दोनों अभिकरण अकार्यात्मक होते हैं। दूसरे शब्दों में, ये संगठन का प्राथमिक कार्य नहीं करते।

स्टाफ तथा सहायक क्रियाओं के बीच उक्त समानता के साथ–साथ कुछ अंतर भी होते हैं जिनका संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत है।

1. स्टाफ क्रिया परामर्श देने वाली क्रिया है, जबकि सहायक अभिकरण बजट, कर्मचारी वर्ग तथा नियोजन आदि से संबंधित कुछ सेवाएं पूरी करते हैं।

टिप्पणी

2. सहायक अभिकरण क्रियाशील होते हैं जबकि स्टाफ अभिकरण परामर्शदायी। सहायक अभिकरणों का संबंध मुख्य नीतियों के साथ नहीं होता, जबकि स्टाफ अभिकरणों का न केवल नीतियों के निर्धारण से संबंध होता है बल्कि अन्य महत्वपूर्ण कार्यों में भी वे सूत्र अधिकारियों की सहायता करते हैं।
3. साइमन तथा कुछ अन्य लेखक सहायक और स्टाफ इकाइयों के मध्य स्पष्ट रूप से अंतर मानते हैं। उनके अनुसार सहायक इकाइयां वे होती हैं, जो कुछ सामान्य कार्यों को पूरा कर सूत्र संगठनों की सहायता करती हैं। इसके विपरीत स्टाफ इकाइयां कुछ ऐसे कार्यों का संपादन कर मुख्य कार्यकारी की सहायता करती हैं, जिन्हें वह सूत्र संगठनों को हस्तांतरित नहीं कर सकता।

भारत में स्टाफ अभिकरण

भारतीय प्रशासन में प्रमुख उच्च स्तरीय स्टाफ अभिकरण इस प्रकार हैं–

1. प्रधानमंत्री सचिवालय – प्रधानमंत्री सचिवालय की स्थापना 15 अगस्त, 1947 को स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात प्रधानमंत्री के कार्यालय के रूप में की गई। इस सचिवालय का निर्माण उन समस्त कार्यों का संपादन करने के उद्देश्य से किया गया, जिनका संपादन स्वतंत्रता के पहले गवर्नर जनरल के सचिव द्वारा किया जाता था। इस सचिवालय का प्रधान कार्य प्रधानमंत्री को सभी मामलों में आवश्यक सचिवीय सहायता और परामर्श देना है। इसके प्रधान कार्य इस प्रकार हैं–

(क) संसद के कार्य संचालन के नियमों के अंतर्गत प्रधानमंत्री के सम्मुख प्रस्तुत किए जाने वाले सभी प्रश्नों पर आवश्यक सामग्री के साथ परामर्श देना।

(ख) शासन के अध्यक्ष के रूप में प्रधानमंत्री को भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों और राज्य सरकारों के साथ संबंध स्थापित करने और उत्तरदायित्व पूरा करने में सहायता देना।

(ग) योजना तथा राष्ट्रीय विकास परिषद के अध्यक्ष के रूप में प्रधानमंत्री को सहायता देना

(घ) प्रेस तथा सामान्य जनता के साथ प्रधानमंत्री के सार्वजनिक संबंध और संपर्क विषयक कार्यों की देखभाल करना।

इस सचिवालय के पदाधिकारियों का स्तर शासकीय मंत्रालय के पदाधिकारियों के समान होता है। श्रीमती इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्रित्व में यह सचिवालय प्रमुख नीति निर्धारक निकाय बन गया। आज यह सर्वाधिक शक्तिशाली संगठन है जिसमें अनेक विशेषज्ञ कार्यरत हैं।

2. मंत्रिमंडलीय सचिवालय – भारत में मंत्रिमंडलीय सचिवालय की स्थापना अगस्त 1947 में गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद के स्थान पर की गई। यह स्टाफ के दायित्वों एवं कार्यों का संपादन करता है। यह मंत्रिमंडल की और साथ ही मंत्रिमंडल की लगभग एक दर्जन स्थायी समितियों के कार्यों की देखभाल तथा सचिवालय के बैठकों से संबंधित आवश्यक कार्यों का संचालन करता है। मंत्रिमंडल की बैठकों के लिए एजेंडा तैयार करना, मंत्रिमंडल में होने वाली बहसों तथा उनमें लिए गए निर्णयों का विवरण रखना, मंत्रिमंडल के विचारार्थ मामलों से संबंधित स्मृति पत्र तैयार करना,

टिप्पणी

प्रत्येक मंत्रालय को निर्णय भेजना आदि विषय मंत्रिमंडलीय सचिवालय के अंतर्गत आते हैं।

मंत्रिमंडलीय सचिवालय का अध्यक्ष मंत्रिमंडल का सचिव होता है। उसकी सहायता के लिए एक संयुक्त सचिव, दो उपसचिव, दो अवर सचिव, दो सहायक सचिव और कुछ अनुभाग अधिकारी होते हैं। मंत्रिमंडलीय सचिवालय के अधीन निम्नलिखित विभाग आते हैं–

(अ) मंत्रिमंडलीय मामलों का विभाग

(ब) सेवावर्ग विभाग

(स) सांख्यिकी विभाग

(द) इलेक्ट्रॉनिक विभाग

यह सचिवालय सीधे प्रधानमंत्री को रिपोर्ट करता है। इसका मुख्य कार्य है प्रधानमंत्री के निर्णयों को प्रभावित करने वाले हर मुद्दे की जानकारी इकट्ठा करना और मिलान एवं विश्लेषण करना। आजकल यह सचिवालय प्रधानमंत्री की सहायता के लिए एक सलाहकार विद्वानमंडली की तरह काम करने लगा है। सन् 1985 में इस सचिवालय का महत्व बहुत बढ़ गया। इसमें अनेक वरिष्ठ अधिकारी शामिल किए गए। आज इसमें एक दर्जन से ज्यादा ऐसे अधिकारी हैं, जिनका दर्जा राज्यमंत्री या केंद्र सरकार के सचिव के बराबर है।

मंत्रिमंडल सचिवालय के कार्यों में नीतियां तय करना शामिल है। प्रधामंत्री अब इस सचिवालय के जरिए विभिन्न मंत्रालयों के फैसले को प्रभावित करता है। सचिवालय ने मंत्रियों के बीच के विवादों और मतभेदों को सुलझाने के लिए मध्यस्थ की भूमिका निभाना भी शुरू कर दिया है।

3. मंत्रिमंडल समितियां – ब्रिटेन की भांति भारत में भी मंत्रिमंडल के कार्य भार को हल्का करने, उसके समक्ष प्रस्तुत किए जाने वाले विषयों की आवश्यक छानबीन करने तथा नीति एवं प्रशासन के महत्वपूर्ण मामलों में मंत्रिमंडल को सहायता देने हेतु मंत्रिमंडल की 12 स्थायी समितियां हैं। इनके नाम हैं – (1) राजनीतिक मामलों की समिति, (2) आर्थिक मामलों की समिति, (3) आर्थिक समन्वय समिति, (4) खाद्य एवं कृषि समिति, (5) नियुक्ति समिति, (6) उद्योग एवं व्यापर समिति, (7) विज्ञान एवं प्राविधिक समिति, (8) परिवार नियोजन समिति, (9) यातायात एवं पर्यटक समिति (10) रोजगार समिति, (11) संसदीय मामलों की समिति, (12) पुनर्वास समिति। सामान्यतः कोई भी विषय पहले संबंधित समिति को सौंपा जाता है और समिति में विचार किए जाने के बाद ही उसके मंत्रिमंडल में विचारार्थ रखा जाता है।

मंत्रिमंडल की सभी समितियों में राजनीतिक मामलों की समिति सर्वाधिक शक्तिशाली है। इसमें महत्वपूर्ण विभागों के मंत्री शामिल होते हैं। शासन को उच्च निर्देशन एवं मंत्रणा देने की दृष्टि से यह 'सुपर कैबिनेट' के रूप में कार्य करती है।

ऊपर वर्णित समितियों के अतिरिक्त कई तदर्थ समितियां भी हैं। इन समितियों में से दो–तीन को छोड़कर शेष सभी का अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता है। इसलिए प्रत्येक समिति एक लघु मंत्रिमंडल के रूप में कार्य करती है।

टिप्पणी

4. योजना आयोग – मार्च 1950 में भारत सरकार ने एक प्रस्ताव पारित कर योजना आयोग की स्थापना की। इसका उद्देश्य देश के आर्थिक और सामाजिक विकास की दीर्घकालिक योजनाएं बनाना है। इसका एक अध्यक्ष और एक पूर्णकालिक उपाध्यक्ष होता है। इसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता है। इनके अतिरिक्त कतिपय मंत्री और अन्य ऐसे सार्वजनिक सदस्य होते हैं।

मंत्रिमंडल का सचिव आयोग का भी सचिव होता है। आयोग देश के लिये योजनाएं तैयार करता है। योजना के कार्यान्वयन एवं प्रगति पर निगरानी रखता है। साथ ही, योजनाओं की लक्ष्य पूर्ति का मूल्यांकन भी करता है। संक्षेप में यह मंत्रिमंडल की योजनाओं के निर्माण और कार्यान्वयन में सहयोग देने वाला एक महत्वपूर्ण संगठन है।

वर्तमान में योजना आयोग अस्तित्व में नहीं है। इसके स्थान पर नीति आयोग का गठन किया गया है।

5. नीति आयोग – योजना आयोग के स्थान पर भारत सरकार द्वारा राष्ट्रीय भारत परिवर्तन संस्थान के रूप में नीति आयोग बनाया गया। इस अभिनव संस्थान के संदर्भ में जानकारी देने वाला 'मंत्रिमण्डल का प्रस्ताव' 1 जनवरी, 2015 को जारी किया गया। इसे राज्य सरकारों, संसद सदस्यों, विषय–विशेषज्ञों और संबंधित संस्थानों सहित तमाम हितधारकों के बीच गहन विचार–विमर्श के उपरांत प्रस्तावित किया गया। नीति आयोग एक बहु–सदस्यीय संस्था है।

नीति आयोग का बिजन शक्ति प्रदान करने के लिए प्रधानमंत्री और मुख्यमंत्रियों को 'राष्ट्रीय एजेंडा' का प्रारूप उपलब्ध कराना है, जिससे राष्ट्रीय उद्देश्यों को दृष्टिगत रखते हुए राज्यों की सक्रिय भागीदारी के साथ राष्ट्रीय विकास संबंधी प्राथमिकताओं, क्षेत्रों और रणनीतियों का एक साझा दृष्टिकोण विकास पाए। इसके अध्यक्ष प्रधानमंत्री हैं।

6. राष्ट्रीय विकास परिषद – भारत में संविधान के अंतर्गत संघीय प्रणाली की व्यवस्था की गई है। इसलिए केंद्र सरकार को राज्य सरकारों पर अपनी इच्छा से कोई योजना लागू करने का अधिकार नहीं है। यदि राज्य चाहें तो केंद्र निर्मित योजनाओं को स्वीकार एवं लागू करने से मना कर सकते हैं। अतः योजनाओं को लागू करने में सहयोग के लिए एक राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थापना की गई है। यह योजना आयोग द्वारा तैयार केंद्र और राज्य सरकारों से संबद्ध राष्ट्रीय योजनाओं पर विचार करके उन्हें स्वीकार करती है।

प्रधानमंत्री राष्ट्रीय विकास परिषद के अध्यक्ष और सभी राज्यों के मुख्यमंत्री और योजना आयोग के सदस्य इसके सदस्य होते हैं। परिषद में मुख्यमंत्रियों के शामिल होने के फलस्वरूप राज्यों में पंचवर्षीय एवं अन्य योजनाएं लागू करने में केंद्र सरकार को कोई कठिनाई नहीं होती है। हाल के दिनों में मुख्यमंत्रियों ने राष्ट्रीय विकास परिषद में योजनाओं को राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करने और उनका क्रियान्वयन करने में बड़ी सहायता दी है। परिषद की संस्तुतियां केंद्र एवं राज्य सरकारों द्वारा बड़े सम्मान के साथ स्वीकार की जाती हैं। परिषद इस समय केंद्र–राज्य समायोजन का प्रमुख मंच है।

टिप्पणी

7. संघ लोक सेवा आयोग – संघ लोक सेवा आयोग केंद्र की सेवाओ में नियुक्ति के लिए परीक्षाओं का संचालन करता है। इसका गठन भारतीय संविधान के अनुच्छेद 320 के अनुरूप किया गया है। यह सरकारी कर्मचारियों की भर्ती तथा नियुक्ति से संबंधित सभी प्रकार के विषयों में आवश्यक परामर्श देता है।

8. केंद्रीय जांच ब्यूरो – केंद्रीय जांच ब्यूरो प्रधानमंत्री की देखरेख में काम करता है। यह प्रधानमंत्री द्वारा सौंपे गए महत्वपूर्ण सार्वजनिक मामलों की गुप्त रूप से जांच और छानबीन का काम करता है।

9. कर्मचारी वर्ग तथा प्रशासनिक सुधार विभाग – प्रशासनिक सुधार आयोग की अनुशंसा पर इसका गठन जून 1970 में किया गया। यह वस्तुतः पूर्व में कार्यरत संगठन को उन्नत करके बनाया गया। वर्ष 1972 में इसे प्रधानमंत्री के अधीन कर्मचारी वर्ग के विभाग के साथ जोड़कर 'कर्मचारी वर्ग तथा प्रशासन सुधार विभाग' के रूप में बदल दिया गया। इसका प्रधान कार्य सरकार को कर्मचारियों से संबंधित नीतियों के प्रति अपने सुझाव देना है।

वित्त मंत्रालय में बजट तथा आर्थिक विषयों का विभाग और विशेष मंत्रणा अधिकारी निरीक्षण इकाई तथा गृह मंत्रालय में सतकर्ता संभाग अन्य स्टाफ अभिकरण हैं।

निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि मुख्य कार्यकारी के संदर्भ में 'स्टाफ और लाइन' दोनों ही उपयोगी एवं एक दूसरे की पूरक इकाइयां हैं। दोनों के पारस्परिक संबंध सौहार्दपूर्ण होते हैं, यद्यपि कभी–कभी दोनों में किसी–किसी बिंदु पर मतभेद उभर आते हैं। जिस प्रशासन में दोनों में समुचित तालमेल होता है, उसमें गतिरोध कम उत्पन्न होते हैं। स्टाफ और लाइन के बीच मधुर संबंध एक बड़ी सीमा तक मुख्य कार्यकारी के व्यक्तित्व पर भी निर्भर करता है। फिर भी दोनों के बीच सुदृढ़ समन्वय स्थापित करना प्रबंधन के कठिनतम कार्यों में से एक है।

2.4.3 विभाग

कार्यों के निष्पादन में सुविधा के लिए विभागों का गठन किया जाता है और किसी कार्य विशेष के अनुरूप विभाग का नाम रखा जाता है जैसे विद्यालयों में राजनीति विज्ञान के लिए राजनीति विज्ञान विभाग, रसायनशास्त्र के लिए रसायनशास्त्र विभाग आदि। इस तरह अलग–अलग कार्यों के लिए अलग–अलग विभाग होते हैं।

विभाग अर्थात् किसी बड़े संगठन का वह भाग जिसमें किसी कार्य विशेष से संबंधित कार्य होता हो जैसे सरकार का कोई प्रधान प्रशासनिक विभाग, किसी व्यावसायिक संगठन में कार्मिक विभाग, विद्यालय–महाविद्यालय में अलग–अलग विषयों के अलग–अलग विभाग आदि। विभिन्न देशों में इसका अलग–अलग अर्थों में प्रयोग होता है। फ्रांस में इसका प्रयोग प्रशासनिक जिले के रूप में होता है। अमेरिका में संघ सरकार के प्रधान कार्यकारी खंडों में हरेक को विभाग कहा जाता है।

कार्यकारी के अंतर्गत समस्त सरकारी कामकाज को अनेक खंडों में विभाजित कर दिया जाता है, जिन्हें विभाग कहते हैं। विभाग और इसके अंदर की विभिन्न इकाइयां कार्यपालिका के निर्देशन में कार्य करती हैं और उसी के प्रति उत्तरदायी होती

टिप्पणी

हैं। विभाग राज्य के लक्ष्य तथा कार्यपालिका के दायित्वों को पूरा करने वाला महत्वपूर्ण अंग है। आजकल विभाग के लिए कभी–कभी प्रशासनिक कार्यालय, शक्ति, समिति, कौंसिल आदि शब्दों का प्रयोग भी होता है।

डॉ एम.पी. शर्मा के अनुसार विभाग की दो प्रमुख पहचान हैं–

1. कोई इकाई, उसका प्रमुख नाम चाहे जो भी हो, यदि प्रशासकीय सोपान के शीर्ष के समीप हो तथा उसके एवं प्रमुख कार्यकारी के बीच कोई अन्य इकाई न हो, विभाग कहलाता है।
2. वह इकाई, जो प्रमुख कार्यकारी के अधीन और उसके प्रति उत्तरदायी हो, विभाग कहलाता है।

परिभाषा – विभाग की कुछ परिभाषाएं इस प्रकार हैं–

डॉ. महादेव प्रसाद के अनुसार, ''प्रशासन की विशेष प्राविधिक शब्दावली में विभाग के विशेष अर्थ हैं। मुख्य प्रशासक के ठीक नीचे के निकाय अथवा खंड, जिनमें समस्त सरकारी कार्य विभाजित होते हैं। यह प्रशासनिक सोपान की सबसे बडी एवं उच्चतम इकाई है।''

डिमॉक एवं कोइंग के शब्दों में, ''प्रशासन में श्रम विभाजन की आवश्यकता विभागीय प्रणाली के जन्म का स्वाभाविक कारण है। आधुनिक शासन विशेष संघीय शासन के कार्यों की भांति जब किसी उद्यम के कार्यों में वृद्धि होती है, तो विभागीय संगठन भी जटिल हो जाता है।''

विभागीय संगठन के प्रकार

प्रो. विलोबी के अनुसार सरकारी कार्यों का संगठन दो प्रकार से किया जा सकता है–

1. **स्वतंत्र या असंबद्ध** – संगठन के इस प्रकार में किसी विभाग विशेष की सेवाएं अपने क्षेत्र में स्वतंत्र होती हैं। किसी अन्य विभाग अथवा सेवा से उनका कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता है। उनका सीधा संबंध मुख्य कार्यपालिका अथवा विधायिका से होता है। इस पद्धति में सभी सेवाएं अपने कार्यों के लिए इन्हीं दोनों के प्रति उत्तरदायी होती हैं और विभिन्न सेवाओं पर इन्हीं दोनों का नियंत्रण होता है। निगम, बोर्ड, स्वतंत्र केंद्रीय आयोग इसी प्रकार की व्यवस्थाए हैं।
2. **एकीकृत या विभागीय** – इस प्रकार की संगठन पद्धति में इस बात का प्रयास किया जाता है कि एक सेवा का दूसरी सेवा से संबंध घनिष्ठ रहे तथा उनमें उचित तालमेल बना रहे। इस पद्धति में विभागीय प्रधानों का कर्तव्य यह देखना होता है कि प्रत्येक सेवा किसी दूसरी सेवा को हानि पहुंचाए बिना अपना कार्य करती रहे। इस पद्धति में विभिन्न सेवाओं की शक्ति तथा अधिकार क्षेत्र विशेष के अलग–अलग विभागों में निहित होते हैं। ये विभाग अधीनस्थ इकाइयां है और इन सब पर नियंत्रण का एकमात्र अधिकार मुख्य कार्यपालिका का होता है। इसमें प्रशासन के अनेक विभाग होते हैं, जैसे स्वास्थ्य विभाग, कृषि विभाग, रेल विभाग आदि।

• **विभागीय पद्धति के गुण**– प्रो. विलोबी के अनुसार, ''यह एक स्वीकृत तथ्य है कि विभागीय प्रणाली लगभग हर दृष्टि से श्रेष्ठ है।''

टिप्पणी

इसके गुण इस प्रकार हैं–

1. इस पद्धति का पहला गुण यह है कि इसमें सेवा को कई विभागों में बांट दिया जाता है। सभी सेवाएं अपने–अपने कार्य करती हैं, परंतु भिन्नता होते हुए भी उनमें संबंध बना रहता है। इस तरह इस पद्धति में कार्य के विभाजन का लाभ मिलता है।
2. इस प्रणाली में संगठन, सामग्री, संयंत्र, कर्मचारियों तथा कार्यों के दोहरेपन को रोकने की पर्याप्त व्यवस्था होती है। इसमें कम समय, कम शक्ति और कम व्यय में ही प्रशासन का कार्य आसानी से संपादित हो जाता है।
3. इसमें विभिन्न सेवाओं का एक दूसरे को किसी तरह की बाधा पहुंचाए बिना अपना कार्य करना संभव है। इन सब पर विभागाध्यक्ष का नियंत्रण रहता है। विभागीय एकता के कारण प्रशासन में सहयोग बना रहता है।
4. इसमें संपूर्ण संगठन एक ही व्यक्ति की अधीनता में कार्य करता है। इसलिए प्रशासकीय इकाइयों की बहुत सी समस्याएं अपने आप हल हो जाती हैं।
5. इसमें जिस कर्मचरी को जो कार्य सौंपा जाता है, उसके प्रति केवल वही उत्तरदायी होता है। इस पद्धति में प्रशासकीय शक्ति और उत्तरदायित्व निर्धारित होने के कारण कर्मचारियों में उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है।
6. इस प्रणाली में एक प्रकार की सेवाएं एक विभाग के अंतर्गत आती हैं। इसलिए सरकार सुविधापूर्वक विकास कार्यक्रमों का निर्धारण कर लेती है। उनमें आपस में मधुर संबंध होने के कारण समन्वय की सुविधा रहती है।
7. इस प्रणाली में प्रशासन के मापदंड निश्चित होते हैं। इसमें नियंत्रण अधिक कारगर ढंग से किया जाता है। इसमें मुख्य कार्यपालिका को प्रशासन संबंधी समस्याओं पर चिंतन–मनन के लिए पर्याप्त अवसर मिल जाता है, इसलिए प्रशासन का स्तर उच्च होता है।

- **विभागीय पद्धति के दोष** – इस पद्धति के कुछ दोष भी हैं, जो इस प्रकार हैं–

1. कार्य विभाजन के कारण इस पद्धति में प्रशासक अपने विभाग के कार्यों में तो निपुण होते हैं, परंतु अन्य कार्यों में उतने निपुण नहीं होते। वे अन्य कार्यों में रुचि भी नहीं लेते। वे केवल अपने हितों और कार्यों का ही ध्यान रखते हैं।
2. इसमें प्रशासन विभिन्न इकाइयों में बंटा होता है, जिनमें आपस में कोई संबंध नहीं होता।
3. सरकारी विभागों में आपस में समन्वय का भी अभाव होता है, इसलिए सरकार के अनेक कार्य समय पर पूरे नहीं हो पाते।
4. इसमें मितव्ययिता का अभाव होता है और व्यय आवश्यकता से अधिक होते हैं।
5. इसमें भ्रष्टाचार की प्रबल संभावना रहती है, कर्मचारी कार्यकुशल नहीं होते हैं।
6. विभागों के बीच अक्सर संघर्ष होता रहता है, जिससे कार्यों के निष्पादन में गतिरोध पैदा हो जाता है। न्याय विभाग और राजस्व विभाग, समाहरणालय और न्याय विभाग आदि के मध्य संघर्ष की संभावना सतत बनी रहती है।
7. इस प्रणाली में कर्मचारियों में दायित्वबोध का अभाव होता है, वे अपने कर्तव्यों का पालन मन से नहीं करते।

टिप्पणी

• विभागीय संगठन का आधार

सरकारी तंत्र से संबंधित हाल्डेन की 1918 की समिति के अनुसार विभागों के संगठन के लिए चार विभिन्न आधार माने जाते हैं –

(अ) कार्य या प्रयोजन सिद्धांत

(ब) प्रक्रिया या व्यावसायिक सिद्धांत

(स) व्यक्ति समूह का सिद्धांत

(द) भौगोलिक या क्षेत्र सिद्धांत

(अ) कार्य या प्रयोजन सिद्धांत–प्रयोजन को कभी–कभी कार्य भी कहा जाता है। प्रयोजन का अभिप्राय उस बड़े उद्देश्य से है, जिसे पूरा करने के लिए एक संगठन की रचना की जाती है। वास्तव में विभागीय संगठन का सर्वाधिक उचित तथा सर्वाधिक प्रयुक्त यही आधार है। इस सिद्धांत का अभिप्राय यह है कि विभागों का वर्गीकरण उन उद्देश्यों के आधार पर किया जाए, जिनसे वे सेवाएं संबंधित हैं; जैसे शिक्षा के प्रबंध के लिए शिक्षा विभाग, देश की सुरक्षा के लिए प्रतिरक्षा विभाग आादि।

गुण – इस सिद्धांत के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं –

1. इस सिद्धांत को अपनाने से निर्धारित कार्य सुविधा से किया जा सकता है, क्योंकि उस कार्य से संबंधित समस्त प्रशासकीय इकाइयां उसी विभाग में निहित होती हैं।
2. इस सिद्धांत के फलस्वरूप कार्य के दोहराव और भ्रम को रोका जा सकता है, जिससे समय एवं शक्ति की बचत होती है। इसलिए यह मितव्ययी है।
3. इसमें उत्तरदायित्व का निर्धारण करना सरल होता है, जैसे देश में शांति व्यवस्था बनाए रखने का दायितत्व पुलिस विभाग का है।
4. इस प्रणाली में सेविवर्ग को मुख्य निष्पादक के नियंत्रण के आदेश के रूप में एक इकाई की तरह कार्य करना पड़ता है, इसलिए इसमें स्थायित्व बना रहता है और कार्यों का संपादन सुचारु रूप से होता है।

दोष– प्रयोजन अथवा कार्य सिद्धांत के कुछ दोष भी हैं, जो इस प्रकार हैं–

1. कार्य अथवा लक्ष्य एक ऐसा पद है जिसकी व्याख्या विस्तृत रूप में भी की जा सकती है और संकीर्ण रूप में भी। इन दोनों स्थितियों के बीच संतुलन करना कठिन है।
2. जब किसी विभाग का संगठन विस्तृत लक्ष्यों के आधार पर किया जाता है, तो इस प्रक्रिया में अनेक महत्वपूर्ण पहलुओं की अनदेखी की संभावना रहती है।
3. विभाग अपने कार्यों के महत्व को बढ़ा–चढ़ाकर बताते हैं, जिससे उनका आतंक पैदा होने का डर रहता है।

(ब) प्रक्रिया या व्यावसायिक सिद्धांत – प्रक्रिया के आधार पर विभागीय संगठन का अभिप्राय है व्यावसाायिक अथवा विशिष्ट योग्यता के आधार पर सेवाओं का वर्गीकरण करना। ऐसी व्यवस्था में समान कार्य करने वाले सभी व्यक्ति समान विभाग के अंतर्गत आते हैं, जैसे डॉक्टर, इंजीनियर, विधिवेत्ता, लेखाकार आदि।

टिप्पणी

प्रक्रिया एक ऐसी क्रिया है, जो विविध प्रयोजनमूलक विभागों के लिए उनकी एक संस्थामूलक अथवा गौण सेवा के रूप में अनिवार्य होती है, उसके बिना वे अपने प्रमुख कार्य पूरे नहीं कर सकते।

गुण– इस आधार पर निर्मित विभागों के गुण इस प्रकार हैं–

1. इसमें विशेषीकरण को बढ़ावा दिया जाता है तथा तकनीकी ज्ञान का सर्वाधिक उपयोग किया जाता है।
2. यह प्रणाली मितव्ययी है, क्योंकि विभाग की अलग–अलग इकाइयों की स्थापना करके कर्मचरियों और कार्य का दोहराव नहीं करना पड़ता।
3. इस व्यवस्था से व्यावसायिक सेवाओं का भविष्य उज्ज्वल होता है।

दोष – प्रक्रिया के आधार पर बने विभागों के कुछ दोष भी हैं, जिनका विवरण यहां प्रस्तुत है–

1. इस प्रकार के विभागों में समन्वय की कमी रहती है। किसी भी एक कार्य को पूरा करने के लिए अनेक प्रक्रिया विभागों के सहयोग की आवश्यकता होती है, जिससे मुख्य कार्यकारी पदाधिकारी पर कार्य का भार बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त यदि किसी एक प्रक्रिया विभाग की कार्यवाहियां असफल हो जाएं, तो अन्य सारे विभागों के कार्य प्रभावित होते हैं।
2. प्रक्रिया पर आधारित विभाग लक्ष्य की अपेक्षा साधनों को अधिक महत्व देते हैं, जिसका जनता के बीच गलत संकेत जाता है।
3. इस प्रकार के विभागों में नेतृत्व की समस्या गंभीर होती है, क्योंकि अक्सर देखा जाता है कि जो विशेषज्ञ होते हैं, उनमें प्रशासकीय क्षमता का अभाव होता है और जो प्रशासकीय क्षमता में कुशल होते हैं वे प्रायः विशेषज्ञ नहीं होते।

(स) व्यक्ति समूह का सिद्धांत – सेवित वर्ग के लोगों के आधार पर जब विभागों का गठन किया जाता है, तब उन सब अधीनस्थ प्रशासकीय इकाइयों को एक विभाग में संगठित कर दिया जाता है, जिनका उद्देश्य समाज के किसी विशिष्ट वर्ग की सेवा करना हो। इस प्रकार के विभागों के उदाहरण भारत में केंद्र सरकार के अधीन पुनर्वास मंत्रालय तथा कुछ राज्यों में जनहित कल्याण विभागों के रूप में मिलते हैं, क्योंकि वे क्रमशः शरणार्थियों और जनजातियों की सेवा के लिए बनाए गए हैं।

गुण– इस आधार पर बने विभागों के गुण निम्नलिखित हैं–

1. इस प्रकार के विभागों में किसी वर्ग विशेष के लिए संपादित की जाने वाली विभिन्न सेवाओं के मध्य समन्वय बना रहता है, क्योंकि वे एक ही विभाग के अंतर्गत आती हैं।
2. ये विभाग जिस वर्ग के व्यक्तियों की सेवा करता हैं उसके तथा प्रशासन के मध्य सीधा एवं सरल संबंध बन जाता है। इनमें सभी समस्याओं के विषय में केवल एक ही विभाग से सम्पर्क किया जा सकता है।
3. इस प्रकार के विभाग दबाव समूहों को जन्म देते हैं। इस प्रणाली में समाज के अलग–अलग सेवित वर्गों के लिए अलग–अलग विभाग होते हैं, जैसे किसानों के लिए कृषि विभाग, उद्योगपतियों के लिए उद्योग विभाग आदि।

टिप्पणी

दोष – इन विभागों के निम्नांकित कुछ दोष भी हैं–

1. यह सिद्धांत व्यापक स्तर पर लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि आबादी को अलग–अलग समूहों में बांटना असंभव होता है।
2. इस प्रकार के विभागों के कार्यक्षेत्र को पारिभाषित करना भी सरल नहीं है। यह निश्चित करना कठिन होता है कि किसी विभाग को उससे जुड़े वर्ग विशेष की सेवा के लिए क्या–क्या करना चाहिए।
3. इस प्रकार के विभाग प्रशासन में दबाव समूह की भूमिका निभाने लगते हैं। उनके अपने कुछ हित बन जाते हैं, जिन्हें वे त्यागना नहीं चाहते। इसलिए वे प्रशासन में किए जाने वाले सुधारों का विरोध करते हैं।

(द) भौगोलिक या क्षेत्र सिद्धांत – वह भौगोलिक क्षेत्र या स्थान, जहां कोई कार्य किया जाना हो, संगठन का चौथा और अंतिम आधार है। इस सिद्धांत के पीछे यह विचार कार्य करता है कि प्रदेश या स्थान विशेष की अपनी समस्याएं होती हैं, जो उसे एक भिन्न स्वरूप प्रदान करती हैं। इसीलिए उसके प्रति एक पृथक व्यवहार की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, भारत का वैदेशिक संबंध विभाग जो विदेशों से भारत के संबंधों पर ध्यान रखता है।

गुण– इस आधार पर गठित विभागों के गुण इस प्रकार हैं–

1. ये विभाग किसी क्षेत्र विशेष की आवश्यकताओं के आधार पर ही नीतियां बनाते हैं।
2. यह आधार दूरवर्ती प्रदेशों के प्रशासन के लिए उचित माना जाता है।
3. इस प्रकार के विभागों में विभिन्न क्षेत्रों के लोगों की भावनाएं तथा आवश्यकताएं सही रूप में अभिव्यक्त हो पाती हैं। इनके अध्यक्ष तथा अन्य कर्मचारी भी प्रायः संबंधित क्षेत्र के ही निवासी होते हैं।
4. यह प्रणाली संबद्ध क्षेत्र के निवासियों की आवश्यकताओं को भली प्रकार सुलझा सकती है।

दोष – उक्त गुणों के विपरीत इस आधार पर संगठित विभागों के अनेक दोष भी हैं, जिनका विवरण यहां प्रस्तुत है–

1. इनमें राष्ट्रीय नीतियों को लागू करना कठिन होता है।
2. इनमें संबद्ध स्थान के प्रति झुकाव और संकीर्णताओं की भावना का विकास होता है।
3. ये विभाग अनेक प्रकार के कार्य करते हैं इसलिए इनमें विशेषीकरण और श्रम विभाजन नहीं हो सकता।
4. अलग–अलग क्षेत्रों की सेवा की आवश्यकताएं अलग–अलग होती हैं, जिनके अनुरूप कार्य करना कठिन होता है। ऐसे में प्रशासन में अकुशलता की उत्पत्ति की संभावना रहती है।

भारत का शासन लोकतांत्रिक है एवं संसदीय प्रवृत्ति वाला है। देश का संपूर्ण संचालन केंद्रीय सरकार के मंत्रियों के मंत्रिमंडल द्वारा किया जाता है। मंत्रिमंडल का सबसे महत्वपूर्ण कार्य केंद्रीय सरकार में सर्वोच्च स्तर पर नीति–निर्माण करना होता है। मंत्रिमंडल का राजनैतिक मुखिया प्रधानमंत्री होता है जबकि प्रशासनिक मुखिया तो

'मंत्रिमंडलीय सचिवालय' है। मंत्रिमंडलीय सचिवालय द्वारा देश के संचालन में मंत्रिमंडल की सहायता की जाती है। मूल रूप से सन् 1947 की स्वाधीनता से पूर्व मंत्रिमंडलीय सचिवालय को गवर्नर–जनरल की कार्यकारी परिषद् का सचिवालय कहा जाता था। केंद्रीय सरकार का एक और सचिवालय होता है, जिसका महत्व देश में शासन के समकक्ष होता है। इसके अंतर्गत केंद्रीय सरकार के समस्त मंत्री एवं विभाग सम्मिलित हैं। इससे विभागों के प्रशासन में सरलता हो जाती है। प्रत्येक मंत्रालय में 4 की संख्या तक विभाग हो सकते हैं। वैसे कुछ मंत्रालय ऐसे हैं जिनमें कोई विभाग नहीं है, जैसे बाहरी मामलों का मंत्रालय तथा ऐसा भी कोई विभाग हो सकता है जो किसी मंत्रालय का भाग न हो, जैसे परमाणु ऊर्जा विभाग। मंत्री मंत्रालयों के राजनैतिक मुखिया होते हैं जबकि मंत्रालयों के कार्यकारी मुखिया सचिवालय होते हैं। यह केंद्र के प्रशासन का स्वरूप है। प्रत्येक राज्य में भी राज्य सरकार होती है जिसका नाममात्र का मुखिया राज्यपाल होता है। वैसे राज्य का वास्तविक मुखिया तो निर्वाचित मुख्यमंत्री होता है एवं उसके मंत्रियों की परिषद् राज्य के दैनिक कार्यों में सहायता करती है।

अपनी प्रगति जांचिए

7. प्रधानमंत्री सचिवालय की स्थापना प्रधानमंत्री के कार्यालय के रूप में कब की गई थी?

   (क) 14 अगस्त, 1947 (ख) 15 अगस्त, 1947

   (ग) 15 अगस्त, 1949 (घ) 15 अगस्त, 1950

8. मंत्रिमंडलीय सचिवालय के अधीन कौन–से विभाग आते हैं?

   (क) सेविवर्ग विभाग (ख) सांख्यिकी विभाग

   (ग) इलेक्ट्रॉनिक विभाग (घ) उपरोक्त सभी

9. योजना आयोग की स्थापना कब की गई थी?

   (क) सन् 1950 (ख) सन् 1951

   (ग) सन् 1952 (घ) सन् 1953

2.5 ब्यूरो (मंडल) और आयोग

सार्वजनिक कार्यों के प्रशासन में संगठन के आयोग स्वरूप का व्यापक रूप से प्रयोग किया जाता है, यद्यपि सामान्यतः प्रशासकीय सेवाओं पर एकल नियंत्रण का पक्ष अधिकाधिक प्रबल होता जा रहा है। संगठन के इस स्वरूप का इतिहास मध्यकाल से प्रारंभ होता है, जब बहुत–सी यूरोपीय सरकारों ने लोक कार्यों को चलाने के लिए मंडलों तथा आयोगों का गठन किया था। संयुक्त राज्य अमेरिका में स्थानीय शासन आयोग का स्वरूप प्रायः इसी आधार पर निर्मित है। अंतरराष्ट्रीय प्रशासन में आयोगों तथा मंडलों का उन्नीसवीं शताब्दी से ही प्रचलन हुआ है। इसका उद्देश्य स्वतंत्र राज्यों को प्रतिनिधित्व देना रहा है। यूरोप में संगठन के आयोग रूपी स्वरूप की वैधता में निरंतर वृद्धि हो रही है। यह वृद्धि कुछ तो अमेरिकी प्रशासकीय प्रणाली की शिथिलता के कारण है और कुछ प्रशासन में दलगत राजनीति के व्यापक प्रभाव से बचने की तीव्र इच्छा का

टिप्पणी

परिणाम है। भारत में भी आयोगों को तीन बड़े–बड़े वर्गों में बांटा जा सकता है, जैसा कि नीचे बताया गया है–

(1) भारतीय संविधान में कुछ ऐसे संगठनों का उल्लेख किया गया गया है, जैसे निर्वाचन आयोग, संघीय लोक सेवा आयोग इत्यादि। अतएव इन संगठनों के पीछे संवैधानिक शक्ति है।

(2) बोर्डों तथा आयोगों का गठन संसद के अधिनियमों द्वारा हो सकता है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, रेल मंडल, केंद्रीय राजस्व मंडल, तेल तथा प्राकृतिक गैस आयोग, गुण–शक्ति आयोग, बाढ़ नियंत्रण मंडल आदि संस्थाओं का गठन भारतीय संसद द्वारा पारित संविधियों के अंतर्गत किया गया है।

(3) आयोगों का निर्माण सरकार के किसी कार्यकारी प्रस्ताव द्वारा भी हो सकता है। केंद्रीय समाज कल्याण मंडल, हस्तशिल्प मंडल, हथकरघा मंडल, केंद्रीय जल तथा ऊर्जा आयोग आदि सरकार के प्रस्तावों आधार पर निर्मित आयोगों तथा मंडलों के उदाहरण हैं।

इन तीनों प्रवर्गों में से संविधान में उल्लिखित आयोग सबसे अधिक स्वायत्तता का उपभोग करते हैं। वे सीधे भारत के राष्ट्रपति द्वारा बहाल किए जाते हैं और अपने दैनिक संचालन में किसी मंत्रालय के सामान्य प्रशासनिक नियंत्रण में नहीं आते। संविधि के अंतर्गत गठित मंडल संबंधित मंत्रालय के प्रशासकीय नियंत्रण में होते हुए भी नियमित विभागीय प्रक्रियाओं से मुक्त रहते हैं। तीसरे प्रकार के निकाय, जैसे हथकरघा मंडल, हस्तशिल्प मंडल, इत्यादि एक निश्चित समय के लिए ही बनाए जाते हैं। उनका अस्तित्व संबंधित मंत्रालयों की इच्छा पर निर्भर रहता है।

यदि किसी विभाग के निर्देशन और निरीक्षण का दायित्व विभिन्न लोगों में विभाजित कर दिया जाता है, तो उसे मंडल अथवा आयोग प्रणाली का संगठन कहते हैं, जैसे भारत में रेलवे बोर्ड और केंद्रीय राजस्व बोर्ड। रेलों के प्रशासन, प्रबंधन और संचालन का समस्त कार्य रेलमंत्री के अधीन अनेक सदस्यों वाले एक रेलवे बोर्ड द्वारा किया जाता है। इसी प्रकार केंद्रीय वित्त मंत्रालय में सीमा शुल्क, निर्माण कर, आयकर आदि विभागों पर नियंत्रण का कार्य केंद्रीय राजस्व मंडल करते हैं।

एफ. डब्ल्यू. विलोबी ने मंडलीय पद्धति की परिभाषा देते हुए कहा है कि ''जब विभाग के निर्देशन तथा नियंत्रण का दायित्व विभिन्न लोगों में विभाजित रहता है, तब उसे मंडलीय पद्धति कहा जाता है।''

मंडलीय पद्धति निम्नलिखित परिथितियों में अपनायी जाती है–

1. जब नीति से संबंधित कोई स्पष्ट निर्णय लिया जा चुका हो, तो उस स्थिति में विचार एवं परामर्श के लिए बोर्ड पद्धति को अपनाने की आवश्यकता होती है।
2. यदि सेवाओं की प्रकृति अर्धवैधानिक और अर्धन्यायिक हो, तो इस पद्धति को अपनाया जाता है।
3. जब विभाग का कार्य विरोधों को दूर कर सामंजस्य स्थापित करना हो, तब इसे अपनाया जाता है।
4. जब विभाग में व्यक्तिगत हितों को नियंत्रित करने की स्पष्ट शक्ति हो।

टिप्पणी

बोर्ड को कभी–कभी आयोग भी कहा जाता है। विलोबी ने दोनों में अंतर करते हुए लिखा है कि "बोर्ड व्यक्तियों का समूह है, जो अपने क्षेत्राधिकार में आने वाले सभी मामलों पर सामूहिक कार्यवाही करते हैं। हो सकता है कि वे व्यक्तिगत रूप से आंकड़े इकट्ठा करें तथा प्राथमिक सुनवाई आदि करें, किंतु कार्यवाही वे सामूहिक रूप से कार्य करते हैं, बल्कि वे निर्धारित कार्य के लिए स्थापित इकाइयों के अध्यक्ष के रूप में व्यक्तिगत रूप से भी कार्य करते हैं।''

उक्त अंतर के बावजूद प्रशासकीय संगठन में इन दोनों शब्दों का एक दूसरे के लिए उपयोग कर लिया जाता है। बोर्डों के प्रकार निम्नलिखित हैं–

1. **प्रशासकीय बोर्ड**–जहां किसी विभाग का अध्यक्ष बोर्ड हो, जैसे रेलवे बोर्ड।
2. **सलाहकार बोर्ड**– इसे प्रायः विभाग के अध्यक्ष के साथ संबद्ध कर दिया जाता है, ताकि वह सामान्य अथवा विशिष्ट मामलों पर सलाह दे सके। यह सलाह उस पर बाध्यकारी नहीं होती है। सलाहकार बोर्डों में प्रायः तकनीकी विशेषज्ञ इस प्रकार शामिल किए जाते हैं कि विभाग के पदक्रम संगठन से बाहर होते हैं तथा विभाग का कार्य करने अथवा नीति बनाने का उनका कोई दायित्व नहीं होता, जैसे भारत में शिक्षा का केंद्रीय सलाहकार बोर्ड, रेलवे सलाहकार बोर्ड आदि।
3. **पदक्रम में व्यवस्थित बोर्ड**– कई बार बोर्ड अथवा आयोग मध्यवर्ती स्तर पर पदक्रम में व्यवस्थित होते हैं। इस पद्धति के अनुरूप गठित बोर्ड को विभाग चलाने की शक्ति तो नहीं दी जाती, किंतु सौंपे गए विशिष्ट क्षेत्र में यह अर्धविधायी तथा अर्धन्यायिक कार्य करता है, जैसे राज्य बिजली बोर्ड जो बिजली वितरण का कार्य करता है।
4. **विनियामक आयोग** – अमेरिका में जन कल्याण के लिए गैर सरकारी व्यक्तियों तथा संपत्ति को विनियमित तथा नियंत्रित करने के लिए कुछ आयोग स्थापित किए जाते हैं। इन आयोगों को अर्धविधायी न्यायिक कार्य सौंपे जाते हैं।
5. **द्वि–दलीय बोर्ड** – कभी–कभी दलीय राजनीति से छुटकारा पाने के लिए प्रमुख दलों के प्रतिनिधियों को सम्मिलित करके बोर्ड बना दिए जाते हैं।

मंडल प्रणाली के गुण

मंडल प्रणाली के प्रमुख गुण इस प्रकार हैं–

1. इसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी सेवा परायणता का अधिक से अधिक परिचय देता है। इसमें निष्पक्षता की भावना रहती है।
2. प्रशासन पर जनता, जनता के प्रतिनिधियों, राजनीतिक दलों आदि का दबाव रहता है। यदि एक व्यक्ति की व्यवस्था होगी, तो वह प्रभाव में शीघ्र आ सकता है लेकिन मंडलीय व्यवस्था में यह संभावना बहुत कम रहती है। ऐसी स्थिति में मंडल सदस्यों के बीच व्यापक सूत्र संयोजन का कारण प्रशासन में निष्ठा बनी रहती है।
3. इस पद्धति में प्रत्येक सदस्य निष्पक्षता के साथ अधिक से अधिक सेवा करने की भावना से प्रेरित रहता है। नियमपूर्वक कार्य करने के लिए इस पद्धति में व्यापक अवसर सुलभ होता है।

4. प्रशासन की सफलता का मूल तत्व जनता के मन में प्रशासन के प्रति विश्वास की भावना का उत्पन्न होना है। इस पद्धति में निष्पक्षता के प्रभुत्व के कारण इसे जनता का विश्वास प्राप्त रहता है।

टिप्पणी

मंडल प्रणाली के दोष

इस प्रणाली के कुछ दोष भी हैं, जिनका उल्लेख यहां प्रस्तुत है–

1. **गुटबंदी को प्रोत्साहन** – मंडल अथवा आयोग प्रणाली में प्रशासनिक पदाधिकारियों के गुट बन जाते हैं। सदस्य अपनी विचारधारा, धर्म, राजनीतिक दल अथवा अन्य किसी आधार पर प्रशासन में अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए प्रशासनिक पदाधिकारियों से संपर्क स्थापित कर लेते हैं। प्रशासनिक पदाधिकारी अपना कार्य कराने के लिए सदस्यों को प्रसन्न करना चाहते हैं। इस तरह पूरा प्रशासन अनेक गुटों में बंट जाता है, जिससे प्रशासन में मतभेद, तनाव, पक्षपात तथा भ्रष्टाचार का वातावरण उत्पन्न हो जाता है।
2. **कार्य में विलंब** – सामान्यतः यह देखा गया है कि मंडल अथवा आयोग प्रणाली में निर्णय लेने और उसका क्रियान्वयन करने में देर होती है जिसका मुख्य कारण सदस्यों की अधिक संख्या व प्रशासन का गुटों में बंटा होना है। निर्णय लेने में अधिकतर समय विचार–विमर्श व चर्चा में निकल जाता है। निर्णय लेने के उपरांत विभागीय राजनीति के कारण उसके कार्यान्वयन में अनेक बाधाएं आती हैं।
3. **दायित्वहीनता** – मंडल अथवा आयोग के सदस्य किसी भी गलती को मानने के लिए तैयार नहीं होते। निर्णय लेने में मंडल व आयोग के सभी सदस्य होते हैं, इसलिए यदि निर्णय के दुष्परिणाम निकलते हैं, तो इसका दायित्व वे दूसरे पर डालने का प्रयत्न करते हैं। ऐसी स्थिति में 'सबका दायित्व किसी का दायित्व नहीं' का कथन सत्य हो जाता है।
4. **निर्बल व विलंबकारी** – मंडल अथवा आयोग प्रणाली में कोई भी सदस्य विभाग के किसी कार्य के लिए पूर्ण दायित्व लेने को तैयार नहीं होता, जिसके फलस्वरूप आदेश व निर्देश में दृढ़ता का अभाव पाया जाता है। कार्य में विलंब व प्रभावी आदेशों के अभाव के कारण विभागीय प्रशासन में शिथिलता आ जाती है और वह जनता का विश्वास खो बैठता है।
5. **समझौतावादी व्यवस्था**– मंडल अथवा आयोग प्रणाली में अधिकतर विषयों पर मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं। कुछ मतभेद इतने उग्र व कठिन होते हैं कि निर्णय लेना संभव नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में कुछ सदस्यों के प्रयत्न से कोई समझौता हो जाता है जो निर्णय का आधार बनता है। ऐसे निर्णय समस्या का वास्तविक समाधान नहीं निकाल पाते, वे केवल गतिरोध को दूर करने में सफल होते हैं और समस्या ज्यों की त्यों बनी रहती है।
6. **अधिक खर्चीली प्रणाली**– मंडल अथवा आयोग में निर्देशन, निरीक्षण व नियंत्रण का दायित्व अनेक सदस्यों पर होता है, जिसके फलस्वरूप इस प्रणाली में धन का व्यय अधिक होता है।

एलेक्जेंडर हैमिल्टन ने मंडल पद्धति की आलोचना करते हुए कहा है, ''मंडल बड़ी सभाओं की असुविधाओं के साझीदार बन जाते हैं। उनके निर्णय विलंब से होते हैं, उनकी शक्ति कम होती है तथा उनका दायित्व विकेंद्रित होता है। उनमें वह ज्ञान एवं योग्यता नहीं पाई जाती है, जो एक व्यक्ति के द्वारा संचालित प्रशासन में पाई जाती है। उच्च महत्वाकांक्षी व्यक्ति इसमें आने के लिए जल्दी राज़ी नहीं होंगे, क्योंकि इसमें उन्हें वांछित स्थान और महत्व प्राप्त नहीं होगा। मंडल के सदस्य स्वयं जानकारी प्राप्त करने तथा विशिष्ट स्थान पाने का प्रयत्न कम करेंगे, क्योंकि उनमें ऐसा करने की प्रवृत्ति कम पाई जाती है।''

वित्त आयोग : गठन, कार्य एवं भूमिका

केंद्र और राज्यों के बीच भारतीय संविधान के अनुरूप विधायी और प्रशासनिक शक्तियों का विभाजन किया गया है जो कि वित्तीय शक्तियों के अंतर्गत आता है। वित्तीय व्यवस्था को लेकर प्रायः राज्यों और केंद्र के बीच मतभेद पैदा होता है। राज्य केंद्र से अधिक से अधिक पैसे की मांग करते हैं। जो कि वित्तीय संघवाद में बहुत विकट समस्या होती है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 264–300 तक केंद्र और राज्यों के वित्तीय आय के प्रावधान हैं, जिसके अनुरूप केंद्र सरकार ने एक वित्तीय आयोग की स्थापना की है। यह आयोग कि पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत कार्य करता है, और समय–समय पर केंद्र और राज्य के मध्य वित्तीय संबंधों को स्थापित करने के लिये अपने सुझाव प्रस्तुत करेगा।

वित्त आयोग देश की वित्तीय जरूरतों को नियमित एवं संगठित करने के लिए बनाया गया एक आयोग है। भारत की संघीय वित्त–व्यवस्था के नियमित पुनर्निरीक्षण तथा उसमें आवश्यक संशोधन के लिए प्रति पांच वर्ष के बाद वित्त–आयोग के गठन की व्यवस्था की गई है। पहला वित्त आयोग का गठन सन् 1951 में श्री जे.पी. नियोगी की अध्यक्षता में किया गया था। तब से प्रत्येक पांच साल बाद इसका गठन किया जाता है।

वित्त आयोग का गठन

वित्त–आयोग में एक अध्यक्ष तथा चार अन्य सदस्य होते हैं। ऐसी अपेक्षा की जाती है कि–वित्त आयोग के अध्यक्ष का चयन ऐसे व्यक्तियों में से किया जाना चाहिए जिसे लोक कार्यों का पर्याप्त अनुभव हो। तथा अन्य चार सदस्य–उच्च न्यायालय (High Court) के न्यायाधीश होने चाहिए। इनको लोक प्रशासन और वित्तीय प्रशासन का गहरा ज्ञान होना चाहिए।

आयोग को अपने कार्य की प्रक्रिया का निर्धारण करने की पूरी शक्ति होती है तथा इसे किसी भी न्यायालय अथवा दफ्तर के दस्तावेजों, सार्वजनिक रिकॉर्डों, गवाहों को बुलाने, जांचने आदि के मामलों में सिविल कोर्ट के पूरे अधिकार प्राप्त होते हैं।

वित्त आयोग ऐसी सूचना जो आयोग की दृष्टि से उपयोगी हो, की जानकारी के लिए किसी भी व्यक्ति को बुलाने की शक्ति रखता है। भारत में किसी भी कोने में स्थित व्यक्ति को आयोग गवाही अथवा जानकारी के लिए बुला सकता है।

भारत में वित्त आयोग बदलती आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों के अनुसार केंद्र एवं राज्यों के बीच वित्तीय संबंधों में परिवर्तन लाता हैं और उनके बीच सेतु का कार्य करता है।

टिप्पणी

वित्त आयोग के कार्य एवं भूमिका

आयोग विभिन्न मामलों में राष्ट्रपति को सिफारिश भेजता है, ये मामले इस प्रकार हैं–

- संघ तथा राज्यों के बीच उन करों की निबल या शुद्ध प्राप्तियों का वितरण जोकि उनके बीच बांटे जाने हैं और ऐसी प्राप्तियों में प्रत्येक राज्य के हिस्से का निर्धारण।
- उन सिद्धान्तों का निर्धारण, जिसके आधार पर भारत की संचित निधि में से राज्यों को सहायक अनुदान दिए जा सके।
- भारत सरकार तथा धारा 306 अथवा 278 के उपबन्ध 1 की प्रथम अनुसूची के भाग 'ख' में उल्लिखित किसी भी राज्य के बीच हुए किसी समझौते की शर्तों में संशोधन अथवा उनका यथापूर्व जारी रहना।
- अन्य कोई भी मामला जो देश की सुचारू वित्त व्यवस्था के हित में राष्ट्रपति द्वारा आयोग को सौंपा जाये।

वित्त आयोग निम्न मामलों के संबंध में राष्ट्रपति को अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करेगाः

1. उन करों की निबल या शुद्ध प्राप्तियों का प्रतिशत, जो कि संघ तथा राज्यों के बीच बांटे जाने हैं।
2. ऐसे करों की प्राप्तियों में प्रत्येक राज्य के हिस्से का बंटवारा प्रतिशत में।
3. जनजाति अथवा कबीले क्षेत्रों ;जतपइंस ंतमेंद्ध के लिए सहायक अनुदान।
4. आंतरिक सीमा–शुल्कों को लगाने के संबंध में भारत सरकार द्वारा भाग 'ख' के किसी भी राज्य के साथ हुये समझौते की शर्तों का संशोधन करना अथवा उसका यथापूर्व जारी रहना।
5. उन सिद्धान्तों का निर्धारण जिनके आधार पर भारत की संचित निधि में से राज्यों को सहायक अनुदान दिए जा सकें।
6. किसी राज्य–विशेष के लिए विशिष्ट अनुदान।

राष्ट्रपति आयोग द्वारा की गई प्रत्येक सिफारिश को उस पर की जाने वाली कार्यवाही की व्याख्यात्मक टिप्पणी के साथ संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष प्रस्तुत करेंगे।

वित्त आयोग की सिफारिशों का कार्यान्वयन

वित्त आयोग की सिफारिशों पर विचार करने के बाद आय–करों का बंटवारा राष्ट्रपति के आदेश से होता है। भारत सरकार इस संबंध में आयोग की सिफारिशें स्वीकार कर लेती है कि विभाज्य करों का कितना प्रतिशत राज्यों को दिया जाना है और यह कि यह प्रतिशत राज्यों में किस प्रकार बांटा जाना है। राज्यों के हिस्से को संघ की संचित निधि का भाग नहीं बनाया जाता बल्कि उन्हें सीधे राज्यों की संचित निधियों (Consolidated Funds) में डाल दिया जाता है।

टिप्पणी

वैसे देखा जाए तो संविधान की धारा 272 के अनुसार, वित्त आयोग की सिफारिशें केवल संस्तुति मात्र ही होती हैं। यह केंद्र सरकार की मर्जी पर निर्भर करता है कि उत्पादन शुल्कों (Excise Duties) के संबंध में वह वित्त आयोग की सिफारिशों को माने या न माने या उसमें बदलाव करे। परन्तु व्यवहार में संघ सरकार उत्पादन शुल्कों के संबंध में वित्त आयोग की सिफारिशों को उस कानून के आधार के रूप में स्वीकार कर लेती है और उसे संसद के पटल पर प्रस्तुत कर देती है। कुल मिलाकर वित्त आयोग को केवल उन सिद्धान्तों के संबंध में सिफारिशें करनी होती हैं जिनके द्वारा सहायक अनुदानों का निर्धारण होता है। तब यदि राज्यों को सहायता की आवश्यकता होगी तो संसद कानून बनाकर विशिष्ट अनुदानों का निर्धारण कर सकती है। संसद ऐसा कानून बनाये तब तक के लिए राष्ट्रपति वित्त आयोग की सिफारिशों पर विचार करने के बाद ऐसे अनुदानों की विशिष्ट धनराशि का आदेश दे सकता है।

मूल्यांकन–भारत जैसे देश में केंद्र और राज्यों के बीच राजस्व वितरण, इकाइयों को अनुदान देने के संबंध में आवश्यक सिफारिशों को देने तथा उचित धरातल प्रस्तुत करने के लिए वित्त आयोग जैसी संस्था की स्थापना का महत्व बहुत बढ़ जाता है, क्योंकि अर्थव्यवस्था में परिवर्तन होने पर संघ तथा राज्यों के वित्तीय संबंधों में परिवर्तन आना अनिवार्य है।

आयोग संघ एवं राज्यों के बीच राजस्व के वितरण जैसे जटिल किन्तु महत्वपूर्ण प्रश्नों से संबंध रखता है। वित्त आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह एक और तो राज्यों में परस्पर दूरी और दूसरी और केंद्र और राज्यों के बीच होने वाले विवादों के निपटारे में निर्णायक भूमिका अदा करेगा।

संविधान की धारा 203 वित्त आयोग को यह अधिकार देती है कि वित्त आयोग वे सिद्धान्त निर्धारित करे जिनके आधार पर केंद्र राज्यों को अनुदान देगा। वित्त आयोग के सामने भी महत्वपूर्ण समस्याओं में संविधान की धारा 275 के अंतर्गत विभाजन योग्य केंद्रीय कोष और राज्यों के दिए जाने वाले अनुदान के विभाजन के सिलसिले में नियम और सिद्धान्त तय करना था। संविधान में कर वितरण की कोई स्पष्ट व्यवस्था नहीं है, इसलिए वित्त आयोग पर वितरण के सिद्धान्त निश्चित करने का दायित्व है।

भारतीय संविधान में वित्त के उचित वितरण के लिए और केंद्रीय सरकार का वित्त पर समुचित नियंत्रण बनाए रखने के लिए वित्त आयोग को बंटवारे की सिफारिश करने की शक्ति प्रदान की गई है। इस दृष्टि से वित्त आयोग का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक दिखाई देता है।

वित्त आयोग का स्तर दीवानी न्यायालय जैसा है जो अपनी प्रक्रिया को स्वयं निर्धारित करता है। यह आयोग भारत सरकार और राज्य सरकारों के वित्तीय संसाधनों को नियमित, समन्वित तथा एकीकृत करने का महत्वपूर्ण संगठन है। इसकी कार्य प्रणाली की यह विशेषता रही है कि यह अपनी सिफारिशों के निर्धारण के लिए केंद्र सरकार, योजना आयोग, राज्य सरकारों के अधिकारियों और मंत्रियों पर निर्भर रहा है। आयोगों ने अपने प्रतिवेदन नागरिकों तथा विशिष्ट संगठनों के प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के आधार पर प्रस्तुत किए हैं।

टिप्पणी

सांविधानिक दृष्टि से वित्त आयोग एक परामर्शदात्री संस्था है जिसकी सिफारिशों को मानने के लिए राष्ट्रपति बाध्य नहीं है लेकिन अब तक का इतिहास बताता है कि वित्त आयोग की सिफारिशों को अधिकांश मामलों में स्वीकार कर लिया गया।

संघ तथा राज्यों के वित्तीय संबधों को अत्यधिक प्रभावित करने तथा जटिल वित्तीय समस्याओं को सुलझाने वाले एक सांविधानिक अधिकरण के रूप में वित्त आयोग ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। भारतीय संदर्भ में वित्त वितरण व्यवस्था पूर्णतः इन्हीं सिफारिशों पर आधारित है। वित्त आयोग ने उन कमियों को पूर्णतः दूर रखने का प्रयास किया जो अन्य संघात्मक संविधानों में वित्तीय उपबंधों के संबंध में पाई जाती हैं। भारतीय वित्त आयोग ने एक और संघात्मक शासन पद्धति की वित्त व्यवस्था को स्थिर बनाने के लिए एक निष्पक्ष तथा तटस्थ दृष्टिकोण अपनाया है तो दूसरी ओर वित्त आयोग ने संघ एवं राज्यों के मध्य वित्त विवरण के प्रश्न को राजनीतिक विवादों से दूर रखने का कार्य किया है।

चुनाव आयोग तथा चुनाव सुधार

किसी भी देश में होने वाले चुनाव या ''चुनाव व्यवस्था'' का स्वरूप उस देश की शासन प्रणाली के स्वरूप को प्रतिबिंबित करता है। तानाशाही व्यवस्था के चुनावों का स्वरूप निःसन्देह लोकतांत्रिक प्रणाली की चुनावी व्यवस्था के भिन्न होता है। भारतीय संविधान द्वारा निर्वाचन प्रक्रिया के लिए ऐसी मशीनरी का गठन किया गया है, जिसमें निष्पक्ष एवं स्वतंत्र तरीके से चुनाव कराए जा सकें। भारतीय संविधान में चुनाव आयोगों के नाम से ऐसे संवैधानिक–आयोग की स्थापना की गयी है, जिसका कार्य संपूर्ण देश में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, लोकसभा, राज्यसभा के सदस्य एवं राज्य विधान मंडलों के सदस्यों का निर्वाचन सम्पन्न कराना है।

चुनाव आयोग की संरचना

संवैधानिक प्रावधान– भारतीय संविधान के अनुच्छेद 324 से 329 तक निर्वाचन तंत्र से संबंधित संपूर्ण व्यवस्था की गयी है। संविधान के अनुच्छेद 324 के अंतर्गत विभिन्न निर्वाचनों का निरीक्षण निर्देशन एवं नियंत्रण करने के लिए 'निर्वाचन आयोग' की स्थापना की गयी। निर्वाचन आयोग में एक मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा उतने निर्वाचन आयुक्त होंगे जितने की राष्ट्रपति समय–समय पर मनोनीत करें।

प्रारंभ से निर्वाचन आयोग एक सदस्यीय था। सन् 1989 आयोग को व्यापक रूप देने के लिए राष्ट्रपति वेकटरमन ने दो निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति की जिन्हें कुछ आलोचनाओं के बाद रद्द कर दिया गया। सन् 1993 में केंद्र सरकार ने एक अधिसूचना जारी करके चुनाव आयोग को बहुसदस्यीय बना दिया और दो नये चुनाव आयुक्तों (श्री एम.एस. गिल व जी.वी.जी. कृष्णामूर्ति) की नियुक्ति कर दी गयी। केंद्र सरकार के फैसले के विरुद्ध मुख्य निर्वाचन आयुक्त टी.एन. शेषन ने सुप्रीम कोर्ट में चुनौती दी पर सर्वोच्य न्यायालय में अपने फैसले में केंद्र सरकार को उचित ठहराया।

सेवा शर्तें

अनुच्छेद 324(5) के अनुसार चुनाव आयुक्तों की शर्तें राष्ट्रपति द्वारा तय की जाती है। परंतु ऐसा करते समय राष्ट्रपति संसद द्वारा पारित किसी कानून की अवहेलना नहीं करेगा। 1993 के अध्यादेश के जरिऐ वेतन व अन्य सेवा शर्तों के मामले में अन्य

टिप्पणी

आयुक्तों को मुख्य आयुक्त के ही समकक्ष बना दिया गया। यह अध्यादेश बाद में संसद की स्वीकृति के बाद कानून बन गया। संक्षेप में, मुख्य चुनाव और अन्य आयुक्तों की सेवा शर्तें इस प्रकार हैं–

(1) मुख्य चुनाव आयुक्त व अन्य आयुक्तों को उतना वेतन मिलेगा जितना कि उच्चतम न्यायलय के किसी न्यायाधीश को मिलता है।

(2) मुख्य चुनाव आयुक्त व अन्य आयुक्त 6 वर्ष की अवधि तक अथवा 65 वर्ष की आयु तक अपने पद पर रहेंगे।

(3) चुनाव आयोग के सदस्यों के बीच यदि कोई मदभेद है तो सभी निर्णय बहुमत से होंगे। उच्चतम न्यायालय के जुलाई 1995 के एक फैसले के अनुसार मुख्य चुनाव आयुक्त यह दावा नहीं कर सकता कि सारे अधिकार उसी के पास हैं और शेष आयुक्तों का काम सलाह देना है।

चुनाव आयोग की स्वतंत्रता

मुख्य चुनाव आयुक्त व अन्य आयुक्त बिना किसी भय या दबाव के अपने कर्तव्यों का पालन कर सकें, इसके लिए संविधान में तीन व्यवस्थाएं की गई हैं। प्रथम, मुख्य चुनाव आयुक्त व अन्य आयुक्तों को आसानी से उनके पदों से हटाया जा सकता है। उन्हें तभी हटाया जा सक्ता है जबकि संसद के दोनों सदन दो–तिहाई बहुमत द्वारा एक प्रस्ताव पास करके राष्ट्रपति से ऐसा करने का निवेदन करें। द्वितीय, वित्तीय संकट को छोड़कर और किसी भी स्थिति में वेतन और भत्तों में कटौती नहीं की जा सकेगी। तृतीय, राष्ट्रपति तथा राज्यपालों का यह कर्तव्य है कि वे चुनाव आयुक्तों व क्षेत्रियों की प्रार्थना पर उनके लिए उचित स्टाफ का प्रबंध करें। चुनाव आयोग को अपने दायित्व का पालन करने के लिए राज्य व जिला स्तर पर बहुत से कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। राष्ट्रपति, राज्यपालों व मंत्रियों का कर्तव्य है कि आयोग की सिफारिश पर ये सभी सुविधाएं जुटाई जाएं।

चुनाव आयोग की शक्तियां एवं कार्य

भारत में हाने वाले लगभग सभी महत्वपूर्ण चुनावों (संसद, राज्य, विधान मण्डल, राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति) के 'निरक्षण' 'निर्देशन एवं नियंत्रण' की शक्तियां एवं संबंधित कार्य चुनाव आयोग में निहित होते हैं। ये कार्य एवं शक्तियां निम्न हैं–

(1) **मतदाता सूची तैयार करना**–भारत का प्रत्येक व्यस्क (आयु 18 वर्ष) स्त्री या पुरुष मतदान का अधिकारी है। अतः चुनाव आयोग द्वारा लोकसभा, या विधान सभा के प्रत्येक चुनाव या माध्यमिक चुनाव के पूर्व पुरानी मतदाता सूचियों में उचित संशोधन करके नयी मतदाता सूची तैयार की जाती है ताकि मताधिकार की योग्यता रखने वाला कोई भी व्यक्ति मताधिकार से वंचित न रहें।

(2) **विभिन्न चुनावों का संचालन**–विधान सभाओं के लिए हर पांच वर्ष के बाद चुनाव होते हैं, इनके लिए मध्यावधि चुनावों की भी व्यवस्था होती है, यह आवश्यक नहीं है कि लोकसभा या विधान सभा अपनी पूरी अवधि तक चले ही।

राज्यसभा और राज्य की विधान परिषदों के एक तिहाई सदस्य हर दूसरे वर्ष बदल जाते हैं। जो सदस्य अवकाश ग्रहण कर लेते हैं उनके स्थान पर नए

टिप्पणी

सदस्य चुने जाते हैं। इन चुनावों का संचालन भी चुनाव आयोग करता है।

राष्ट्रपति का चुनाव हर पांचवें वर्ष होता है। चुनावों में केवल वे लोग भाग लेते हैं जो संसद के निर्वाचित सदस्य हो अथवा राज्य की विधान सभाओं के लिए निर्वाचित सदस्य हो अथवा राज्य की विधानसभाओं के लिए निर्वाचित किए गए हो। राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति के चुनाव भी चुनाव आयोग के नियंत्रण में संपन्न होते हैं।

(3) **चुनाव कार्यक्रम निर्धारित करना**—चुनाव किस समय होगा इसका निर्णय सरकार करती है, परंतु निश्चित तिथियां चुनाव आयुक्त से परामर्श के बाद ही तय की जा सकती है। इस बात का निर्णय भी चुनाव आयोग करता है कि नामांकन पत्र भरने, नामांकन पत्रों की जांच और नाम वापस लेने की अंतिम तिथियां क्या होगी। मतदान के लिए चुनाव बूथों की व्यवस्था और अन्य सभी आवश्यक इंतजाम चुनाव आयोग ही करता है।

(4) **राजनीतिक दलों को मान्यता देना**—देश में बहुत से राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दल है। प्रत्येक आम चुनाव के बाद चुनाव आयोग इस बात की जांच करता है कि किस दल को कितने प्रतिशत मत प्राप्त हुए हैं। कोई भी दल जो चार राज्यों में मान्यता प्राप्त दल है, राष्ट्रीय दल कहलाने का हकदार है। किसी भी राज्य में मान्यता पाने के लिए एक पार्टी को विगत चुनावों में कुल पड़े वैध मतों का कम से कम 4 प्रतिशत प्राप्त करना होता है। चार से कम राज्यों में मान्यता प्राप्त दल राज्य स्तर का दल अथवा क्षेत्रीय दल माना जाता है। वर्ष 1988 के एक अधिनियम के अनुसार राजनीतिक दलों को निर्वाचन आयोग कार्यालय में अपना पंजीकरण कराना होगा। किसी भी दल के विभाजन की स्थिति चुनाव आयोग की काफी सोच विचार के असली गुट को मान्यता देना होता है।

(5) **राजनीतिक दलों को चुनाव चिह्न प्रदान करना**—राजनीतिक दलों व आजाद उम्मीदवारों को चुनावी प्रचार के लिए चिह्न की आवश्यकता होती है। भारत जैसे देश में तो यह इसलिए जरूरी है क्योंकि अधिकांश मतदाता अशिक्षित हैं तथा वे चुनाव चिह्न के आधार पर ही मतदान कर सकते हैं। राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दलों के अपने 'संरक्षित चुनाव चिह्न' होते हैं। कोई और दल या व्यक्ति उन चुनाव चिह्नों का उपयोग नहीं कर सकता। ये चिह्न चुनाव आयोग द्वारा ही प्रदान किए जाते हैं। आजाद उम्मीदवार बहुत से 'मुक्त चिह्नों' में से किसी एक चिह्न को चुन सकते हैं।

(6) **चुनाव के लिए आचार संहिता का निर्माण**—1968 में पहली बार एक 'आचार संहिता' तैयार की गई है। यह संहिता सभी राजनैतिक दलों की सहमति से बनाई गई थी। 1983 में पुनः राजनीतिक दलों ने इस संहिता के प्रति अपनी सहमति जताई। संहिता में जताया गया है कि (अ) राजनीतिक दल अथवा नेता धर्म, जाति और संप्रदाय के आधार पर कोई अपील न करें (ब) नेताओं के निजी जीवन की आलोचना न की जाए (स) अन्य दलों द्वारा आयोजित सभाओं एवं जुलूसों में विघ्न न डाला जाए (द) नेता या पार्टी कार्यकर्ता ऐसे शब्दों या भाषा का प्रयोग न करें जिससे दूसरों को हिंसा की प्रेरणा मिलती है। (च) चुनाव प्रचार के लिए पूजा–स्थलों का प्रयोग न करें तथा

टिप्पणी

(र) ऐसे सभी कार्यों से बचे जो भ्रष्ट आचरण या चुनाव अपराधों की श्रेणी में आते हों। आचरण संहिता का उल्लंघन करने पर दंड की कोई व्यवस्था नहीं है। संहिता सिर्फ मार्गदर्शन के लिए है। यही वजह है कि आचरण संहिता कि नियमों की अनदेखी की जाती है।

(7) **देश में स्वतंत्र व निष्पक्ष चुनाव कराना**–चुनावों में सफल संचालन के लिए चुनाव आयोग बहुत से नियम बनाता है। इनमें इस तरह के नियम शामिल हैं– चुनाव प्रचार पोलिंग के कितने घंटे पहले समाप्त हो जाएगा, चुनाव सभाओं के संचालन की क्या व्यवस्था होगी, मतपेटियों को बंद करके उन पर मोहर कैसे लगाई जाए, मतपेटियों की सुरक्षा की क्या व्यवस्था होगी तथा मतपत्रों की गिनती मतदान के कितने घंटों के बाद शुरू की जाएगी। चुनाव आयुक्त स्वयं उन इलाकों का दौरा करते हैं जहां हिंसा उपद्रव की वारदात की आशंका होती है। चुनावों में सरकारी तंत्र का दुरूपयोग रोकने के लिए चुनाव आयोग ने समय–समय पर बहुत से निर्देश जारी किए हैं जैसे कि मंत्री अपने सरकारी दौरों को चुनावी दौरों से अलग रखें, चुनाव प्रचार के लिए सरकारी मशीनरी, वाहनों और कर्मचारियों का उपयोग न किया जाए तथा चुनाव घोषणा के बाद किसी सरकारी परियोजना का शिलान्यास न किया जाए।

(8) **सदस्यों की अयोग्यता से संबंधित विवाद**–यदि संसद या राज्य विधानमंडल के बीच कोई विवाद उत्पन्न होता है तो राष्ट्रपति या राज्यपाल चुनाव आयोग की सलाह से उस विवाद चुनाव का निर्णय कर सकते हैं। परंतु दल–बदल से उत्पन्न प्रश्नों का निर्णय संबंधित सदन का अध्यक्ष करेगा।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि संविधान द्वारा इस तरह की व्यवस्था की गई है कि चुनाव आयोग सरकारी दबावों से मुक्त रहकर अपने कर्तव्यों का पालन कर सके।

भारत में चुनाव सुधार

भारत विश्वकप की सबसे बड़ी लोकतांत्रिक व्यवस्था है। प्रधानमंत्री नेहरू के जीवन काल से यह अटकलें लगाई जा रही थी। कि शायद पं. जवाहर लाल नेहरू के बाद भारत की प्रजातांत्रिक व्यवस्था का अवसान हो जाए परंतु ऐसा कुछ भी नहीं हुआ जिसका श्रेय भारत के उन लोगों एवं संस्थानों को दिया जा सकता है, जिन्होंने गहराई से लोकतांत्रिक मूल्यों को आत्मसात किया है।

चुनाव आयोग एवं निर्वाचन प्रक्रिया इन्हीं संस्थाओं में एक है जिन्होंने अपने प्रयासों एवं कार्यों से भारत की लोकतांत्रिक व्यवस्था को सुदृढ़ किया है। भारत में अब तक 13 आम–चुनाव हो चुके हैं। चुनावों के समय कुछ ऐसी बातें देखने को मिलती हैं जिससे जनता की चुनावों एवं लोकतांत्रिक व्यवस्था में आस्था कम हुई है। काले धन, हिंसा एवं सरकारी तंत्र का दुरूपयोग आदि प्रवृत्तियां जिस प्रकार चुनाव के दौरान बढ़ रही है अगर समय रहते उन्हें नियंत्रित नहीं किया गया तो इससे हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था खतरे में पड़ जाएगी। अतः आवश्यकता इस बात की है कि चुनाव प्रक्रिया की त्रुटियों को दूर करके व्यापक सुधार किए जाएं। सरकार, जनता एवं राजनीतिक दलों द्वारा समय–समय पर चुनाव सुधार के प्रयास हुए हैं।

टिप्पणी

(1) **तारकुण्डे समिति की सिफारिशें**–श्री जयप्रकाश नारायण ने प्रसिद्ध रेडिकल ह्यूमनिस्ट न्यायमूर्ति श्री वी. एम. तारेकुंडे की अध्यक्षता में चुनाव सुधार समिति का गठन किया। इस समिति ने स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष चुनाव कराने, काले धन एवं सरकारी मशीनरी के दुरूपयोग की रोकथाम संबंधी सिफारिशें की। समिति ने लोकनिर्णय एवं परिवर्तन की मांग एवं सूची प्रणाली को अव्यावहारिक माना।

(2) **संयुक्त संसदीय समिति के सुझाव**–सन् 1972 में संसद की एक संयुक्त समिति ने तीन प्रमुख सुझाव दिए–प्रथम–निर्वाचन प्रणाली में बुनियादी परिवर्तन, द्वितीय–बहु–संसदीय निर्वाचन आयोग की स्थापना, तृतीय–आकाशवाणी में राजनीतिक दलों को प्रचार की सुविधा देना।

(3) **शकघर के सुझाव** –जुलाई 1981 में मुख्य चुनाव आयुक्त श्री श्यामलाल शकघर ने दो प्रमुख सुझाव दिए, **प्रथम**– चुनाव व्यवस्था में आमूल–चूल परिवर्तन, **द्वितीय**– राज्य द्वारा चुनाव का खर्च वहन करना।

(4) **गोस्वामी समिति के सुझाव**–मई 1990 में गोस्वामी समिति ने निम्न सुधारों का सुझाव दिया–

(अ) बूथ कब्जे वाली घटनाओं में पुर्नमतदान करना एवं आरक्षित सीटों को भ्रमणशील बनाना।

(ब) मतदाता परिचय पत्र एवं इलेक्ट्रॉनिक मतदान मशीन का प्रयोग करना।

(स) निर्वाचन याचिकाओं का शीघ्र निस्तारण एवं छः माह के अंदर उप–चुनाव कराना आदि।

चुनाव प्रणाली के दोष और उसमें सुधार के सुझाव

पिछले अनेक वर्षों से चुनाव सुधारों की चर्चा हो रही है। यह चर्चा आम चुनावों के समय और बढ़ जाती है। इस संदर्भ में विभिन्न चुनाव आयोगों, सरकारों, समितियों द्वारा चुनाव सुधारों की व्यापक चर्चा की गई तथा तत्संबंधी त्रुटियों एवं सुधारों की और ध्यान आकृष्ट किया गया है। विविध पक्षों द्वारा किए गए उपरोक्त अध्ययन के आधार पर चुनाव व्यवस्था की गंभीर त्रुटियों एवं सुझाव का अध्ययन निम्न प्रकार किया जा सकता है–

(1) **चुनाव आयोग का पुनर्गठन**– लंबे अर्से से चुनाव आयोग को संघ लोकसेवा आयोग की तरह बहु–सदस्यीय निकाय बनाने की मांग की जा रही थी। चुनाव आयोग अब बहु–सदस्यीय बना दिया गया है। मुख्य चुनाव आयुक्त के अलावा दो और आयुक्तों की नियुक्ति की गई। चुनाव आयोग की निष्पक्षता में सभी का विश्वास बना रहे, इसके लिए 1990 में गठित सर्वदलीय गोस्वामी समिति की सिफारिश यह थी कि भारत में मुख्य न्यायाधीश लोकसभा के अध्यक्ष राज्य सभा के सभापति और लोकसभा में विपक्ष के नेता से परामर्श करने के बाद ही राष्ट्रपति मुख्य चुनाव आयुक्त की नियुक्ति करेंगे तथा अन्य चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति से पहले मुख्य चुनाव आयुक्त की राय ली जाएगी।

(2) **चुनावी खर्चा**– आमतौर पर यह दावा किया जाता है कि लोकतंत्र में साधारण व्यक्ति भी बड़े से बड़े पद प्राप्त कर सकता है। पर यह तभी संभव है जब कि चुनावों

टिप्पणी

में धन का महत्व कम से कम हो। पहले दो आम चुनावों में चुनाव का व्यय बहुत थोड़ा होता था। 1962 में और उसके बाद धन का प्रयोग बहुत ही बढ़ गया है। चुनावों पर धन के प्रभाव को कम करने के लिए अग्रलिखित सुझाव दिये गए हैं–

(अ) पार्टियों को चंदा मात्र चैक द्वारा ही दिया जाना चाहिए। साथ ही यह भी जरूरी है कि पार्टी फंड की ऑडिटरों द्वारा जांच कराई जाए। राजनैतिक दलों को चाहिए की वे अपनी आय–व्यय का पूरा चिट्ठा जनता के समक्ष रखें। कई राष्ट्रीय दलों ने कई वर्षों से अपने आयकर रिर्टन नहीं भरे हैं। उच्चतम न्यायालय ने चुनाव आयोग द्वारा निर्धारित प्रति उम्मीदवार चुनाव खर्च सीमा और राजनीतिक दलों द्वारा किए जाने वाले खर्च के लेखा परीक्षण का आदेश दिया है।

(ब) एक महत्वपूर्ण सुझाव यह रखा गया है कि मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों को सरकार की और से वित्तीय सहायता दी जाए। पश्चिमी यूरोप में ब्रिटेन और जर्मन के अलावा कई और ऐसे देश जहां इस समय राजनीतिक दलों को राजकीय सहायता मिल रही है। भारत में काले धन के प्रभाव को रोकने के लिए राजनीतिक दलों को सरकार से आर्थिक सहायता देना एक कारगर उपाय हो सकता है।

(स) पोलिंग बूथ पर लोगों को ट्रकों, बसों आदि से ढोकर ले जाने पर भी पाबंदी रहनी चाहिए। इसका सबसे अच्छा इलाज यह है कि 'मतदान' अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए। भूतपूर्व चुनाव आयुक्त एस. पी. सेन वर्मा ने 1986 में यह सुझाव पेश किया था। सेन वर्मा के मतानुसार मतदान के लिए न जाने वालों पर साधारण जुर्माना लगाना ही लोगों को मतदान के लिए प्रोत्साहित करने के लिए पर्याप्त होगा।

(द) चुनाव खर्च के बारे में चुनाव आयोग की यह सिफारिश न्यायसंगत है कि नयी खर्च सीमा के अंतर्गत सभी तरह के खर्चे शामिल होंगे। कुछ वर्ष पहले उच्चतम न्यायालय ने भी इसी तरह का मत व्यक्त किया था। अप्रैल 1996 उच्चतम न्यायालय ने पुनः यही बात कही, ''यदि किसी पार्टी के हिसाब–किताब का लेखा परीक्षण नहीं किया गया तो किसी उम्मीदवार के प्रचार अभियान में पार्टी के द्वारा किया गया खर्च भी उम्मीदवार के खर्च में आ जाएगा।

(य) यदि चुनाव अभियान के दिनों की संख्या घटा दी जाए तो निर्वाचन व्यय पर अंकुश लगाया जा सकता है। 1996 के एक अधिनियम द्वारा चुनाव प्रचार की अवधि 21 दिन से घटाकर 14 दिन कर दी गई है।

(3) **सरकारी तंत्र का दुरूपयोग**–चुनावों के अवसर पर प्रायः शासनतंत्र का दुरूपयोग किया जाता है। वोट बटोरने के लिए मंत्रियों द्वारा लोगों को तरह–तरह के आश्वासन दिए जाते हैं। तथा उद्घाटन और शिलान्यास के बहाने सरकारी गाड़ियों और दूरदर्शन सुविधाओं का दुरूपयोग किया जाता है। कुछ वर्ष पहले चुनाव आयोग ने सरकार से यह सिफारिश की थी कि निम्नलिखित बातों को ''भ्रष्ट आचरण'' की श्रेणी में शामिल किया जाए :

(अ) सरकारी वाहनों और कर्मचारियों का शासक दल के हितों को बढ़ावा देने

टिप्पणी

के लिए उपयोग, (ब) सत्तारूढ़ दल के हितों को बढ़ावा देने के लिए सरकारी खर्च के समाचार पत्रों में विज्ञापन जारी करना। (स) चुनाव की घोषणा के बाद मंत्रियों द्वारा सड़कों के निर्माण या पीने के पानी की सुविधा आदि प्रदान करने का वायदा, (द) मंत्रियों द्वारा सरकारी दौरों, डाक बंगलों, विश्राम ग्रहों, वायुयान का चुनाव प्रचार के लिए प्रयोग करना। यद्यपि अभी तक इन्हें भ्रष्ट आचरण नहीं माना गया है परंतु चुनाव आयोग इसका प्रयोग सख्ती से करवाता है।

(4) **चुनाव में बाहुबल का प्रयोग**—यह दुर्भाग्य की बात है कि पिछले कुछ अर्से से अपराधी तत्वों की राजनीति में घुसपैठ बड़ी है। इसे रोकने के लिए कई बाते जरूरी हैं। प्रथम, अपराधिक पृष्ठभूमि से जुड़े लोगों और विशेषकर ऐसे लोगों को जो हिस्ट्रीसीटर है अर्थात गंभीर अपराधों के लिए जिनके नाम पुलिस रोजनामचे में दर्ज हैं, चुनाव लड़ने से रोका जाए। दूसरे, जिन चुनाव क्षेत्रों में चुनावी गड़बड़ी की रिपोर्ट मिले वहां पुनः मतदान कराया जाए। तीसरे, मतदान केंद्रों पर कब्जा करने वालों को सख्त सजा मिले। चौथे, पुलिस यदि अपराधी राजनेताओं को बेनकाब करती है तो इसका समर्थन किया जाना चाहिए।

(5) **जाली मतदान अर्थात अन्य मतदाता बनकर वोट देना**—चुनाव में जाली मतदान की घटनाएं भी घटती हैं। इसके लिए नागरिकों को परिचय पत्र दिये जानें की आवश्यकता है। निर्वाचन आयोग ने संघशाषित क्षेत्रों और राज्य सरकारों को यह निर्देश दिया है कि सभी मतदाताओं को फोटोयुक्त परिचय—पत्र जारी किए जाएं। चुनावों की स्वच्छता और निष्पक्षता के लिए चुनाव आयोग का यह निर्देश निश्चय ही समयानुकूल है और प्रयुक्त भी हो रहा है।

(6) **मतदान मशीनों का प्रयोग**—मौजूदा मतपेटिका प्रणाली की जगह मतदान मशीनों का प्रयोग ज्यादा सुविधाजनक है। कई दलों नें वोटिंग मशीन के दुरूपयोग की शंका व्यक्त की। इसलिएं मुख्य चुनाव आयुक्त ने इस यंत्र का उपयोग न किए जाने की घोषणा की और यह भी कहा कि वोटिंग मशीन का इस्तेमाल तभी होगा जब सभी दल इसके लिए सहमत हो। वर्तमान में यह मशीन प्रयुक्त हो रही है।

(7) **वोटों के अनुपात में प्रतिनिधि**—कई बार राजनीतिक दल कम वोटों के बावजूद अधिक सीटें ले जाते हैं। इससें विपक्षी दलों में निराशा की भावना आती है। इसलिए उन्होंने आनुपातिक प्रतिनिधित्व की मांग की है। अर्थात विभिन्न दलों के मतदान के प्रतिशत के आधार पर विधानमंडल में प्रतिनिधित्व दिया जाए। परंतु इस प्रणाली को भी बहुत सोच विचार करके गंम्भीरता से लागू करने की जरूरत है।

(8) **चुनाव आयोग को अधिक शक्तिशाली और प्रभावी बनाया जाए**—चुनावी अनियमितताओं को ध्यान में रखतें हुए यह जरूरी है कि चुनाव आयोग को काफी प्रभावी और शक्तिशाली बनाया जाए। सरकार इस सुझाव पर विचार कर रही है कि चुनाव आयोग को दीवानी न्यायालयों द्वारा प्रयुक्त निम्नलिखित शक्ति प्रदान की जाएं जिससे चुनाव आयोग चुनावी भ्रष्ट आचरण, चुनावी अनियमितताओं, चुनाव अपराध संबंधित मामलों की सुनवाई करके उन्हें पर्याप्त

टिप्पणी

दण्ड एवं जुर्माना दे सके। इसके लिए चुनाव आयोग के पास एक 'स्वतंत्र निधि' का प्रावधान होना चाहिए।

(9) **चुनाव याचिकाओं का शीघ्र निपटारा**–पिछले सभी चुनावों के बाद अनेक याचिकाएं उच्च न्यायालय में प्रस्तुत की गईं । इन याचिकाओं का फैसला होने में कई वर्ष लग जाते हैं। चुनाव याचिकाएं चुनावों में भी ज्यादा खर्चीली और कष्टकर बन गई हैं। मुख्य चुनाव आयुक्त का सुझाव है कि याचिकाओं को निपटाने की शक्ति चुनाव आयोग को दी जाए।

(10) **चुने हुए प्रतिनिधियों को वापस बुलाने का अधिकार**–जयप्रकाश नारायण द्वारा चलाए गए आंदोलन का मुख्य मुद्दा यह था कि विधायकों को उनकी अवधि समाप्त होने से पहले ही वापस बुलाने का अधिकार लोगों को मिले। अभिप्राय यह है कि लोगों को यह अधिकार दिया जाए कि वे यदि चाहें तो अपने उन प्रतिनिधियों को वापस बुला लें जो उनकी दृष्टि से अच्छा काम नहीं कर रहे हैं अथवा भ्रष्ट आचरण के दोषी हैं। सिद्धांत रूप से यह बात ठीक है पर इसमें कई तरह के खतरे निहित हैं। इसका प्रयोग अराजक शक्ति द्वारा किया जा सकता है। बाहुबल के प्रयोग से ईमानदार जनप्रतिनिधियों को भी बुलाने की साजिश रची जा सकती है।

अंत में यह भी कहा जा सकता है कि विविध चुनाव सुधारों को कारगर ढंग से कार्यान्वित किया जाए तभी लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा हो सकती है। भूतपूर्व चुनाव आयुक्त टी. एन. शेषन ने इस दिशा में गम्भीर प्रयास किए, जैसे–मतदान पहचान–पत्र जारी करना, चुनाव आचार संहिता का कठोरता से पालन करना, इलेक्ट्रॉनिक मशीन का इस्तेमाल आदि। इस दिशा में अभी गंभीर प्रयासों की आवश्यकता है क्योंकि चुनाव लोकतंत्र की कसौटी है और प्रत्याशी चुनावों में मेरूदण्ड।

उच्चतम न्यायालय के चुनाव सुधार विषयक निर्देश

13 मार्च, 2003 को सर्वोच्च न्यायालय ने वर्ष 2002 में पारित किए गए जनप्रतिनिधित्व अधिनियम के 33वें प्रावधान को असंवैधानिक घोषित कर दिया जिसके द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के 2 मई, 2002 के उस आदेश को निष्प्रभावी बना दिया गया था जिसमें प्रत्याशियों के लिए अपने अपराधिक रिकॉर्ड, चल और अचल संपत्ति व शैक्षणिक योग्यता आदि जानकारियां नामांकन पत्र के साथ ही प्रस्तुत करना अनिवार्य बना दिया गया था।

2 मई, 2002 को सर्वोच्च न्यायालय में चुनाव प्रक्रिया में सुधार के उद्देश्य से एक महत्वपूर्ण निर्णय देते हुए निर्देशित किया था कि मतदाताओं को लोकसभा और विधानसभा चुनाव के उम्मीदवारों की अपराधिक पृष्ठभूमि, उसकी संपत्ति और देनदारियों के बारे में जानने का मौलिक अधिकार है और इसके लिए निर्वाचन आयोग को प्रत्येक प्रत्याशी के हल्फनामें पर सारी सूचना प्राप्त करनी चाहिए।

सर्वोच्च न्यायालय ने चुनाव आयोग को निर्देश दिया था कि उसे उम्मीदवारों से निम्नलिखित पांच बातों के ब्यौरे लेने होंगे–

टिप्पणी

1. क्या प्रत्याशी सजायाफ्ता है? किसी मामले में सजा काट चुका है या फिर बंदी बनाया जा चुका है।
2. नामांकन से 6 महीने पहले, क्या प्रत्याशी किसी ऐसे मामले में आरोपी बना, जिससे दो या अधिक साल की सजा हो सकती है?
3. प्रत्याशी, उसके पिता या पत्नी तथा उस पर लोगों की चल–अचल संपत्ति तथा बैंक खातों की क्या स्थिति है?
4. प्रत्याशी की देनदारियां क्या हैं? क्या उस पर किसी सार्वजनिक या सरकारी वित्तीय संस्थान की देनदारी है?
5. प्रत्याशी की शैक्षिक योग्यता क्या है?

सर्वोच्च न्यायालय ने उपर्युक्त दिशा–निर्देश संविधान के अनुच्छेद 324 के संदर्भ में दिया है जिसके अनुसार आयोग को समय समय पर चुनाव तथा उम्मीदवारों के संबंध में नियम व शर्तें तय करने का अधिकार दिया गया है।

25 अगस्त, 2002 को 1951 के जनप्रतिनिधित्व कानून में संशोधन से संबंधित राष्ट्रपति द्वारा जारी चुनाव सुधार अध्यादेश के द्वारा चुनाव आयोग के उपर्युक्त निर्देश जिसमें प्रत्याशियों को अपनी संपत्ति और आपराधिक पृष्ठभूमि की जानकारी देने की बात कही गई है, अप्रभावी हो गया था। अध्यादेश के अनुसार केवल वही लोग चुनाव नहीं लड़ सकते थे जिन्हें दो आपराधिक मामलों में दोषी करार दिया गया था।

सर्वोच्च न्यायालय के वर्तमान निर्णय से अब यह स्पष्ट हो गया है कि चुनाव लड़ने वाले प्रत्याशी को चुनाव द्वारा निर्धारित प्रारूप से संबंधित समस्त ब्यौरे देने होंगे।

निर्वाचन संशोधन अधिनियम 2003– 11 सितम्बर, 2003 को संसद ने राजनीतिक दलों द्वारा चंदा लिए जाने की प्रक्रिया के साथ–साथ चुनाव प्रक्रिया के विभिन्न पहलुओं को अधिक पारदर्शी बनाने के उद्देश्य से निर्वाचन एवं अन्य संबंधित अधिनियम संशोधन विधेयक 2003 को पारित कर दिया। विधेयक के अनुसार किसी व्यक्ति अथवा कंपनी द्वारा किसी राजनीतिक दल को दिए गए 20,000 रुपये या अधिक राशि के चंदे की रिपोर्ट चुनाव आयोग को करनी होगी। राजनीतिक दलों को अभी तक 10,000 रु. तक के चंदे की रिपोर्ट करने की आवश्यकता नहीं होती थी। लेकिन अब 20,000 रु. से अधिक के दाताओं की सूची प्रस्तुत न करने वाले राजनीतिक दलों को इन राशियों पर आयकर में छूट प्राप्त नहीं हो सकेगी।

विधेयक में यह भी प्रावधानित किया गया है कि राजनीतिक दलों को दिए गए चंदे पर आयकर अधिनियम के अनुच्छेद 80 जी. जी. बी. के तहत छूट चंदा देने वाली कंपनी प्राप्त कर सकेगी। साथ ही विधेयक में सरकार द्वारा चुनावों के आंशिक वित्तीयन का प्रावधान भी किया गया है। इसके तहत चुनावों में मतदाताओं तथा मान्य राजनीतिक दलों के प्रत्याशियों को कुछ सामग्री चुनाव आयोग द्वारा उपलब्ध कराई जाएगी।

22 सितम्बर, 2003 को प्रभावी निर्वाचन कानून (संशोधन) अधिनियम 2003 और निर्वाचन आचार संहिता (संशोधन) कानून द्वारा अर्द्धसैनिक बलों के कर्मचारियों और

उनके संबंधियों को प्राक्सी मतदान की सुविधा प्रदान की गई है। इन सेवाओं में कार्यरत कर्मचारी जो अपने मताधिकार का प्रयोग करना चाहते हैं, वे एक प्रतिपत्र तैयार करके अपने निर्वाचन क्षेत्र के मतदान अधिकारी को भेज सकते हैं।

मंडल और आयोग में अंतर

मंडल और आयोग में कुछ मूलभूत अंतर हैं, जो इस प्रकार हैं–

1. आयोग (कमीशन) एकल अथवा बहुल दोनों प्रकार का हो सकता है, परंतु मंडल सदैव बहुल होगा।
2. आयोग मंडल की अपेक्षा उच्च होता है।
3. आयोग की बहाली सरकार द्वारा होती है, परंतु मंडल गैर–सरकारी क्षेत्र में भी पाए जाते हैं।
4. आयोग के सदस्य वैतनिक होते हैं, मंडल के सदस्य वैतनिक और अवैतनिक दोनों हो सकते हैं।
5. आयोग या तो किसी विभाग के अध्यक्ष के रूप में कार्य करते हैं अथवा स्वतंत्र रूप से। अतः स्वायत्तता की दृष्टि से आयोग अपने कार्य में मंडल की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र होते हैं।
6. मंडल का कार्य नीति निर्माण करना होता है, आयोग का कार्य समस्या का अध्ययन व शोध के आधार पर निर्णय लेना तथा उसे क्रियान्वित करना होता है।

अपनी प्रगति जांचिए

10. अंतर्राष्ट्रीय प्रशासन में आयोग तथा मंडलों का प्रचलन किस शताब्दी में हुआ?
    (क) 17वीं शताब्दी (ख) 18वीं शताब्दी
    (ग) 19वीं शताब्दी (घ) 20वीं शताब्दी
11. प्रथम वित्त आयोग का गठन सन् 1951 में किसकी अध्यक्षता में किया गया था?
    (क) श्री के.सी. नियोगी (ख) चक्रवर्ती रंगराजन
    (ग) विजय एल. केलकर (घ) एन.के. सिंह
12. संविधान की किस धारा के अंतर्गत वित्त आयोग की सिफारिशें केवल संस्तुति मात्र की होती है?
    (क) धारा 270 (ख) धारा 271
    (ग) धारा 272 (घ) धारा 273

2.6 स्वतंत्र नियामकीय आयोग

संयुक्त राज्य अमेरिका की विशेष संवैधानिक प्रणाली के द्वारा स्वतंत्र नियामकीय आयोग का उदय हुआ है। समाज में शक्तिशाली आर्थिक वर्गों की क्रियाओं को नियंत्रण एवं नियमन द्वारा सार्वजनिक हित की रक्षा करने के लिए अमेरिका में इस

टिप्पणी

आयोग की स्थापना की गई। 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में औद्योगिकीकरण और समाजवादी विचारधारा की प्रगति के फलस्वरूप राज्य के कार्य–क्षेत्र का विस्तार होने लगा। इससे कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि होने लगी। लेकिन अमेरिकी संविधान 'शक्ति पृथक्करण सिद्धांत' पर आधारित है, जिसके चलते वहां की व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के बीच अविश्वास और स्पर्द्धा की भावना रहती है। ऐसी स्थिति में वहां की विधायिका राष्ट्रपति की शक्तियों में हो रही वृद्धि को कैसे सहन कर पाती। अतः कांग्रेस ने इस स्थिति से निपटने के लिए एक नया रास्ता निकाला, स्वतंत्र नियामकीय आयोग का निर्माण। इस आयोग का निर्माण कांग्रेस द्वारा किया गया और उसे कार्यपालिका के नियंत्रण से स्वतंत्र रखा गया।

अर्थ एवं परिभाषा

विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्वतंत्र नियामकीय आयोग, कार्यपालिका के नियमन एवं नियंत्रण से अपेक्षाकृत काफी स्वतंत्र एवं अलग रह कर काम करते हैं। आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में कुछ विशेष लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु ये कार्य किए जाते हैं। स्वतंत्र नियामक आयोग में तीन शब्दों का प्रयोग है– पहला इन्हें 'स्वतंत्र' कहा जाता है क्योंकि ये मुख्य कार्यपालिका के नियंत्रण से स्वतंत्र होते हैं, एवं ये किसी विभाग के नियंत्रण में नहीं रहते। दूसरा ये आर्थिक वर्गों के निजी व्यापारिक कार्यों का जनता को हित में नियमन करते हैं। तीसरा, ये सरकारी विभाग से अलग होते हैं। इसकी स्वतंत्र स्थिति को देखते हुए अमेरिका में इसे कई प्रकार के नामों से पुकारा जाता है, जैसे– स्वायत्तता के द्वीप, शासन की शीर्षविहीन शाखा, शासन की चतुर्थ शाखा कांग्रेस की भुजाएं, अर्द्ध विधायी आयोग ओर अर्द्ध नयायिक आयोग।

स्वतंत्र नियामकीय आयोग के कार्यों की प्रकृति अर्द्ध प्रशासनिक एवं अर्द्ध न्यायिक होती है। कानून निर्माण, प्रशासनिक और न्यायिक प्रकृति के कार्यों को अंशतः इन्हें संपादित करना पड़ता है।

स्वतंत्र नियामकीय आयोग की आवश्यकता

स्वतंत्र नियामकीय आयोग की आवश्यकता निम्न कारणों से हुई–

1. तकनीकी एवं विशेषीकृत प्रवृत्ति वाले कार्यों के लिए विशेषीकृत निकाय की आवश्यकता होती है।
2. स्वतंत्र नियामकीय आयोग दलगत राजनीति से दूर होकर अपने कार्यों को अधिक निपुणता से क्रियान्वयन करते हैं।
3. निर्दलीय प्रवृत्ति की वजह से इसके कार्यों के निष्पादन में निरंतरता बनी रहती है।
4. देश के अंदर कई प्रकार की क्षेत्रीय अथवा कुछ विशिष्ट मांगें होती हैं, जिनका क्रियान्वयन नियामकीय आयोगों द्वारा ही संभव है।
5. स्वतंत्र नियामकीय आयोग द्वारा विधि की निष्पक्ष व्याख्या संभव है। अतः अर्द्ध विधायी कार्य का लाभ निष्पक्ष विधान के द्वारा सरकार को मिलता है।
6. अप्रत्याशित दृष्टि से राष्ट्रों के सामने विशिष्ट समस्याएं उठ खड़ी होती हैं,

जिनके बारे में संविधान भी अस्पष्ट रहता है। ऐसी समस्याओं का हल नियामकीय आयोग को सौंप दिया जाता है।

टिप्पणी

स्वतंत्र नियामकीय आयोग के गुण

स्वतंत्र नियामकीय आयोग के गुण निम्नलिखित हैं–

1. स्वतंत्र नियामकीय आयोग में प्रशासनिक विभागों की अपेक्षा अधिक कुशल एवं तकनीकी विशेषज्ञों की सेवा प्राप्त होती है।
2. आधुनिक युग की बढ़ती हुई जटिलताओं के कारण तकनीकी विशेषज्ञों की आवश्यकता महसूस हुई। सामान्य प्रशासकों द्वारा तकनीकी पेचीदगियों को समझ पाना संभव नहीं है। इसलिए नियामकीय आयोग में तकनीकी समस्याओं का समाधान सरलता से होता है।
3. स्वतंत्र नियामकीय आयोग निष्पक्ष और निर्दलीय होता है।
4. स्वतंत्र नियामकीय आयोग से नौकरशाही की लालफीताशाही से बचा जा सकता है। वे विभागीय रुकावटों एवं मंत्रियों के हस्तक्षेपों से काफी हद तक स्वतंत्र होकर अपने लक्ष्यों के लिए आगे बढ़ते हैं।
5. दबाव–समूहों के प्रभाव का विरोध करना एक व्यक्ति की अपेक्षा बहुसदस्यीय संगठन द्वारा अधिक दृढ़ता से संभव है, क्योंकि सभी सदस्य अपदस्थ कर दिए जाने की धमकी से मुक्त होते हैं।
6. यह आयोग विधायिका हस्तक्षेप से दूर रहते हैं, अतः ये कार्यों को अधिक दक्षता से लक्षित कर आगे बढाने में सक्षम होते हैं।
7. इस आयोग का प्रबंध एक बोर्ड द्वारा होने और सभी को शक्ति प्राप्त होने से कार्य, व्यापार एवं निर्णय में दलगत राजनीति का प्रवेश नहीं हो पाता है।

स्वतंत्र नियामकीय आयोग की विशेषताएं

स्वतंत्र नियामकीय आयोग की प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं–

1. इन्हें अपने कार्यों को निष्पादित करने के लिए पर्याप्त वित्तीय स्वायत्तता प्राप्त होती है। आय एवं व्यय पर इनका स्वयं का नियंत्रण रहता है।
2. विधायिका के एक विशेष अधिनियम द्वारा स्वतंत्र नियामकीय आयोग की स्थापना की जाती है। विधायिका आयोग के संगठन कार्य एवं अधिकार में आवश्यकता के अनुसार संशोधन कर सकती है।
3. स्वतंत्र नियामकीय आयोग के द्वारा मिश्रित प्रकृति के कार्य संपादित किए जाते हैं। ये अर्द्ध–विधायी, अर्द्ध–न्यायिक तथा प्रशासनिक कार्य करते हैं। अर्थात आयोग स्वयं नियम निर्माण, नियम क्रियान्वयन तथा अपील के विरुद्ध निर्णय भी स्वयं देता है।
4. स्वतंत्र नियामकीय आयोग के सदस्य प्रायः विशेषज्ञ होते हैं।
5. नियामकीय आयोग उन क्षेत्रों के लिए बनाये जाते हैं, जो कि राष्ट्र के विकास के लिए महत्वपूर्ण हों।

टिप्पणी

6. प्रायः स्वतंत्र नियामकीय आयोग को कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका से स्वतंत्र समझा जाता है। अतः इन पर न तो मुख्य कार्यपालक का नियंत्रण होता है और न ही इनकी मुख्य कार्यपालक के प्रति जवाबदेही होती है विधायिका के नियंत्रण से भी ये स्वतंत्र समझे जाते हैं। न्यायपालिका से पूर्णरूप से स्वतंत्र नहीं होते, क्योंकि न्यायपालिका इन आयोगों द्वारा प्रयोग किए गए अधिकारों के दुरूपयोग पर नियंत्रण रखती है।
7. कोई एक व्यक्ति स्वतंत्र नियामकीय आयोग का अध्यक्ष नहीं होता है। एक स्वतंत्र बोर्ड द्वारा इसका नियंत्रण किया जाता है, जिसमें सभी सदस्यों की शक्ति और सत्ता समान होती है। ये सभी सदस्य आपस में विचार कर नीति निर्धारण करते हैं।

प्रमुख स्वतंत्र नियामकीय आयोग

संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रमुख स्वतंत्र नियामकीय आयोग निम्नलिखित हैं–

1. **राष्ट्रीय श्रमिक–संबंध मंडल** : इसकी स्थापना सन् 1935 में की गई। कर्मचारियों की सेवा शर्तों को यह नियंत्रित करता है।
2. **संघीय व्यापार आयोग** : इसका गठन 1914 में किया गया। यह खाद्य–पदार्थ, दवाइयों एवं पेय पदार्थों के झूठे विज्ञापन पर रोक लगाता है। व्यापार के तमाम अनुचित प्रयोगों और प्रतियोगिताओं पर रोक लगाता है।
3. **संघीय संचार आयोग** : इसका गठन सन् 1934 में किया गया। इसका मुख्य कार्य रेडियो, तार मुक्त संचार एवं टेलीविजन को नियंत्रित करना है।
4. **प्रतिभूति तथा विनिमय आयोग** : इस आयोग को सन् 1934 में बनाया गया। इसका प्रमुख उद्देश्य शेयर मार्केट में शेयर धारकों के हितों को सुरक्षित करना है।
5. **संघीय–संरक्षित मण्डल** : इसका गठन 1913 में किया गया। यह बोर्ड धन संबंधी कार्यों, ऋण तथा चालू, नीतियों को निर्धारित तथा नियमित करता है।
6. **संघीय शक्ति आयोग** : इस आयोग का गठन सन् 1930 में हुआ। इसका मुख्य कार्य जलविद्युत परियोजनाओं का लाइसेंस प्रदान करना है तथा प्राकृति गैसों, जैसे कि पाइपलाइनों को बिछाने वाली कंपनियों को नियंत्रित करना है।
7. **असैनिक वायुयानिक मंडल** : इसका गठन सन् 1940 में वायु यातायात से जुड़ी समस्याओं के निराकरण के लिए किया गया।
8. **अंतर्राज्यीय वाणिज्य आयोग** : इस आयोग का गठन 1887 में अमेरिका में हुआ। इसका मुख्य उद्देश्य रेल, सड़क एवं बल तााि अन्य साधनों द्वारा यातायात व्यवस्था को विकसित तथा व्यवस्थित करना है।

स्वतंत्र नियामकीय आयोग के अभिकार्य

अमेरिका में वर्षों से ये आयोग कई मिले–जुले कार्यों को संपादित कर रहे हैं। अमेरिका में 1930 की आर्थिक मंदी तथा पूंजीवाद की विषमताओं से लोगों को छुटकारा दिलाने

टिप्पणी

के लिए स्वतंत्र नियामक आयोग बनाए गए, तब से अपनी प्रासंगिकता को इस आयोग ने साबित किया है तथा अमेरिका के औद्योगिक विकास में इन्होंने भूमिका निभाई है।

प्रो. विलोबी के अनुसार, "इन संस्थाओं द्वारा सार्वजनिक हित का कार्य करने वाले नियमों की सेवा–शर्तों तथा दर निर्धारित करते हुए ऐसे नियम तथा विनिमय बनाना है, जिनके पीछे कानूनी शक्ति हो तथा इनको प्राधिकृत करने वाले अधिनियमों के अधीन सार्वजनिक तथा निजी हितों को प्रभावित करने वाले मामलों का निर्णय करना है।"

जेम्स फेसलकर के अनुसार, "कुछ आयोग ऐसे हैं जो सिर्फ एक दृष्टिकोण को प्रधानता देकर कार्य करते हैं, लेकिन अधिकतर आयोग इस प्रकार के हैं जो कार्य करते समय विधायी, न्यायिक एवं प्रशासकीय, तीनों ही प्रकार के दृष्टिकोण अपनाते हैं।"

एम.पी. शर्मा के अनुसार, "स्वतंत्र नियामकीय आयोग एक ही सथ विधि निर्माण, अभियोजक तथा न्यायाधीश के तौर पर काम करता है।"

इस आयोग के कार्यों को निम्न तीन विभागों में विभाजित कर सकते हैं–

1. **अर्द्ध–विधायी** : ये आयोग नीति निर्धारण का कार्य करते हैं, व्यवस्थापिका के पास कार्यों का बोझ इतना अधिक होता है कि ये पेचीदे एवं तकनीकी पहलुओं पर गौर नहीं कर पाते। यहां ये आयोग द्रुत गति से कार्य करते हैं।
2. **अर्द्ध–न्यायिक** : स्वतंत्र नियामकीय आयोग को अर्द्ध–न्यायिक प्रवृत्ति के कार्य भी करने पड़ते हैं। उद्यमों के मध्य अगर कोई मामला उठ खड़ा होता है तो उसे उसकी जांच–पड़ताल कर निर्णय भी देना पड़ता है।
3. **प्रशासकीय** : ये आयोग मुख्यतया औद्योगिक एवं वित्तीय कार्यों के अलावा व्यापार, श्रम, सुरक्षा, संचार इत्यादि के प्रशासनिक दायित्व का निर्वहन करते हैं। व्यवस्थापिका द्वारा निर्धारित नीतियों को कार्यान्वित करना आयोग का उत्तरदायित्व हो जाता है।

स्वतंत्र नियामकीय आयोग की आलोचना के आधार

स्वतंत्र नियामकीय आयोग की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की जाती है–

1. तीनों प्रकार के अधिकार जैसे– विधायी, कार्यपालिका एवं न्यायिक के एक ही स्थान पर केंद्रित होने से इनकी जनता के प्रति जवाबदेही नाममात्र की रह जाती है, जो कि प्रजातांत्रिक उत्तरदायित्व का उल्लंघन है।
2. जिन कार्यों के संपादन का जिम्मा इन्हें सौंपा जाता है, उनसे संबंधित कार्य करने के लिए सरकार के पास पहले से ही अनेक विभाग होते हैं। दोहरेपन की वजह से सरकार के व्यय में अनावश्यक खर्च बढ़ जाता है।
3. नियामकीय आयोग की वजह से शक्ति के पृथक्करण सिद्धांत को धक्का पहुंचा है। इसने 'चतुर्थ शाखा' का रूप ग्रहण कर लिया है।
4. इनकी कार्यशैली से भ्रम उत्पन्न होती है, क्योंकि बाकी विभाग सरकार के नियंत्रण से रहते हैं।
5. स्वतंत्र नियामकीय आयोग के मिश्रित कार्यों की वजह से नागरिकों की स्वतंत्रता के हनन की संभावना रहती है।

टिप्पणी

6. इस आयोग में उत्तरदायित्व का अभाव होता है। इनकी प्रमुख आलोचना अनुत्तरदायी प्रवृत्ति से जुड़ी है। यह देखा गया है कि ये किसी भी शाखा या सत्ता के प्रति जवाबदेह नहीं होते। न्यायालय के प्रति भी इनका उत्तरदायितव आंशिक है।

अपनी प्रगति जांचिए

13. स्वतंत्र नियामकीय आयोग का उदय कहां की विशेष संवैधानिक प्रणाली के द्वारा हुआ?

(क) ब्रिटेन (ख) जापान

(ग) संयुक्त राज्य अमेरिका (घ) कनाडा

14. संघीय व्यापार आयोग का गठन कब किया गया?

(क) सन् 1912 (ख) सन् 1913

(ग) सन् 1914 (घ) सन् 1915

2.7 क्षेत्रीय सेवाएं

केंद्रीय या राज्य सरकार का ऐसा कोई मंत्रालय या विभाग नहीं है, जिसके क्षेत्रीय कार्यालय देश भर में न फैले हों। उदाहरणार्थ, केन्द्रीय डाक एवं तार विभाग के अन्तर्गत लगभग एक लाख पचास हजार से अधिक डाकघर हैं, जो एक पदसोपान के रूप में संगठित हैं। इनमें उपमण्डल, मण्डल, डाक जिला, उपडाकघर एवं ग्रामीण डाकघर होते हैं। भारत में प्रशासन का केन्द्र–बिन्दु नयी दिल्ली है, जहाँ से सम्पूर्ण देश शासित एवं प्रशासित होता है। किन्तु व्यवहार में देश के विभिन्न कोनों में अनेक प्रशासनिक इकाइयां फैली हुई हैं और जनता की दृष्टि से ये प्रशासनिक केन्द्र निश्चित रूप से अधिक महत्वपूर्ण हैं।

क्षेत्रीय प्रशासन : अर्थ तथा परिभाषाएं

'मुख्यालय' का अर्थ ऐसे केन्द्रीय अथवा पर्यवेक्षक कार्यालय से होता है जो सामान्यतः राजधानी में ही होता है। द्वितीय वेतन आयोग के प्रतिवेदन के अनुसार भारत सरकार के मुख्यालय संगठन के अन्तर्गत मंत्रालय एवं विभाग आते हैं। पांचवें वेतन आयोग ने भी अपने प्रतिवेदन में कहा है कि, "भारत सरकार के मंत्रालयों तथा विभागों के सचिवालयों का एक मुख्यालय संगठन बनाया गया है..... मुख्यालय संगठन, जिसे केन्द्रीय सचिवालय भी कहते हैं, में किये जाने वाले कार्यों की मात्रा में काफी वृद्धि हुई है।"

दूसरी ओर 'कार्यालय' का अर्थ ऐसे संगठनों से है जिन्हें कोई प्रशासनिक कार्य करने से पूर्व मुख्यालय की अनुमति लेनी पड़ती है और जो उसके नियन्त्रण एवं निर्देशन में होते हैं। उन्हें क्षेत्रीय कार्यालय के नाम से भी पुकारते हैं। भारतीय प्रशासनिक भाषा में 'मुख्यालय' एवं 'सचिवालय' पर्यायवाची शब्द हैं और इनके अधीन क्षेत्र के अन्तर्गत 'संलग्न' एवं 'अधीनस्थ' कार्यालय आते हैं। विलोबी के शब्दों में, "क्षेत्रीय संस्थान वे कार्यालय हैं जो प्रधान कार्यालय से दूर क्षेत्र में कार्य करते हैं।"

टिप्पणी

सरकार के कार्यों को सम्पन्न करने की जिम्मेदारी उन सैंकड़ों कार्यालयों की है जो कि मुख्यालय या राजधानी से दूर 'क्षेत्र' में स्थित होते हैं। सरकार जनता तक इन्हीं क्षेत्रीय कार्यालयों के माध्यम से ही पहुंचती है। भारत के प्रशासन की दृष्टि से नई दिल्ली 'प्रधान कार्यालय' या मुख्यालय है। 28 राज्यों की राजधानियों सहित समस्त प्रमुख प्रशासनिक स्थान 'क्षेत्रीय कार्यालय' कहलाते हैं। परन्तु जब हम किसी एक राज्य के प्रभाव की बात करते हैं, तो उसकी राजधानी 'क्षेत्र' न होकर मुख्यालय कहलायेगी और उस राज्य के सम्भाग, जिले, तहसीलें आदि 'क्षेत्रीय कार्यालय' कहलाये जायेंगे।

क्षेत्रीय संस्थाओं की महत्ता

कानूनी या किसी प्रशासनिक कार्य का प्रभाव उसके क्रियान्वयन पर निर्भर करता है। अच्छे से अच्छे लक्ष्य अकुशल एवं 'आत्माहीन' क्रियान्वयन के फलस्वरूप निष्क्रिय हो जाते हैं। क्षेत्र अभिकरण क्रियान्वयन के लिए उत्तरदायी होता है, अतः क्षेत्र अभिकरणों के कारण ही सुशासन एवं कुशासन में अन्तर होता है। क्षेत्र का यह महत्व कुछ अन्य तत्वों के कारण भी है; यथा–

(1) विशेषतः संचार एवं परिवहन के क्षेत्र में तकनीकी प्रगति ने क्षेत्रीय संगठन के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

(2) प्रजातन्त्र के कारण भी क्षेत्रीय संगठनों का निर्माण आवश्यक हो गया है। नागरिक अपने गृह–द्वार पर ही सभी सुविधाएं चाहते हैं तथा जनता द्वारा नीतियों के निर्धारण एवं उनके क्रियान्वयन में अधिकाधिक भाग की मांग की जा रही है। नागरिकों की भागीदारी केवल सूक्ष्म स्तर पर ही सम्भव है जो कि क्षेत्र है।

(3) कुछ क्षेत्रीय संगठनों का होना प्रत्येक परिस्थिति में अनिवार्य होता है। उदाहरणार्थ, प्रत्येक देश को विदेशों में राजनयिक मिशनों की स्थापना करनी ही पड़ती है।

(4) शासन के नियामकीय कार्यकलापों में वृद्धि हुई है।

(5) लोक–कल्याणकारी राज्य के आदर्शों की प्राप्ति हेतु शासन के कार्यों में अधिकाधिक वृद्धि हुई है।

(6) राष्ट्रीय राजधानी की अपेक्षा क्षेत्र में कई गुने अधिक कर्मचारी काम करते हैं। उदाहरणार्थ, केन्द्रीय शासन के 172 कर्मचारियों में से केवल एक कर्मचारी ही दिल्ली में काम करता है, शेष सभी क्षेत्र में कार्य करते हैं। अन्य देशों का भी यही हाल है। फेस्लर के अनुसार, "संयुक्त राज्य अमरीका में वाशिंगटन स्थित एक सरकारी कर्मचारी के पीछे 9 कर्मचारी क्षेत्र में कार्य करते हैं।"

कुछ ऐसी गलत धारणा बन गयी है कि क्षेत्र अनिवार्य रूप में विकेन्द्रीकरण एवं स्थानीय प्रशासन का प्रतीक है, जबकि ऐतिहासिक तथ्य यह है कि प्रशासकीय केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण दोनों ही के लिए क्षेत्रीय संगठनों का एक साधन के रूप में प्रयोग किया जा रहा है। उदाहरणार्थ, मुगल एवं ब्रिटिश प्रशासन में क्षेत्रीय संगठनों में केन्द्रीय अधिकारियों का ही बोलबाला होता था।

टिप्पणी

क्षेत्रों के निर्माण का आधार (Basis of the Formation of Fields)

एक महत्वपूर्ण संगठनात्मक प्रश्न यह है कि क्या प्रत्येक विभाग को अपनी निजी सुविधा हेतु पृथक्–पृथक् क्षेत्रों का निर्माण करना चाहिए, अथवा सब विभागों के लिए एक समान क्षेत्र होने चाहिए? दूसरे शब्दों में, क्षेत्रीय अभिकरणों को एकल–उद्देशीय होना चाहिए अथवा बहु–उद्देशीय? क्षेत्रों के निर्माण के इन दोनों तरीकों के अपने–अपने गुण तथा अवगुण हैं। दोनों में से कोई भी पूर्णतः दोषमुक्त पद्धति नहीं है, तो भी यथासम्भव सभी विषयों के लिए समान क्षेत्रों का निर्माण वांछनीय हो गया है।

इसके अनेक लाभ हैं : (1) नागरिक सुविधा प्राप्त होती है; (2) एक ही क्षेत्र की सम्बन्धित समस्याओं पर विभिन्न विभागों के क्षेत्रीय अधिकारियों के मध्य सरल एवं सीधे सम्पर्क के साथ–साथ पत्र–व्यवहार की सुविधा होती है; (3) सहायक सेवाओं का एकीकरण सम्भव हो जाता है, जिसके फलस्वरूप कार्यक्षमता एवं मितव्ययिता की वृद्धि होगी।

इस प्रकार भारत में जिला एक बहु–उद्देशीय क्षेत्र है। यह अधिकांश विभागों के लिए समान क्षेत्र का कार्य करता है; लेकिन कुछ विभागों की आवश्यकताओं की दृष्टि से एकल–उद्देशीय क्षेत्र की आवश्यकता हो सकती है; यथा–रेलवे, डाक एवं तार विभाग। इनके पृथक्–पृथक् क्षेत्र होते हैं। क्षेत्रों के आधार निम्नलिखित होते हैं :

(1) किसी विभाग में उपलब्ध धनराशि एवं कर्मचारियों एवं प्रशासन की मितव्ययिता;

(2) राजनीतिक दबाव अथवा नागरिक सुविधाओं की आवश्यकता और उनके द्वारा प्रशासन में भाग लेना;

(3) प्रत्येक विभाग के द्वारा सम्पादित किये जाने वाले कार्यों का स्वरूप;

(4) ऐतिहासिक तथ्य; तथा

(5) स्थल–रूपरेखा (Topography)।

क्षेत्रीय स्तर के अभिकरणों के मध्य समन्वय (Co-Ordination Between Field Level Agencies)

क्षेत्रीय स्तर के विभिन्न विभागों के कर्मचारियों के कार्यों का समन्वय किया जाना आवश्यक है, क्योंकि ये ऐसे कार्य करते हैं जो परस्पर सम्बन्धित एवं एक–दूसरे पर आश्रित होते हैं और जिनके साथ–साथ काम करने से ही योजनाबद्ध लक्ष्यों की प्राप्ति सम्भव हो सकती है। इस प्रकार आधुनिक लोक–कल्याणकारी राज्य की उपलब्धि हेतु सब विभाग समान रूप से उत्तरदायी हैं। उदाहरणार्थ, कृषि के विकास के लिए उचित क्रम से समय–समय पर अनेक वस्तुओं की उपलब्धि आवश्यक होती है–खाद, बीज, जल और ऋण, गोदाम तथा क्रय–विक्रय की व्यवस्था आदि। इन कार्यों को करने में कई विभाग लगे होते हैं; जैसे– कृषि, सिंचाई, पशुपालन, सहकारिता, बिजली इत्यादि। इनमें से कोई एक विभाग भी अपने योगदान में असफल रहता है तो उद्देश्य की प्राप्ति में बाधा उत्पन्न हो जाती है और फलस्वरूप एक अजीब स्थिति उत्पन्न हो जाती है। स्थिति के इस सम्बन्ध में एक खण्ड विकास अधिकारी (Block Development Officer) के शब्द हैं :

टिप्पणी

"यद्यपि राज्य के सिंचाई विभाग के प्रत्येक खण्ड में एक ओवरसियर रहता है, लेकिन इस अधिकारी और खण्ड प्रशासन के बीच कोई समन्वय नहीं रहता। वह खण्ड में यदा–कदा ही आता है और विस्तार अधिकारियों से शायद ही कभी परामर्श करता है अथवा ग्रामीणों की समस्याओं तथा शिकायतों को सुनता है। फलस्वरूप, ग्रामीणों की नालियों से सम्बन्धित शिकायतों का समय पर और ठीक ढंग से समाधान नहीं हो पाता है। इन सबको दैनिक पत्र–व्यवहार द्वारा ही निबटाया जाता है, जिसमें काफी समय व्यतीत होता है।"

कृषि–विकास कार्यक्रमों की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि विभिन्न विभागीय कर्मचारी इस दिशा में किस प्रकार प्रयत्न करते हैं। इन विकास कार्यक्रमों में समन्वय आसानी से स्थापित किया जा सकता है, यदि सभी विभागों के क्षेत्र एक ही हों और वे अपने कार्यालय एक ही नगर में एक–दूसरे के निकट स्थापित करें। इस प्रकार की व्यवस्था के लिए कुछ संगठनात्मक कार्रवाइयों की आवश्यकता होती है। संक्षेप में, इस सन्दर्भ के तीन आदर्श संगठन पाये जाते हैं : (1) भारत में जिलाधीश/डिप्टी कमिश्नर अपने जिले की विभिन्न प्रशासनिक इकाइयों के कार्यों में समन्वय करता है; (2) फ्रांस में यह कार्य प्रीफेक्ट करता है; और (3) कुछ अन्य देशों में सामान्य क्षेत्र अधिकारी की नियुक्ति होती है, जो अन्य इकाइयों के लिए समान रूप से सहायता एवं मंत्रणा का कार्य करता है और उस क्षेत्र के कर्मचारियों के सम्मेलनों के संयोजक एवं समन्वयकर्ता के रूप में कार्य करता है।

क्षेत्रीय स्तर के विभिन्न तकनीकी कर्मचारियों के मध्य समन्वय स्थापित करने के साधन कुछ भी क्यों न हों, किन्तु यह अति आवश्यक है कि उनके बीच स्वतन्त्र, स्पष्ट तथा निरन्तर सम्पर्क स्थापित करना चाहिए। उनके कार्य एक–दूसरे से बहुत अधिक सम्बन्धित होते हैं, इस बात को मुख्यालय साधारणतया नहीं समझते हैं।

क्षेत्रीय कार्यालयों का सफल प्रशासन

यह सामान्य धारणा है कि मुख्यालय व क्षेत्र के अलग–अलग दृष्टिकोण होते हैं और दोनों एक–दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। क्षेत्रीय कर्मचारियों को बहुधा यह शिकायत रहती है कि मुख्यालय उनकी शिकायतों को नहीं सुनता है तथा उनका दृष्टिकोण व्यावहारिक न होकर बौद्धिक रहता है। इसके अतिरिक्त एक सामान्य भावना यह भी पायी जाती है कि मुख्यालय में काम करने का अर्थ आरामदायक जीवन, अधिक सुविधाएँ, विशेष वेतन, ऊँची प्रतिष्ठा और लाभप्रद सम्पर्क है। क्षेत्रीय कार्यालयों द्वारा कुशल प्रशासन में इस प्रकार की भावना निश्चय ही एक अवरोध है।

क्षेत्रीय कार्यालयों के सफल प्रशासन के लिए आवश्यक गुण निम्नलिखित हैं :

(1) क्षेत्रीय कार्यालयों के कर्मचारी प्रशिक्षित एवं सक्षम होने चाहिए। उनमें अपने कार्यक्षेत्र में आने वाले मामलों पर ठीक–ठीक निर्णय लेने की क्षमता होनी चाहिए।

(2) क्षेत्रीय कर्मचारियों के उत्तरदायित्व का ठीक निर्धारण होना चाहिए और उनकी सीमाओं को स्पष्ट कर देना चाहिए।

टिप्पणी

(3) एक ही क्षेत्र में स्थित विभिन्न विभागों के अधिकारियों में सम्बन्धित प्रश्नों पर स्वतंत्रतापूर्वक तथा स्पष्ट रूप में विचारों का आदान–प्रदान निरंतर होते रहना चाहिए।

(4) क्षेत्रीय अधिकारियों को वे शक्तियां दी जानी चाहिए जिनसे मुख्यालय अनावश्यक कार्यभार से मुक्त हो सके।

(5) असुविधाजनक क्षेत्रों में कार्य करने के लिए सक्षम कर्मचारियों को आकर्षित करने के लिए कुछ विशेष सुविधाओं की व्यवस्था होनी चाहिए। इसमें वित्तीय प्रोत्साहन भी होना चाहिए।

(6) क्षेत्र से मुख्यालय, मुख्यालय से क्षेत्र तथा एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में निरन्तर क्रम से कर्मचारियों का स्थानान्तरण होना चाहिए। इससे कर्मचारियों में क्षेत्रीय आवश्यकताओं और राष्ट्रीय नीतियों के विषय में एक संयत दृष्टिकोण का विकास होता है। इस संदर्भ में विद्यमान 'पदावधि' (tenure) प्रणाली को और अधिक शक्तिशाली बनाने की आवश्यकता है।

(7) औपचारिक निरीक्षण एवं समय–समय पर विवरण और प्रतिवेदन भेजने के अतिरिक्त मुख्यालय एवं क्षेत्र के अधिकारियों में अनौपचारिक मुलाकातों की भी व्यवस्था होनी चाहिए। इससे मुख्यालय और क्षेत्र के अधिकारियों में घनिष्ठता बढ़ेगी।

(8) मुख्यालय एवं क्षेत्रीय अधिकारियों के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम तथा सम्मेलनों का प्रावधान भी होना चाहिए। इससे उनमें एक–दूसरे की समस्याओं की जानकारी होगी और हितों की समानता में वृद्धि होगी।

(9) क्षेत्रीय एवं मुख्यालय के अधिकारियों को स्थानीय आवश्यकताओं तथा जनमत का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए और शासन की नीतियों एवं कार्य–विधियों के अंतर्गत उनकी यथासम्भव पूर्ति करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(10) क्षेत्र में किसी व्यक्ति की नियुक्ति किये जाने के पूर्व मुख्य कार्यालय द्वारा उसे अपने दायित्व सम्बन्धी समस्याओं एवं कठिनाइयों की पूरी जानकारी दी जानी चाहिए। इससे उसे अपने नये दायित्व को शीघ्र और पूरी तरह समझने में सहायता मिलेगी। इसी प्रकार जब वह क्षेत्र में अपना कार्य कर चुके तो उससे जानकारी प्राप्त करने के लिए मुख्य कार्यालय के अधिकारी द्वारा उससे साक्षात्कार किया जाना चाहिए। इससे मुख्य कार्यालय अधिकारी को क्षेत्र में कार्य करने के दौरान आयी हुई कठिनाइयों एवं समस्याओं का ज्ञान हो सकेगा फलस्वरूप मुख्य अधिकारी को आवश्यक सूचना प्राप्त होगी।

(11) भारत में क्षेत्र अभिकरणों का आदर्श उपागम ग्रेट ब्रिटेन के 'कार्यपालिका अभिकरण' होने चाहिए जिनकी स्थापना मार्गरेट थेचर ने बीसवीं शताब्दी के अस्सी के दशक में की थी। यह वांछनीय होगा कि मुख्यालय संगठन अपने क्षेत्र संगठनों के साथ समझ–बूझ स्मृतिपत्र (मैमोरेण्डम ऑफ अण्डरस्टेण्डिंग) पर हस्ताक्षर करे। इससे जवाबदेही में वृद्धि होगी।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

15. भारत में प्रशासन का केंद्र बिंदु कहां पर स्थित है जहां से संपूर्ण देश शासित एवं प्रशासित होता है?

    (क) लखनऊ (ख) दिल्ली

    (ग) देहारादून (घ) मुंबई

16. "क्षेत्रीय संस्थान वे कार्यालय हैं जो प्रधान कार्यालय से दूर क्षेत्र में कार्य करते हैं।" यह कथन किस विद्वान का है?

    (क) प्रो. विलोबी (ख) प्रो. जेम्स फेसलकर

    (ग) हरर्बट साइयन (घ) लूथर गुलिक

2.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (ग)
3. (ग)
4. (क)
5. (ग)
6. (ख)
7. (ख)
8. (घ)
9. (क)
10. (ग)
11. (क)
12. (ग)
13. (ग)
14. (घ)
15. (ख)
16. (क)

2.9 सारांश

संगठन एक सामाजिक अस्तित्व होता है जिसका एक संयुक्त लक्ष्य होता है एवं वह बाह्य परिवेश से जुड़ा होता है। भारतीय शासन भी एक संगठन है। वह विभिन्न मंत्रालयों व विभागों के द्वारा अपने कार्य करता है तथा इसका लक्ष्य देश में शांति व

टिप्पणी

सुरक्षा बनाए रखना है तथा नागरिकों की मूलभूत आवश्यकताओं को पूर्ण करते हुए देश को बाह्य ख़तरे से बचाए रखना एवं निम्नतर व अधोगामी एवं धर्मनिरपेक्षता के उत्थान को सुनिश्चित करते हुए अर्थव्यवस्था को सुनिश्चित करना है।

प्रत्येक संगठन में प्रायः लोग औपचारिक सीमाओं से निकलकर अनौपचारिक सामाजिक संगठन का निर्माण करते हैं। इसका कारण यह है कि अधिकांश लोग समूहों के सदस्यों के रूप में रहते और कार्य करते हैं। प्रत्येक छोटे समूह का अपना अनौपचारिक आचरण होता है।

उपागम एक प्रकार का ढांचा है, जिसके माध्यम से प्रश्नों या समस्याओं को समझने के लिए आधारभूत सामग्री का विश्लेषण किया जाता है। अर्थात् उपागम या दृष्टिकोण का अर्थ मानकों का एक समूह है, जिसके आधार पर सैद्धांतिक विचार–विमर्श के लिए प्रश्न या घटना के अध्ययन की अनेक विधियां हो सकती हैं। शास्त्रीय या यांत्रिक उपागम लोक प्रशासन में संगठन के प्रति एक दृष्टिकोण को कहा जाता है। प्रशासन वह साधन है जिसके द्वारा कुछ लक्ष्यों की प्राप्ति की जाती है और जिसके लिए संगठन अत्यधिक आवश्यक तत्व माना जाता है। लोक प्रशासन में इसी संगठन की अवधारणा को समझने के लिए यांत्रिक उपागम का प्रादुर्भाव हुआ है।

वैज्ञानिक प्रबंधन में सर्वप्रथम पुराने प्रबंधन की सभी प्रविधियों, उपकरणों आदि का अन्वेषण किया जाता है। यदि आवश्यक हुआ, तो श्रमिकों से भी परामर्श एवं सहयोग लेकर उनमें सुधार किया जाता है। फिर उनकी समय गति का अध्ययन किया जाता है और देखा जाता है कि किन बिंदुओं पर श्रमिक का कार्य सरल बनाया तथा उसकी गति को तेज किया जा सकता है। लक्ष्य प्राप्ति के लिए आधुनिक संगठनों में उनके कार्यों को श्रम–विभाजन के सिद्धांत के अनुसार विभाजित एवं वितरित कर दिया जाता है। इससे उच्च मात्रा में विशेषीकरण संभव हो जाता है।

व्यवस्थावादी उपागम को जानने के पूर्व 'व्यवस्था' को जानना अति आवश्यक है। व्यवस्था का तात्पर्य वस्तुओं की व्यवस्था के उस ढांचे से है, जिससे वे परस्पर इस प्रकार जुड़ें या संबद्ध हों कि एक पूर्ण या एकीकृत व्यवस्था का निर्माण हो। एक व्यवस्था का निर्माण परस्पर संबद्ध एवं अन्योन्याश्रित तत्वों से होता है, जो क्रिया, अंतःक्रिया एवं विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा पूरी व्यवस्था को पूर्ण बनाते हैं।

सूत्र एवं स्टाफ अभिकरण संगठन के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। ये दोनों ही शब्द सैनिक शब्दावली से लिए गए हैं। इनका प्रयोग नागरिक प्रशासन में किया जाता है। सामान्य परिस्थितियों में संगठन अनौपचारिक और अस्पष्ट होता है; किंतु कार्य में वृद्धि होने पर उसमें काम करने वालों की संख्या बढ़ती है और संगठन अधिक स्पष्ट और औपचारिक रूप धारण कर लेता है।

संगठन में हितों एवं सामाजिक संबंधों के अनुरूप गुटों का निर्माण हो जाता है। इन गुटों से भी निर्णय लेने की प्रक्रिया में बड़ी सहायता प्राप्त होती है तथा संचार व्यवस्था पर भी इसका प्रभाव पड़ता है।

मुख्य कार्यपालिका का अभिप्राय उस व्यक्ति या व्यक्ति समूह से है जो किसी देश की प्रशासकीय व्यवस्था का अध्यक्ष होता है। राजकीय इच्छा की अभिव्यक्ति

टिप्पणी

कार्यपालिका द्वारा होती है। आधुनिक युग जनतंत्रात्मक शासन व्यवस्था का युग है। इसमें मुख्य कार्यपालिका के राजनीतिक क्रियाकलाप अत्यंत महत्वपूर्ण होते हैं। उसे सर्वप्रथम व्यवस्थापिका तथा अपने राजनीतिक दल का पूर्ण सहयोग प्राप्त करना होता है। प्रशासनिक लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए निर्धारित नीतियों के भीतर उनका क्रियान्वयन करना मुख्य कार्यकारी का एक महत्वपूर्ण कार्य हैं। साधनों और धन का भी उसे उचित नियोजन करना होता है। उसे समय–समय पर सुधार, संशोधन तथा पुनर्गठन हेतु भी नियोजन कार्य करना होता है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 264–300 तक केंद्र और राज्यों के वित्तीय आय के प्रावधान हैं, जिसके अनुरूप केंद्र सरकार ने एक वित्तीय आयोग की स्थापना की है। यह आयोग कि पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत कार्य करता है, और समय–समय पर केंद्र और राज्य के मध्य वित्तीय संबंधों को स्थापित करने के लिये अपने सुझाव प्रस्तुत करता है।

2.10 मुख्य शब्दावली

- **संगठन** : निश्चित मानव समूह द्वारा लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए गठित उपक्रम।
- **उपागम** : वह ढांचा जिसके माध्यम से प्रश्नों या समस्याओं को समझने के लिए आधारभूत सामग्री का विश्लेषण किया जाता है।
- **प्रशासन** : प्रशासन वह साधन है जिसके द्वारा कुछ लक्ष्यों की प्राप्ति की जाती है और जिसके लिए इसे अत्यधिक आवश्यक तत्व माना जाता है।
- **सूत्र अभिकरण** : वह अभिकरण जो विभाग के प्राथमिक कार्य संपन्न करता है।
- **स्टाफ अभिकरण** : उच्च श्रेणी के पदाधिकारी को परामर्श देने वाला एक अभिकरण जिसका कोई क्रियात्मक उत्तरदायित्व नहीं होता।
- **विभाग** : किसी बड़े संगठन का वह भाग जिसमें किसी उद्देश्य विशेष से संबंधित कार्य होता है।

2.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. संगठन से आप क्या समझते हैं?
2. औपचारिक संगठन की तीन विशेषताएं बताइए।
3. अनौपचारिक संगठन के मुख्य कार्यों को बताइए।
4. शास्त्रीय उपागम से आप क्या समझते है?
5. मुख्य कार्यपालिका की आवश्यकताओं को समझाइए।
6. स्थानीय कार्यपालिका के प्रकार बताइए।

टिप्पणी

7. सूत्र अभिकरण से आप क्या समझते है?
8. विभाग के गुण–दोषों को बताइए।
9. वित्त आयोग की आवश्यकता स्पष्ट कीजिए।
10. मंडल और आयोग में क्या अंतर है?
11. स्वतंत्र नियायकीय आयोग क्या है?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. औपचारिका तथा अनौपचारिक संगठन में अंतर स्पष्ट करते हुए इसके गुण व दोषों की विवेचना कीजिए।
2. संगठन के विभिन्न उपागमों का विश्लेषण कीजिए।
3. सत्ता के विविध उपागमों का अवलोकन कीजिए।
4. संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक कार्यपालिका का तुलनात्मक विश्लेषण कीजिए।
5. मुख्य कार्यपालिका के कार्य और शक्तियों का उल्लेख कीजिए।
6. सूत्र अभिकरण व स्टाफ अभिकरण की तुलनात्मक विवेचना कीजिए।
7. स्टाफ अभिकरण के विविध स्वरूपों का परिचय दीजिए।
8. भारतीय प्रशासन के उच्च स्तरीय स्टाफ अभिकरण पर प्रकाश डालिए।
9. स्वतंत्र नियामकीय आयोग से क्या तात्पर्य है? किन कारणों से इसकी आवश्यकता पड़ती है।

2.12 सहायक पाठ्य सामग्री

Pfiffner, J.M. *Public Administration*, New York: The Ronald Company, 1946.

Waldo, D. *The Study of Public Administration*, New York: Random House, 1967.

Riggs, F.W. *The Ecology of Public Administration*, New York: Asia Publishing House, 1961.

Maheshwari, S.R. *Theories and Concepts in Public Administration*, New Delhi: Allied Publishers Ltd., 1991.

इकाई 3 प्रबंधन

संरचना

3.0 परिचय

3.1 उद्देश्य

3.2 प्रबंधन एवं वैज्ञानिक प्रबंधन : अर्थ, परिभाषा एवं कार्य

- 3.2.1 प्रबंध का अर्थ एवं परिभाषाएं
- 3.2.2 प्रबंधन के कार्य
- 3.2.3 वैज्ञानिक प्रबंधन
- 3.2.4 वैज्ञानिक प्रबंधन के कार्य

3.3 प्रशासन में नीति : निर्माण

- 3.3.1 लोक नीति निर्धारण का अर्थ
- 3.3.2 नीति क्रियान्वयन के क्षेत्र

3.4 प्रशासनिक नेतृत्व : अधिकार, प्रत्यायोजन, नीति आयोग

- 3.4.1 अधिकार
- 3.4.2 प्रत्यायोजन
- 3.4.3 नीति आयोग

3.5 संप्रेषण

- 3.5.1 संप्रेषण की अवधारणा : अर्थ एवं परिभाषाएं
- 3.5.2 संप्रेषण की प्रक्रिया

3.6 अभिप्रेरणा

- 3.6.1 अभिप्रेरणा का अर्थ, प्रक्रिया एवं प्रकार
- 3.6.2 अभिप्रेरणा के प्रकार

3.7 नियंत्रण की अवधारणा

- 3.7.1 नियंत्रण का अर्थ एवं प्रकृति
- 3.7.2 नियंत्रण की प्रक्रिया
- 3.7.3 नियंत्रण के उपकरण
- 3.7.4 पर्यवेक्षण

3.8 प्रबंधन में मानवीय संबंध : एल्टन मेयो

3.9 सिविल सेवा की भूमिका एवं महत्व

3.10 कार्मिक प्रशासन

3.11 लोक सेवकों की भर्ती : प्रशिक्षण, पदोन्नति

- 3.11.1 प्रशिक्षण
- 3.11.2 पदोन्नति

3.12 कर्मचारी या कर्मचारी संघ और यूनियन

- 3.12.1 श्रमिक संघ : एक परिचय
- 3.12.2 श्रमिक संघ की आवश्यकता
- 3.12.3 भारत में श्रमिक संघीकरण
- 3.12.4 व्यावसायिक संघ की उपयोगिता एवं त्रुटियां

3.13 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

3.14 सारांश

3.15 मुख्य शब्दावली

3.16 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

3.17 सहायक पाठ्य सामग्री

टिप्पणी

3.0 परिचय

टिप्पणी

प्रबंधन का अर्थ है उपलब्ध संसाधनों का दक्षतापूर्वक तथा प्रभावपूर्ण तरीके से प्रयोग करते हुए लोगों के कार्यों में समन्वय स्थापित करना ताकि लक्ष्यों की प्राप्ति सुनिश्चित की जा सके। यह एक सामूहिक प्रक्रिया है क्योंकि इसमें सभी व्यक्ति सामूहिक रूप से मिलकर निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करते हैं। प्रबंधन व्यक्तियों का एक समूह है जो संगठन चलाने के लिए जिम्मेदारियों को स्वीकार करता है। वे संगठन की सभी आवश्यक गतिविधियों को नियंत्रित करते हैं। संगठन भले ही छोटा हो या बड़ा प्रबंधन सभी के लिए आवश्यक है। प्रबंधन इसलिए आवश्यक है ताकि व्यक्ति सामूहिक उद्देश्यों की पूर्ति में अपना श्रेष्ठतम योगदान दे सके।

प्रबंधन के अंतर्गत आयोजन, संगठन–निर्माण, संप्रेषण, अभिप्रेरणा, नेतृत्व तथा नियंत्रण करना आदि आते हैं। प्रबंधन में पारस्परिक रूप से संबंधित वे कार्य सम्मिलित हैं, जिन्हें सभी प्रबंधक करते हैं। प्रबंधक अलग–अलग कार्यों पर भिन्न–भिन्न समय लगाते हैं।

नियंत्रण को प्रबंधन के कार्य के उस रूप में परिभाषित किया गया है जिसमें वह संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए संगठन–कार्य के निष्पादन को निर्देशित करता है। नियंत्रण में कार्य निष्पादन के स्तर निर्धारित किए जाते हैं। संगठन में आवश्यक कार्यों को प्रबंधन के योग्य विभागों एवं कार्य–इकाइयों में विभाजित किया जाता है।

इस इकाई में प्रबंधन और उसके कार्य, वैज्ञानिक प्रबंधन, प्रशासन में नीति निर्माण, प्रशासनिक नेतृत्व, अधिकार, प्रत्यायोजन, संप्रेषण, सिविल सेवा की भूमिका एवं महत्व इत्यादि को समझाया गया है।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- प्रबंधन और उसके कार्यों को जान पाएंगे;
- वैज्ञानिक प्रबंधन से परिचित हो पाएंगे;
- प्रशासन में नीति निर्माण प्रक्रिया का विश्लेषण कर पाएंगे;
- प्रशासनिक योजना आयोग की समीक्षा कर पाएंगे;
- संप्रेषण, अभिप्रेरणा, नियंत्रण तथा पर्यवेक्षण का विवेचन कर पाएंगे;
- प्रबंधन में मानवीय संबंध का उल्लेख कर पाएंगे;
- सिविल सेवा की भूमिका एवं महत्व को समझ पाएंगे;
- कार्मिक प्रशासन, लोक सेवकों की भर्ती, प्रशिक्षण एवं पदोन्नति की विवेचना कर पाएंगे;
- कर्मचारी संघ और यूनियन की समीक्षा कर पाएंगे।

3.2 प्रबंधन एवं वैज्ञानिक प्रबंधन : अर्थ, परिभाषा एवं कार्य

प्रबंध प्रबंधकीय निर्णयों को लेने तथा उनको क्रियान्वित करने की प्रक्रिया है। प्रबंध मूलतः मनुष्य, मशीन, मुद्रा, सामग्रियों तथा विधियों (5M's—Men, Machine, Money,

टिप्पणी

Materials and Methods) जैसे उत्पादन के विभिन्न घटकों (Factors of production) का वर्णन करता है। एक प्रबंधक की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह किस कार्यक्षमता के साथ उत्पादन के इन सीमित साधनों का प्रयोग करता है। उत्पादन के इन साधनों के अनुकूलतम उपयोग में ही प्रबंध की सफलता का रहस्य निहित है। प्रबंध को मानव शरीर में मस्तिष्क के साथ तुलना करके देखा जा सकता है। बिना मस्तिष्क के मानवीय शरीर मात्र हड्डियों तथा स्नायुतंत्र का ढांचा–सा बनकर रह जाता है तथा कुछ भी प्राप्त करने में समर्थ नहीं रहता। ठीक इसी प्रकार प्रबंध के बिना एक व्यवसाय सामग्री, मुद्रा, मशीन, उपकरण जैसे प्रत्येक साधन का ढेर–सा होकर रह जाता है क्योंकि यह केवल प्रबंध ही है जो उसको कार्य रूप में लाता है।

प्रबंध की विभिन्न अवधारणाएं

अवधारणा एक मनःस्थिति, विचार या धारणा है जो किसी वस्तु, गतिविधि, तकनीक आदि के संबंध में हो सकती है। वेबस्टर शब्दकोश के अनुसार, ''अवधारणा एक निराकार विचार है जिसे विशेष उदाहरणों से सामान्यीकृत किया गया होता है।''

प्रबंध की अवधारणा में समय व परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होता रहा है। इसलिए अब तक प्रबंध की कई अवधारणाएं विकसित हुई हैं।

थियो हैमन (Theo Haimann) ने प्रबंध को निम्नलिखित अर्थों में समझाया है– 1. प्रबंध संज्ञा के रूप में, 2. प्रबंध प्रक्रिया के रूप में, 3. प्रबंध अनुशासन के रूप में

1. **प्रबंध संज्ञा के रूप में** (Management as a Noun) – इस अर्थ में प्रबंध का आशय उन सभी व्यक्तियों से है जो दूसरों से कार्य कराने में संलग्न हैं। संगठन में दूसरों को नियंत्रित करने का अधिकार रखने वाले तथा संगठन के मुख्य अधिकारी इसमें आते हैं, जैसे–संचालक मंडल, प्रमुख संचालक, महाप्रबंधक, प्रथम श्रेणी निरीक्षणकर्ता आदि।
2. **प्रबंध प्रक्रिया के रूप में** (Management as a Process) – इसका आशय प्रबंधकों द्वारा किए जाने वाले कार्यों से है। नियोजन, संगठन, स्टाफिंग, समन्वय, निर्देशन, नियंत्रण आदि प्रबंध प्रक्रिया में आते हैं। प्रबंध एक सतत प्रक्रिया होती है। प्रबंध प्रक्रिया में पहले उद्देश्य सुनिश्चित करके उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है।
3. **प्रबंध अनुशासन के रूप में** (Management as a Discipline) – 'प्रबंध' शब्द का उपयोग ज्ञान की शाखा के रूप में भी होता है। इस रूप में प्रबंध का आशय प्रबंध के सिद्धांतों का एक विषय के रूप में अध्ययन किए जाने से होता है।

3.2.1 प्रबंध का अर्थ एवं परिभाषाएं

प्रबंध की विचारधारा एक व्यापक और जटिल विषय है। विभिन्न प्रबंध विशेषज्ञों ने प्रबंध को अपने–अपने दृष्टिकोण से परिभाषित किया है। ऐसी स्थिति में प्रबंध की एक सर्वमान्य परिभाषा देना असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए प्रबंध शास्त्रियों ने प्रबंध की अग्रलिखित परिभाषाएं दी हैं–

(अ) उत्पादकता या दक्षता अभिमुखी परिभाषाएं (Productivity or Efficiency-oriented Definitions) – इस वर्ग की परिभाषाएं उत्पादकता में वृद्धि से संबंधित हैं।

एफ.डब्ल्यू. टेलर के अनुसार, ''प्रबंध यह जानने की कला है कि आप क्या करना चाहते हैं, तत्पश्चात यह देखना कि वह सर्वोत्तम एवं मितव्ययितापूर्ण विधि से किया जाता है।''

टिप्पणी

इस परिभाषा के अनुसार प्रबंध एक कला व कार्यों का पूर्व निर्धारण है। इसका उद्देश्य कार्य–निष्पादन की सर्वोत्तम एवं मितव्ययतापूर्ण विधि की खोज करना है। प्रबंध का प्रमुख कार्य उत्पादन के साधनों का कुशलतम उपयोग करते हुए न्यूनतम लागत पर अधिकाधिक कार्य संपंन करना है।

विलियम एफ. ग्लूक (William F. Gluck) के अनुसार, ''उपक्रम के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मानवीय एवं भौतिक साधनों का प्रभावी उपयोग ही प्रबंध है।''

प्रो. जॉन. एफ. मी के अनुसार, ''प्रबंध न्यूनतम प्रयत्न द्वारा अधिकतम परिणाम प्राप्त करने की कला है जिससे नियोक्ता एवं कर्मचारी दोनों के लिए अधिकतम समृद्धि एवं खुशहाली प्राप्त की जा सके तथा जनता को सर्वश्रेष्ठ संभव सेवा उपलब्ध कराई जा सके।''

इन परिभाषाओं में मानवीय एवं भौतिक संसाधनों के अधिकतम उपयोग एवं उत्पादन वृद्धि पर अधिक बल दिया गया है और मानवीय पक्ष की उपेक्षा की गई है। अतः आधुनिक प्रबंध विशेषज्ञ इन परिभाषाओं को पूर्ण नहीं मानते।

(ब) प्रक्रिया अभिमुखी अथवा क्रियात्मक परिभाषाएं (Pro-oriented or Functional Definitions) – कुछ प्रबंध विशेषज्ञों ने प्रबंध को एक प्रक्रिया माना है।

हेनरी फेयोल के अनुसार, ''प्रबंध से आशय पूर्वानुमान लगाना एवं योजना बनाना, संगठित करना, आदेश देना, समन्वय करना तथा नियंत्रण करना है।''

इस परिभाषा के अनुसार संस्थागत लक्ष्यों के संपादित होने वाले कार्यों का औचित्यपूर्ण ढंग से संपादन करना ही प्रबंध कहलाता है। इन कार्यों में पूर्वानुमान, नियोजन, संगठन, निर्देशन, समन्वय तथा नियंत्रण आते हैं।

ई.एफ.एल. ब्रेच के अनुसार, ''प्रबंध एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें एक उपक्रम की गतिविधियों का प्रभावी नियोजन एवं नियमन का उत्तरदायित्व समाहित है, ऐसा उत्तरदायित्व निम्न को सम्मिलित करता है–

(i) योजनाओं के निर्धारण में निर्णय तथा योजनाओं के विपरीत कार्य तथा प्रगति को नियंत्रित करने के लिए आंकड़ों का प्रयोग करना।

(ii) उपक्रम की स्थापना करने वाले तथा उसके कार्यों को संपादित करने वाले व्यक्तियों का दिशा–निर्देशन, एकीकरण, उत्प्रेरण एवं पर्यवेक्षण करना।

ब्रेंच के अनुसार प्रबंध को मानव की सहायता से कुछ क्रियाएं संपादित करनी पड़ती हैं। प्रबंधक पर निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु इन क्रियाओं के नियोजन व नियमन का सामाजिक दायित्व होता है। इस हेतु प्रबंध द्वारा कर्मचारियों का मार्गदर्शन, एकीकरण, प्रेरण एवं पर्यवेक्षण भी किया जाता है।

जॉर्ज आर. टैरी के अनुसार, ''प्रबंध एक पृथक प्रक्रिया है जिसमें नियोजन, संगठन, क्रियान्वयन एवं नियंत्रण को शामिल किया जाता है तथा इसका निष्पादन व्यक्तियों एवं साधनों के उपयोग द्वारा उद्देश्यों के निर्धारण प्राप्त करने के लिए किया जाता है।''

डी.ई. मैक्फारलैण्ड (Mcfarland) के अनुसार, ''प्रबंध एक ऐसी प्रक्रिया होती है जिसके द्वारा प्रबंधक समन्वित एवं सहकारी मानवीय प्रयासों की सहायता से उद्देश्यपूर्ण संगठनों का सृजन, निर्देशन, अनुरक्षण एवं संचालन करते हैं।''

टिप्पणी

3.2.2 प्रबंधन के कार्य

प्रबंधन के कार्यों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता–

1. पूर्वानुमान और योजना बनाना (Forecasting and Planning) – प्रबंधकीय प्रक्रिया भविष्य के बारे में अनुमान लगाकर व्यावसायिक अवसरों से लाभ उठाने के लिए योजना बनाने से आरंभ होती है। अतः योजना व्यवसाय का आधार है। इसमें एक साथ चार बातें स्पष्ट दिखलाई देती हैं–(क) अपेक्षित परिणाम : जिन्हें प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किए जाएंगे, (ख) कार्यवाही की रूपरेखा : जिसके द्वारा परिणाम अधिक कुशलता के साथ प्राप्त किए जा सकें, (ग) कार्यवाही की क्रमिक अवस्थाएं : अर्थात क्या–क्या काम कब–कब किया जाएगा, (घ) कार्य करने की विधियां अर्थात क्या–क्या कार्यवाही कैसे की जाएगी और उसके नियम, कार्यविधि तथा सिद्धांत क्या होंगे। फेयोल के अनुसार कार्यवाही की योजना तीन बातों पर निर्भर करती है–(i) फर्म के पास उपलब्ध साधन (resources), (ii) चालू कार्य (current operations) की स्थिति तथा उनका महत्व तथा (iii) भावी प्रवृत्तियों (future trends) जिन पर तकनीकी, वाणिज्यिक, वित्तीय तथा अन्य परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है और जो निरंतर बदलती रहती हैं।

2. संगठन बनाना (Organising) –फेयोल के अनुसार, "संगठन बनाने का अर्थ है संस्था के भौतिक तथा मानवीय साधनों का दोहरा ढांचा बनाना। दूसरे शब्दों में, संगठन केवल कार्यों एवं कर्मचारियों के संगठन तक सीमित नहीं है, बल्कि इसमें आवश्यक साधनों; जैसे–कच्चे माल, यंत्र एवं अन्य आवश्यक साजो–सामान, पूंजी और कर्मचारियों की प्राप्ति तथा इन्हें सही स्थान पर सही अनुपात में सुलभ कराना भी शामिल है। व्यावसायिक योजना तभी सफल हो सकती है जब संस्था के मानवीय तथा भौतिक साधन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पर्याप्त और सही हों तथा इनका संगठन सही ढंग से किया जाए।"

3. आदेश देना (Commanding) – आदेश देने का अर्थ है–कर्मचारियों के बीच कार्यवाहियों को कायम रखना। योजना और संगठन बन जाने पर प्रबंधक अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को बतलाता है कि उन्हें क्या करना है और यह देखना है कि वे इस कार्य को अधिकतम योग्यता के साथ पूरा करें।

4. समन्वय करना (Co-ordinating) – समन्वय का कार्य संस्था की सभी कार्यवाहियों में इस प्रकार तालमेल बैठना है कि ये सामूहिक लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहायक हों। इसके लिए भिन्न–भिन्न कार्यों के बीच संतुलन तथा समन्वय आवश्यक है। समन्वय के फलस्वरूप प्रत्येक कार्य दूसरे के कार्यों से मेल खाता है। अतः स्पष्ट है कि निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु सामूहिक प्रयासों में सामंजस्य नितांत आवश्यक है।

5. नियंत्रण करना (Controlling) –नियंत्रण का उद्देश्य यह देखना है कि व्यवसाय में सभी काम, जहां तक हो सके योजनाओं, निर्देशों तथा नियमों के अनुसार किए जाएं। यदि वास्तविक कार्यवाही में कोई दोष, त्रुटि या कमियां दिखाई दें तो उन्हें दूर किया जा सके तथा भविष्य में अनकी पुनरावृत्ति को रोका जा सके।

टिप्पणी

प्रबंधक द्वारा किए जाने वाले कार्य का उसको विशिष्ट प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। आज प्रशिक्षण मात्र एक विकल्प न रहकर एक आवश्यकता हो गई है। सेवा में प्रविष्ट होने से पूर्व प्रशिक्षण लिया जा सकता है या इसको सेवा के दौरान ही प्राप्त कर सकते हैं। प्रशिक्षण में लगा समय तथा पैसा एक प्रकार का विनियोजन माना जाता है। इसके बहुआयामी लाभ मिलते हैं। एक प्रभावी प्रबंधक से आशा की जाती है कि इन सभी पहलुओं को ध्यान में रखें। हेनरी फेयोल के अनुसार प्रबंधकीय गुण होना ही पर्याप्त नहीं है। कोई भी समस्त प्रबंधकीय गुणों के साथ पैदा नहीं होता। अनेक गुणों को सीखा जाता है, विकसित किया जा सकता है तथा परिमार्जित किया जा सकता है। इनको अनुभव के माध्यम से भी पाया जा सकता है। फेयोल के अनुसार प्रबंधकीय कार्य में सफलता के लिए कुंजी हैं प्रशिक्षण तथा अनुभव (training and experience)। हेनरी फेयोल ने प्रशिक्षण के प्रादुर्भाव को आधुनिक प्रबंध का एक महत्वपूर्ण विचार माना है।

• सक्षम प्रबंधकर्मी

स्पष्टतः महत्वपूर्ण प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि किसी संगठन में प्रबंधकों की क्या भूमिका रहती है? उनको इतना अधिक महत्व क्यों दिया गया है? इसका उत्तर उर्विक ने उस प्रकार दिया है, Business are made or broken in the long-run not by markets, or capital, patents or equipment but by men... ' इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है न कि प्रशासकों तथा प्रबंधकों की किसी विशिष्ट औद्योगिक परिवेश में तथा संपूर्ण समाज में किसी भी संस्थान के भविष्य के निर्धारण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका होती है। कभी भी यह नहीं भूलना चाहिए कि जैसे जीत या हार किसी भी युद्ध में एरिया कमांडरों की निष्पत्ति पर व्यापक तौर पर निर्भर करती है, उसी तरह किसी संगठन के अपेक्षित लक्ष्य की अभिप्राप्ति, व्यक्तिगत तथा सामूहिक तौर पर, उसके प्रशासकों) की प्रभावोत्पादकता तथा कार्यक्षमता की अपेक्षा करती है। अतः एक प्राकृतिक उपप्रमेय के रूप में, इन प्रशासकों की कार्य सन्निहितता को निम्नलिखित दो व्यापक शीर्षकों के अंतर्गत स्पष्ट किया जा सकता है।

(i) किसी के विशिष्ट क्षेत्र से संबद्ध पृथक कार्य; तथा

(ii) संस्था की सर्वांगीण समृद्धि से संबद्ध सामान्य कार्य।

यह बात महत्वहीन है कि व्यक्ति, विक्रय या क्रय, उत्पादन अथवा प्रकाशन–प्रचार या संगठन की किस गतिविधि से जुड़े हैं। यह पूर्णतः स्पष्ट है कि प्रशासकों तथा प्रबंधकों को अनेक शक्तियों से निपटना होता है तथा साथ ही एक सामान्य उद्देश्य के निर्वाह में अनेक परिसीमाओं का सामना करना होता है। वास्तव में उन्हें एक अत्यंत ही जटिल किस्म के मार्ग की अभिकल्पना करनी होती है। उन्हें यह सत्यापित करना पड़ता है कि क्या प्रत्येक घटना अपनाई गई योजना, दिए गए आदेशों तथा स्थापित सिद्धांतों के अनुरूप ही घटित होती है साथ ही गतिविधि की एकता सुनिश्चित करने के लिए उन्हें व्यक्तिगत तथा सामूहिक प्रयास की एक व्यवस्थित व्यवस्था भी करनी होती है। अतः किसी भी संगठन के प्रशासकों तथा प्रबंधकों के उत्तरदायित्वों को समझना कठिन नहीं है। एक विवेकपूर्ण दृष्टिकोण से नेतृत्व को उनके प्राथमिक कार्य के अनिवार्य लक्षण के रूप में देखा जा सकता है।

वास्तव में किसी संगठन के कामकाज की व्यवस्था कर रहे व्यक्ति अत्यंत प्रभावी तथा सक्षम तरीके से उसके निर्दिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के प्रति अपने प्राथमिक दायित्वों को 'शेयर' करते हैं। किसी भी संगठन का समाज तथा देश के प्रति अंशदान समाज की बदलती जरूरतों तथा मूल्यों द्वारा समर्पित परिस्थितियों तथा वस्तु–स्थिति की उसकी समझ तथा जानकारी पर निर्भर करता है। वस्तुतः प्रशासकों की ओर से सफलता अनिवार्यतः भौतिक तथा मानवीय संसाधनों से सर्वाधिक प्रभावी उपयोग की क्षमता की मांग करती है।

टिप्पणी

3.2.3 वैज्ञानिक प्रबंधन

टेलर को वैज्ञानिक प्रबंध का जन्मदाता कहा जाता है। अन्य विद्वानों, जैसे–चार्ल्स वैबेज, राबर्ट ओवने, हेनरी वनरमपूर आदि के द्वारा दिए गए योगदान भी महत्वपूर्ण हैं। उत्तरी अमेरिका के कुछ इंजीनियरों ने अपना एक संघ बनाया जिसमें एफ.डब्ल्यू टेलर, हेनरी एल. गेन्ट, हैरिंगटन, इमरसन फ्रैंक गिलब्रेथ आदि थे। इस संघ ने एक नई विचारधारा को जन्म दिया जो कि वैज्ञानिक प्रबंध के रूप में उभरकर सामने आई। वैज्ञानिक प्रबंध विवेकीकरण पर आधारित होता है। इसकी कार्यप्रणाली में रूढ़िवादिता के स्थान पर ठोस तर्कों का उपयोग किया जाता है।

प्रबंध के कार्यों में वैज्ञानिक अनुसंधान की विधियों का उपयोग किया जाता है। वैज्ञानिक प्रबंध के अंतर्गत अनेक व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने के लिए संबंधित प्रश्न की पहचान, उसके बारे में विभिन्न प्रकार की सूचनाएं एकत्रित करना, भिन्न–भिन्न पहलुओं का अध्ययन करना, उनका विश्लेषण करना तथा विवेकपूर्ण मूल्यांकन करना और फिर सही मार्ग तय करना सम्मिलित है।

एफ.डब्ल्यू. टेलर का कहना था कि प्रबंध का मुख्य उद्देश्य स्वामियों को अधिकतम संपन्नता प्रदान करना और प्रत्येक कर्मचारी को अधिकतम कल्याण प्रदान करना होना चाहिए। अधिकतम समानता से उनका आशय न्यूनतम उत्पादन लागत, मालिकों को अधिकतम लाभ, कर्मचारियों को अधिक मजदूरी तथा संपूर्ण उद्योगों को कुशलता का उच्च सामान्य स्तर देना था। टेलर का यह अनुभव था कि इन उद्देश्यों को प्रबंध के क्षेत्र में नई विचारधारा लागू करके ही प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए उन्होंने प्रबंध के पुराने रूढ़िवादी तरीकों को त्यागकर, उनके स्थान पर वैज्ञानिक प्रणाली लागू करने का सुझाव दिया। इस संबंध में उन्होंने आवश्यक सुझाव ही नहीं दिए बल्कि जिन कारखानों में वे काम करते थे, उनमें उन्होंने यह बात सिद्ध करके भी दिखाई कि श्रमिक अपनी कार्यकुशलता से कम काम कर रहे हैं। श्रमिकों की कार्यकुशलता कम होने के उन्होंने दो कारण बताए–

प्रथम, श्रमिक जानबूझकर अकुशलता से काम करते हैं क्योंकि उन्हें अधिक कार्य करने के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता और दूसरा वे यह भी सोचते हैं कि अधिक उत्पादन करने से उनका कोई लाभ नहीं होगा, केवल उत्पादक को लाभ होगा बल्कि उल्टा उन्हें छंटनी हो जाने पर बेरोजगारी का सामना करना पड़ सकता है। श्रमिकों की अकुशलता का दूसरा कारण कार्य करने में प्रयोग की जाने वाली विधियों का अवैज्ञानिक एवं अव्यवस्थित होना तथा कार्यविधि एवं प्रयोग किए जाने वाले यंत्रों का श्रमिकों की आवश्यकताओं के अनुकूल न होना है।

टिप्पणी

3.2.4 वैज्ञानिक प्रबंधन के कार्य

वैज्ञानिक प्रबंध को लागू करने के लिए एफ.डब्ल्यू. टेलर तथा अन्य प्रबंध विशेषज्ञों ने समय–समय पर अनेक कार्यात्मक सिद्धांतों की व्याख्या की है। किसी भी औद्योगिक उपक्रम में वैज्ञानिक प्रबंध की सफलता इन सिद्धांतों को अपनाने पर निर्भर करती है। वैज्ञानिक प्रबंध के मुख्य कार्य अग्रलिखित हैं– 1. कार्य का वैज्ञानिक अध्ययन 2. कार्य का वैज्ञानिक नियोजन 3. श्रमिकों का वैज्ञानिक चुनाव एवं प्रशिक्षण 4. सुधार एवं प्रमापीकरण 5. अभिप्रेरण 6. क्रियात्मक संगठन/विशिष्टीकरण 7. मानसिक क्रांति

1. कार्य का वैज्ञानिक अध्ययन (Scientific Study of Work)—वैज्ञानिक प्रबंध के अंतर्गत कार्य विश्लेषण अथवा कार्य अध्ययन का विशेष महत्व है। इसके अंतर्गत समय अध्ययन, गति अध्ययन, थकान अध्ययन, कार्यविधि अध्ययन तथा कार्य अध्ययन को शामिल किया जाता है, जिसके आधार पर निश्चित प्रमाप स्थापित कर लिए जाते हैं और उन्हीं के अनुसार श्रमिकों से कार्य लिया जाता है। इनका संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार है–

(अ) समय अध्ययन (Time Study) –श्रमिकों के द्वारा उत्पादन क्रिया को करने में लगने वाले समय की जांच करना, उसका लेखा (record) रखना तथा उचित समय निर्धारित करना समय अध्ययन कहलाता है। प्रत्येक कार्य को छोटे–छोटे उपभागों में विभाजित करके प्रत्येक उपक्रिया या उपभाग का अध्ययन एवं उन्हें छोटी–छोटी उपक्रियाओं में विभाजित करके उन क्रियाओं को करने में कर्मचारियों द्वारा लिए जाने वाले समय को नोट किया जाता है। समय नोट करने के लिए टेलर ने स्टॉप वॉच का प्रयोग किया था। इस संबंध में यह महत्वपूर्ण है कि आदर्श समय ज्ञात करने के लिए एवं समय अध्ययन करने के लिए उस श्रमिक को चुना जाना चाहिए जिनकी कार्यक्षमता औसत दर्जे की हो, साथ ही समय नोट करते समय यह भी देखना चाहिए कि कार्य की परिस्थितियां असाधारण नहीं हों। इसके लिए उस व्यक्ति से अनेक कार्य कराकर और प्रत्येक बार में लगने वाले समय को अलग–अलग नोट करके उसका औसत ज्ञात कर लेना चाहिए। इस नोट किए गए समय के आधार पर प्रमाप समय (standard time) का निर्धारण किया जाता है। समय निर्धारित करते समय इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि प्रमाप समय, निकाले गए वास्तविक औसत समय से बहुत अधिक या बहुत कम नहीं हो। जो व्यक्ति समय नोट करता है उसे स्टॉप वॉच तथा अपनी लेखन पुस्तिका लेकर ऐसे स्थान पर बैठना चाहिए जहां से वह श्रमिकों को आसानी से देख सके। लेकिन यह ध्यान रखा जाए कि श्रमिक उसे न देख सकें। इस अध्ययन के आधार पर जो 'समय प्रमाप' निर्धारित किया जाता है, उसकी कर्मचारी द्वारा उपक्रिया को करने में लगाए जाने वाले वास्तविक समय से तुलना करके ही यह बात ज्ञात होती है कि कर्मचारी की कार्यकुशलता कितनी है और उसके बाद ही आवश्यक सुधार एवं प्रोत्साहन हेतु निर्णय लिए जाते हैं।

(ब) गति या मुद्रा अध्ययन (Motion Study) – किसी कार्य को करने में एक कर्मचारी को और मशीनों को विभिन्न प्रकार की चेष्टाएं या मुद्राएं करनी पड़ती हैं, जैसे – उठना, बैठना, रखना, हटना, ले जाना, पकड़ना, घुमाना, छेद करना आदि। इन सबका अध्ययन गति अध्ययन अथवा मुद्रा अध्ययन (Motion Study) कहलाता है। गिलब्रेथ के शब्दों में ''गति अध्ययन व विज्ञान है जिसके द्वारा अनावश्यक, गलत

निर्देशित तथा अकुशल गति से होने वाली क्षति को रोका जा सके। गति अध्ययन का मुख्य उद्देश्य श्रम का न्यूनतम अपव्यय, प्रणाली की योजना को ज्ञात करना तथा लागू करना है। इस अध्ययन के लिए सबसे पहले उन चेष्टाओं एवं मुद्राओं की सूची बनानी पड़ती है जो कि एक श्रमिक या मशीन को कार्य करते समय करनी पड़ती है। वैज्ञानिक प्रबंध की विचारधारा के अनुसार कार्य को संपादित करने में एक श्रमिक या मशीन को जितनी कम चेष्टाएं करनी पड़ेंगी, उसकी कार्यकुशलता उतनी अधिक होगी। इन चेष्टाओं का अध्ययन एक विशेष कैमरे (micronometer) से किया जाता है। इसमें चेष्टाओं के साथ नोट करने तथा उनके चित्र लेने की व्यवस्था होती है। बाद में इनका अध्ययन एवं विश्लेषण किया जाता है और यह ज्ञात करने का प्रयास किया जाता है कि कौन–सी चेष्टाओं या मुद्राओं को समाप्त किया जा सकता है और कौन–सी चेष्टाएं श्रमिक की अपेक्षा मशीन को सौंपी जा सकती हैं और किन चेष्टाओं को एक दूसरे के साथ मिलाया जा सकता है। जितनी अधिक चेश्टाएं होंगी, उतना ही श्रमिक का षरीर अधिक हिलेगा–डुलेगा जिसके परिणामस्वरूप उसे अधिक थकान अनुभव होगी और जिसका प्रभाव यह पड़ेगा कि उत्पादन में समय भी अधिक लगेगा। इस संबंध में गिलब्रेथ ने काफी अध्ययन एवं प्रयोग किए। उनके अनुभव के अनुसार एक राज को एक ईंट दीवार में रखने के लिए लगभग अठारह बार क्रिया या गति करनी पड़ती है। इसका अध्ययन करके उन्होंने इन चेष्टाओं की संख्या को अठारह से घटाकर पांच कर दिया और कुछ दशाओं में केवल दो तक सीमित कर दिया, जिसका प्रभाव यह हुआ कि एक राज जो एक घंटे में एक सौ बीस ईंट चिनता था, अब तीन सौ पचास ईंट चिनने लगा। इसी प्रकार के विभिन्न अध्ययन किए गए हैं जिसके आधार पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गति या मुद्रा अध्ययन करने से क्षमता में वृद्धि तथा व्यक्ति व समय की बचत होती है और जिससे लागत भी कम आती है। गति अध्ययन का मुख्य उद्देश्य वर्तमान परिस्थितियों में काम करने की एक सर्वोत्तम प्रणाली निश्चित करना है।

टिप्पणी

(स) समय अध्ययन और गति अध्ययन में अंतर (Distinction between Time Study and Motion Study) – समय अध्ययन और गति अध्ययन दोनों ही कार्य–विश्लेषण की उपक्रियाएं हैं। इन दोनों में निम्नलिखित प्रमुख अंतर हैं–

(1) समय अध्ययन पहले किया जाता है जबकि गति अध्ययन समय अध्ययन के बाद किया जाता है।

(2) समय अध्ययन में मशीन पर लगने वाले समय और श्रमिकों द्वारा किए जाने वाले कार्य का अध्ययन किया जाता है, जबकि गति अध्ययन में श्रमिकों द्वारा किए जाने वाले कार्य का अध्ययन किया जाता है।

(3) समय अध्ययन में केवल स्टॉप वाच विधियों का ही प्रयोग किया जाता है जबकि गति अध्ययन में केवल फोटोग्राफिक कार्यविधियों का प्रयोग किया जाता है।

(4) समय अध्ययन में श्रमिकों के कार्य को मापा जाता है, जिसका आधार प्रमापित समय होता है जबकि गति अध्ययन का उद्देश्य कार्य की आदर्श विधियों को प्रयोग में लाना होता है।

(द) थकान अध्ययन (Fatigue Study) – यह एक वास्तविकता है कि एक कर्मचारी की कार्यक्षमता पूरे दिन समान नहीं बनी रहती है। इसका मुख्य कारण कर्मचारियों के द्वारा थकान अनुभव करना है। एक कर्मचारी कार्य करते–करते जैसे–जैसे थकता जाता है उसकी कार्य–शक्ति और कार्यकुशलता कम होती जाती है।

टिप्पणी

साधारणतः जब व्यक्ति काम शुरू करता है तो पूरी तरह से स्वस्थ एवं तरोताजा होता है और कार्य करने के साथ–साथ उसका जोश, स्फूर्ति, शारीरिक एवं मानसिक शक्ति कम होती चली जाती है, जिसका उसकी कार्यकुशलता पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। इस संबंध में टेलर ने प्रत्येक क्रिया का सूक्ष्म अध्ययन किया और यह ज्ञात किया कि एक श्रमिक को किस समय थकान अनुभव होती है। साथ ही उन्होंने यह ज्ञात करने का भी प्रयास किया कि इस थकान को कैसे दूर या कम किया जा सकता है जिससे श्रमिक की कार्यक्षमता निरंतर सामान्य बनी रहे। इस संबंध में विभिन्न प्रयोग करके टेलर ने यह निष्कर्ष निकाला कि थकान को कम करने के लिए प्रत्येक कार्य के बीच समय–समय पर उचित विश्राम की व्यवस्था होनी चाहिए तथा उनके कार्य की प्रवृत्तियां बदलती रहनी चाहिए। थकान अध्ययन के माध्यम से यह निष्कर्ष निकाले जाते हैं कि थकान को कम करने के लिए कार्य की दशाओं में तथा कार्यविधियों में क्या–क्या आवश्यक सुधार किए जाने चाहिए। उदाहरण के लिए, गर्मियों के दिनों में यदि कार्य करने के स्थान पर गर्मी कम करने के उपकरण लगा दें, तो श्रमिक को कम थकान होगी और उसकी कार्यकुशलता एक निश्चित सीमा तक बनी रह सकती है।

(य) कार्यविधि अध्ययन (Method Study) – कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए कार्यविधि अध्ययन भी बहुत महत्वपूर्ण है। इस अध्ययन के अंतर्गत उत्पादन की संपूर्ण प्रक्रिया की जांच–पड़ताल एवं विश्लेषण का काम किया जाता है और उत्पादन प्रक्रिया को अलग–अलग उप–क्रियाओं में इस प्रकार से विभाजित किया जाता है कि कच्चे एवं अर्द्धनिर्मित माल के आवागमन में कम–से–कम दूरी एवं समय लगे। आवश्यक औजार एवं साजो–सामान को उठाने में कम समय और कम कर्मचारी लगें, निरीक्षण करने और माल को एकत्रित करने आदि के संबंध में भी आवश्यक एवं सुधारात्मक कदम उठाए जाते हैं। कार्यविधि का पूरा अध्ययन एवं विश्लेषण करने के बाद कुछ क्रियाओं को पूरी तरह समाप्त किया जा सकता है और कुछ क्रियाओं को आपस में मिलाया जा सकता है। इस संबंध में कारखाने में उपलब्ध स्थान, मशीनों की स्थिति तथा औजारों; यंत्रों की आवश्यकता को ध्यान में रखना चाहिए। साधारणतः कार्यविधि इस प्रकार की होती है कि उत्पादन प्रक्रियाएं एक से दूसरे, दूसरे से तीसरे, तीसरे से चौथे और आगे भी इसी प्रकार विभिन्न स्थानों पर कम से कम प्रयासों और समय में होती चली जाती हैं।

2. कार्य का वैज्ञानिक नियोजन (Scientific Task Planning) – प्रबंध के क्षेत्र में नियोजन लागू करने में टेलर प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने प्रबंधकों का ध्यान इस ओर दिलाया। नियोजन के अंतर्गत यह निर्णय लिया जाता है कि क्या करना है? कैसे करना है ? कब करना है ? और किसने करना है? हम कहां हैं और भविष्य में कहां पहुंचना चाहते हैं? यह सशक्त रूप से संकेत करता है कि केवल पूर्व निर्धारित बातों को ही नहीं अपनाना है बल्कि समझदारी के साथ अपने कार्य के अनुकूल परिवर्तन भी करना है। टेलर का कहना था कि प्रत्येक संस्था में एक पृथक योजना विभाग होना चाहिए और इस योजना विभाग को उपर्युक्त चारों प्रश्नों के उत्तर खोजने चाहिए। क्या किया जाए, इस संबध में उच्च प्रबंधकों तथा इंजीनियरिंग विभाग से सलाह अवश्य लेनी चाहिए क्योंकि जब उच्च प्रबंध से यह निर्देश मिल जाए कि क्या, कैसे और कितनी संख्या में उत्पादन किया जाना है और इस माल की सुपुर्दगी कब देना आवश्यक है, तब ही योजना विभाग आवश्यक योजना बनाएगा। एक वैज्ञानिक नियोजन में बहुत सी बातों को ध्यान में रखना पड़ता है। टेलर का कहना था कि नियोजन बहुत सावधानी

से और बहुत स्पष्ट विधि से किया जाना चाहिए। एक सफल नियोजन में निम्नलिखित कार्यों का समावेश किया जाता है –

(अ) पूर्वानुमान लगाना (Forcasting)

(ब) उद्देश्यों का निर्धारण करना (Determination of Objectives)

(स) कार्यविधि का निर्धारण (Determination of Working Methods)

(द) कार्यक्रमों का निर्धारण करना (Determination of Programmes)

(य) बजट बनाना (Budgeting)

(र) नीति निर्धारण करना (Determination of Policies)

टिप्पणी

उपरोक्त कार्यों के साथ–साथ अनेक बातें भी ध्यान में रखनी पड़ती हैं, जैसे–उत्पादन का कार्यक्रम बनाते समय वस्तु की किस्म, मात्रा, डिजाइन, समय आदि। मशीनों, प्रक्रियाओं तथा कार्यवाहियों का क्रम निर्धारित करना पड़ता है। कौन–सी क्रिया कब प्रारंभ होगी और कब समाप्त होगी, इसकी उपयुक्त समय तालिका बनानी पड़ती है। योजना को कार्य रूप देने के लिए आवश्यक औजार, कच्चा माल, साजो–सामान आदि उपलब्ध कराना पड़ता है। कर्मचारियों को आवश्यक निर्देश देने पड़ते हैं, जिसके लिए विभिन्न रेखाचित्र, डिजाइन आदि का सहारा भी लिया जा सकता है। समय अध्ययन तथा गति अध्ययन के आधार पर समय प्रमाप निर्धारित करने पड़ते हैं। योजना में इस बात की व्यवस्था भी करनी पड़ती है कि परिस्थितियों के अनुसार उसमें आवश्यक परिवर्तन कर दिया जाए।

ये सभी कार्यवाहियां उत्पादन प्रबंध का अंग मानी जाती हैं और इन कार्यवाहियों को उत्पादन नियोजन एवं नियंत्रण कहते हैं। सुविधा की दृष्टि से उत्पादन, नियोजन एवं नियंत्रण को चार भागों में बांटा जाता है–

(अ) मार्ग निर्धारण (Routing)

(ब) समय निर्धारण (Scheduling)

(स) प्रेषण (Despatching)

(द) अनुगमन (Follow-up)

ये निर्धारण के अंतर्गत यह निर्धारित किया जाता है कि उत्पादन में क्या–क्या सामग्री, मशीनें, प्रक्रियाएं और कार्यवाहियां निहित हैं। पूर्व–निर्धारित मात्रा में निश्चित किस्म एवं आकार का उत्पादन करने के लिए उत्पादन का सबसे छोटा और मितव्ययी कार्य–मार्ग क्या हो सकता है अर्थात कच्चा माल किन–किन प्रक्रियाओं से होकर उत्पादन का रूप धारण करेगा। समय निर्धारण के अंतर्गत प्रक्रियाओं के प्रारंभ एवं समाप्ति का समय निर्धारित कर लिया जाता है। इससे निश्चित समय पर उत्पादन करने में सहायता मिलती है। प्रेषण के अंतर्गत उत्पादन के लिए आवश्यक कच्चा माल, मशीन, मजदूर, निर्देश, डिजाइन, नक्शे इत्यादि यथास्थान पहुंचाना शामिल हैं। अनुगमन में उत्पादन कार्यवाही की जांच–पड़ताल शामिल है। प्रगति रिपोर्ट बनाकर इनका योजना से मिलान किया जाता है एवं अंतर आने पर सुधारात्मक कार्यवाही की जाती है।

3. श्रमिकों का वैज्ञानिक चुनाव एवं प्रशिक्षण (Scientific Selection and Training of Workers) – श्रमिकों का वैज्ञानिक विधि से चुनाव एवं प्रशिक्षण किसी भी संस्था में वैज्ञानिक प्रबंध लागू करने के लिए अत्यंत आवश्यक है। यह कार्य

टिप्पणी

'कर्मचारी विभाग' (personnel departments) को सौंपा जाना चाहिए। श्रमिकों का चुनाव करने से पहले संबंधित कार्य का विश्लेषण करके अधिकारी को यह निश्चित कर लेना चाहिए कि उस कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्ति में क्या–क्या गुण होने चाहिए और श्रमिकों का चुनाव करते समय उन गुणों का ध्यान रखना चाहिए। श्रमिकों का चुनाव कार्य की आवश्यकता के अनुसार बिना किसी भेदभाव के होना चाहिए। टेलर का कहना था कि कर्मचारी के चुनाव के लिए उसमें बहुत अधिक योग्यता होना आवश्यक नहीं है लेकिन यह आवश्यक है कि सभी उम्मीदवारों में से उसे चुना जाना चाहिए जो उस काम के लिए योग्य एवं उपयुक्त हो। इसका कारण यह है कि टेलर सही व्यक्ति को सही काम (right job to right person) के सिद्धांतों के प्रबल पक्षपाती थे। वैज्ञानिक प्रबंध में ऐसे व्यक्ति के लिए भी कोई स्थान नहीं होता जो काम करने की क्षमता एवं योग्यता तो रखता हो लेकिन काम नहीं करता हो।

कर्मचारियों का सही चुनाव कर देना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि यह देखना भी आवश्यक है कि ये कर्मचारी सौंपे गए कार्य को ठीक प्रकार से कर रहे हैं या नहीं अर्थात जो चुनाव किया गया था, वह उचित था या नहीं। यदि ऐसी जानकारी मिलती है कि कोई कर्मचारी अपने कार्य को ठीक प्रकार से नहीं कर पा रहा है तो उसकी जांच–पड़ताल करके उसके कारणों की खोज करनी चाहिए और उस कर्मचारी को उस स्थान पर स्थानांतरित कर देना चाहिए जहां कि वह ठीक प्रकार से काम कर सके। यदि ऐसा अनुभव किया जाता है कि कर्मचारी को प्रशिक्षण देने से उसकी कमियां दूर की जा सकती हैं तो कर्मचारी के लिए उचित प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए। वैसे तो कर्मचारियों को उनके काम पर लगाने से पूर्व उनके उचित प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती है। विभिन्न औद्योगिक संस्थाओं में कार्य और उनके करने की विधियां भी अलग–अलग होती हैं, इसलिए भी वैज्ञानिक प्रशिक्षण आवश्यक है।

4. सुधार एवं प्रमापीकरण – सुधार एवं प्रमापीकरण वैज्ञानिक प्रबंध का महत्वपूर्ण अंग है। यदि हम श्रमिकों की कार्यकुशलता बढ़ाना चाहते हैं तो हमें मशीनों, औजारों एवं अन्य साजो–सामान, माल की किस्म तथा कार्य की दशाओं में सुधार करना होगा तथा उचित प्रमाप लागू करने होंगे।

5. अभिप्रेरण – कर्मचारियों द्वारा मन लगाकर कार्य करने के लिए अन्य सभी व्यवस्थाओं के अतिरिक्त अभिप्रेरण की आवश्यकता होती है। टेलर अभिप्रेरण के लिए वित्तीय प्रेरणाओं (financial incentives) के पक्षधर थे अतः उन्होंने कर्मचारियों के सही अभिप्रेरण के लिए भिन्नात्मक प्रति इकाई मज़दूरी प्रणाली (differencial piece rate wage system) का सुझाव दिया। इस प्रणाली के अनुसार श्रमिक को प्रमापित कार्य (standard work) से अधिक कार्य करने पर ऊंची दर से मजदूरी दी जाती है और प्रमापित कार्य से कम करने पर नीची दर से मजदूरी दी जाती है। इन दोनों में बहुत अंतर होता है। अतः इस प्रणाली में कार्यानुसार मजदूरी की दो दरें होती हैं, समयानुसार मजदूरी निश्चित नहीं होती है। अभिप्रेरण के लिए गैर वित्तीय प्रेरणाएं भी आवश्यक हैं क्योंकि व्यक्ति केवल रोटी के लिए ही जीवित नहीं रहता। गैर वित्तीय प्रेरणाओं में उन्नति के अवसर, कार्य का स्थायी होना, कुशल नेतृत्व व्यक्ति के रूप में मान्यता, न्याय, पारस्परिक हितों के मामलों में न्याय देने का अधिकार आदि शामिल हैं।

टिप्पणी

6. क्रियात्मक संगठन या विशिष्टीकरण (Functional Organization or Specialisation) – एफ.डब्ल्यू. टेलर प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने संगठनों के सभी स्तरों पर विशिष्टीकरण लागू करने का सुझाव दिया। उन्होंने कार्य के दो मूल अंगों नियोजन एवं निष्पादन को अलग–अलग रखने के लिए संगठन में कार्यात्मक कार्याध्यक्षों (functional foremen) की नियुक्ति की सिफारिश की। संगठन की परंपरागत प्रणाली में प्रायः सभी कार्यों के लिए एक ही व्यक्ति का उत्तरदायी होता था, जिसे सभी कार्य देखने पड़ते थे तथा श्रमिकों के काम के सभी पहलुओं की वह स्वयं ही देखभाल करता था। श्रमिक उसी से निर्देश एवं अधिकार प्राप्त करते थे और उसी के अधीन एवं निरीक्षण में कार्य करते थे। वैज्ञानिक प्रबंध के दृष्टिकोण से यह प्रणाली ठीक नहीं मानी गई और टेलर ने कार्यात्मक विशिष्टीकरण के आधार पर एक नई संगठन प्रणाली अपनाने का सुझाव दिया, जिसमें दो मुख्य विभाग बनाए गए – योजना विभाग तथा उत्पादन विभाग। प्रत्येक विभाग में चार नायक (bosses) होते हैं, जो अपनी विशिष्ट योग्यता एवं निपुणता के आधार पर अलग–अलग निरीक्षण व पर्यवेक्षण करते हैं–

(अ) **योजना विभाग** (Planning Department) – योजना विभाग का कार्य उपक्रम के लिए योजना तैयार करना होता है। नियोजन कार्य निम्न अधिकारियों के द्वारा किया जाता है –

(i) **मार्ग निर्धारित क्लर्क** (Route Clerk) –यह क्लर्क उत्पादन की प्रक्रिया निर्धारित करता है तथा यह भी निश्चित करता है कि कच्चा माल किन–किन विभागों एवं मशीनों से होकर गुजरेगा। लागत एवं समय बचाने के लिए सबसे छोटा मार्ग तय करने का प्रयास किया जाता है। इस संबंध में आवश्यक मार्ग–तालिकाएं बनाकर संबंधित विभागों को भेजी जाती हैं।

(ii) **निर्देशन कार्ड क्लर्क** (Instruction Clerk) –इस क्लर्क के द्वारा कर्मचारियों को यह निर्देश दिए जाते हैं कि कौन–सा कार्य किया जाना है। निर्देश विशिष्ट एवं स्पष्ट होने चाहिए। निर्देशों का संबंध क्रियाकलापों, मशीनों की गति, संबंधित यंत्रों एवं औजारों के उठाने–रखने एवं प्रयोग इत्यादि से होता है।

(iii) **समय तथा लागत क्लर्क** (Time and Cost Clerk) –इस क्लर्क का मुख्य कार्य उत्पादन की विभिन्न अवस्थाओं में लगने वाले समय तथा कुल कार्य को पूरा करने में लगने वाले समय को निर्धारित करना होता है। इस क्लर्क के द्वारा कुल उत्पादन लागत तथा प्रति इकाई उत्पादन लागत भी ज्ञात की जाती है जिसके लिए लागत पत्र (cost sheet) तैयार की जाती है। इससे समय एवं लागत पर नियंत्रण रखने में सुविधा होती है।

(iv) **कारखाना अनुशासक** (Factory Disciplinarian) –इस अधिकारी का उत्तरदायित्व कारखाने में अनुशासन एवं शांति बनाए रखना होता है, जिससे कि कारखाने में उत्पादन पूर्व–निर्धारित योजना के अनुसार होता रहे और श्रमिक अपना पूरा सहयोग देते रहें। यह केवल अनुशासनहीन एवं अनियमित श्रमिकों के लिए ही नियम नहीं बनाता बल्कि माल, किस्म, योजना, कार्य आदि के बारे में यदि कोई शिकायत आती है तो उसकी जांच करके सुधारात्मक कार्यवाही का सुझाव भी देता है।

(ब) **उत्पादन विभाग** (Production Department) – उत्पादन विभाग का कार्य योजना विभाग द्वारा बनाई गई योजना के अनुसार वस्तुओं का उत्पादन करना होता है। इस कार्य के लिए कारखाना उच्च स्तर पर निम्न चार अधिकारी नियुक्त किए जाते हैं–

टिप्पणी

(i) **टोली नायक** (Gang Boss) – टोली नायक श्रमिक उपलब्ध कराता है; उन्हें भिन्न–भिन्न मशीनों पर नियुक्त करता है; मशीनें, यंत्र एवं अन्य साजो–सामान यथास्थान पर उपलब्ध कराता है। कार्य प्रारंभ करने का आदेश भी टोली नायक के द्वारा ही दिया जाता है।

(ii) **गति नायक** (Speed Boss) – गति नायक का कार्य यह देखना है कि कार्य पूर्व निर्धारित गति से चल रहा है अथवा नहीं। यदि कार्य धीमी गति से चलता है तो वह सुधारात्मक कार्यवाही करता है, मशीनों की क्रियात्मक क्षमता को नियंत्रित करता है तथा श्रमिकों को निर्देश देता है कि उन्हें किस गति से मशीनें चलानी हैं, जिससे कि सभी विभागों एवं व्यक्तियों के कार्यों में एक उचित तालमेल एवं सामंजस्य रहे।

(iii) **मरम्मत नायक** (Repair Boss) – इस अधिकारी का कार्य विभिन्न मशीनों एवं साजो–सामान का रख–रखाव एवं देखभाल व मरम्मत करना होता है। यह मशीनों में तेल डालने, टूट–फूट या खराबी को ठीक करने, मशीनों के चारों ओर तार लगाने (fencing) आदि कार्य करता रहता है।

(iv) **निरीक्षक** (Inspector) –इस अधिकारी का कार्य श्रमिकों द्वारा बनाई गई वस्तुओं की किस्म एवं मात्रा का निरीक्षण करना होता है। यह श्रमिक से पूर्व–निर्धारित किस्म एवं मात्रा का उत्पादन करवाने का प्रयास करता है।

7. मानसिक क्रांति–मानसिक क्रांति सशक्त रूप से संकेत करता है कि केवल पूर्व निर्धारित बातों को भी नहीं अपनाना है बल्कि समझदारी के साथ अपने कार्य के अनुकूल परिवर्तन भी करना है। एक वैज्ञानिक नियोजन में बहुत सी बातों को ध्यान में रखना पड़ता है। नियोजन बहुत सावधानी से और बहुत स्पष्ट विधि से किया जाना चाहिए। कार्यों के साथ–साथ अन्य अनेक बातें भी ध्यान में रखनी पड़ती हैं, जैसे–उत्पादन का कार्यक्रम बनाते समय वस्तु की किस्म, मात्रा, डिजाईन, समय आदि। मशीनों, प्रक्रियाओं तथा कार्यवाहियों का क्रम निर्धारित करना पड़ता है। कौन–सी क्रिया कब प्रारंभ होगी और कब समाप्त होगी, इसकी उपयुक्त समय तालिका बनानी पड़ती है। कार्यवाहियां उत्पादन प्रबंध का अंग मानी जाती हैं और इन कार्यवाहियों को मानसिक क्रांति कहते हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

1. प्रबंधन उत्पादन के कितने घटकों का वर्णन करता है?

   (क) दो (ख) तीन

   (ग) पांच (घ) सात

2. "उपक्रम के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मानवीय एवं भौतिक साधनों का प्रभावी उपयोग ही प्रबंध है, "उपरोक्त कथन किस प्रबंध शास्त्री का है?

   (क) थियो हैमन (ख) एफ. डब्ल्यू टेलर

   (ग) विलियम एफ.ग्लूक (घ) प्रो. जॉन.एफ.मी.

3. सरकारी नीति निर्माता में किस श्रेणी की इकाइयों को सम्मिलित नहीं किया जाता है?

(क) विधानमंडल (ख) कार्यपालिका

(ग) न्यायपालिका (घ) 6 बाव समूह

टिप्पणी

3.3 प्रशासन में नीति निर्माण

सरकार या राज्य की अवधारणा जितनी प्राचीन है, लोक नीतियों को भी उतना ही प्राचीन माना जाता है। लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करने एवं समस्याओं के समाधान के लिये सरकार द्वारा नीतियां बनाई एवं लागू की जाती रही हैं। पाल एच. एपेल्वी के अनुसार, "लोक प्रशासन का सार नीति निर्माण है।"

प्रत्येक कार्य की पूर्ति हेतु नीतियों की आवश्यकता होती है। प्रत्येक प्राशासनिक प्रबंध की पूर्व शर्त नीति है। किसी भी राष्ट्र के निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति की दिशा में लोक नीतियों की महत्वपूर्ण आवश्यकता है। प्रत्येक संगठन चाहे वह निजी है या सरकारी, अपने लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु नीति–निर्धारण का कार्य करता है। विकसित एवं विकासशील दोनों में ही इनकी आवश्यकता है। लेकिन विकासशील देशों का प्रशासन, विकास–प्रशासन होने के कारण, समाज के विभिन्न वर्गों का विकास एवं कल्याण इसका महत्वपूर्ण पहलू बन गया। इस संबंध में विकास संबंधी लोक नीतियों का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है। विश्व के देशों में सरकारी संस्थाओं एवं सरकारी अधिकारियों द्वारा लोक नीतियों का विकास एवं निर्माण लोक हित को ध्यान में रखकर किया जाता है। इन देशों में लोक नीति वेफ कार्य क्षेत्रा में द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् अत्यधिक विकास हुआ है। इन देशों के मुख्य उद्देश्य राष्ट्र का निर्माण एवं सामाजिक–आर्थिक विकास है, जिनकी प्राप्ति हेतु यहां कई नीतियां बनाई एवं लागू की जाती रही हैं।

3.3.1 लोक नीति निर्धारण का अर्थ

लोक नीति कई निर्णयों का संगठित रूप है लेकिन प्रत्येक निर्णय नीति नहीं है। इस प्रकार यह निर्णय से काफी विस्तृत अवधारणा है। दूसरे शब्दों में नीति एक रस्सी की भांति है, जिस पर निर्णय एक गांठ के रूप में है। नीति और उद्देश्य का आपस में वही संबंध है, जो साधन व साध्य का है। वास्तव में नीति, साध्य की प्राप्ति की दिशा में साधन है। नीति, नियम से भी भिन्न है। नीतियां गतिशील एवं लोचशील होती हैं, जबकि नियम कठोर तथा विशिष्ट होते हैं। नीति, रीति-रिवाज से भी भिन्न है। नीति जानबूझकर किए गए प्रयासों का परिणाम है, जबकि रीति-रिवाज स्वयं विकसित होते हैं। नीति का प्रभाव सदैव धनात्मक होता है। रीति रिवाज का प्रभाव ऋणात्मक भी हो सकता है।

नीति नियोजन से भी अलग होती है। नीति एक बृहत दायरा प्रदान करती है, जिसके अंतर्गत विभिन्न योजनाओं का निर्माण किया जाता है, जबकि नियोजन नीति ढांचे में उद्धृत किए गए उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु लक्ष्यों का निर्धारण एवं संसाधनों के बंटवारे की प्रक्रिया है।

साधारण शब्दों में सरकार के द्वारा राष्ट्र हित में निर्धारित किए गए लक्ष्यों की प्राप्ति की दिशा में 'क्या करना है और 'कैसे करना हैं' से संबंधी निर्णय लेना ही, लोक नीति निधारिण है।

टिप्पणी

टैरी के अनुसार, "नीति उस कार्रवाई की शाब्दिक, लिखित या विहित बुनियादी मार्गदर्शक हैं, जिसे प्रबंधक अपनाता है तथा जिसका अनुगमन करता है।"

मार्शल डिमॉड के शब्दों में, "यह संचेतन रूप से स्वीकृत आचरण की संहिता है, जो प्राशासनिक निर्णयों का दिशा-निर्देश करती है।"

लोक नीति की विशेषताएं

लोक नीति में निम्नलिखित विशेषताएं पाई जाती हैं -

1. **सामूहिक प्रयास का परिणाम**-लोक नीतियां किसी व्यक्ति विशेष के प्रयास का फल ने होकर सदैव ही बहुत से व्यक्तियों के सामूहिक प्रयास का प्रतिफल होती हैं। यह सरकार के उन सभी कर्मचारियों, जो एक विशेष क्षेत्र से जुड़े हैं, के सामूहिक प्रयास का परिणाम होती हैं।
2. **गतिशीलता**-नीति कोई स्थायी एवं स्थिर वस्तु नहीं है बल्कि इसमें गतिशीलता पाई जाती है। परिवर्तित परिस्थितियों एवं बदलते परिवेश के अनुसार, नीतियों के निर्धारण में भी बदलाव आ जाता है। नीतियों का निर्धारण वास्तव में जन आवश्यकताओं एवं परिवर्तित समय की मांग के अनुसार ही किया जाता है।
3. **सकारात्मक एवं नकारात्मक**-लोक नीति स्वरूप में सकारात्मक या नकारात्मक दोनों ही हो सकती है। सकारात्मक रूप में, किसी प्रश्न या समस्या को हल करने की दिशा में सरकार की कार्यवाही को प्रदर्शित करती है, जबकि नकारात्मक रूप में किसी मामले में संबंध में कोई कार्यवाही न करने संबंधी निर्णय को दर्शाती है।
4. **कानूनी आधार**-लोक नीतियां प्राधिकारिक होती हैं क्योंकि इनका आधार कानूनी होता है। इनके पीछे कानूनी स्वीकृति होने के कारण ये अपनी प्रकृति में बाध्यकारी होती हैं तथा परिभाषित दिशाओं में समाज का मार्गदर्शन करती हैं। इनका विकास संवैधानिक प्रावधानों के अंतर्गत ही किया जाता है।
5. **उद्देश्योन्मुख**-लोक नीतियां उद्देश्योन्मुख भी होती हैं क्योंकि इनके निर्माण के समय भविष्य की अनिश्चितता, आशंका, अनुमान आदि को साथ-साथ लेकर चला जाता है ताकि भविष्य में आने वाली अदृश्य एवं स्पष्ट समस्याओं का समाधान निकाला जा सके।

लोक नीति-निर्धारण के स्रोत

लोक नीति निर्धारण एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जो कि वास्तविक तथ्यों तथा सूचनाओं पर आधारित होती हैं। ये सूचनाएं नीति संबंधी समस्या के विभिन्न पहलुओं से विभिन्न एजेंसियों के द्वारा एकत्रित किए जाते हैं। नीति निर्धारण से संबंधित स्रोतों को मुख्यतः दो भागों में बांटा जा सकता है-डाक्यूमेंट एवं इंपीरिकल डाक्यूमेंट। स्रोत वे होते हैं, जो किसी डाक्यूमेंट जैसे कि विभिन्न विभागों की सामयिक रिपोर्ट, आयोग एवं समितियों की प्रतिवेदन से संबंधित, आदि। इस स्रोत से द्वितीयक आंकड़े प्राप्त किए जाते हैं। दूसरी

तरफ इंपीरिकल स्रोत वे होते हैं, जिनसे प्राथमिक आंकड़े एकत्रित किए जाते हैं तथा ये विभिन्न तकनीकों जैसे कि प्रश्नावली, साक्षात्कार, अनुसूची, पर्यवेक्षण आदि के माध्यम से सीधे उस समस्या से जुड़े लोगों से प्राप्त किए जाते हैं। साधारण तौर पर नीति निर्धारण के स्रोतों को निम्नलिखित तीन भागों में बांटा जा सकता है -

टिप्पणी

1. **प्रशासनिक प्रतिवेदन एवं रिकार्ड**-प्रशासनिक प्रतिवेदन एवं रिकार्ड नीति निर्धारण का सबसे मुख्य स्रोत है। प्रत्येक विभाग की क्षेत्रीय इकाईयां अपनी कार्यवाही एवं गतिविधियों के संबंध में सामयिक एवं वार्षिक प्रतिवेदन भेजते हैं। ये प्रतिवेदन विभाग द्वारा अभिलेख के रूप में प्रतिवेदन की जाती है। नीति निर्माण के समय विभिन्न अभिकरणों, जैसे-सार्वजनिक उद्यम ब्यूरो, केंद्रीय सांख्यिकीय संगठन, राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण आदि के द्वारा विभिन्न विभागों से सूचनाएं एकत्रित की जाती हैं ताकि नीति संबंधी मुख्य तथ्यों की प्राप्ति हो सके। ये अभिकरण केंद्र एवं राज्य सरकारों के द्वारा सांख्यिकी एकत्रित करने के लिए स्थापित किए जाते हैं।

2. **शोध एवं अध्ययन**-समाज के विभिन्न पहलुओं के संबंध में कई सरकारी एवं गैर-सरकारी संगठन शोध एवं अध्ययन का कार्य करके अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं, जो नीति निर्माण के महत्वपूर्ण स्रोत के रूप में अपनाए जाते हैं। ऐसे संगठनों में भारतीय सामाजिक विज्ञान शोध परिषद्, भारतीय लोक प्रशासन संस्थान, केबिनेट सचिवालय का लेखा विभाग, इंडियन स्कूल ऑफ इकॉनोमिक्स, भारतीय समाज अनुसंधान परिषद, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद आदि प्रमुख हैं। ये नीति निर्धारण के लिए बहुत से उपयोगी तथ्य उपलब्ध करवाते हैं।

   इसके अलावा कई तकनीकी संस्थान, जैसे-इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टैक्नोलॉजी, आणविक ऊर्जा आयोग, भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन आदि शोध निष्कर्षों के आधार पर नीति निर्माण कार्य में तकनीकी सूचनाएं प्रदान करते हैं।

3. **बाह्य साधन**-प्राशासनिक प्रतिवेदन एवं रिकार्ड के पूरक के रूप में बाह्य साधनों की भी सहायता ली जाती है क्योंकि यह नीति-निर्धारण के मामले में अपर्याप्त हो सकती है। इसके अलावा विभागीय प्रतिवेदन एवं आंकड़े एकपक्षीय हो सकते हैं और उनमें औपचारिकता पाई जा सकती है। इसी वजह से प्रशासन, आंकड़ों के एकत्रीकरण में बाह्य साधनों का सहारा भी लेता है। इसके लिए प्रशासन, वाणिज्य चैम्बरों, विभिन्न व्यावसायिक संस्थानों, श्रम संघों एवं जन साधारण से संपर्क स्थापित करके आम जनता की राय को जानने का प्रयास करता है। इस प्रकार की सूचनाएं प्रशासन के द्वारा जनसंचार एवं लोक संपर्क विभाग के माध्यम से सीधे जनसाधारण का साक्षात्कार करके प्राप्त की जाती हैं। ये सूचनाएं, जो लोगों की प्रतिक्रियाओं, टिप्पणियों एवं निरीक्षण के रूप में प्राप्त होती हैं, वे नीति निर्माताओं के लिये अत्याधिक महत्वपूर्ण होती हैं।

आयोग व समितियों के प्रतिवेदन

सरकार समय-समय पर विभिन्न विशेषीकृत क्षेत्रों में विशेष छानबीन हेतु कई आयोगों एवं समितियों का गठन करती हैं। इनके सदस्य संबंधित क्षेत्र के विशेषज्ञ होते हैं। इनका मुख्य कार्य सरकारी एवं गैर-सरकारी साक्ष्यों की जांच करके आंकड़ें एवं तथ्य जुटाना होता है,

टिप्पणी

जिनके आधार पर ये अपना प्रतिवेदन तैयार करके सरकार को भेजते हैं। ये नीति निर्माण का इंपीरिकल स्रोत होने के कारण नीति निर्माण प्रक्रिया में अत्याधिक सहायक होता है। भारत में कई आयोग एवं समितियों, जैसे-केंद्रीय वेतन आयोग, प्रशासकीय सुधार आयोग, कोठारी आयोग, संथानम समिति, ग्रामीण-शहरी संबंधी समिति आदि का गठन किया गया है तथा इनके द्वारा दी गई सिफारिशों को नीति निर्धारण का आधार बनाया गया है।

नीति निर्माण के मॉडल

प्रत्येक सामाजिक पहलू को अलग-अलग दृष्टिकोण से देखा जाता है और उसकी व्याख्या भी अलग-अलग दी सकती है। लोक नीति को भी अलग-अलग दृष्टिकोण से देखा जा सकता है। इन सभी दृष्टिकोणों की व्याख्या आवश्यक नहीं है कि एक-दूसरे से पूर्णरूप से भिन्न हो बल्कि इन सबमें अंतरण भी हो सकता है। लोक नीति के साहित्य में इन अलग-अलग दृष्टिकोणों को लोक नीति के मॉडल्स के रूप में देखा जाता है।

नीति निर्माण के स्तर पर निकोलस हेनरी ने इन मॉडल्स को दो अलग-अलग दृष्टिकोणों से देखा है-प्रक्रिया आधारित मॉडल एवं निर्गत आधारित मॉडल। प्रथम श्रेणी में आने वाले मॉडल अपनी प्रकृति में सुझावी होने के बजाय व्याख्यात्मक होते हैं। इन मॉडलों में मुख्य दबाव इस बात पर दिया जाता है कि लोक नीति का विकास कैसे हुआ। दूसरे शब्दों में नीति के विकास में कौन-कौन सी ताकत ने काम किया। इस श्रेणी में मुख्य रूप से श्रेष्ठ जन मॉडल, समूह मॉडल तथा सांस्थानिक मॉडल आते हैं।

दूसरी श्रेणी में नीति निर्माण के मॉडल अपनी प्रकृति में व्याख्यात्मक होने की बजाय ज्यादा साधारण एवं सुझावी होते हैं। इनका मुख्य संबंध बेहतर नीतियां बनाने के उद्देश्य से लोक नीति निर्माण के तरीकों को सुधारने के लिये होता है। इस श्रेणी में वृद्धि एवं बुद्धिवादी मॉडल आते हैं। इनका वर्णन निम्नलिखित है-

1. **हित-समूह मॉडल**-समाज विभिन्न हित-समूहों की अंत:क्रियाओं का एक जाल है, जिसमें प्रत्येक हित समूह अपने स्वार्थों की प्राप्ति की दिशा में प्रयासरत रहता है। ये हित-समूह समाज में अपनी-अपनी स्थिति को मजबूत बनाने तथा अपने-अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु लोक नीतियों को प्रभावित करते हैं। ये समूह लोक नीतियों का अपने उद्देश्यों के अनुसार बनवाने के लिए सरकार पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से दबाव डालने का प्रयास करते हैं। प्रत्येक हित-समूह का दबाव सरकार पर अलग-अलग पड़ता है। जिन हित समूहों का दबाव अधिक होता है, नीतियों का निर्धारण भी उनके पक्ष में होता है, जिससे संबंधित नीति का उन्हें अधिकाधिक लाभ पहुंचता है। असफल हित-समूह की मांगें ज्यों की त्यों रह जाती है।

   इस प्रकार हित-समूह मॉडल नीति निर्धारण में समाज के विभिन्न हित-समूहों के आपसी संघर्षों को अभिव्यक्त एवं प्रदर्शित करता है।

2. **श्रेष्ठ जन मॉडल**-साधारण तौर पर माना जाता है कि लोक नीति जनमत को प्रदर्शित करती है और यह जनसाधारण की आवश्यकताओं की पूर्ति की दिशा में महत्वपूर्ण साधन है। लेकिन यह मात्र एक कहावत प्रतीत होती है और वास्तविक सच्चाई से काफी दूर है। श्रेष्ठ जन के अनुसार, आम व्यक्ति को सरकार की नीतियों के विषय में बहुत कम जानकारी होती है और न ही वह

टिप्पणी

ज्यादा ध्यान दे पाता कि नीति बनाने से पहले सरकार के स्तर पर क्या होता है। वास्तव में नीति निर्माण में उनका प्रतिनिधित्व समाज व देश के कुलीन अभिजात वर्ग के द्वारा किया जाता है। अतः लोक नीतियों का निर्धारण आम जनता की इच्छाओं के अनुसार न होकर कुलीन अभिजातवर्गीय समुदाय की इच्छा से अनुसार किया जाता है। यह वर्ग राजनीति के क्षेत्र में काफी प्रभावशाली होता है तथा प्रशासन पर इनका अत्यधिक दबाव रहता है। इस प्रकार सैद्धांतिक रूप से लोक नीत लोक इच्छा की अभिव्यक्ति है लेकिन व्यवहार में इसका निर्धारण समाज के अभिजात वर्ग की इच्छानुसार किया जाता है।

3. **व्यवस्था संबंधी मॉडल**–लोक नीतियों के निर्धारण की दिशा में यह मॉडल भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस मॉडल के अनुसार, लोक नीति या नीति संबंधी निर्णय राजनीतिक व्यवस्था का निर्गत (आउटपुट) है। यह मॉडल सूचनाओं की अवधारणाओं, जैस–प्रतिपुष्टि, आगत एवं निर्गत पर आधारित है और नीति निर्णय प्रक्रिया को चक्रीय मानता है। यह मॉडल इस बात पर बल देता है कि राजनीतिक व्यवस्था पर्यावरण का अभिन्न अंग है और इसके साथ लगातार अंतः क्रिया करता है। पर्यावरण में उत्पन्न होने वाली ताकतें राजनीतिक व्यवस्था का प्रभावित करती हैं और इन्हें 'आगत' (इनपुट) के रूप में देखा जाता है। व्यवस्था के आगत की ये ताकतें मांगों एवं समर्थन के रूप में होती है। राजनीतिक व्यवस्था प्राधिकारी के रूप में कार्य करती है और नीति निर्धारण में समाज के विभिन्न मांगों को मूल्य प्रदान करती है, जिसे 'निर्गत' के रूप में देखा जाता है। इस मॉडल के अनुसार, लोक नीति राजनीतिक प्रणाली की उपज के रूप में अभिव्यक्त होती है।

4. **संस्थावादी मॉडल**–नीति निर्धारण के प्रक्रिया आधारित मॉडलों में संस्थावादी मॉडल अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस मॉडल के अनुसार, लोक नीतियां सरकारी संस्थाओं एवं संरचनाओं से ही उत्पन्न होती हैं और यही संरचनाएं उन्हें अंतिम रूप प्रदान करती है। वास्तव में एक नीति तभी सार्वजनिक हो पाती है, जब इसे सरकारी संस्थाएं अधिकृत तौर पर मान्यता देती है और इसे लागू करती है। इस प्रकार लोक नीतियों का निर्धारण एवं क्रियान्वयन सरकारी संस्थाओं द्वारा किया जाता है।

   सरकारी संरचनाएं स्वयं में भी लोक नीतियों का ही परिणाम होती हैं। लोक नीतियों के माध्यम से ही इन्हें स्थापित किया जाता है, समाप्त किया जाता है और इनमें बदलते हुए वातावरण के अनुरूप बदलाव लाया जाता है। इस संबंध में भारत एवं रूस में किये संस्थागत परिवर्तन को ज्वलंत उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है।

5. **बुद्धिवादी मॉडल**–नीति निर्माण का बुद्धिवादी मॉडल एक बहुत ही विस्तृत, तार्किक एवं वैज्ञानिक मॉडल है। इसके अनुसार, लोक नीति का निर्धारण तर्कपूर्ण एवं बुद्धिमत्तापूर्ण होना चाहिए। इसी कारण यह मॉडल समस्या के सभी संभव विकल्पों पर विचार करता है, तथा उनका वैज्ञानिक एवं तुलनात्मक नजरिए से विश्लेषण करता है। यह इस विश्लेषण के आधार पर एक सही विकल्प का चुनाव करता है। यह मॉडल नीति निर्माण प्रक्रिया को अत्याधिक वस्तुनिष्ठ, वैज्ञानिक एवं मूल्य-आधारित बनाने का प्रयास करता है। लोक

टिप्पणी

प्रशासन के शब्दकोष के अनुसार, एक तार्किक लोक नीति के निर्माण में निम्नलिखित चरण होते हैं-

(1) सभी नीति संबंधी विकल्पों की पहचान करना।

(2) प्रत्येक विकल्प के परिणामों का अनुमान लगाना।

(3) विभिन्न विकल्पों के परिणामों की नीति के उद्देश्यों के साथ तुलना करना।

(4) सही एवं उपयोगी विकल्प का चुनाव करना।

एक तार्किक नीति के निर्माण की कुछ पूर्व शर्तें हैं। प्रथम, इसके लिए सामाजिक मूल्यों की पर्याप्त समझ का होना अति आवश्यक है। दूसरा, विभिन्न विकल्पों के संदर्भ में आंकड़ों एवं सूचनाओं की उपलब्धता आवश्यक है। तीसरा, संगठन में एक निश्चित निर्णय निर्माण व्यवस्था का होना आवश्यक है, जिसमें इतनी क्षमता हो कि वह संबंधित आंकड़ों की पहचान कर सके, उनका सही ढंग से विश्लेषण कर सके तथा प्रत्येक विकल्प के परिणामों को बता सके। हालांकि इस मॉडल में अनेक कठिनाइयां हैं तथा आलोचकों का मत हैं कि यह आदर्शवादी मॉडल होने के कारण वास्तविक जगत से बहुत दूर है।

6. **वृद्धि का मॉडल**-नीति-निर्माण का यह मॉडल लोक नीति संबंधी गतिविधियों में ही बढ़ोत्तरी करने का पक्षधर है। इस मॉडल के अनुसार, सरकार की पहले से ही चले आ रहे नियम, नीतियों एवं अन्य कार्यक्रमों में बदलते हुए समय एवं परिस्थितियों की मांग के अनुसार, संशोधन, परिवर्द्धन एवं बढ़ोत्तरी की जानी चाहिए। यह मॉडल लोक नीतियों में आमूल-चूल परिवर्तन की बजाय धीमा एवं क्रमिक परिवर्तन करने के विचार को मानता है। इस मॉडल में परंपरगत अनुभवों को आधार बनाकर वर्तमान एवं भविष्य संबंधी समस्याओं का सामना करने के लिए नई नीतियों का सूत्रपात किया जाता है। ये नई नीतियां बदलते समय की मांग को पूरा करने के लिए पहले से ही मौजूद नीतियों में वृद्धि मात्र होती हैं। लोक प्रशासन के शब्दकोष में इस मॉडल के निम्नलिखित चरण माने गए हैं-

   (1) समस्या की पहचान करना।

   (2) इस बात की जांच करना कि पहले इन समस्याओं का सामना किस प्रकार किया गया था।

   (3) इस समस्या के समाधान हेतु कुछ विकल्पों का विश्लेषण एवं मूल्यांकन।

   (4) एक ऐसे विकल्प का चुनाव करना, जो पहले से मौजूद प्रक्रियाओं एवं संस्थाओं में परिवर्तन लाए बगैर समस्या के समाधान में योगदान दें।

इस मॉडल की मुख्य कमी यह है कि यह अपने दृष्टिकोण में रूढ़िवादी है। येहेज्कल ड्रोर ने भी इस मॉडल की काफी आलोचना की है। उनके अनुसार "जब भूतकालीन नीतियों के परिणाम असंतोषजनक हों तो वे परिणाम भविष्य में कुछ करने के संबंध में बहुत कम महत्व रखते हैं। उनमें केवल तुच्छ वृद्धिमूलक परिवर्तन कर देने से बेहतर फलों की प्राप्ति नहीं हो सकती है।" इस आलोचनाओं के बावजूद भी इस मॉडल का नीति निर्माण में अत्यधिक महत्व है।

नीति निर्माण प्रक्रिया

टिप्पणी

नीति निर्माण प्रक्रिया एक अत्यधिक जटिल एवं विस्तृत प्रक्रिया है क्योंकि यह विभिन्न चरणों से होकर गुजरती है। नीति निर्माण के स्तर पर निम्नलिखित चरण अपनाए जाते हैं–

1. **समस्या की पहचान करना तथा समझना** - प्रत्येक नीति का निर्धारण किसी सामाजिक समस्या या कुछ समस्याओं के समाधान हेतु किया जाता है, जो नीति की विषय वस्तु का आधार होता है इसलिए नीति-प्रक्रिया का पहला चरण, साामाजिक स्तर पर समस्या की पहचान करना है। नीति निर्माण को आधार प्रदान करने वाली सामाजिक समस्या का चयन प्राथमिकता होती है लेकिन सभी समस्याओं का हल एक ही समय निकाला पाना असंभव है। इसलिए समस्या का चयन संसाधनों की उपलब्धता तथा विभिन्न समस्याओं के समाधान निकालने संबंधी अनिवार्यता को मद्देनजर रखते हुए प्राथमिकताओं के आधार पर किया जाता है। लेकिन यह चरण, समस्या की पहचान के साथ समाप्त नहीं होता बल्कि इसमें समस्या के संबंध में पूर्ण समझ पैदा करना भी सम्मिलित है ताकि समस्या का सही समाधान निकाला जा सके। समस्या को वैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर अधिकाधिक संक्षिप्त एवं स्पष्ट रूप में परिभाषित करना आवश्यक है। यह चरण नीति निर्माण प्रक्रिया का सबसे महत्वपूर्ण चरण माना जाता है क्योंकि अगर समस्या का चयन वैज्ञानिक ढंग से न किया जाए या इसे पूर्णरूप से समझा न जाए तो इसके समाधान के सभी प्रयास व्यर्थ होगें।
2. **नीति संबंधी विकल्पों का विकास**-नीति निर्माण प्रक्रिया का दूसरा चरण समस्या के उचित समाधान हेतु विभिन्न नीति संबंधी विकल्पों के विकास करने से जुड़ा है। यह चरण इस सिद्धांत पर कार्य करता है कि किसी भी समस्या के समाधान हेतु अनेक विकल्प हो सकते हैं, जिनमें से सर्वोत्तम विकल्प का चुनाव आवश्यक है। इस चरण की महत्ता इस बात में निहित होती है कि अगर समस्या के समाधान हेतु सभी या मुख्य विकल्पों का विकास न किया गया हो तो नीति-निर्माताओं की सर्वोत्तम विकल्प के चुनाव संबंधी छूट समाप्त हो सकती है और समस्या का हल सही तरीके से नहीं निकाला जा सकता। इसी कारण समस्या के समाधान संबंधी सभी विकल्पों के विकास हेतु नीति निर्माताओं के स्तर पर व्यापक समझ, गहन अध्ययन दूरदर्शिता एवं समस्या से संबंधित सामाजिक उलझनों के संबंध में व्यापक ज्ञान का होना अत्यंत अनिवार्य है।
3. **नीति संबंधी विकल्पों का मूल्यांकन एवं सर्वोत्तम का चयन**-नीति संबंधी विभिन्न विकल्पों के विकास के पश्चात् नीति निर्माता, इनका आगत-निर्गत संबंध एवं लागत-लाभ विश्लेषण आदि के आधार पर मूल्यांकन करते हैं और इन सभी विकल्पों की दोनों पक्षों के आधार पर तुलना करके सर्वोत्तम विकल्प का चुनाव करते हैं। इस के दौरान नीति निर्माता काफी सर्तकता एवं सावधानी से कार्य करते हैं क्योंकि प्रत्येक विकल्प के अपने गुण व दोष होते हैं। कोई विकल्प मितव्ययी परंतु अधिक समय लेने वाला होता है तो परिणाम की प्राप्ति में अधिक खर्चीला होता है परंतु दीर्घकालीन उद्देश्यों की प्राप्ति में विकल्प अधिक सहायक होता है। कोई विकल्प सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक

टिप्पणी

होता है तो कोई विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति में। कोई विकल्प अधिक लाभ देने वाला होता है तो कोई अधिक जोखिम वाला। इस प्रकार नीति निर्माताओं के लिए सर्वोत्तम विकल्प का चुनाव करना काफी कठिन कार्य होता है। इसके मुख्य रूप से तीन कारण हैं-*प्रथम*, नीति-निर्माताओं के पास समस्या के समाधान हेतु इसकी उत्पत्ति, विभिन्न आयामों, समाज के विभिन्न वर्गों के समस्या की संबंध में समझ आदि के संदर्भ में पूर्ण जानकारी का अभाव पाया जाता है। लेकिन समस्या से संबंधित एक भी प्रश्न का उत्तर न मिलने की दिशा में विभिन्न विकल्पों का विकास एवं उनके परिणामों के विषय में बता पाना एक कठिन कार्य है। *दूसरा*, किसी भी सामाजिक समस्या की भौतिक रूप में व्याख्या करना आसान नहीं है इसलिए विभिन्न नीति संबंधी विकल्पों का तुलनात्मक विश्लेषण करना कठिन कार्य है। *तीसरा*, मानवीय व्यवहार तार्किक न होने के कारण, नीति निर्माताओं की किसी स्थिति के संबंध में भविष्यवाणी भी गलत हो सकती है।

4. **वाद-विवाद**-नीति निर्माण प्रक्रिया के चौथे चरण में, नीति संबंधी चयनित सर्वोत्तम विकल्प पर जनसाधारण की राय लेने के लिए वाद-विवाद के लिए खुली छूट दी जाती है। इस चरण में पर सर्वोत्तम विकल्प के परिणामों को शिक्षित वर्ग, दबाव समूह, लाभर्थियों एवं प्रेस आदि स्तरों पर बहस का मुद्दा बनाया जाता है और उनके सुझावों एवं प्रतिक्रियाओं को नीति निर्माण हेतु आमंत्रित किया जाता है। विभिन्न स्रोतों से प्राप्त टिप्पणियों, प्रक्रियाओं एवं सुझावों की उनकी गुणवत्ता के आधार पर नीति के प्राथमिक मसौदे में सम्मिलित करके नीति का अंतिम प्रारूप तैयार किया जाता है तथा इसे विधानपालिका की सहमति के लिए भेजा जाता है।

5. **विधायिका की स्वीकृति**-नीति निर्माण का यह अंतिम चरण है। इसमें नीति के अंतिम प्रारूप को विधानपालिका के सम्मुख पेश किया जाता है ताकि इसे विधिक अनुमति मिल सके। प्रत्येक प्रजातांत्रिक देश में नीति संबंधी प्रस्तावों को प्राधिकृत आधार प्रदान करने के लिए सरकार के विधायी अंग की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। उदाहरण के तौर पर भारत में केंद्र स्तर पर संसद तथा राज्यों के स्तर पर विधानपालिका की स्वीकृति नीति निर्माण के लिए आवश्यक होती है। भारतीय संसद में नीति संबंधी प्रस्ताव विधिक आधार प्राप्त करने से पहले विविध वाचनों से होकर गुजरता है।

नीति निर्माता

साधारणतया नीति निर्माण में बहुत से लोग भाग लेते हैं। मुख्यत: इन्हें दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है-सरकारी एवं गैर-सरकारी। सरकारी नीति निर्माता वे होते हैं, जिन्हें नीति निर्धारण का औपचारिक एवं वैधानिक अधिकार प्राप्त होता है। इस श्रेणी में विधानमण्डल, कार्यपालिका, प्राशासनिक इकाईयों एवं न्यायपालिका को सम्मिलित किया जाता है। इसके अलावा कुछ गैर-सरकारी संगठन, जैसे-दबाव समूह, राजनीतिक दल एवं प्रेस आदि भी नीति निर्माण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। हालांकि सरकारी नीति निर्माताओं के समान इनके पास नीति निर्धारण का औपचारिक एवं वैधानिक अधिकार नहीं होता लेकिन फिर भी ये गैर-सरकारी संगठन नीति के संबंध में सरकार को कुछ

महत्वपूर्ण सुझाव प्रदान करते हैं और सरकार के द्वारा लोक नीतियों का रूप प्रदान करते समय अच्छा प्रभाव डालते हैं। सरकार भी इनके द्वारा दिए गए सुझावों को नकार नहीं पाती है।

टिप्पणी

सरकारी नीति-निर्माता

सरकारी नीति-निर्माताओं का संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार है -

1. **विधानमंडल**-नीति निर्माण का कार्य औपचारिक रूप से विधानमंडल का होता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि यह नीति निर्माण संबंधी निर्णय लेने में पूर्ण रूप से स्वतंत्र है। नीति निर्माण प्रक्रिया में विधानमंडल की भूमिका अलग-अलग राजनीतिक व्यवस्थाओं में भिन्न-भिन्न है। अमेरिका जैसी अध्यक्षीय शासन प्रणाली में विधानमंडल की नीतियों के संदर्भ में पहल करने संबंधी भूमिका काफी अधिक है। अमेरिका में विधानमंडल शक्ति पृथक्करण के सिद्धांत के कारण अक्सर नीति-निर्माण संबंधी मामलों में स्वाधीन एवं अंतिम निर्णय लेती है। अमेरिका की कांग्रेस में स्थायी समिति को प्रस्तावित विधि निर्माण पर चरम प्राधिकार प्राप्त है और वह सदन के सदस्यों के बहुमत के विरोध में भी कार्य कर सकती है। नागरिक अधिकार, कराधान, कल्याण और श्रम संबंधी मामलों पर नीतियों के प्रमुख भाग का निर्माण कांग्रेस द्वारा किया जाता है।

   दूसरी ओर संसदीय शासन प्रणाली में नीति संबंधी प्रस्तावों की पहल कार्यपालिका की ओर से होती है और विधानमंडल उन प्रस्तावों पर केवल बहस करके अपनी सहमति दे देती है। यहां पर संसद, अमेरिकी कांग्रेस की तरह नीति निर्माण में अधिक स्वायत एवं स्वतंत्र नहीं है। ब्रिटिश तथा भारतीय संसद इसके उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त साम्यवादी देशों में विधानमंडल की भूमिका नीति निर्माण में संसदीय शासन प्रणाली वाले देशों से भी कम है। इसका उदाहरण चीन है। अत: स्पष्ट रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तानाशाही देशों की अपेक्षा प्रजातांत्रिक देशों में दिए जाने वाले नीति निर्णय में विधानमंडल अधिक महत्वपूर्ण होता है और प्रजातांत्रिक पद्धति में, विधानमंडल को नीति निर्माण में संसदीय पद्धति (भारत) की अपेक्षा अध्यक्षीय पद्धति (संयुक्त राज्य अमेरिका) में अधिक स्वाधीनता प्राप्त है।

2. **कार्यपालिका**-आज का युग कार्यपालिका केंद्रित युग कहलाता है। आधुनिक समय में राजनीति एवं प्रशासन के मध्य गहन संबंध स्थापित होते हैं, जिसके अनुसार नीति निर्माण का कार्य विधानपालिका का है तथा नीति क्रियान्वयन संबंधी कार्य कार्यपालिका का है, गलत सिद्ध हुई हैं। फलस्वरूप लगभग सभी आधुनिक सरकारों की कार्यपालिका न केवल नीति के क्रियान्वयन में बल्कि नीति निर्माण में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। संसदीय शासन प्रणाली में राजनीतिक कार्यपालिका, विधानपालिका का प्रमुख अंग होने के कारण, नीति निर्माण के कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। संसदीय पद्धति वाले देशों में मंत्रिमंडल को सभी नीतियों का अनुमोदन करना पड़ता है और आज सभी देशों, चाहे वे विकसित हों या विकासशील, में कार्यपालिका की नीति निर्माण कार्य में अहम् भूमिका है। हालांकि विकासशील देशों में इसकी भूमिका अधिक पाई जाती है। इसका यह कारण है कि इन देशों में प्राय: मजबूत अधिकारी तंत्र

टिप्पणी

आधार नहीं होता और कार्यपालिका नीति निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है क्योंकि सरकार के हाथों में शक्ति का केंद्रीकरण अधिक होता है और विधानमंडल के प्रति उसकी जबावदेही कम होती है।

3. **प्राशासनिक अभिकरण**–लोक प्रशासन के इतिहास में आरंभ से ही प्राशासनिक अभिकरणों एवं प्रशासकों की भूमिका द्वंद का विषय रही है, जो प्रोफेसर वुडरो विल्सन द्वारा उठाई गई राजनीतिज्ञ–प्रशासन संबंधों का परिणाम था। लेकिन द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् शोधकार्य एवं अनुभव के आधार पर प्राशासनिक अभिकरणों की भूमिका को न केवल स्वीकारा गया बल्कि इस बात पर भी बल दिया गया कि लोक प्रशासन का मुख्य उद्देश्य लोक नीतियों का निर्माण है।

   आज प्रत्येक प्रजातांत्रिक देश, चाहे वह विकसित है या विकासशील, सभी में प्राशासनिक अभिकरण नीति निर्माण प्रक्रिया महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। लगभग सभी देशों में आज प्रशासन एवं राजनीति निर्माण कार्य में काफी हद तक घुल मिल गए हैं। प्राशासनिक अधिकारी कई कारणों से नीति संबंधी विषय–वस्तु को अच्छे से जानते हैं। नीति निर्माण की विषय–वस्तु अत्यंत जटिल प्रकृति की होती है तथा राजनेताओं के लिए इसे समझ पाना अत्यंत कठिन होता है, इसीलिये उन्हें प्रशासकों पर निर्भर रहना पड़ता है। द्वितीय, प्राशासनिक अधिकारियों के पास अत्यधिक ज्ञान एवं विभिन्न क्षेत्रों का लंबे समय का अनुभव होता है, जो नीति निर्माण के लिए आवश्यक है , अत: प्राशासनिक अधिकारियों पर विश्वास करने के अलावा राजनेताओं के पास कोई रास्ता नहीं होता। तीसरा, आधुनिक युग में विभिन्न कारणों से प्राप्त व्यवस्थापन की प्रतिनिधात्मक विधान को काफी अधिक बढ़ावा मिला है, जिसके फलस्वरूप आजकल संसद कानूनों एवं नीतियों को मोटे तौर पर एक खाका तैयार करती है और इसकी बारीकियों को पूरा करने के लिए प्रशासन पर छोड़ा जाता है। उपरोक्त कारणों से प्राशासनिक अभिकरणों की भूमिका नीति निर्माण प्रक्रिया में अत्यधिक बढ़ गई है।

4. **न्यायपालिका**–नीति–निर्माण प्रक्रिया में न्यायपलिका भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। एक प्रजातांत्रिक देश में राजनीतिक व्यवस्था की सफलता, उसकी स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका पर निर्भर करती है, जैसे–भारत में न्यायपालिका संविधान की संरक्षक होने के कारण, नागरिकों के अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं को सुरक्षित रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। नागरिकों के मौलिक अधिकार, जो संविधान के के मूल ढांचे के अंग हैं, के संरक्षण का मुख्य साधन न्यायपलिका है। ऐसा करने के लिए न्यायपालिका न केवल विधानपालिका एवं कार्यपालिका द्वारा तैयार की गई नीतियों का पुनरावलोकन करती है बल्कि अगर नीतियां गलत साबित हों तो वैकल्पिक नीतियों के संबंध में दिशा–निर्देशन भी प्रदान करती है। न्यायपालिका की न्यायिक समीक्षा की यह शक्ति इसके अन्य नीति निर्माता एजेंसियों एवं संस्थाओं की तुलना में इसे एक अद्‌भुत स्थान प्रदान करती है। बुनियादी तौर से, न्यायिक समीक्षा, विधायी एवं कार्यकारी दशाओं की कार्यवाईयों की संवैधानिकता का निर्धारण करने और यदि इस प्रकार की कार्यवाईयां संवैधानिक उपलब्धों के विपरीत हों तो उन्हें रद्द और शून्य घोषित

करने की शक्ति, न्यायालय के पास है। भारत जैसे देशों में न्यायपालिका की न्यायिक समीक्षा की शक्ति, नीति निर्माण में इसकी भूमिका को अत्यंत महत्वपूर्ण बना देती है।

टिप्पणी

गैर-सरकारी नीति निर्माता

सरकारी नीति निर्माताओं के साथ-साथ कुछ गैर सरकारी एजेंसियां, जैसे राजनीतिक दल, दबाव समूह तथा प्रेस आदि भी नीति-निर्माण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये एजेंसियां सरकार को न केवल मूल्यवान सुझाव देती हैं बल्कि लोक-नीतियों को अंतिम रूप देने में सरकार की कार्यवाही को काफी हद तक प्रभावित भी करती हैं। इनका संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार से है-

1. **राजनीतिक दल**-राजनीतिक दल, वह समूह है, जो वैधानिक तरीके से राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने की कोशिश करता है और जिसकी अपनी एक विचारधारा होती है। यह ऐसे लोगों का एक निकाय है, जो राष्ट्रीय हित को बढ़ावा देने के लिए साथ मिलाकर कार्य करते हैं। दबाव समूह, जो किसी निहित स्वार्थ तक सीमित होते हैं, की समीक्षा राजनीतिक दलों के पास अनेक मुद्दे होते हैं। आधुनिक समाजों में सामान्तया, राजनीतिक दल हित समूहीकरण का कार्य करते हैं, अर्थात् वे हितों की विशिष्ट मांग को सामान्य नीति विकल्पों में रूपांतरित करने का प्रयत्न करते हैं। हित समूहीकरण की प्रक्रिया, भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न है और यह दलों की संख्या से प्रभावित होती है।

   ऐसे देश, जहां केवल दो दल ही पाए जाते हैं, जैसे-अमेरिका एवं इंग्लैंड में वहां प्रत्येक दल अधिकाधिक हित संकलन का प्रयास करता है। लेकिन बहुदलीय प्रणाली में, प्रत्येक दल का जनाधार काफी कम हो जाता है और अधिक प्रतिस्पर्द्धा होने के कारण हित-समूहीकरण की संभावना कम हो जाती है। एकल दल प्रणाली, जैसे चीन में हित समूहीकरण का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता है। संसदीय शासन प्रणाली में बहुमत प्राप्त करने वाला दल सरकार बनाता है और चुनावी घोषणा-पत्र के अनुरूप नीतियों निर्माण करता है।

   "संयुक्त राज्य अमेरिका की अध्यक्षीय प्रणाली में विधानमंडल सदस्य प्राय: अपनी दलीय नीति के अनुसार मतदान करते हैं। यहां जिस दल का कांग्रेस पर नियंत्रण होता है, उसके पास ही महत्वपूर्ण नीतिक निहितार्थ होते हैं।"

   राजनीतिक दल, नीति संबंधी विकल्पों की उत्पत्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसका कारण यह है कि इन दलों का जनाधार होता है और ये आम जनता के सीधे संपर्क में आते हैं। परिणामस्वरूप ये जनता की समस्याओं एवं आवश्यकताओं के बारे में पूर्णरूप से परिचित होते हैं। ये समाज के विभिन्न वर्गों की नीति संबंधी मुद्दों पर राय जानने का प्रयास करते हैं तथा इस राय के अनुसार नीति प्रस्तावों को तैयार करने में सरकार की सहायता करते हैं।

2. **दबाव समूह**-एक दबाव समूह वह संगठन है, जिसका एक औपचारिक ढांचा होता है तथा जिसका उद्देश्य सामूहिक होता है। ये समूह ऐसे कार्यक्रमों का आयोजन करते हैं, जो सरकारी संस्थाओं, अधिकारियों एवं लोक नीतियों को

टिप्पणी

प्रभावित करते हैं। ये समूह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु विभिन्न राजनीतिक गतिविधियां करते हैं ताकि लोक नीति को प्रभावित किया जा सके। प्रत्येक देश में अनेकानेक दबाव समूह पाए जाते हैं। विभिन्न देशों में समूह की शक्ति और वैधता विभिन्न प्रकार की होती है, जो इस बात पर निर्भर करती है कि देश प्रजातांत्रिक है या तानाशाही, विकसित है या विकासशील।

विकसित देश में दबाव समूहों की संख्या, विकासशील देशों की अपेक्षा काफी अधिक है। जापान, अमेरिका, जर्मनी आदि में इनकी संख्या भारत, पाकिस्तान एवं बांग्लादेश की तुलना में काफी अधिक है। विकसित देशों में उनके द्वारा प्रदान की जाने वाली सूचनाएं एवं आंकड़ें, विकासशील देशों की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय होते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि विकासशील देशों में दबाव समूहों की मानसिकता संकुचित होती है और इनमें दूरदर्शिता का अभाव पाया जाता है।

दबाव समूह नीति निर्माण प्रक्रिया में काफी सहायक सिद्ध होते हैं क्योंकि वे नीति निर्माताओं को नीति संबंधी मुद्दों पर अपने-अपने विचार, भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार ये सरकारी नीतियां निर्माताओं को न केवल समस्या के संबंध में बल्कि इसके समाधानों के बारे में भी व्यापक समझ पैदा करने में सहायक होते हैं। इस प्रकार समाज में जितने अधिक दबाव समूह होगें, उतने ही नीति निर्माताओं के लिए अधिक लाभदायक होगें।

दूसरी तरफ दबाव समूहों की इस आधार पर भी आलोचना भी की जाती है कि ये अपने उद्देश्यों को मनवाने हेतु सरकार की नीति निर्माण प्रक्रिया पर अनावश्यक दबाव डालते हैं और इसे काफी हद तक प्रभावित भी करते हैं। दबाव समूहों का नीति संबंधी निर्णयों पर दबाव बहुत सारे कारकों, जैसे-इनकी अधिक सदस्य संख्या, इनके नेतृत्व का चातुर्य, इनके मौद्रिक एवं अन्य संसाधन एवं इनका समाज में दर्जा आदि पर निर्भर करता है।

3. **प्रेस**-प्रेस नीति निर्माण कार्य पर गहरा प्रभाव डालती है। विभिन्न समाचार पत्रों, पत्रिकाओं तथा इलैक्ट्रॉनिक मीडिया से जुड़े संपादक एवं पत्रकार, नीति निर्माण प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। प्रेस दो ढंग से कार्य करती है। *प्रथम*, यह सरकार के प्रयासों के संदर्भ में जनसाधारण की जानकारी को बढ़ावा देती है। समाचार पत्र एवं पत्रिकायें विधानपालिका के वाद-विवाद, महत्वपूर्ण व्यक्तियों के भाषण, विभिन्न राजनीतिक दल एवं दबाव समूहों की क्रियाएं एवं प्रतिक्रियाएं आदि लोगों के समक्ष पेश करती हैं।

दूसरा, प्रेस नीति निर्माण के समय नीति संबंधी प्रस्तावों के अनुकूल तथा प्रतिकूल दृष्टिकोण पैदा करके लोकमत का सृजन करती है, जो नई नीतियों के निर्माण के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस प्रकार प्रेस नीति निर्माण संबंधी विषयों पर जनता का रुख जानने की कोशिश करती है, जो नीति निर्माताओं के लिए अति आवश्यक होता है।

लोक नीति का क्रियान्वयन

जब लोक नीति औपचारिक रूप से तैयार हो जाती है अर्थात् इसे संसद की स्वीकृति मिल जाती है तो अगला चरण नीति क्रियान्वयन का होता है। यह चरण नीति चक्र का सबसे

टिप्पणी

महत्वपूर्ण चरण माना जाता है क्योंकि इस चरण से पहले केवल 'क्या करना है' तथा 'कैसे करना है' जैसी सैद्धांतिक गणना ही की जाती है और 'क्या नहीं हो सकता है' की खोज की जाती है। इसके साथ-साथ नीति चाहे कितनी हो एवं अच्छी प्रकार से क्यों न तैयार की गई हो, अगर इसका क्रियान्वयन उचित नहीं है तो यह अपने वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं कर सकती। लुईस एवं कीनिंग ने इसे नीति प्रक्रिया का 'Great achilles' कहा है।

सरकार का सबसे महत्वपूर्ण कार्य नीति का सफल क्रियान्वयन है, न कि कितने मानवीय एवं भौतिक संसाधन लगाए जा रहे हैं, इसका आकलन करना। इसका कारण यह है कि नीति के अनुचित क्रियान्वयन के परिणाम भयावह हो सकते हैं। इससे सरकार का अस्तित्व भी खतरे में पड़ सकता है। क्रियान्वयन के समय सरकार को परस्पर विरोधी समस्याओं का भी सामना करना पड़ सकता है। नीति के अनुचित या असफल क्रियान्वयन के कारण सरकार चाहकर भी बहुत सी समस्याओं का समाधान नहीं निकाल पाती, जिससे इसे जन साधारण के असंतोष को झेलना पड़ता है। इस प्रकार नीति क्रियान्वयन, नीति चक्र का महत्वपूर्ण हिस्सा है।

नीति क्रियान्वयन की प्रक्रिया में बहुत सी एजेंसियां सम्मिलित होती हैं। क्रियान्वयन में इन एजेंसियों में तालमेल का होना अति आवश्यक है वरना इसका प्रतिकूल प्रभाव नीति क्रियान्वयन की प्रक्रिया पर पड़ता है। इन एजेंसियों में सबसे महत्वपूर्ण एजेंसी नौकरशाही है, जो नीति क्रियान्वयन प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। नौकरशाही के अलावा दूसरी सरकारी एवं गैर-सरकारी एजेंसियां,जैसे- कार्यपालिका, संसद, न्यायपालिका, राजनीतिक दल, दबाव समूह, स्वयं सेवी संगठन, प्रेस, नागरिक आदि भी नीति क्रियान्वयन की प्रक्रिया में अपनी-अपनी भूमिका निभाते हैं।

नीति क्रियान्वयन प्रक्रिया

नीति क्रियान्वयन प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया है तथा इसमें कई चरण सम्मिलित होते हैं, जो इस प्रकार हैं-

1. **कार्यक्रम एवं परियोजनाएं तैयार करना**-किसी भी नीति को प्रभावी ढंग से लागू करने के लिए, इसे कुछ कार्यक्रमों एवं परियोजनाओं में विभक्त किया जाता है। इन कार्यक्रमों एवं परियोजनाओं को पंचवर्षीय एवं वार्षिक योजनाओं की सहायता से लागू किया जाता है क्योंकि इनकी अवधि एक वर्ष या इससे अधिक हो सकती है। योजना एक सामान्य ढांचा है, जिसमें विभिन्न कार्यक्रम एवं परियोजनाएं विकसित होती हैं। प्रत्येक नीति को कुछ कार्यक्रमों में विभाजित किया जाता है तथा प्रत्येक कार्यक्रम को कुछ परियोजनाओं में, जिससे कि बाकी उपलब्ध सीमित संसाधनों को किसी निश्चित दिशा में प्रवाहित किया जा सके। इन परियोजनाओं को कुछ घटनाओं एवं गतिविधियों में विभक्त किया जाता है ताकि परियोजना के उद्देश्यों की प्राप्ति की जा सके।

   नीति संबंधी समस्या की प्रकृति एवं गंभीरता तथा उपलब्ध संसाधनों को ध्यान रखते हुए कार्यक्रम तैयार किए जाते हैं। ये कार्यक्रम बड़े या छोटे दर्जे के हो सकते हैं। नीति संबंधी विभिन्न कार्यक्रम एवं परियोजना सामान्यतौर पर प्रशासकीय सीढ़ी के ऊपरी स्तर पर प्रशासकों के द्वारा अपने राजनीतिक प्रमुखों

टिप्पणी

के साथ मिलकर तैयार किए जाते हैं। प्रत्येक परियोजना के अंतर्गत कुछ घटनाओं की श्रृखंला तथा प्रत्येक घटना के तहत कुछ गतिविधियों की श्रृंखला तैयार की जाती है। उदाहरण के तौर पर बाल कल्याण संबंधी नीति को लागू करने के लिए 'एकीकृत बाल विकास सेवा' नामक कार्यक्रम तैयार किया गया। इस कार्यक्रम के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए बहुत सी परियोजनाओं को इससे जोड़ा गया। इसी प्रकार नई शिक्षा नीति के तहत 'नवोदय विद्यालय' संबंधी कार्यक्रम ग्रामीण क्षेत्रों के मेधावी बच्चों के लिए तैयार किए गए। इस कार्यक्रम से संबधित विभिन्न परियोजनाएं एवं गतिविधियां, इन विद्यालयों के चारों ओर घूमती हैं।

2. **परियोजना नियोजन**-नीति क्रियान्वयन की दूसरा चरण परियोजना नियोजन का है। यहां पर परियोजना नियोजन तथा आर्थिक नियोजन में अंतर स्पष्ट करना आवश्यक है। आर्थिक नियोजन का तात्पर्य अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में संसाधनों के बंटवारे से हैं, जबकि परियोजना नियोजन, एक परियोजना को लागू करने के संबंध में प्राशासनिक नियोजन करने से है। नीति क्रियान्वयन प्रक्रिया में, परियोजना नियोजन, एक महत्वपूर्ण चरण है, जो एक-दूसरे के साथ जुड़े चरणों से मिलकर बना है। उदाहरणार्थ, नियोजन हेतु सबसे पहले जमीनी सर्वेक्षण किया जाता है ताकि इससे संबंधित आवश्यक सूचनाएं एवं आंकड़ें एकत्रित किए जा सकें। अस्पताल के लिए जगह का चुनाव करते समय अनेक बातों का ध्यान रखा जाता है। इसके लिए जनसंख्या का संकेंद्रण, आस-पास के अस्पतालों से दूरी, पीने योग्य पानी की उपलब्धता, भूमि का उपजाऊपन आदि। इसके अतिरिक्त अस्पताल के लिए चयनित जगह रेल एवं रोड के साथ जुड़ी हो, इसका भी ध्यान रखा जाता है।

   उपरोक्त सूचनाओं एवं आंकड़ों की प्राप्ति के पश्चात् लागत-लाभ तकनीक के आधार पर विश्लेषण करके परियोजना स्थापित करने की विभिन्न जगहों का तुलनात्मक अध्ययन करके परियोजना की प्रासंगिकता की जांच की जाती है। अस्पताल की जगह का चुनाव करने के बाद, भूमि की कीमत का अनुमान तथा उसके लिए किये जाने वाले भवन की लागत का अनुमान लगाया जाता है। इसके साथ-साथ अस्पताल के लिए फर्नीचर एवं आवश्यक उपकरणों, सेवाकर्मियों आदि के खर्च संबंधी अनुमानित खाके तैयार किए जाते हैं। इस प्रकार के विश्लेषण एवं अनुमान तैयार करने के लिए विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है। इन सब आधारों पर, परियोजना के संबंध में एक प्रस्ताव तैयार किया जाता है और इसे ऊपरी स्तर की एजेंसियों जैसे नियोजन एवं वित्त मंत्रालय की जांच एवं सहमति के लिए भेज दिया जाता है।

3. **योजना एवं बजट तैयार करना**-आधुनिक राज्य कल्याणकारी राज्य होने के कारण इसे नागरिकों के कल्याण हेतु अनेक कार्य करने पड़ते है। इसी कारण आज राज्य की जिम्मेदारियां अत्याधिक बढ़ गई हैं। लेकिन प्रत्येक अर्थव्यवस्था में विशेष तौर पर विकासशील देशों में, समस्याओं की तुलना में इनके समाधान हेतं संसाधनों की कमी पाई जाती है। भारत जैसे विकासशील देश को सीमित संसाधनों से ही इनके सामने खड़ी अनेकानेक समस्याओं का

समाधान निकालना होता है। ऐसी परिस्थिति में, बहुत से देशों ने नियोजित विकास की प्रणाली को अपनाया है। भारत में भी इस संबंध में पंचवर्षीय योजनाओं को अपनाया गया है। इस प्रकार पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से अर्थव्यवस्था के विभिन्न सैक्टरों को संसाधनों का बंटवारा किया जाता है। इन योजनओं में प्राथमिकताओं के आधार पर बड़े-बड़े कार्यक्रम एवं परियोजनाओं का प्रावधान किया जाता है।

टिप्पणी

प्रत्येक वर्ष प्रत्येक विभाग के कार्यक्रमों एवं परियोजनाओं के लिए वार्षिक बजट के द्वारा संसाधनों का आवंटन किया जाता है। बजट की प्रक्रिया में संशोधनों का बंटवारा भी प्राथमिकता के आधार पर किया जाता है तथा मुख्य कार्यक्रमों एवं परियोजनाओं के लिए ही धन दिया जाता है। चुनाव की इस प्रक्रिया में कार्यक्रमों का मूल्यांकन तुलना के आधार पर किया जाता है तथा प्रत्येक कार्यक्रम में परियोजनाओं का मूल्यांकन भी तुलनात्मक ढंग से किया जाता है। इस चुनाव के साथ-साथ, प्रत्येक परियोजना के खर्च के प्रत्येक मद की गहन जांच पड़ताल की जाती है। नियोजन एवं बजट संबंधी ये कार्य नियोजन आयोग, नियोजन मंत्रालय एवं वित्र मत्रांलय द्वारा की जाती है। प्राथमिकताओं के निर्धारण तथा नियोजन एवं बजट तैयार करने में क्योंकि अधिक चातुर्य की आवश्यकता होती है इसलिए यह कार्य नौकरशाहों एवं प्रशासकों के द्वारा, मंत्रियों के पर्यावेक्षण, दिशा-निर्देशन एवं नियंत्रण में किया जाता है। अंत में तैयार की गई योजना एवं बजट के लिए संसद की सहमति की आवश्यकता होती है क्योंकि संसद ही नियोजन एवं बजट में प्रयोग किए जाने वाले धन की संरक्षक है।

4. **परियोजना को लागू करना**-नीति क्रियान्वयन प्रक्रिया का अंतिम चरण परियोजना को लागू करना है। परियोजना को कुछ गतिविधियों के माध्यम से लागू किया जाता है। अगर परियोजना एक अस्पताल के निर्माण से संबंधित है तो इसमें पहला चरण भूमि अधिग्रहण acquire होगा फिर उस पर भवन का निर्माण किया जायेगा। इसके बाद उस भवन की साज-सज्जा करने की बारी आती है, जिसमें फर्नीचर, विद्युत आपूर्ति, जल आपूर्ति, जल निकासी (furniture, electricity, water supply, sewerage) व्यवस्था आदि को देखना है। तीसरा चरण डॉक्टर एवं स्टाफ के अन्य सदस्यों की भर्ती करने संबंधी है। यह स्टाफ अन्य अस्पतालों से प्रतिनियुक्ति पर भी लाया जा सकता है। फिर प्रयोगशालाओं के लिए आवश्यक उपकरण भी खरीदे जाते हैं ताकि विभिन्न प्रकार के परीक्षण किए जा सकें। उपरोक्त सभी गतिविधियां पूरी करने के लिए विशेषीकृत एवं अनुभवी लोक सेवक की आवश्यकता होती है। भवन निर्माण का कार्य लोक निर्माण विभाग के इंजिनियरों की जिम्मेदारी होती है। इस सभी आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद स्वास्थ्य विभाग डॉक्टरों का प्रबंध करता है। इस प्रकार किसी कार्यक्रम के अंतर्गत संचालित विभिन्न परियोजनाओं की लागू करने के लिए विभिन्न विभागों के लोक सेवक समंवित ढंग से कार्य करते हैं। ऐसे समन्वय को सुनिश्चित करने के लिए तथा विभिन्न परियोजनाओं को एक निश्चित समय में लागू करने के लिए, परियोजना के क्रियान्वयन के विभिन्न

टिप्पणी

स्तरों पर कार्यरत कर्मचारी अपने उपरोक्त अधिकारियों को अपनी उपलब्धियों के विषय में समय-समय पर अपनी रिपोर्ट करते हैं। इन रिपोर्टों की जांच पड़ताल करके उच्च स्तरीय अधिकारी परियोजना के क्रियान्वयन पर अपना नियंत्रण स्थापित करते हैं।

यहां यह विचारणीय है कि कुछ गतिविधियों को पूरा करने से एक परियोजना लागू हो जाती है और कुछ परियोजनाओं को पूरा करने से एक कार्यक्रम। इसी प्रकार कुछ कार्यक्रमों को पूरा करने से संपूर्ण नीति क्रियान्वित हो जाती है।

नीति क्रियान्वयन में समस्याएं

लोक नीति के क्रियान्वयन में सामान्यत: निम्नलिखित समस्याएं सामने आती हैं-

1. **पर्याप्त संसाधनों का अभाव**-विकासशील देशों में विशेष रूप से सरकारी स्तर पर नीतियों के क्रियान्वयन हेतु पर्याप्त संसाधनों का अभाव पाया जाता है, जो नीति क्रियान्वयन की सबसे महत्वपूर्ण समस्या है। ये संसाधन, मानवीय एवं भौतिक दोनों ही प्रकार के होते हैं। विकासशील देशों में नीति संबंधी विभिन्न कार्यक्रमों एवं परियोजनाओं को निर्माण एवं क्रियान्वयन करने के लिए दोनों ही प्रकार के मानवीय एवं भौतिक संसाधनों का अभाव देखने को मिलता है, जिसके फलस्वरूप विभिन्न योजनाएं एवं कार्यक्रम सफल नहीं हो पाते।
2. **जनसहभागिता की कमी**-नीति के क्रियान्वयन के स्तर पर प्राय: जन सहभागिता का अभाव पाया जाता है, जो नीति क्रियान्वयन की सबसे गंभीर समस्या है। जनता के सहयोग के बिना सरकार द्वारा लोक नीतियों को सफलतापूर्वक लागू करना असंभव कार्य है। भारत में 1960 के दौरान जन सहयोग के अभाव में द्वितीय पंचवर्षीय योजना बुरी तरह असफल हुई थी। उसके बाद से हालांकि भारत सरकार के द्वारा नीति क्रियान्वयन में जन सहभगिता को सुनिश्चित करने के संदर्भ में बहुत सारे प्रयास किए गए हैं लेकिन इस संबंध में आज भी यह समस्या ज्यों की ज्यों बनी हुई है। भारत में आज भी विभिन्न नीतियों से संबंधित कार्यक्रम एवं परियोजनाओं को पर्याप्त जनसहभागिता के अभाव में असफलता का मुंह देखना पड़ता है। आज नीति क्रियान्वयन प्रक्रिया में जनसहभागिता की अत्यधिक आवश्यकता है और सरकार को इस दिशा में हर संभव प्रयास करना चाहिए।
3. **राजनीतिक दबाव**-नीति निर्माताओं पर नीति क्रियान्वयन की एक अन्य समस्या राजनीतिक दबाव का होना है। राजनेता, जन प्रतिनिधि होने के कारण अपने क्षेत्र के मतदाताओं को नीति के अधिकाधिक लाभ दिलवाने का प्रयास करते हैं। इस कार्य के लिए वे नीति के क्रियान्वयकों (Policy Implementors) पर राजनीतिक दबाव बनाने की कोशिश करते है। इस प्रकार का राजनीतिक दबाव, नीति क्रियान्वयन प्रक्रिया को प्रभावित करता है।
4. **नीति प्रारूप का स्पष्ट न होना**-नीति क्रियान्वयन की अन्य समस्या नीति प्रारूप में अस्पष्टता से जुड़ी है। आमतौर पर नीति प्रारूप में या नीतिगत उद्देश्यों में कोई न कोई कमी रह ही जाती है, जो नीति क्रियान्वयन के स्तर पर उद्देश्यों

टिप्पणी

की प्राप्ति में अनेक तरह की समस्याओं को जन्म देती है। इसलिए नीति प्रारूप एवं उद्देश्यों का स्पष्ट होना अति आवश्यक है। इसके अतिरिक्त उच्च अधिकारियों द्वारा नीति क्रियान्वयन के दौरान निम्न स्तर पर कुछ दिशा-निर्देश भी जारी किए जाते हैं लेकिन अक्सर उनमें भी स्पष्टता का अभाव देखने को मिलता है। कई बार उनसे यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि नीचे के स्तर के अधिकारियों को 'क्या करना है', कितने समय में करना है, 'कैसे करना है' आदि। ऐसे प्रश्न अगर अनुत्तरित रह जाएं तो नीति को प्रभावी ढंग से क्रियान्वित करना आसान नहीं होता।

3.3.2 नीति क्रियान्वयन के क्षेत्र

हाल ही के प्रचलनों व परिदृश्यों के Extrapolations से लोक–नीति के अध्ययन के मुख्य भाग का निर्माण होता है। तृतीय विश्व के देशों ने नगरीकरण, सामाजिक संगठन, औद्योगिकीकरण व प्रौद्योगिक प्रोन्नतियों से ताल मिलाते हुए सार्वजनिक क्षेत्र में अपनी लोक–नीति के आकार व विस्तारक्षेत्र में विस्तृत बढ़त देखी है। जीवन की गुणवत्ता सुधारने के लिये विकासशील देशों के शासनों पर दबाव बढ़ रहा है।

लोक नीति के प्रकार

कुछ सामाजिक विज्ञानियों ने समाज में पनप रहे प्रसंगों के आधार पर लोक–नीतियों की तुलना की तथा उन्हें निम्नांकित प्रकारों में विभाजित कियाः–

- **वितरणात्मक नीतिगत प्रसंग**– नवीन संसाधनों के वितरण से सम्बन्धित नीतिगत प्रसंग।
- **पुनर्वितरणात्मक नीतिगत प्रसंग**– कार्यकलापों के विनियमन एवं नियन्त्रण से सम्बन्धित नीतिगत प्रसंग।
- **संघटक नीतिगत प्रसंग**– कार्यकलापों के नियन्त्रण व नियम–विनियमन से सम्बन्धित नीतिगत प्रसंग।
- **अवयव नीतिगत प्रसंग**– संस्थानों के व्यवस्थापन अथवा पुनर्संगठन से सम्बन्धित नीतिगत प्रसंग।
- **विरोध नीतिगत प्रसंग**– सत्ता व संसाधनों के वितरण से सम्बन्धित प्रसंगों में दो अथवा अधिक समूहों के मध्य उपज सकने वाले प्रसंगों से सम्बन्धित नीतिगत प्रसंग।
- **मोलभाव नीतिगत प्रसंग**– समाज के छोटे समूह के लाभों पर केन्द्रित हो सकने वाले नीतिगत प्रसंग किन्तु जिनकी लागतें व्यापकरूपेण प्रकीर्णित हों।

लोक नीतियां लक्ष्यों से भिन्न होती हैं एवं लक्ष्यों का सम्बन्ध छोरों से होता है। उद्देश्यों व लक्ष्यों का आशय कृत्यों की दिशा के सिरों से होता है। नीतियों व नीतियों के उद्देश्यों को समाज के मूल्यों के प्रभाव में चयन किया जाता है। निर्णयकर्त्ता बहुधा अपनी धारणाओं/मान्यताओं के आधार पर कार्य करते हैं कि लोक–रुचि से सम्बन्धित यथेष्ट अथवा नैतिक रूप से उचित लोकनीति क्या है?

टिप्पणी

लोक–नीति का स्वरूप

लोक नीति सर्वसाधारण अथवा विशिष्ट हो सकती हैं, व्यापक अथवा लघु, सरल अथवा जटिल, सार्वजनिक अथवा निजी, लिखित अथवा अलिखित, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष, संक्षिप्त अथवा विस्तृत एवं परिमाणात्मक अथवा गुणवत्तात्मक। लोक–नीति का अध्ययन इस आधुनिक राजकीय तन्त्र में लक्ष्य–उन्मुख होता है। लोक–नीति सकारात्मक अथवा नकारात्मक हो सकती हैं।

लोक–नीति की जटिलता

समाज की बढ़ती जटिलताओं से लोक–नीति का अध्ययन किया जाना अतीव महत्त्वपूर्ण हो जाता है। पिछली लोक–नीतियों के प्रभावों सहित शासकीय कार्यकलापों के कारण व परिणाम भी वर्तमान एवं आगामी लोक–नीतियों की दिशा को निर्धारित करते हैं। जन–मान्यताओं व वैज्ञानिक अनुप्रयोग से नीति–निर्माण किया जाता है। सत्तारूढ़ दल द्वारा समस्या–समाधान व्यवहार व जनता पर पड़ सकने वाले प्रभावों सहित विकल्पों का विचार किया जाता है। भविष्य के प्रति अनिश्चितताओं से नीति–निर्माण संदेह के घेरे में बना रहेगा। भारतीय समाज में विषमता, बेरोज़गारी व पर्यावरण–प्रदूषण अत्यंत गम्भीर प्रसंग हैं।

नीति–विश्लेषण समयसाध्य कार्य है जिसमें कालक्रम के बीतते–बीतते परिस्थितियाँ भी परिवर्तित हो चुकी होती हैं व अतीत के परिणाम वर्तमान एवं भविष्य के लिये अप्रासंगिक हो जाते हैं। कई बार नीति–विश्लेषण में व्यक्तिविषयक प्रसंग होते हैं व उनके प्रतिफल व्याख्याओं पर आश्रित होते हैं। प्रौद्योगिकी, औद्योगिकीकरण, सामाजिक संगठन एवं नगरीकरण की बढ़ती जटिलता भी लोक–नीति के महत्त्व को बढ़ा देती है।

नीति गढ़ने में समस्याएं

विभिन्न समूहों की विविध सामाजिक समस्याओं के जमे रहने से हमारा समाज इतनी जटिल हो जाता है कि नीति–निर्माण की प्रक्रिया को निर्धारित करना तक श्रमसाध्य कार्य हो जाता है। प्रत्येक समूह के विकास के लिये नीतियों की रचना जटिल है, कई बार विभिन्न समूहों के विकास की ओर उठाये कदम अन्य समूहों को अपने लिये हानिकर लगने लगते हैं इत्यादि अन्य समस्याएँ भी कभी भी आ पसरती हैं। अतः सामुदायिक विकास की सामाजिक अवधारणा से वैकासिक लक्ष्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति व प्रत्येक समूह की इच्छा पूर्ण की जा सके ऐसा व्यवहार में सम्भव प्रतीत होता कभी नहीं दिखता। राजकीय दलों व प्रशासनिक नौकरशाहों के मध्य का द्वंद्व भी हावी होता देखा जाता रहा है। भिन्न–भिन्न समूहों व वर्गों की माँगें व मतभेदों को समग्र जन–विकास में साथ लेकर नहीं चला जा सकता। सत्तारूढ़ दल का नेता सत्ता में टिक रहने अथवा आने के लिये ही नीतियों का निर्माण करता है। राजनेता मतदाता समूह को रिझाने के चक्कर में वास्तविक जन–आवश्यकताओं की अनदेखी कर देते हैं।

प्रौद्योगिकी की जटिलता

आधुनिक प्रौद्योगिकियों व वैकासिक उपागमों का अभाव वे मुख्य कठिनाइयाँ हैं जो लोक–नीतियों के क्रियान्वयन में सामने आती हैं। समस्याओं के हल के ज्ञान का

टिप्पणी

अभाव भी नीति के क्रियान्वयन में एक प्रमुख कठिनाई है। नीति–विश्लेषण से समस्याओं का समाधान सम्भव नहीं यदि समस्याओं के विषय में सर्वसम्मति न हो तो। समाज के मूल्य–संघर्षों को सुलझाना कठिन है। समाज की समस्त समसयाओं का उपाय ढूँढना शासन के लिये कठिन कार्य है। शासन कई बलों के मध्य जकड़ा रहता हैः बाहर से व भीतर से भी; उदाहरण हेतु जनसंख्या–विस्फोट, पारिवारिक जीवन के प्रारूप, वर्ग ढाँचा, साम्प्रदायिक धारणाएँ, संस्कृतियों व भाषाओं का वैविध्य, वित्तीय संसाधन इत्यादि को शासन द्वारा सरलता से नहीं सँभाला जा सकता। कुछ सामाजिक बुराइयाँ तो इतनी जटिल होती हैं कि नीतियों के निर्माण तक में बाधा बन जाती हैं।

सामाजिक संगठन का अभाव

ऐसे सामाजिक संगठनों की कमी है जो सामाजिक सर्वेक्षण कर सकें अथवा नीतियों की उपलब्धि का विश्लेषण करने के लिये विश्लेषणात्मक साधनों का प्रयोग कर पायें। नीति निर्धारण अनुसंधान (Policy Design Research) में कुछ कठिनताएँ भी हैं क्योंकि ऐसा कोई क्रियाकलाप करना सम्भव नहीं होता जो दीर्घावधिक हो। बहुधा कार्यक्रम–प्रशासकों द्वारा नीतिगत अनुसंधान किया जाता है एवं अपने कार्यक्रमों के सकारात्मक परिणामों में रुचि रखी जाती है। अनुसंधान एवं नीति क्रियान्वयन दो भिन्न विषयप्रसंग हैं परन्तु बहुधा इन दोनों को पृथक् कर पाना कठिन रहता है। जैसा कि पहले ही दर्शाया जा चुका है कि समाज के दोष भिन्नतापूर्ण होते हैं एवं इनमें से कई के द्वारा तो बहुधा विश्लेषकों को रोका जाता है जिससे ये विश्लेषक प्रस्तावित नीतियों के प्रभाव के सटीक पूर्वानुमान प्रस्तुत कर ही नहीं पाते। व्यक्तियों व समूहों के व्यवहारों के बारे में सूचनाओं की कमी से बहुधा सामाजिक वैज्ञानिकों द्वारा नीति–निर्माताओं को उपयुक्त परामर्श प्रदान करते नहीं बनता एवं इस कारण ये कई बार विरोधाभासी अनुमोदन कर बैठते हैं। लोकतान्त्रिक समाज में राज्य तो शासकीय ढाँचों व संस्थानों का नेटवर्क होता है एवं समाज की कई समस्याओं के लिये सरल व्याख्या कर पानी कठिन होती है।

वैश्वीकरण का प्रभाव

लोक–नीति एवं नीति–निर्माण प्रक्रिया अत्यधिक विधिगत व राजकीय प्रक्रिया है एवं बलों के जटिल समुच्चय पर निर्भर। वैश्विक राजनीति द्वारा भी राष्ट्रीय नीतियों के निर्धारण में विशेष भूमिका निभायी जाती है, विशेषतया विकासशील राष्ट्रों के प्रकरणों में।

वैश्विक प्रसंग राष्ट्रीय प्रसंगों से अन्तर्क्रिया कर लेते हैं जिससे स्थानीय स्तर भी प्रभावित होता है। वैश्वीकरण द्वारा ये पर्तें लाद दी जाती हैं जो और अधिक अन्तर्क्रियाशील व पारगम्य हो रही हैं एवं नवीन नीति उभर रही है। विकासशील देशों में जनसंख्या–वृद्धि व निर्धनता की गम्भीर समस्याएँ देखी जा रही हैं। जनसंख्या–वृद्धि व निर्धनता अब वैश्विक प्रसंग हो चले हैं। राष्ट्रों के शासनों ने इस प्रसंग में कार्यवाही की ओर प्रतिबद्धता जताते हुए सिद्धान्तों के अन्तर्राष्ट्रीय प्रलेखों को अधोहस्ताक्षरित किया है। ड्रग्स का प्रयोग भी वैश्विक चिंता का रूप धर चुका है एवं इसे एक सामाजिक

टिप्पणी

समस्या माना जा रहा था एवं राष्ट्रीय नीति की ओर ध्यान केंद्रित किया जा रहा था। इसके अतिरिक्त तम्बाकू भी एक वैश्विक चिंता है परन्तु भारत में शासनों द्वारा तम्बाकू क्षेत्र से राजस्व की प्राप्ति की जा रही है, अतः तम्बाकू पर प्रतिबन्ध की नीति के प्रस्ताव से दूरी बनाकर रखने की प्रवृत्ति है। इस प्रकार विकासशील देशों में नीतियाँ जटिलताओं से भरी हैं। लोक नीति लक्ष्यों का निर्धारण व उनकी उपलब्धि की समस्याएँ लक्ष्य–जनसंख्या से सम्बन्धित हैं। लक्ष्य–जनसंख्या की समस्याओं के मूल्यांकन के लिये डेटा आवश्यक हैं; उदाहरणार्थ भले ही एकीकृत ग्राम्य विकास कार्यक्रमों को ग्राम्य जनों की सहायतार्थ समग्रता में नियोजित किया गया हो फिर भी ग्राम्य क्षेत्र में निर्धनता की स्थिति सुधरी नहीं है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. सरकारी नीति निर्माण में किस श्रेणी की इकाइयों को सम्मिलित नहीं किया जाता है?

   (क) विधानमंडल (ख) कार्यपालिका

   (ग) न्यायपालिका (घ) दबाव समूह

4. नीति निर्माण का कार्य औपचारिक रूप से किसका होता है?

   (क) कार्यपालिका (ख) विधानमंडल

   (ग) प्रशासनिक अभिकरण (घ) राजनीतिक दल

3.4 प्रशासनिक नेतृत्व : अधिकार, प्रत्यायोजन, नीति आयोग

'नेतृत्व' प्रशासन कला का एक महत्वपूर्ण पहलू है। व्यवसाय और संगठन के क्षेत्र में एक विशेष उद्देश्य या सफलता की पूर्ति के लिए एक कुशल नेतृत्व की आवश्यकता होती है। नेतृत्व के विभिन्न प्रकार या शैलियों तथा सिद्धांतों द्वारा अर्जित ज्ञान, प्रबंधक को प्रभावशाली बना सकता है। टीड, चेस्टर बर्नार्ड, पीटरसन तथा प्लाउमैन आदि ने कुशल नेता या प्रबंधक बनने के लिए कई लक्षण बताए हैं, जैसे– निर्णायकता, उत्तरदायित्व, प्रेरक, बौद्धिक क्षमता, विश्वास, शारीरिक गुण, मनोवैज्ञानिक गुण आदि। प्रत्येक परिस्थिति में नेतृत्व सक्षम होना चाहिए। अधीनस्थ नेतृत्व से प्रेरित होने चाहिए। नेतृत्व का मूल्यांकन प्रबंधक के व्यवहार से भी किया जाता है। एक कुशल प्रबंधक ही संगठन को सफलता दिला सकता है। कर्मचारियों का सहयोग और विश्वास उत्पादन तथा ग्राहक के संतुष्टि स्तर को उच्च करता है।

नेतृत्व की अवधारणा एवं प्रकृति

किसी प्रशासन की सफलता उसके अधीनस्थ कर्मचारियों के उत्साह तथा उसके प्रति विश्वास ने मानी जाती है। यह उत्साह एवं विश्वास उत्पन्न करने के लिए प्रबंधक में नेतृत्व का गुण होना चाहिए। नेतृत्व एक ऐसी योग्यता है जिसके माध्यम से एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के समूह का पथ प्रदर्शन करता है। बर्नार्ड के शब्दों में, ''नेतृत्व से

तात्पर्य व्यक्तियों के व्यवहार का गुण है जिसके द्वारा वे संगठित प्रयासों से व्यक्तियों को पारस्परिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्वेच्छापूर्वक प्रयास करने को तत्पर करते है। नेतृत्व वह मानवीय गुण है जो किसी समूह को निर्धारित उद्देश्यों की ओर उत्साहपूर्वक बढ़ने के लिए प्रेरित करता है।

टिप्पणी

नेता वह व्यक्ति है जो अपने अनुयायियों के व्यवहार को प्रभावित करता है तथा उसके प्रयासों को उद्देश्य तथा दिशा प्रदान करता है। क्रीबिन के अनुसार, ''नेतृत्व किसी विशेष परिस्थिति में और किसी विशेष समय में किसी समूह पर प्रभाव डालने की प्रक्रिया है जिसके द्वारा संगठनात्मक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए लोगों को प्रोत्साहित किया जाता है ताकि उन्हें सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति में सहयोग देने का अनुभव तथा उपलब्ध नेतृत्व से संतुष्टि प्राप्त हो सके।"

प्रत्येक समूह को, चाहे वह बड़ा हो या छोटा, एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने सदस्यों के कार्यकलापों के पथ–प्रदर्शन, अभिप्रेरणा और निर्देशन के लिए एक प्रभावशाली नेतृत्व की आवश्यकता होती है। व्यवसाय के क्षेत्र में भी नेतृत्व की एक प्रमुख भूमिका है। किसी भी औद्योगिक संस्था की सफलता के लिए अन्य कोई वस्तु इतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितनी कि संस्था के सम्बद्ध लोगों से सामूहिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु हार्दिक सहयोग प्राप्त करने के लिए नेतृत्व। नेतृत्व, प्रबंध कला का एक महत्वपूर्ण पहलू है। वास्तव में, प्रभावी नेतृत्व की योग्यता, प्रभावी प्रबंधक बनने की एक कुंजी है तथा यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि प्रबंध के अन्य अनिवार्य कार्य करने तथा संपूर्ण प्रबंधकीय कार्य निभाने में, एक प्रबंधक प्रभावी नेता होगा।

नेतृत्व की प्रकृति

एक नेता के नेतृत्व करने की प्रकृति में निम्नलिखित बातें शामिल होती हैं–

1. नेतृत्व एक प्रभावीकरण प्रक्रिया है क्योंकि नेता का काम अधीनस्थों के दृष्टिकोण एवं व्यवहार को लक्ष्यों की दिशा में मोड़ना है।
2. नेतृत्व का प्रकार समूह की परिस्थिति तथा समय पर निर्भर करता है। समूह तथा परिस्थितियों में निरंतर परिवर्तन होता रहता है जिसके कारण नेतृत्व की शैली में सदैव परिवर्तन करना पड़ता है।
3. नेता अपने समूह का प्रतिनिधित्व करता है वह तभी सफल हो सकता है जब वह अपने अनुयायियों की समस्याओं तथा भावनाओं को समझकर उनके साथ मानवीय व्यवहार करे। अनुयायी अपने नेता का अनुकरण करते हैं अतः आदर्श आचरण द्वारा ही वह उन्हें उचित रूप से प्रभावित कर सकता है।
4. नेतृत्व एक व्यक्तिगत योग्यता है और जिस व्यक्ति में यह योग्यता विद्यमान हो उसे नेता कहते हैं। यह एक क्रियाशील या गतिशील प्रक्रिया है। जब तक संगठन में कार्य होता है तब तक नेतृत्व की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। नेता को नित्य नई परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है।
5. नेतृत्व का उद्देश्य सामूदायिक हितों की पूर्ति करना है ताकि नेता, संगठन तथा अनुयायी तीनों पक्ष इससे लाभांवित हो सके। टेरी के शब्दों में, ''नेतृत्व

पारस्परिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु व्यक्तियों को स्वैच्छिक प्रयास करने के लिए प्रेरित करने की योग्यता है।''

टिप्पणी

नेतृत्व का महत्व

नेतृत्व के बिना संगठन निष्क्रय रहता है। यह एक ऐसी प्रेरक शक्ति है जो मानवीय साधनों का सर्वश्रेष्ठ प्रयोग बनाती है। यह वह मानवीय तत्व है जो एक समूह को निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अभिप्रेरणा तथा मार्गप्रदर्श प्रदान करता है और उसे एक सूत्र में बांधता है। नेतृत्व का महत्व इसके अग्रलिखित कार्यों से आंका जा सकता है:

1. एक नेता अपने अनुयायियों के सामूहिक उद्देश्य एवं नीतियां निर्धारित करता है जिनसे उन्हें दिशा मिलती है। प्रबंधकीय नेतृत्व कर्मचारियों के अनुरूप निर्देश देता है जो उद्देश्य प्राप्ति के लिए आवश्यक है।
2. नेता सामूहिक तथा व्यक्तिगत उद्देश्यों में सामंजस्य स्थापित करता है। उनमें पारस्परिक सहयोग तथा सद्भावना उत्पन्न करता है ताकि वे व्यक्तिगत हितों से ऊपर उठकर प्रयास कर सके।
3. नेतृत्व तथा अभिप्रेरणा में गहरा संबंध है। नेता कर्मचारियों में संगठन के उद्देश्यों के प्रति लगन, उत्साह एवं विश्वास उत्पन्न करता है। वह उनके व्यवहार को उचित दिशा में प्रशस्त करता है। नेतृत्व एक साधन है तो अभिप्रेरणा उसका साध्य है।
4. नेता संगठन के सदस्यों के मध्य विचारों के निरंतर आदान–प्रदान हेतु प्रभावशाली व्यवस्था करता है। वह उनके व्यवहारों को उचित दिशा में प्रशस्त करता है।
5. संगठनात्मक उद्देश्यों की प्राप्ति के हेतु नेता अपने अनुयायियों में उत्साह, लगन एवं निष्ठा जाग्रत करता है। गतिशील नेतृत्व कर्मचारियों के लिए अभिप्रेरणा का स्रोत है। नेता संगठन में अनुशासन तथा उसके प्रति निष्ठा बनाये रखता है।

नेतृत्व के प्रकार या शैलियां

प्रत्येक नेता या प्रबंधक अपने अधीनस्थों से काम लेने के लिए विभिन्न प्रकार के चरणों एवं सिद्धांतों का प्रयोग करता है। अलग–अलग नेताओं के द्वारा अलग–अलग प्रकार से व्यवहार किया जाता है। उनके नेतृत्व के प्रकार या शैली अलग–अलग होती है। नेतृत्व के प्रकार या शैलियों को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से कई भागों में विभक्त किया जा सकता है। अधिकारों के प्रयोग के आधार पर नेतृत्व की शैली को मूलतः तीन भागों में बांटा जा सकता है – तानाशाही नेतृत्व, जनतांत्रिक नेतृत्व तथा स्वतंत्रात्मक नेतृत्व। परिणामों की दृष्टि से नेतृत्व को दो भागों में बांटा जा सकता है – उत्पादन या कार्य प्रेरित नेतृत्व तथा मानवीय संबंध प्रेरित नेतृत्व।

1. तानाशाही नेतृत्व (Autocratic Leadership)

तानाशाही नेतृत्व के अंतर्गत नेता सभी अधिकार अपने हाथ में रखता है और कर्मचारियों को सभी काम उसी प्रकार से करने पड़ते हैं जैसे कि वह आदेश दे। यदि कोई कर्मचारी

इन आदेशों का पालन नहीं करता या अपने काम में लापरवाही करता है तो उसे दंडित किया जा सकता है और यहां तक कि नौकरी से भी हटाया जा सकता है। एक तानाशाह नेता के द्वारा सभी निर्णय स्वयं लिए जाते हैं और उन सभी की जिम्मेदारी भी वह स्वयं उठाता है। अपने अधीनस्थों से कार्य लेने के लिए वह दंड तथा धमकी का प्रयोग करता है। अपने कार्य में कर्मचारियों की ओर से कोई सुझाव, सलाह या हस्तक्षेप उसे बिल्कुल पसंद नहीं होता।

टिप्पणी

- **तानाशाही नेतृत्व मॉडल**

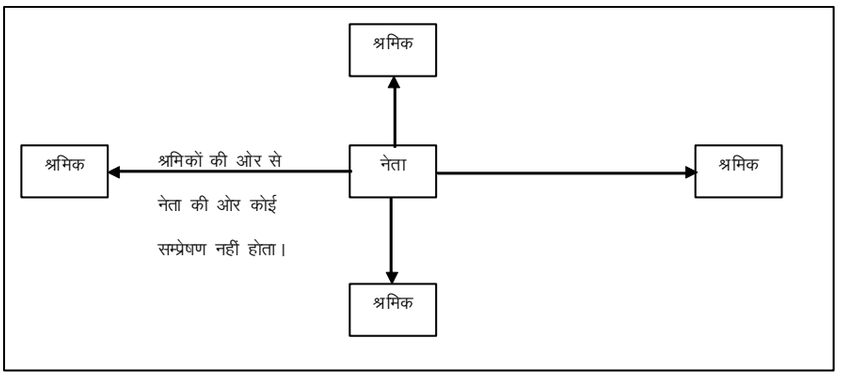

एक तानाशाही नेतृत्व की विशेषताएं संक्षेप में निम्न प्रकार हैं –

1. नेतृत्व की इस शैली में प्रबंधक यह मानकर चलते हैं कि कर्मचारी स्वभावतः आलसी व कामचोर होते हैं, केवल दबाव में काम करते हैं, धन और नौकरी की सुरक्षा चाहते हैं, तथा निरंतर व कठोर नियंत्रण में काम करते हैं।
2. नेतृत्व की इस प्रणाली में प्रत्येक प्रबंधक अपने पद और अधिकार की सीमा में समस्त निर्णय स्वयं अपनी इच्छा से और बिना किसी अन्य व्यक्ति की सलाह से लेता है।
3. इस प्रकार के नेतृत्व में प्रबंधक अपनी सत्ता औपचारिक संगठन ढांचे से प्राप्त करता है और इसे किसी के साथ बांटने के लिए तैयार नहीं होता।
4. इस प्रकार के नेतृत्व में प्रबंधक और कर्मचारियों के संबंध औपचारिकता से बंधे रहते हैं। सभी लोग केवल अपने–अपने काम से मतलब रखते हैं।
5. कर्मचारियों के बारे में गलत धारणाओं के कारण इस नेतृत्व में धमकी और सजा या आर्थिक लाभ दो ही अभिप्रेरणाएं प्रयोग की जाती हैं।
6. साधारणतया इस शैली में कर्मचारियों का व्यवहार तत्काल आज्ञाकारिता तथा नियमपरायणता का होता है।
7. नेतृत्व की इस शैली में अधीनस्थों की कार्य प्रगति पर निरंतर कड़ी निगरानी रखी जाती है जिसमें उत्पादन के लक्ष्यों को बिना किसी संदेह के प्राप्त किया जा सके।
8. इस प्रणाली में सूचनाओं का आदान–प्रदान केवल ऊपर से नीचे की ओर ही चलता है क्योंकि अधीनस्थों के सुझावों व विचारों को तो सुना ही नहीं जाता।

टिप्पणी

- **तानाशाही नेतृत्व के प्रकार** (Types ofAutocratic Leadership)

  1. **कठिन तानाशाही नेतृत्व** (ToughAutocratic Leadership) – यह अत्यंत कठोर होता है। नेता केवल अधीनस्थों को आदेश देता है तथा कर्मचारियों को आदेश मानने होते हैं। आदेश न मानने वाले को सजा दी जाती है। ऐसा नेतृत्व निम्नांकित दशाओं में चल सकता है –
     (i) जब कर्मचारी नये हों,
     (ii) शीघ्र निर्णय लेना हो,
     (iii) कार्य करना अत्यंत आवश्यक हो,
     (iv) जब कार्य करने का ढंग उपयुक्त न हो।
  2. **हितपूर्ण तानाशाही नेतृत्व** (BenevolentAutocratic Leadership) – ऐसे नेतृत्व में नेता अपने अधीनस्थों के साथ अच्छा व्यवहार करता है। यह अधीनस्थों की प्रशंसा करता है। इसे पैतृक नेता भी कहा जा सकता है।

- **तानाशाही नेतृत्व के लाभ (**Advantages ofAutocratic Leadership**)** –

  1. निर्णय एक ही व्यक्ति के द्वारा स्वयं अपनी समझ से लिए जाते हैं। ये निर्णय अधिक शीघ्रता और स्पष्टता के साथ लिए जा सकते हैं।
  2. कम योग्य प्रबंधकों से भी पूरा और सही काम लिया जा सकता है क्योंकि उन्हें कोई अलग से नियोजन, संगठन, निर्णयन नहीं करना होता।
  3. इस नेतृत्व में कर्मचारियों के काम पर कड़ा नियंत्रण रखा जा सकता है और कोई भी कर्मचारी अपने काम में लापरवाही नहीं कर सकता।
  4. प्रबंधकों को अपने कार्य से अधिक संतोष मिलता है क्योंकि वे अपना कार्य अपनी इच्छा एवं रुचि के अनुसार करवा सकते हैं और कर्मचारी उनके आदेश को कर्तव्य समझकर पूरा करते हैं।
  5. ऐसे व्यक्तियों के लिए जिनका लालन–पालन, शिक्षा व विकास अलग–अलग प्रबंधकों की कठोर देख–रेख में हुआ है, यही नेतृत्व अधिक अच्छा माना जाता है।

- **तानाशाही नेतृत्व के दोष** (Disadvantages ofAutocratic Leadership)

  1. नेतृत्व की इस शैली में निर्णय के सभी अधिकार केवल कुछ हाथों में केंद्रित रहते हैं। अतः नेता खुलकर अपनी मनमानी करता है।
  2. इस प्रणाली में कर्मचारियों का मनोबल गिरा रहता है क्योंकि उन्हें डर और धमकी दी जाती है और उन्हें इसी वातावरण में कार्य करना पड़ता है।
  3. कर्मचारी इस नेतृत्व में पूरे जोश और मन से कार्य नहीं करते क्योंकि न तो उनकी सलाह ली जाती है और न ही उन्हें अपने कार्य के बारे में कोई स्वतंत्रता दी जाती है। फलस्वरूप उनकी उत्पादकता सीमित रहती है।
  4. तानाशाही नेतृत्व किसी एक नेता के व्यक्तित्व के चारों ओर घूमता है और इसके साये में कोई दूसरा शक्तिशाली व्यक्तित्व नहीं उभरता। फलस्वरूप जब यह व्यक्तित्व नहीं रहता तो प्रबंध की संपूर्ण व्यवस्था चरमरा जाती है।

2. जनतांत्रिक नेतृत्व (Democratic Leadership)

टिप्पणी

जनतांत्रिक नेतृत्व के अंतर्गत नेता के द्वारा अधिकारों का विकेंद्रीकरण किया जाता है। यह प्रबंधक के विभिन्न कार्यों में अपने अधीनस्थों से सलाह–मशवरा करता है। अधीनस्थों को अपनी पहल क्षमता तथा योग्यता को दिखाने का अवसर प्रदान करता है और अभिप्रेरण के लिए दंड और धमकी के स्थान पर विभिन्न सुविधाओं तथा प्रार्थनाओं का प्रयोग करता है। जनतांत्रिक नेतृत्व की प्रमुख विशेषताएं संक्षिप्त में निम्नलिखित हैं –

1. इस प्रणाली में अधीनस्थों को अपने स्तर के निर्णय स्वयं लेने के अधिकार दिए जाते हैं। प्रबंधक उनके पथ प्रदर्शन के लिए सामान्य नीतियां ही बनाते हैं।
2. वे विश्वास करते हैं कि कर्मचारी स्वभाव से कार्य करना चाहते हैं, अपने कार्य में रुचि रखते हैं, उत्तरदायित्व स्वीकार करते हैं और स्वयं पहल करके, दिए गए कार्य को अधिक अच्छे ढंग से करने की योग्यता व इच्छा रखते हैं।
3. नेतृत्व की इस प्रणाली में प्रबंधकों तथा कर्मचारियों के संबंध कम तनावपूर्ण होते हैं क्योंकि उनके बीच विचारों का आदान–प्रदान निरंतर चलता रहता है और वे एक–दूसरे के साथ सहयोग करते हैं।
4. जनतांत्रिक नेतृत्व में प्रबंधकों और कर्मचारियों के बीच विचारों व सुझावों का खुला आदान–प्रदान होता है।
5. इस प्रणाली में कर्मचारी प्रबंधों के साझेदार बन जाते हैं और उनके नेतृत्व में अधिक उत्साह तथा योग्यता के साथ काम करते हैं।
6. इस नेतृत्व में प्रबंधक उन्हें अपने काम के लिए स्वयं उत्तरदायित्व स्वीकार करना सिखाते हैं। वे उनसे आशा करते हैं कि जहा तक हो सके, वे अपने लक्ष्य अपने–आप तय करें इसकी पूर्ति की रिपोर्ट स्वयं बनाएं तथा अपनी प्रगति को उत्तम बनाने के लिए प्रबंधकों को स्वयं सुझाव दें।
7. इस प्रणाली में कर्मचारियों को आर्थिक अभिप्रेरण, जैसे– ऊंचा वेतन भी देते हैं और आत्मिक अभिप्रेरण, जैसे अधिक स्वतंत्रता व अधिकार, अधिक मान व सम्मान आदि दिया जाता है।

जनतांत्रिक नेतृत्व को भी कई भागों में बांटा जा सकता है। लिकर्ट ने इसे दो भागों में विभाजित किया है–परामर्शात्मक नेतृत्व तथा भागीदारी नेतृत्व। परामर्शात्मक नेतृत्व में कर्मचारियों से सुझाव आमंत्रित किए जाते हैं। सही पाने पर उनको प्रयोग में भी लाया जाता है। विचारों का आदान–प्रदान ऊपर से नीचे तथा नीचे से ऊपर दोनों ओर होता है। कर्मचारी प्रबंध के कार्य में आंशिक रुप से भाग लेते हैं तथा कर्मचारियों को प्रेरित करने के लिए दंड, धमकी, निवेदन तथा सुविधाएं दोनों प्रकार के तरीकों का प्रयोग किया जाता है। भागीदारी नेतृत्व में नेता अपने कर्मचारियों की योग्यता पर जिम्मेदारी और पूर्ण विश्वास रखते है। सभी विषयो में उनसे राय लेते हैं तथा मिलकर निर्णय करते हैं। अभिप्रेरण के लिए आर्थिक तथा अनार्थिक पुरस्कारों का प्रयोग किया जाता है। विचारों का आदान–प्रदान अनौपचारिक भी होता है। कर्मचारियों को प्रबंध के कार्य में भाग लेने का पूरा–पूरा अवसर दिया जाता है।

टिप्पणी

- **जनतांत्रिक नेतृत्व के लाभ** (Advantages of Democratic Leadership)

1. इस प्रणाली में प्रबंधकों तथा कर्मचारियों दोनों का उत्साह ऊंचा होता है क्योंकि दोनों एक–दूसरे का सहयोग करते हैं और दोनों को ही अपने–अपने कार्य से अधिक संतोष मिलता है।
2. इसमें कुशलता अधिक होती है क्योंकि कर्मचारी प्रबंधकों के निर्देशों तथा उद्देश्यों को अधिक अच्छे ढंग से समझ जाते हैं और उन्हें अधिक उत्साह के साथ पूरा भी करते हैं।
3. जनतांत्रिक नेतृत्व में कर्मचारियों के सक्रिय सहयोग और अधिकारों के व्यापक वितरण के कारण उच्च प्रबंधकों का कार्य भार हल्का हो जाता है और वे अपनी बची हुई शक्ति को संस्था के विकास और विस्तार में लगा सकते हैं।
4. प्रबंध के कार्य में सक्रिय रूप से सहायक होने के कारण ये कर्मचारी प्रबंध की जटिलताओं को अधिक निकट से समझ लेते हैं। कर्मचारियों में इन प्रतिभाओं के विकास के कारण, संस्था में स्थिरता बढ़ती है क्योंकि किसी एक शक्तिशाली नेता के चले जाने से संस्था पंगु नहीं बनती।
5. एक संस्था में समय–समय पर तकनीकी, व्यावसायिक या बाजार संबंधी परिवर्तनों के कारण उत्पादन तथा बिक्री की नीतियों, प्रणालियों व कार्यविधियों में कई परिवर्तन करने पड़ते हैं जिन्हें कर्मचारी आसानी से स्वीकार नहीं करते क्योंकि वे उन्हें शक की निगाह से देखते हैं लेकिन जनतांत्रिक नेतृत्व में ऐसा नहीं होता क्योंकि कर्मचारी और प्रबंधक एक–दूसरे की मजबूरियों तथा भावनाओं को अच्छी तरह समझते हैं।

- **जनतांत्रिक नेतृत्व के दोष** (Disadvantages of Democratic Leadership)

1. कई बार जनतांत्रिक नेतृत्व में निर्णय शीघ्रता से नहीं लिए जा सकते क्योंकि अधीनस्थों की सलाह लेना आवश्यक है और वे स्पष्ट नहीं होते या एक मत नहीं होते।
2. प्रबंधक अधीनस्थों को कठिन निर्णयों में शामिल करके अपनी जिम्मेदारी से यह कहकर बचने लगते है कि ये निर्णय अधीनस्थों के निर्णय थे उनके नहीं।
3. कई बार अनेक अधीनस्थ चाहते हैं कि उन्हें सभी आदेश स्पष्ट रूप से दिए जाएं और उन पर कुछ नहीं छोड़ा जाए जिससे वे अपनी जिम्मेदारी से बच सकें। ऐसी स्थिति में जनतांत्रिक नेतृत्व संभव नहीं।
4. जनतांत्रिक नेतृत्व के लिए आवश्यक है कि अधीनस्थ अत्यंत समझदार हो और अपने उत्तरदायित्व को समझें क्योंकि तभी वे प्रबंध की समस्याओं के हल में अपना योगदान दे सकेंगे।

3. स्वतंत्रात्मक नेतृत्व

नेतृत्व की इस प्रणाली के अंतर्गत नेता प्रबंधक के द्वारा अपने उद्देश्यों की व्याख्या अधीनस्थों को करा दी जाती है और उसके बाद अधीनस्थों को बिल्कुल स्वतंत्र छोड़ दिया जाता है। अधीनस्थ अपने विचार के अनुसार योजना बनाते हैं और उसे लागू करते हैं। प्रबंधक उनको सभी साधन प्रदान करा देता है, उनकी प्रगति की जानकारी

रखता है तथा विभिन्न कर्मचारियों के कार्य में आवश्यक तालमेल और समन्वय स्थापित करता है, लेकिन अधीनस्थ निर्णय स्वयं लेते हैं और स्वयं ही क्रियान्वित करते हैं। स्वतंत्रात्मक नेतृत्व की मुख्य विशेषताएं संक्षेप में निम्नलिखित हैं –

टिप्पणी

1. इस नेतृत्व में प्रबंधक संपूर्ण संगठन में अधिकारों का व्यापक वितरण कर देते हैं जिससे प्रत्येक व्यक्ति को अपने अपने क्षेत्र में अपने लक्ष्य चुनने, उन्हें पूरा करने की योजना बनाने और इस योजना को क्रियान्वित करने के व्यापक अधिकार मिल जाते हैं।
2. प्रबंधक इस पद्धति में अपने अधीनस्थों को पूर्णतया योग्य, सक्रिय साहसी तथा उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति समझते हैं और उसमें पूरा विश्वास रखते हैं।
3. नेतृत्व की इस शैली में प्रबंधक अधीनस्थों को बराबर के साझेदार समझते हैं जिन्हें पूरे अधिकार तथा दायित्व सौंपे जाएं।
4. इस प्रणाली में प्रबंधक से संबंधित निर्णय अधीनस्थों के द्वारा स्वयं एक–दूसरे की सलाह से लिए जाते हैं। प्रबंधक केवल इसमें सलाह देते हैं।
5. उच्च प्रबंधक केवल समन्वय, निर्देशन तथा सामान्य नियंत्रण का काम करते हैं।
6. नेतृत्व की इस प्रणाली में अधीनस्थ कर्मचारियों का पर्यवेक्षण व नियंत्रण प्रबंधकों के द्वारा नहीं बल्कि कर्मचारियों के द्वारा स्वयं किया जाता है।
7. इस नेतृत्व में अधीनस्थ अपनी–अपनी जिम्मेदारी को कुशलता के साथ पूरा करने के लिए आपस में निरंतर विचार विनिमय बनाए रखते हैं। यही नहीं, प्रबंधकों तथा अधीनस्थों के बीच विचारों का आदान–प्रदान खुले रूप में चलता रहता है।

- **उपयुक्तता** (Suitability) – स्वतंत्र नेतृत्व निम्नलिखित दशाओं में उपयुक्त माना जाता है –

1. जब अधिकारों का पर्याप्त प्रत्यायोजन हो गया हो,
2. कर्मचारी कार्यों से अधिकतम संतुष्ट हों,
3. कर्मचारी प्रशिक्षित व बुद्धिमान हों,
4. जहां कर्मचारी अपने दायित्वों को समझते हों,
5. जहां पर्याप्त अभिप्रेरणा हो।

- **स्वतंत्र नेतृत्व के लाभ** (Advantages)

1. उच्च स्तर के प्रबंधकों तथा पेशेवर लोगों का अभिप्रेरण करने में यह प्रणाली बहुत सहायक सिद्ध होती है क्योंकि उन्हें रुचिकर काम भी मिलता है और इस काम को इच्छा के अनुसार बढ़िया करने की स्वतंत्रता भी होती है।
2. इस नेतृत्व में भी संस्था के विकास और विस्तार की अनेक संभावनाएं बन जाती हैं क्योंकि प्रबंधक अधीनस्थों की चिंता से मुक्त होकर अपना अधिक से अधिक समय इन्हीं कामों में लगा सकते हैं।
3. स्वतंत्र नेतृत्व में अधीनस्थ कर्मचारी अपना काम स्वयं नियोजित व संगठित करते हैं। फलस्वरूप प्रबंधकों पर उनकी निर्भरता बहुत कम हो जाती है।

टिप्पणी

- **स्वतंत्र नेतृत्व के दोष** (Disadvantages)

1. अधीनस्थों के स्वतंत्र हो जाने पर प्रबंधकों को इनके कामों में तालमेल बैठाना बहुत कठिन हो जाता है क्योंकि कभी–कभी ये व्यक्ति लक्ष्यों की सफल पूर्ति के लिए दूसरे व्यक्तियों की लक्ष्य पूर्ति में बाधक बन जाते हैं।
2. इस प्रणाली में प्रबंधक की स्थिति बेमानी हो जाती है क्योंकि न तो वह योजना बनाता है और न ही कोई नियंत्रण करता है। उनका काम तो केवल अधीनस्थों की पुकार पर उनका सहायक बनकर खड़े हो जाना है।
3. नेतृत्व की यह शैली उच्च स्तर के प्रबंधकों या पेशेवर लोगों के नेतृत्व में तो प्रभावशाली सिद्ध होती है, निम्न स्तर के कर्मचारियों के नेतृत्व में नहीं।

4. नौकरशाह या शासन केंद्रित नेतृत्व (Bureaucratic or Rules Centred Leadership)

नेता का व्यवहार नियमों और प्रक्रियाओं पर विश्वास से प्रभावित होता है। इसमें प्रशासन का कार्य अनिवार्य बनकर रह जाता है। नियमों से विचलित होने की संभावना नहीं होती है तथा अधिकारियों और कर्मचारियों की कोई भागीदारी नहीं होती। कार्य में नये विचारों, शोध और विकास की कोई जगह नहीं होती।

नियमों और औपचारिकताओं पर अति निर्भरता से लाल फीताशाही बनी रहती है। कागजी कार्य ज्यादा होता है। कर्मचारी अपना कार्य भागीदारी की भावना के बिना करते हैं।

5. दक्षतापूर्ण नेतृत्व (Manipulative Leadership)

इसमें लक्ष्यों में प्राप्ति के लिए अधिकारियों को कर्मचारियों से दक्षता की प्रवृत्ति से कार्य करवाना होता है। कर्मचारियों की इच्छाओं और अपेक्षाओं का उपयोग किया जाता है। दक्ष नेता अपने कर्मचारियों की इच्छाओं के बारे में संवेदनशील होता है और उनकी जरूरतों को निष्पादन के लिए प्रयोग करता है।

उपयुक्तता (Suitability) – यह अग्र दशाओं में उपयुक्त रहता है –

1. उन संगठनों में जहां समन्वय आवश्यक है और पूर्व का नेता समूह को उचित ढंग से प्रेरित करने में असफल रहा हो।
2. यदि उच्च प्रेरित कर्मचारियों की आवश्यकता परियोजनाओं के लिए हो।
3. यदि अस्थायी लाभांश दिए जाएं और पुरस्कारों का भ्रम हो तथा कर्मचारी लघुकाल के लिए प्रेरित हों।

6. पैतृक नेतृत्व (Paternalistic Leadership)

पैतृक नेतृत्व शैली में नेता कर्मचारियों के पिता के समान है। वह कर्मचारियों को एक पिता के समान देखभाल करता है। अपने कर्मचारियों को रास्ते दिखाता है। खतरों से रक्षा तथा सहायता करता है।

कन्ट्री क्लब प्रबंधन (Country Club Management) – यह नेतृत्व अच्छा माना जाता है क्योंकि इसमें कार्मिक वर्ग की आवश्यकतायें एवं उनकी सलाह को उत्पादन से अधिक महत्व दिया जाता है। यह नेतृत्व 10 प्रतिशत उत्पाद के लिए तथा 90 प्रतिशत लोगों के लिए है। प्रबंध यह मानता है कि यदि कर्मचारियों को उचित अवसर

एवं प्रेरणा दी जाए तो वे कार्य करने एवं उत्तरदायित्व लेने में समर्थ होते हैं। कर्मचारियों की गलतियों को गंभीरता से नहीं लिया जाता। कर्मचारी द्वारा संगठन को एक क्लब की भांति माना जाता है। कर्मचारियों की निर्णयन में अधिक भागीदारी के कारण वे अधिक संतुष्ट रहते हैं तथा उच्च परिणाम देते हैं।

टिप्पणी

7. उत्पादन प्रेरित नेतृत्व (Production Oriented Leadership)

उत्पाद प्रेरित नेतृत्व की प्रणाली फीडलर ने प्रस्तुत की। इस प्रणाली के अंतर्गत काम तथा उत्पादन को अधिक महत्व दिया जाता है। उत्पादन बढ़ाने की दृष्टि से सभी आवश्यक कार्य किए जाते हैं। यद्यपि इस प्रणाली में कर्मचारियों को कुछ सुविधायें भी दी जाती हैं, लेकिन उनका उद्देश्य उत्पादकता एवं उत्पादन बढ़ाना होता है। उत्पादन प्रेरित नेतृत्व की मुख्य विशेषतायें संक्षेप में निम्नलिखित हैं –

1. नेतृत्व की इस शैली में प्रबंधकों तथा कर्मचारियों के संबंध संगठन के ढांचे में ढले संबंधों तक सीमित रहते हैं। विचारों व आदेशों का आदान–प्रदान भी उसी श्रृंखला (Chain) में किया जाता है और काम को करने के नियम भी पहले से तय होते हैं।
2. उत्पादन की विधि को सरल तथा प्रमापित बनाया जाता है, काम करने के निश्चित मापदंड स्थापित किए जाते हैं, काम करने की दशाओं में सुधार किया जाता है और कर्मचारियों को अधिक उत्साह के साथ काम करने के लिए अधिक पारिश्रमिक का लालच भी दिया जाता है।
3. कर्मचारियों की उत्पादकता ऊंची होती है लेकिन उनका मनोबल इतना ऊंचा नहीं होता क्योंकि वे अपने आपको न तो उपक्रम के साथ जोड़ पाते हैं और न प्रबंधक के साथ।

8. मानवीय संबंध प्रेरित नेतृत्व (Human Relations Oriented Leadership)

मानवीय संबंध प्रेरित नेतृत्व की प्रणाली के अंतर्गत प्रबंधक अधीनस्थों का नेतृत्व और निर्देशन करते हैं, उसकी सुविधाओं का पूरा ध्यान रखते हैं, उनके सुझावों और विचारों को भी सुना जाता है तथा उनकी प्रतिभाओं के विकास के लिए प्रयास किया जाता है। इस नेतृत्व की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

(अ) इस प्रणाली में कर्मचारियों को न केवल वर्तमान कार्य को अधिक से अधिक कुशलता के साथ करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है बल्कि उनकी विशिष्ट प्रतिभाओं को समझकर उन्हें चमकने का अवसर भी दिया जाता है।

(ब) इस शैली में प्रबंधक अपने अधीनस्थों को पुरस्कार के लालच से अभिप्रेरित करता है दंड के भय से नहीं। अतः इस प्रणाली में दण्ड का भय नहीं होता बल्कि पुरस्कार का लालच अवश्य होता है। साथ ही कर्मचारियों के उत्साह और सहयोग को अधिक बनाने के लिए प्रबंधक उन्हें प्रबंध संबंधी निर्णयों में सलाहकार भी बनाता है और उनके सुझावों तथा विचारों को ध्यान से सुनता है।

(स) इस प्रणाली में कर्मचारियों के साथ मानवोचित व्यवहार करने का सुझाव दिया जाता है। इसमें कर्मचारियों की व्यक्तिगत भिन्नताओं को भी समझा जाता है और उनकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं पर भी ध्यान दिया जाता है।

टिप्पणी

9. अव्यक्तिगत नेतृत्व (Impersonal Leadership)

इस नेतृत्व की स्थापना प्रत्यक्ष रूप से नेताओं व उपनेताओं के अधीन कर्मचारियों के माध्यम से होती है। इसमें समस्त निर्देश, आदेश, योजनाएं आदि का समावेश होता है।

10. व्यक्तिगत नेतृत्व (Personal Leadership)

इसकी स्थापना व्यक्तिगत संबंधों के आधार पर होती है। ऐसा नेता किसी कार्य के निष्पादन के संबंध में निर्देश व्यक्तिगत रूप में देता है। यह नेता अधिक प्रभावी होता है इसमें नेता के बौद्धिक ज्ञान का विशेष महत्व होता है।

11. संस्थात्मक नेतृत्व (Institutional Leadership)

ऐसे नेतृत्व के नेता को अपने पद के प्रभाव से उच्च स्थिति प्राप्त होती है। वह अपने अनुयायियों को प्रभावित करने की स्थिति में होता है। उदाहरण के लिए, उच्च पदों पर स्थित लगभग सभी अधिकारियों का अपने अनुयायियों का एक विशिष्ट समूह होता है जिसे वे हर संभव तरीकों से सहयोग प्रदान करते हैं।

12. स्वदेशी नेतृत्व (Indigenous Leadership)

इसका उद्‌गम औपचारिक सामाजिक समूहों द्वारा होता है। वे व्यक्तियों के कार्यों में समन्वय स्थापित करते हैं।

नेता तथा शक्ति की राजनीति (Leader and Power Politics)

अपनी प्रकृति से एक नेता शक्ति तथा राजनीति से व्यवहार करता है। शक्ति (Power) अन्य लोगों तथा घटनाओं को प्रभावित करने की योग्यता है। यही वह तरीका है जिसमें एक नेता दूसरों पर अपना प्रभाव स्थापित करता है। यह अधिसत्ता (Authority) से भिन्न होती है। अधिसत्ता का संगठन में वरिष्ठ से कनिष्ठ को भारार्पण होता है। लेकिन दूसरी ओर शक्ति अपने व्यक्तित्व, गतिविधियों तथा उस परिस्थिति के आधार पर एक नेता द्वारा अर्जित तथा प्राप्त की जाती है जिसमें वह काम करता है।

राजनीति उन तरीकों से संबंधित होती है जिसमें एक नेता शक्ति पाता है तथा उसको काम लाता है यह राजनीति के ही कारण संभव होता है कि एक नेता घटनाओं तथा लोगों पर नियंत्रण पाने में समर्थ हो पाता है। राजनीति शक्ति के संतुलनों (Balances of Power), खरीद–फरोख्त (Horse Trading), प्रशंसक बनाने (Making Fans), समझौतों (Compromises) तथा अनेक प्रकार की दूसरी गतिविधियों से संबंधित होती है।

नेता की शक्ति के स्रोत (Sources of Leader's Power)– राजनीति में आम व्यक्तियों या ग्रुपों पर किसी न किसी प्रकार के दबाव या शक्ति के उपयोग का समावेश होता है। नेता शक्ति के निम्न स्रोतों का उपयोग करते हैं–

1. व्यक्तिगत शक्ति (Personal Power) – इसको संदर्भ शक्ति (referent power), अद्‌भुत शक्ति (Charismatic Power) तथा व्यक्तित्व की शक्ति (Power of Personality) भी कहा जाता है तथा यह स्वयं लीडर से ही आती है। यह अपने व्यक्तित्व की ताकत पर अनुयायी (Followers) विकसित करने के लिए लीडर की योग्यता होती है। महात्मा गांधी में प्रचुर व्यक्तिगत ताकत थी जिसके कारण भारत की

आजादी पाने के लिए करोड़ों लोग उनके पीछे–पीछे आ गए थे, यहां तक कि बापू के शहीद होने के बाद भी लोग उनके आदर्शों का पालन करते हैं।

टिप्पणी

2. वास्तविक शक्ति (Legitimate Power) – यह पदस्थिति की ताकत (position power) तथा औपचारिक शक्ति (official or formal power) भी कहलाती है। यह संगठन में अधिसत्ता की पदस्थिति धारण करने पर आधारित होती है। उच्च पदस्थिति के कारण अधिकारीगण अधीनस्थों से अपने आदेशों की तामील करा पाते हैं। वास्तविक ताकत लीडर को संसाधनों पर नियंत्रण पाने तथा दूसरों को पुरस्कृत या दंडित करने की व्यवस्था करती है। अधीनस्थ इस शक्ति को स्वीकार कर लेते हैं क्योंकि उनको विश्वास होता है कि यह संगठन में व्यवस्था बनाए रखने के लिए आवश्यक तथा वांछनीय हैं।

3. विशेषज्ञ शक्ति (Expert Power) – यह दक्षता या ज्ञान के विशिष्ट क्षेत्र से उभरती है। अतः इसको ज्ञान की अधिसत्ता (authority of knowledge) भी कहा जाता है। उदाहरण के लिए एक डॉक्टर की अपने मरीजों पर विशेषज्ञ शक्ति प्रयुक्त होती है। इस शक्ति का उपयोग इस विश्वास पर आधारित होता है कि प्रभावधारक जैसे डॉक्टर के पास एक ऐसी दक्षता है जिसकी मरीज को जरूरत है। यह शक्ति शिक्षा, प्रशिक्षण तथा अनुभव पर निर्भर करती है।

4. राजनैतिक शक्ति (Political Power) – यह एक ग्रुप के समर्थन से आती है। यह अपनी संबद्धता तथा समर्थन पाने के लिए सामाजिक तंत्र तथा लोगों के साथ काम करते लीडर की योग्यता से उभरती है जब संगठनात्मक वातावरण अनिश्चित होते हैं। राजनैतिक शक्ति पाने के लिए अनेक हथकंडे अपनाये जाते हैं, जैसे–सामाजिक आदान–प्रदान या ट्रेड आफ्स, सूचनाओं का नियंत्रण, गठजोड़ (Alliance), नेटवर्क, सहयोग, दबाव आदि। विशेषतः प्रभावशाली लोगों के साथ मजबूत अंतः व्यैक्तिक संबंध एक राजनैतिक आधार बनाने के लिए जरूरी होते हैं। लीडर को अपने प्रभाव के क्षेत्र तथा स्तर को बढ़ाने के लिए शक्ति के सभी आधारों का प्रयोग करना चाहिए।

3.4.1 अधिकार

प्रशासनिक कार्यों के निष्पादन के लिए प्रशासन को अधिकारों की आवश्यकता होती है। इसके आधार पर ही वह अपने अधीनस्थों को कार्य का निष्पादन करने का आदेश देता है। अधिकार से आशय विशिष्ट स्वत्व (Rights), शक्ति अथवा अनुमति से लगाया जाता है। यदि अधिकार न हो, तो वह प्रबंधक ही नहीं है। अधिकार से आशय किसी व्यक्ति को प्राप्त उस शक्ति से होता है जिसके आधार पर वह अधीनस्थों को कार्य के निष्पादन के संबंध में आदेश देता है तथा उनसे कार्य लेता है। संगठन के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए संगठन के अंतर्गत कार्य करने की गतिविधियों का मार्गदर्शन करने तथा उससे कार्य लेने के आदेश देने हेतु प्राप्त शक्ति अधिकार होती है।

अधिकार एक वैधानिक सही शक्ति है अर्थात यह आदेश देने अथवा कार्य कराने का अधिकार है। प्रबंधक के क्षेत्र में अधिकार शब्द का उपयोग करने पर इसका आशय इस प्रकार है– ''अधिकार, दूसरों को आदेश देने की शक्ति है। यह उपक्रम अथवा विभागीय लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए, शक्ति प्राप्तकर्ता के निर्देशों के अनुरूप कार्य

करने अथवा न करने का आदेश है।'' शक्ति में आदेशों का पालन निहित होता है। आदेशों का यह पालन मंजूरी, शक्ति, प्रार्थना, उत्पीड़न, डांट–डपट, आग्रह, आर्थिक या अनार्थिक दंड अथवा प्रतिबंधों द्वारा कराया जा सकता है।

टिप्पणी

अधिकार की परिभाषा

प्रशासनिक व्यवस्था में अधिकार या सत्ता शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। इसका कारण अधिकार के विभिन्न स्रोतों का होना है। विभिन्न विद्वानों ने सत्ता को अलग–अलग प्रकार से परिभाषित किया है। यहां कुछ प्रमुख परिभाषाओं का उल्लेख किया गया है–

- ऐलन (Allen) के अनुसार, ''सत्ता उन समस्त अधिकारों एवं शक्ति का योग है जो किसी व्यक्ति को प्रत्यायोजित कार्यों के निष्पादन को संभव बनाने के लिए सौंपे जाते हैं।''
- हेनरी फेयोल (Henry Fayol) के अनुसार, ''आदेश प्रदान करने को अधिकार तथा आज्ञा पालन के लिए बाध्य करने की शक्ति को सत्ता कहते हैं।''
- एच.ए. साइमन (H.A. Simon) के अनुसार, ''अधिकार सत्ता निर्णय लेने एवं अन्य व्यक्तियों की क्रियाओं को मार्गदर्शित करने की शक्ति है। यह दो व्यक्तियों के मध्य उच्चाधिकारी एवं अधीनस्थ का संबंध है। उच्च अधिकारी निर्णय लेते हैं एवं इस आशा एवं विश्वास के साथ उनका संवहन करते हैं कि अधीनस्थ उनका पालन करेंगे। अधीनस्थों के क्रियाकलाप ऐसे निर्णयों से ही निर्धारित होते हैं।''
- कूण्टज एवं ओ' डोनेल (Koontz and O' Donnell) के अनुसार ''अधिकार तात्पर्य वैधानिक या स्वत्वाधिकार से संबंधी शक्ति से होता है। दूसरे शब्दों में, आदेश देने या कार्य करने का स्वत्व ही अधिकार है।''
- थियो हैमेन (Theo Haimann) के अनुसार, ''अधिकार वह उचित कानूनी शक्ति है जिसे धारण करने वाला अपने अधीन व्यक्ति को कुछ करने या न करने का आदेश दे सकता है और यदि वह इन निर्देशों का अनुसरण न करे तो प्रबंधक इस स्थिति में होता है कि आवश्यक होने पर अनुशासन की कार्यवाही कर सके, यहां तक कि अधीन व्यक्ति को नौकरी से अलग कर दे–अधिकार के बिना केवल अस्त–व्यस्तता ही बढ़ेगी।''

अधिकार–सत्ता की विशेषताएं

अधिकार–सत्ता अन्य लोगों से कार्य करवाने का अधिकार और शक्ति है। इस की विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

1. अधिकार–सत्ता वैधानिक, अनौपचारिक या तकनीकी हो सकती है।
2. अधिकार–सत्ता का प्रयोग निर्णय लेने में किया जाता है जिसे अधनीस्थों द्वारा क्रियान्वित किया जाता है।
3. शीर्ष संगठनात्मक स्तरों पर अधिक अधिकार–सत्ता पाई जाती है।
4. अधिकार–सत्ता अधिकारी और अधीनस्थ के बीच संबंध निर्मित करती है।
5. अधिकार–सत्ता अधीनस्थ की इस स्वीकृति को दर्शाती है कि अधिकारी को आदेश देने का अधिकार है।

अधिकार के स्रोत

टिप्पणी

अधिकार अपने कार्यक्षेत्र में स्वतंत्र निर्णय लेने के अधिकार से लेकर अपना कार्य कुशलतापूर्वक करने के लिए निश्चित धनराशि खर्च करने, संस्था को अपने वचन से वचनबद्ध करने के अधिकार तक, कुछ भी हो सकता है। प्रबंध के क्षेत्र में यह अधिकार, सहायक लोगों को आदेश देने तथा उनसे आदेश पूर्ति प्राप्त करने से संबंध रखता है। अधिकार के उपयोग का मुख्य उद्देश्य अधीनस्थों के व्यवहार को इस प्रकार प्रभावित करना है कि वे संगठन के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सही समय पर सही काम कर सकें। अधिकार सामान्यतः ऊपर से प्राप्त किए जाते हैं क्योंकि किसी भी संगठन के संस्थापक उस संगठन के अधिकार–स्रोत कहलाते हैं, लेकिन कुछ परिस्थितियों में ये नीचे से या बराबर के स्रोत से भी अधिकार प्राप्त किए जा सकते हैं।

1. औपचारिक अधिकार का सिद्धांत (Theory of FormalAuthority) – इस विचारधारा के अनुसार प्रत्येक अधिकारी को सत्ता अपने से उच्च अधिकारी से प्राप्त होती है और इस दृष्टि से मुख्य प्रबंधक सत्ता का स्रोत होता है। यदि सत्ता स्रोत की खोज आगे भी जारी रखी जाए तो हम पाएंगे कि मुख्य प्रबंधक को, कंपनी के सभापति (Chairman) को संचालक मंडल और संचालक मंडल को संस्थान के अंशधारियों अथवा स्वामियों से सत्ता प्राप्त होती है। अतः संस्थान के स्वामियों में सत्ता का अंतिम निवास माना जा सकता है, लेकिन सत्ता स्रोत की खोज को सत्ता कहां से प्राप्त होती है? स्वामियों को सत्ता देश के विधान के अंतर्गत प्राप्त होती है। जबकि संविधान देश के सभी विधान का मूल स्रोत माना जा सकता है। संविधान का निर्माण, संशोधन एवं परिवर्तन, देशवासियों द्वारा किया जा सकता है और इस प्रकार किसी भी प्रजातांत्रिक देश में सर्वोच्च सत्ता देशवासियों के हाथों में रहती है। इस प्रकार सत्ता सामाजिक स्वीकृति पर निर्भर करती है। एक बड़ी संस्था में सत्ता का विवरण ऊपर से नीचे की ओर किया जाता है। संगठन की सर्वोच्च सत्ता इसके संस्थापकों के हाथों में मानी जाती है जो इसे सर्वोच्च प्रबंधकों के हाथ में सौंप देते हैं। सर्वोच्च प्रबंधक क्योंकि सारा काम स्वयं नहीं कर पाते, इसलिए अपनी सहायता के लिए सहायक अधिकारी नियुक्त करते हैं और उन्हें उनकी निपुणता व उत्तरदायित्व के अनुरूप कुछ काम सौंप देते हैं। ये सहायक प्रबंधक भी अपनी पारी में अपनी जिम्मेदारी बढ़ जाने पर आगे कुछ सहायक नियुक्त करते हैं और उन्हें सौंपे गए कार्यों के अनुरूप कुछ अधिकार सौंप देते हैं। प्रबंधकों की यह क्रमिक नियुक्ति एक ओर संगठन के औपचारिक ढांचे को जन्म देती है और दूसरी ओर संगठन से संबंध अधिकारों को तरह–तरह के अधिकारियों से युक्त कर देती है।

2. स्वीकृति का सिद्धांत (Theory ofAcceptance) – साइमन तथा बर्नार्ड इस सिद्धांत के प्रवर्तक माने जाते हैं। इन विद्वानों के मतानुसार किसी भी प्रबंधक के अधिकारों का अस्तित्व केवल उसी दशा में होता है जबकि अधीनस्थ कर्मचारी उन्हें स्वीकार करें। औपचारिक सत्ता एक नाममात्र की सत्ता है। यह सत्ता उसी समय प्रभावशाली बन पाती है, जबकि अधीनस्थ (subordinates) इस सत्ता को स्वीकार कर लें। इस प्रकार सत्ता का वास्तविक स्रोत उन व्यक्तियों में निहित होता है जिन पर सत्ता का प्रयोग किया जाना है और जो इस प्रकार के प्रयोग को स्वीकृति प्रदान करते हैं। टैननबाम (Tannenbaum) के अुनसार, किसी व्यक्ति के पास औपचारिक सत्ता हो सकती

टिप्पणी

है लेकिन यह सत्ता उस समय तक व्यर्थ ही होगी, जब तक कि उसका प्रभावशाली ढंग से प्रयोग न किया जा सके। सत्ता के प्रभावशाली प्रयोग के लिए अधीनस्थों की स्वीकृति आवश्यक है। अधीनस्थ आदेश की सत्ता को उस समय 'स्वीकार' करेगा जबकि वह उन आदेशों को समझता हो तथा उसे विश्वास हो कि आदेश संगठन के उद्देश्यों के अनुरूप है तथा उसके स्वयं के हितों के विरुद्ध नहीं है और वह उन्हें शारीरिक तथा मानसिक रूप से पूरा करने के लिए सक्षम है।

3. क्षमता का सिद्धांत (Theory of Competence) – कभी–कभी प्रभावशाली व्यक्तित्व भी अधिकार के स्रोत का कार्य करता है। उदाहरण के लिए, ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जिन्हें यद्यपि औपचारिक रूप से कुछ भी अधिकार प्राप्त नहीं होते, किंतु प्रभावी व्यक्तित्व तथा विशिष्ट तकनीकी योग्यता के कारण उन्हें विशेष मान्यता दी जाती है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ऐसे ही प्रभावशाली व्यक्तियों में से थे, जिनसे अनेक व्यक्ति आदेश प्राप्त करते थे। अनेक कुशल इंजीनियर तथा विद्वान अर्थशास्त्री भी इसी श्रेणी में सम्मिलित किए जा सकते हैं। इसी प्रकार धार्मिक संस्थाओं के प्रबंधकों के अधिकार प्रायः समाज के मूलभूत आदर्शों तथा व्यक्तियों के आचरणों द्वारा निर्धारित होते हैं एवं उनमें परिवर्तन होने पर प्रबंधकों के अधिकारों में भी परिवर्तन हो जाता है। इस विचारधारा के अनुयायी उच्च अधिकारी अपने क्षेत्र में स्वीकृति, योग्यता व निपुणता को उसके अधिकार और सत्ता का स्रोत मानते हैं। उदाहरण के लिए, औद्योगिक संगठन में एक औद्योगिक मनोवैज्ञानिक से इसलिए सलाह ली जाती है क्योंकि वह संस्था में लगे कर्मचारियों के मनोविज्ञान के बारे में एक साधारण प्रबंधक से कहीं अधिक जानता है और इसलिए कर्मचारी प्रबंधक को कार्य करने के अच्छा वातावरण तैयार करने में, उनके लिए सही प्रेरणात्मक पारिश्रमिक नीति तय करने में, तथा औद्योगिक संबंधों को अधिक मधुर बनाने की दशा में कहीं अधिक अच्छा परामर्श दे सकता है।

3.4.2 प्रत्यायोजन

प्रशासकीय संगठन में प्रत्यायोजन अथवा प्रत्याधिकरण का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है। पदसोपान की पद्धति का सार इसी में निहित है। प्रशासन को ठीक ढंग से चलाने के लिए इसकी अत्यधिक आवश्यकता है। वास्तव में कोई प्रशासकीय अधिकारी अकेले ही सभी कार्यों को पूरा नहीं कर सकता है, उसे अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के बीच कार्यों का बंटवारा करना पड़ता है। पदाधिकारियों को अपने प्रशासकीय अधिकार अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को सौंपने पड़ते हैं। ऐसा करने पर ही अधीनस्थ कर्मचारी प्रदत्त कार्यों के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह कर सकते हैं। शक्तियों के समर्पण को ही सत्ता का प्रत्यायोजन कहा जाता है। अपनी शक्तियों के समर्पण के बावजूद उच्च पदाधिकारी अपने कार्यों के अंतिम दायित्व से मुक्त नहीं हो पाता।

इस प्रकार, प्रत्यायोजन की व्यवस्था में दायित्व के दो रूप देखने को मिलते हैं। अधीनस्थ कर्मचारियों का दायित्व यह होता है कि वे उन्हें सौंपे गए कार्यों को पूरा करें तथा उच्च पदाधिकारी का दायित्व होता है कि वह कार्यों को पूरा कराए। इसे मूने के इन शब्दों से समझा जा सकता हैः "प्रत्यायोजन का अर्थ है उच्च पदाधिकारी द्वारा विशिष्ट सत्ता का सौंपा जाना।" सत्ता के प्रत्यायोजन की व्याख्या टेरी ने भिन्न ढंग से

की है। उनके अनुसार, "प्रत्यायोजन का अर्थ है एक कार्यपालिका से अथवा संगठन की किसी इकाई से सत्ता दूसरे को प्रदान किया जाना।''

न्यूमैन के शब्दों में, "साधारण शब्दों में सत्ता के प्रत्यायोजन का अर्थ है किसी को कुछ करने का आदेश देना।"

टिप्पणी

प्रत्यायोजन की आवश्यकता

प्रत्यायोजन का अर्थ समझने के बाद यह समझना आवश्यक है कि उच्च पदाधिकारियों के लिए प्रशासकीय शक्तियां अपने अधीनस्थों को हस्तांतरित करने की आवश्यकता क्यों पड़ती है। प्रत्यायोजन की आवश्यकता निम्नलिखित कारणों से पड़ती है–

1. किसी भी उच्च पदाधिकारी के लिए संभव नहीं है कि वह सभी कार्यों को स्वयं पूरा करके अपने दायित्वों का निर्वाह कर सके। यह उसकी शक्ति से बाहर की बात है, इसलिए उसे अपने कुछ अधिकार अपने अधीनस्थों को सौंपने पड़ते हैं।
2. बिना प्रत्यायोजन के कोई अधीनस्थ कर्मचारी अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह अच्छे ढंग से नहीं कर सकता।
3. प्रशासन में कार्यकुशलता कायम करने के लिए भी प्रत्यायोजन आवश्यक है। इससे उच्च पदाधिकारी का कार्यभार कम हो जाता है, फलस्वरूप प्रशासन में कार्यकुशलता में वृद्धि की संभावना बढ़ जाती है।
4. कर्मचारियों में सहयोग तथा आत्मविश्वास उत्पन्न करने के लिए भी प्रत्यायोजन की आवश्यकता पड़ती है।

प्रत्यायोजन के लाभ – प्रत्यायोजन की आवश्यकता के कारणों की विवेचना से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह एक लाभदायक प्रक्रिया है। इसके उपयोग से कई लाभ प्राप्त होते हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत है।

1. **कार्यकुशलता** – किसी भी उच्च पदाधिकारी के लिए यह संभव नहीं है कि वह उन सभी शक्तियों का प्रयोग स्वयं करे, जो कानूनी रूप से उसे प्राप्त हैं। प्रत्यायोजन की व्यवस्था के अनुरूप वह अपनी शक्तियां अधीनस्थों को हस्तांतरित कर देता है, जिससे उसके कार्य का बोझ हल्का हो जाता है और वह अपने संगठन की कार्य प्रक्रिया पर प्रभावशाली नियंत्रण रखने में समर्थ होता है। इस प्रकार इस पद्धति से सबको उन कार्यों के संपादन का अवसर मिल जाता है, जिन्हें करने की उनमें योग्यता और रुचि होती है। इससे भी संगठन की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है।
2. **प्रशिक्षण** – प्रत्यायोजन की व्यवस्था में अधीनस्थों को कुछ कार्य सौंपे जाते हैं, जिनका तात्कालिक उत्तरदायित्व उन पर डाला जाता है, यद्यपि उनका अंतिम उत्तरदायित्व उन पर नहीं रहता। इस प्रकार अंतिम रूप से उत्तरदायित्व दिए बिना अधीनस्थों को जो कार्य सौंपे जाते हैं, वे उनमें प्रशिक्षित होते हैं।
3. **नियंत्रण** – संगठन के विभिन्न स्तरों के बीच सत्ता का प्रत्यायोजन होने से प्रत्येक पदाधिकारी को क्या करना है, यह निश्चित हो जाता है। कार्यों का क्षेत्र तथा सीमाएं निश्चित हो जाने से कार्य में कहीं गड़बड़ी होने पर तुरंत पता चल जाता है कि इसके लिए कौन पदाधिकारी उत्तरदायी है। इस

टिप्पणी

प्रकार सर्वोच्च पदाधिकारी का उचित नियंत्रण संपूर्ण संगठन पर स्थापित हो जाता है।

4. **मितव्ययिता** – प्रत्यायोजन की व्यवस्था से संगठन में मितव्ययिता में भी वृद्धि होती है। इस अवस्था के अभाव में संगठन के सर्वोच्च पदाधिकारी को ही सभी कार्य संपन्न करने पड़ते हैं, जिससे फिजूलखर्ची की संभावना बनी रहती है। इसका कारण यह है कि सर्वोच्च पदाधिकारी को नीचे के स्तर का पर्याप्त ज्ञान नहीं रहता। ऐसे में व्यय का आवश्यकता से अधिक होना स्वाभाविक है। इस प्रकार प्रत्यायोजन के कारण होने वाली मितव्ययिता के फलस्वरूप संगठन का अपव्यय रुक जाता है।

5. **कार्यों के संपादन में अनावश्यक विलंब से बचाव** – संगठन की सभी बातों से संबद्ध निर्णय लेने की शक्ति एक व्यक्ति के हाथ में केंद्रित होने से कार्य में विलंब होना स्वाभाविक है। प्रत्यायोजन के अभाव में सर्वोच्च पदाधिकारी को ही कार्यों से संबद्ध सभी निर्णय लेने पड़ते हैं। अधीनस्थ अधिकारी द्वारा लिए गए निर्णयों को कार्यान्वित करने से पहले सर्वोच्च पदाधिकारी की अनुमति लेनी पड़ती है, जिससे कार्यों के निष्पादन में अनावश्यक विलंब होता है। इसके विपरीत प्रत्यायोजन के कारण कार्यों के संपादन में अनावश्यक विलंब नहीं होता।

प्रत्यायोजन की सीमाएं–सत्ता का प्रत्यायोजन संगठन की एक उपयोगी विशेषता है, परंतु इसकी भी अपनी सीमाएं हैं। इस संबंध में हेमेन ने ठीक ही कहा है कि "समस्या यह नहीं है कि कोई प्रबंधक सत्ता को प्रत्यायोजित करता है या नहीं। महत्वपूर्ण यह है कि वह किस सीमा तक अपनी सत्ता को प्रत्यायोजित करता है – कितना ज्यादा या कितना कम।"

इस प्रकार प्रत्यायोजन की कुछ सीमाएं भी हैं, जो निम्नवत् हैं–

1. संगठन की स्थापना के समय ही यह निश्चित कर दिया जाता है कि कौन अधिकारी अपनी सत्ता किस अधिकारी को और किस सीमा तक प्रत्यायोजित करेगा। देश के संविधान, कानून, संगठन के नियमों आदि के अनुरूप प्रत्यायोजन के क्षेत्र निश्चित कर दिए जाते हैं।

2. कुछ शक्तियों का तो प्रत्यायोजन हो ही नहीं सकता। उदाहरण के लिए निकटतम अधीनस्थ कर्मचारियों के पर्यवेक्षण के अधिकार प्रत्यायोजित नहीं किए जा सकते। इसी तरह नियम बनाने के अधिकार, उच्च पदों पर नियुक्तियां करने का अधिकार, नई नीति निर्धारित करने का अधिकार, निकटतम पदाधिकारियों के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार, वित्त संबंधी अधिकार आदि ऐसी शक्तियां हैं, जिनका प्रत्याधिकरण नहीं किया जाता है।

3. किसी सहायक पदाधिकारी के योग्य और समर्थ होने की अवस्था में ही उसे उच्च पदाधिकारी द्वारा सत्ता सौंपी जा सकती है। यदि कोई अधीनस्थ पदाधिकारी सत्ता का उपयोग ठीक ढंग से करने में असमर्थ हो, तो योग्य और समझदार उच्च पदाधिकारी उसे अपनी सत्ता का हस्तांतरण नहीं कर सकता।

4. अधीनस्थ कर्मचारियों को सत्ता तभी सौंपी जा सकती है, जब वे प्रतिदिन की समस्याओं को समझ सकें तथा उनके संबंध में निर्णय ले सकें और यह तभी

संभव है, जब संगठन सुव्यवस्थित हो चुका हो।

5. संचार साधनों तथा नियंत्रण की प्रक्रियाओं द्वारा भी प्रत्यायोजन पर सीमा लगाई जाती है। नए संगठनों में संचार तथा नियंत्रण के परंपरागत साधनों के प्रयोग के कारण प्रत्यायोजन की व्यवस्था ठीक ढंग से लागू नहीं की जा सकती। दूसरे शब्दों में, जिस संगठन में संचार का साधन समृद्ध नहीं होता, वहां प्रत्यायोजन की व्यवस्था नहीं होती।

टिप्पणी

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रत्यायोजन एक उपयोगी व्यवस्था अवश्य है, परंतु इसका उपयोग एक सीमा के अंतर्गत किया जाना चाहिए। ये सीमाएं कई बातों पर निर्भर करती हैं।

3.4.3 नीति आयोग

भारत ने स्वाधीनता उपरांत तत्कालीन सोवियत संघ के समाजवादी शासन की संरचना को अपनाया। इसे योजना आयोग नाम दिया गया। इसमें योजनाएं बनाकर काम किया जाता था। पंचवर्षीय तथा एकवर्षीय योजनाएं काफी लंबे समय तक देश में चलती रहीं। योजना आयोग ने नियोजन इकाई के रूप दशकों तक योजनाएं बनाने के काम को अंजाम दिया।

1 जनवरी, 2015 को योजना आयोग के स्थान पर केंद्रीय मंत्रिमंडल के एक संकल्प पर नीति आयोग का गठन किया गया। इसमें सहकारी संघवाद की भावना को केंद्र में रखते हुए अधिकतम शासन, न्यूनतम सरकार के दृष्टिकोण की परिकल्पना को स्थान दिया गया।

योजना आयोग के अप्रासंगिक होने का करण

- 65 वर्ष पुराना योजना आयोग अर्थव्यवस्था संरचना में तो प्रासंगिक था, लेकिन बीते हुए वर्षों में यह प्रभावी नहीं रह गया था। भारत विविधताओं वाला देश है और इसके राज्य आर्थिक विकास के विभिन्न चरणों में हैं। इनकी अपनी भिन्न–भिन्न ताकतें और कमजोरियां हैं।
- आर्थिक नियोजन के लिये सभी पर एक प्रारूप लागू हो, यह धारणा सही नहीं है। यह दृष्टिकोण आज की वैश्विक अर्थव्यवस्था में भारत को प्रतिस्पर्द्धी के तौर पर स्थापित नहीं कर सकता।

नए भारत की भावना और बदले हुए डायनेमिक्स को प्रतिबिंबित करते हुए, शासन और नीति की संस्थाओं को नई चुनौतियों के अनुरूप बनाना और उन्हें हर हाल में भारत के संविधान के मूल सिद्धांतों, हमारी सभ्यता एवं इतिहास से अर्जित ज्ञान तथा आज के सामाजिक–सांस्कृतिक–आर्थिक संदर्भ पर निर्मित करना आवश्यक था। भारत और इसके नागरिकों की आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए शासन में संस्थागत सुधार और डायनेमिक नीतिगत परिवर्तनों की आवश्यकता अनुभव की गई जो अभूतपूर्व परिवर्तन के बीज बो सकें और फिर उसे बनाए रखें।

इस आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए, भारत सरकार ने योजना आयोग के स्थान पर नीति आयोग [NITI = National Institution for Transforming India] गठित करने का निर्णय लिया ताकि भारत के लोगों की आकांक्षाओं को बेहतर तरीके से पूरा किया जा सके।

टिप्पणी

नीति आयोग की प्रशासनिक संरचना

अध्यक्ष : प्रधानमंत्री

उपाध्यक्ष : प्रधानमंत्री द्वारा नियुक्त

संचालन परिषद : सभी राज्यों के मुख्यमंत्री और केंद्रशासित प्रदेशों के उपराज्यपाल।

क्षेत्रीय परिषद : इसके तहत विशिष्ट क्षेत्रीय मुद्दों को संबोधित करने के लिये प्रधानमंत्री या उसके द्वारा नामित व्यक्ति मुख्यमंत्रियों और उपराज्यपालों की बैठक की अध्यक्षता करता है।

तदर्थ सदस्यता : अग्रणी अनुसंधान संस्थानों से बारी–बारी से 2 पदेन सदस्य।

पदेन सदस्यता : प्रधानमंत्री द्वारा नामित केंद्रीय मंत्रिपरिषद के अधिकतम चार सदस्य।

मुख्य कार्यकारी अधिकारी (CEO) : भारत सरकार का सचिव जिसे प्रधानमंत्री द्वारा एक निश्चित कार्यकाल के लिए नियुक्त किया जाता है।

विशेष आमंत्रित : प्रधानमंत्री द्वारा नामित विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञ।

नीति आयोग के दो प्रमुख स्तंभ

- **टीम इंडिया हब** : यह राज्यों और केंद्र के बीच इंटरफेस का काम करता है।
- **ज्ञान और नवोन्मेष (Knowledge & Innovation) हब** : यह नीति आयोग के थिंक–टैंक की भाँति कार्य करता है। नीति आयोग ने तीन दस्तावेज जारी किये हैं, जिसमें 3 वर्षीय कार्य एजेंडा, 7 वर्षीय मध्यम अवधि की रणनीति का दस्तावेज और 15 वर्षीय लक्ष्य–दस्तावेज शामिल हैं।

• नीति आयोग के निर्धारित लक्ष्य

– राष्ट्रीय उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए, सेक्टर और स्ट्रैटेजीस के साथ राज्य के सक्रिय सहयोग से देश के विकास से संबंधित लक्ष्यों की साझी परिकल्पना को प्राथमिकता देना।

इस तरह नीति आयोग प्रधानमंत्री और मुख्यमंत्रियों के 'राष्ट्रीय एजेंडा' के फ्रेमवर्क को गतिशीलता प्रदान करेगा।

– मजबूत राज्य से ही मजबूत राष्ट्र का निर्माण होता है। इस तथ्य को स्वीकारते हुए राज्यों के साथ निरंतर चलने वाले ढ़ांचागत सहयोग, पहलों और मेकेनिज्म के माध्यम से साझे संघवाद का पोषण करना।

– ग्रामीण स्तर से शुरू करते हुए धीरे–धीरे उच्च स्तरों तक विश्वसनीय योजनाओं के निर्माण के मैकेनिज्म को विकसित करना।

– आर्थिक स्ट्रैटेजी और नीति में विशेषरूप से ध्यान दिए जाने वाले क्षेत्रों को सुनिश्चित करना जहां राष्ट्रीय सुरक्षाहित शामिल हैं।

– समाज के उन वर्गों पर विशेष ध्यान देना जिन्हें आर्थिक विकास का पर्याप्त लाभ नहीं मिला है।

– स्ट्रैटेजिक और दीर्घावधि नीतियों, पहलों और कार्यक्रमों के फ्रेमवर्क का निर्माण करना और उसकी दक्षता की प्रगति की निगरानी करना। फीडबैक और

निगरानी से सीख लेकर उन्हें जरूरत के अनुसार सुधार करते हुए नई पहलों में प्रयोग में लाना।

- शैक्षणिक और नीति अनुसंधान संस्थान सहित राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय थिंक टैंक के प्रमुख स्टॉक–होल्डर्स के बीच साझेदारी को बढ़ाना और सलाह देना।
- राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों, पेशेवरों और अन्य भागीदारों के समूहों के माध्यम से उद्यम सहयोग व्यवस्था के ज्ञान को नया रूप देना।
- विकास एजेंडा के कार्यान्वयन को गति प्रदान करने के लिए इंटर–सेक्टर और इंटर–डिपार्टमेंटल से जुड़े मुद्दों के समाधान के लिए प्लेटफार्म मुहैया कराना।
- स्टेट–आफ–दा–आर्ट्स रिसोर्स सेंटर का निर्माण करना जो सतत और समान विकास में स्टॉक–होल्डर्स तक इसका प्रसार करने में सर्वोत्तम तरीकों और सुशासन में सहायता करे।
- कार्यक्रमों और पहलों के कार्यान्वयन का सक्रिय मूल्यांकन और निगरानी करना जिसमें जरूरत के संसाधनों की पहचान इस तरह से की जाए जहां सफलता और डिलीवरी के विस्तार की संभावनाएं हों।
- कार्यक्रमों और पहलों के कार्यान्वयन में क्षमता निर्माण और प्रौद्योगिकी के नवीनीकरण पर ध्यान देना।
- राष्ट्रीय विकास एजेंडा के निष्पादन और उल्लिखित उद्देश्यों की पूर्ति में जरूरत की अन्य गतिविधियों को शुरू करना।

टिप्पणी

नीति आयोग और योजना आयोग में प्रमुख अंतर

नीति आयोग	योजना आयोग
यह एक सलाहकार थिंक टैंक के रूप में कार्य करता है।	इसने एक संवैधानिक निकाय के रूप में कार्य किया था, जबकि इसे ऐसा दर्जा नहीं मिला था।
इसे धन आवंटित करने की शक्तियाँ प्राप्त नहीं हैं, जो वित्त मंत्री में निहित हैं।	इसे मंत्रालयों और राज्य सरकारों को धन आवंटित करने की शक्तियाँ प्राप्त थीं।
यह सहकारी संघवाद की भावना पर कार्य करता है क्योंकि यह राज्यों की समान भागीदारी सुनिश्चित करता है।	इसकी वार्षिक योजना बैठकों में राज्यों की भागीदारी बहुत कम रहती थी।
प्रधानमंत्री द्वारा नियुक्त सचिवों को CEO के रूप में जाना जाता है।	सचिवों को सामान्य प्रक्रिया के माध्यम से नियुक्त किया जाता था।
यह Bottom-Up Approach पर कार्य करता है।	यह Top-Down Approach पर कार्य करता था।
इसे नीतियाँ लागू करने का अधिकार नहीं है।	यह राज्यों के लिये नीतियाँ बनाता था और स्वीकृत परियोजनाओं के लिये धन आवंटित करता था।
यह सदस्यों की व्यापक विशेषज्ञता पर बल देता है।	यह सीमित विशेषज्ञता पर निर्भर था।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

5. एक कुशल नेता में कौन से गुण होने चाहिए

(क) निर्णायकता (ख) उत्तरदायित्व

(ग) बौद्धिक क्षमता (घ) उपर्युक्त सभी

6. भारत में नीति आयोग की स्थापना कब हुई?

(क) 15 मार्च, 1947 (ख) 15 मार्च, 1948

(ग) 15 मार्च, 1949 (घ) 01 जनवरी, 2015

3.5 संप्रेषण

संप्रेषण विचारों का संवहन होता है। वस्तुतः संप्रेषण से तात्पर्य उस भावाभिव्यक्ति से है जिसके द्वारा एक व्यक्ति का आशय दूसरा व्यक्ति समझ सके। संप्रेषण विचारों के आदान–प्रदान की वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा दो व्यक्तियों के मध्य विचारों में यथासंभव ऐक्यता तथा संभवाव्य उत्पन्न किया जा सके। व्यावसायिक प्रबंधन के अंतर्गत प्रबंधक का स्पष्ट संप्रेषण कर्मचारियों के बीच सेतु का कार्य करता है तथा संगठन की सफलता सुनिश्चित करने में महत्वूपर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। अतः संप्रेषण, शब्दों, पत्रों अथवा सूचना, विचारों, सम्मतियों के आदान–प्रदान की प्रक्रिया है। संप्रेषण में भाषा, योजना, प्रत्यक्ष संपर्क, सद्भाव व विश्वास, पदोन्नति नीति, सुनने की आदत का विकास जैसी कई बाधाएं आ सकती हैं, जिनका निदान संव्यावहारिक संप्रेषण विश्लेषण तथा संप्रेषण के स्वर्णिम नियमों का पालन व संप्रेषण नियोजन द्वारा किया जा सकता है।

3.5.1 संप्रेषण की अवधारणा : अर्थ एवं परिभाषाएं

संप्रेषण में दो मस्तिष्कों का होना आवश्यक है। संप्रेषण का अर्थ है–विचारों को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक पहुंचाना जिससे कि वह उन्हें समझ सके तथा स्वीकार कर सके। संप्रेषण के साधनों के विस्तार के कारण विचारों का आदान–प्रदान करना सुगम हो गया है। चार्ल्स ई. रेडफील्ड ने कहा है – ''टेलीफोन, तार या रेडियो आदि भी संप्रेषण के साधन नहीं समझे जाने चाहिए। वस्तुतः संप्रेषण से तात्पर्य उस भावाभिव्यक्ति से है जिसके द्वारा एक व्यक्ति का आशय दूसरा व्यक्ति समझ सके।''

यदि किसी कथन के आशय को उसी भाव में श्रोता ग्रहण नहीं करे तो इसे हम संप्रेषण नहीं कह सकते।

प्रबंध वास्तव में मनुष्यों अर्थात किसी उपक्रम में कार्य करने वाले श्रमिकों पर नियंत्रण से संबंध रखता है। प्रशासन द्वारा निर्धारित नीतियों को कार्यांवित करना 'प्रबंध' का मुख्य कार्य है। 'प्रबंध' उपक्रम की वह जीवनदायिनी शक्ति है, जो संगठन को शक्ति प्रदान करती है, संचालित करती है तथा उसे नियंत्रण में रखती है। प्रबंध ही भूमि, श्रम, पूंजी एवं साहस को ऐसे अनुकूलतम परिणाम में समन्वित करता है, जिससे न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन संभव हो सके। इस उत्तरदायित्व के विभाजन एवं कार्य के सुचारू रूप में संचालन के लिए 'संप्रेषण' नितान्त आवश्यक हो जाता है,

क्योंकि जब तक प्रबंध, प्रशासकों की नीतियों को संगठन के उस तंत्र तक न पहुंचाए जो उनको वास्तव में कार्यांवित करेगा, तब तक नियत लक्ष्यों की प्राप्ति करना असंभव है। जिस प्रकार बिना विद्युत शक्ति के बिजली के पंखे, ट्यूब लाइट, आदि सब व्यर्थ होते हैं, उसी प्रकार बिना 'संप्रेषण' के सामग्री, मशीन, श्रमिक, आदि सभी निष्क्रिय रहते हैं। इस नीति से ही ''प्रबंध में संप्रेषण'' की विचारधारा का महत्व स्पष्ट हो जाता है। संप्रेषण की महत्वपूर्ण परिभाषाएं अग्रलिखित हैं –

टिप्पणी

- लुइस ए. ऐलन (LouisA.Allen) के अनुसार, ''संप्रेषण से आशय उन समस्त साधनों से होता है जिनको एक व्यक्ति, अपनी विचारधारा को दूसरे व्यक्ति के मस्तिष्क में डालने के लिए अथवा उसे समझाने के लिए अपनाता है। यह वास्तव में दो व्यक्तियों के मस्तिष्क के बीच की खाई पाटने वाला पुल है। इसके अंतर्गत कहने, सुनने तथा समझने की एक वैज्ञानिक प्रक्रिया सदैव चालू रहती है।''
- चार्ल्स ई. रेडफील्ड (Charles E. Redfield) के शब्दों में, ''संप्रेषण से तात्पर्य उस व्यापक क्षेत्र से है जिसके माध्यम से मानव तथ्यों एवं संपत्तियों का आदान–प्रदान करते हैं। टेलीफोन, तार, रेडियो अथवा इसी प्रकार के तकनीकी साधन संप्रेषण नहीं हैं।''
- सी.जी. ब्राउन के अनुसार, ''संप्रेषण एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को सूचना का हस्तांतरण है, चाहे उसके द्वारा विश्वास उत्पन्न हो या नहीं अथवा विनिमय हो या नहीं, किन्तु हस्तांतरण की गई सूचना प्राप्तकर्ता की समझ में आनी चाहिए।''
- फ्रेड जी. मायर के अनुसार, ''संप्रेषण शब्दों, पत्रों अथवा सूचना, विचारों, सम्मतियों का आदान–प्रदान करने की प्रक्रिया है।''
- बेलोंज एवं गिलसन के अनुसार, ''संप्रेषण शब्दों, पत्रों, चिह्नों, अथवा समाचारों का आदान–प्रदान करने का समागमन है और एक प्रकार से यह संगठन के एक सदस्य द्वारा दूसरे व्यक्ति से अर्थ एवं समझदारी में हिस्सा बांटना है।''
- कीथ डेविस (Keith Davis) के शब्दों में, ''संप्रेषण को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक सूचना और समझ के हस्तांतरण की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।'' उनके अनुसार, ''यह दो व्यक्तियों के बीच अर्थ का एक पुल (Bridge) है जो उन्हें अपने बीच गलतफहमियों की नदी को पार कराने में सहायता देता है।''

संप्रेषण का अर्थ विचारों को एक–दूसरे तक पहुंचाना है जिससे कि वे उन पर अमल कर सकें। संप्रेषण की अवधारणाएं निम्न हैं –

1. **विचारों के आदान–प्रदान की अवधारणा** (Exchange of Ideas Concept)– संप्रेषण दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच विचारों, संदेशों, आदेशों अथवा अपेक्षाओं का आदान–प्रदान होता है।
2. **प्रक्रिया की अवधारणा** (Process Concept) – संप्रेषण एक प्रक्रिया होती है जो निर्बाध गति से निरंतर चालू रहती है जिससे निरंतर विचारों के आदान–प्रदान का लाभ प्राप्त हो।

टिप्पणी

3. **पारस्परिक समझ की अवधारणा** (Mutual Understanding Concept) – संप्रेषण तब पूरा होता है जब जिस व्यक्ति को संदेश दिया गया है वह उसी रूप में इसे समझ सके।

4. **स्पष्ट, संक्षिप्त एवं परिपूर्णता की अवधारणा** (Clear, Brief and Complete Concept) – प्रेषित किया जाने वाला संदेश स्पष्ट, संक्षिप्त एवं पूर्ण हो तभी इसका उद्देश्य पूरा होता है।

5. **मधुर संबंधों की अवधारणा** (Cordial Relations Concept) – संप्रेषण को प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक है कि संदेश देने वाले तथा संदेश प्राप्त करने वाले के मध्य मधुर संबंध हों।

6. **उद्देश्यात्मक अवधारणा** (Objective Concept) – प्रेषित किए जाने वाले संदेशों, विचारों अथवा आदेशों का निश्चित उद्देश्य हो।

3.5.2 संप्रेषण की प्रक्रिया

कीथ डेविस (Keith Davis) के अनुसार संप्रेषण की प्रक्रिया में 6 अवस्थाएं शामिल हैं। इन अवस्थाओं के संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित हैं–

(1) **विचार की सृष्टि** (Ideation) – संप्रेषण की प्रक्रिया का प्रारंभ किसी ऐसे विचार की उत्पत्ति से होता है जिसे हम दूसरे व्यक्ति को भेजने के इच्छुक हों। इस संबंध में यह महत्वपूर्ण है कि अपने विचार को सही ढंग से प्रस्तुत करने के लिए सर्वप्रथम संदेश प्रेषक को उसी समय इसकी स्पष्ट एवं संक्षिप्त रचना कर लेनी चाहिए।

(2) **संदेशबद्धता** (Encoding) – यह निर्णय हो जाने के बाद कि क्या संदेश दूसरे व्यक्ति को भेजा जाना है, उस संदेश को निश्चित चिह्नों में बदलना पड़ता है। संदेश मौखिक, लिखित या विभिन्न संकेतों के माध्यम से दिया जा सकता है। संकेत कैसे दिए जाएंगे, हमें अपने संदेश को उचित संकेतों या चिह्नों में परिवर्तित कर लेना चाहिए। अनेक संदेश गोपनीय होते हैं। इन संदेशों को प्रायः सांकेतिक भाषा के माध्यम से देखा जा सकता है।

(3) **संदेश का प्रेषण** (Transmission of Message) – संदेश को लिपिबद्ध कर सांकेतिक भाषा में परिवर्तित करने के पश्चात निश्चित व्यक्ति को संदेश भेजने की व्यवस्था करनी पड़ती है। इसके लिए उचित माध्यम का उपयोग करना पड़ता है। मौखिक तथा लिखित संदेश भेजने के अनेक माध्यम हैं, जैसे टेलीफोन, पत्र, परिपत्र, संदेशवाहक के माध्यम से संदेश भेजना, आदि। संदेश भेजते समय हमें अपनी आवश्यकता के अनुसार उचित माध्यम तथा समय का चयन कर लेना चाहिए।

(4) **संदेश प्राप्त करना** (Receiving Message) – संप्रेषण की प्रक्रिया में यह व्यवस्था संदेश प्राप्त करने वाले व्यक्ति से संबंध रखती है। इसके अंतर्गत संदेश प्राप्त करने वाले व्यक्ति के द्वारा संदेश को ध्यान से सुन या प्राप्त कर लेने के बाद पढ़ना सम्मिलित किया जाता है।

टिप्पणी

(5) **संदेशवाचन** (Decoding) – संदेशवाचन के अंतर्गत संदेश का प्राप्तकर्ता उसको पढ़कर समझने का प्रयास करता है। यदि इस संबंध में कोई संदेह या अस्पष्टता हो तो तुरंत ही संदेश प्रेषक से उसे दूर करा लेनी चाहिए, ताकि बाद में किसी प्रकार की समस्या न आए।

(6) **कार्यवाही** (Action) – संप्रेषण की प्रक्रिया में दूसरे व्यक्ति तक संदेश को पहुंचाना ही शामिल नहीं किया जाता, बल्कि उसे उस समय पूरा माना जाता है जब संदेश प्राप्तकर्ता उस संदेश पर उचित कार्यवाही कर दें। इस संदर्भ में यह जानने के लिए कि संदेश प्राप्तकर्ता ने संदेश का पालन किया या नहीं, इस बात की व्यवस्था की जाती है कि वापसी जानकारी या फीडबैक प्राप्त हो जाएं। यदि संदेश का पालन सही प्रकार से नहीं होने की सूचना मिले तो संदेश प्रेषक को उचित सुधारात्मक कार्यवाही करनी पड़ती है।

प्रभावी संप्रेषण की बाधाएं एवं निवारण

संप्रेषण के मार्ग में आने वाली बाधाओं का यह अर्थ कदापि नहीं लगाया जा सकता कि उन्हें दूर नहीं किया जा सकता। यदि प्रबंधक सभी का सहयोग लेकर निष्ठा से प्रयत्न करें तो संप्रेषण की इन बाधाओं से संगठन को निश्चित रूप से मुक्त कराया जा सकता है। संप्रेषण की बाधाएं निम्नलिखित हैं –

(1) **संप्रेषण योजना** – संप्रेषण की बाधाओं को दूर करने के लिए सर्वप्रथम हमें संप्रेषण का कार्य एक निश्चित योजना के अनुसार बनाना चाहिए। योजनाबद्ध संप्रेषण से एक ओर जहां उच्च अधिकारियों एवं अधीनस्थों के मध्य सूचनाओं का आदान–प्रदान सुगम हो जाएगा वहीं दूसरी ओर अधीनस्थ सही समय पर सूचनाएं प्राप्त होने से कार्य को सफलतापूर्वक करने में सक्षम होंगे साथ ही सूचनाओं की प्राप्ति में होने वाले अतिरिक्त समय की भी बचत संभव होगी।

(2) **सरल भाषा** – भाषा संबंधी बाधाओं को दूर करने के लिए निम्न सुझाव सहायक सिद्ध होंगे – (i) संप्रेषण में ऐसी भाषा प्रयोग की जाए जिसे सरलता से समझा जा सके, (ii) तकनीकी भाषा का प्रयोग न किया जाए जिसे संदेश प्राप्तकर्ता समझ न सके, (iii) कभी भी बहुअर्थीय शब्दों का चयन नहीं किया जाना चाहिए।

(3) **प्रत्यक्ष संपर्क** – यथासंभव इस बात का प्रयत्न किया जाना चाहिए कि संदेश देने वाले और संदेश पाने वाले के मध्य प्रत्यक्ष संपर्क की व्यवस्था की जाए। इसके लिए संस्था में निम्न उपाय किए जा सकते हैं – (i) सूचना सहायक अधिकारी नियुक्त करना, (ii) प्रबंध स्तरों की यथासंभव कमी करना, (iii) नियंत्रण क्षमता को व्यापक बनाना, (iv) यथासंभव विकेन्द्रीकरण को बढ़ावा देना।

(4) **पारस्परिक सद्भाव एवं विश्वास** – संप्रेषण की बाधाओं को दूर करने में संदेश देने वाले (उच्च अधिकारियों) और पाने वाले (अधीनस्थ) के बीच पारस्परिक सद्भाव एवं विश्वास की भावना उत्पन्न करना भी आवश्यक है। पारस्परिक अविश्वास एक–दूसरे को आवश्यक सूचनाएं प्रदान करने, स्वीकार करने और समझने में बाधा उत्पन्न करता है। व्यावसायिक उपक्रम में पारस्परिक विश्वास से संदेश देने की औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों ही व्यवस्थाएं सफल हो सकती हैं।

टिप्पणी

(5) **पदोन्नति नीति** – पदोन्नति की आकांक्षा से अधीनस्थ अपने अधिकारियों के सम्मुख सही एवं निष्पक्ष बात प्रस्तुत नहीं करते। सदैव वे वही बातें करते हैं जिससे उनके अधिकारी खुश हों और यथासंभव जल्द से जल्द पदोन्नति दें। अतः इस बाधा को दूर करने के लिए संगठन में आवश्यक आदर्श पदोन्नति संबंधी नियम एवं उपनियम बनाए जाएं तथा उनका नेक नीति एवं कठोरता के साथ पालन किया जाए। निष्पक्ष पदोन्नति के लिए यह आवश्यक है कि आधार, योग्यता, अनुभव, एवं कर्तव्य–निष्ठा को ओझल नहीं किया जाना चाहिए।

(6) **यथासमय संप्रेषण** – संप्रेषण में बाधा इसलिए भी जन्म लेती है कि संवाददाता द्वारा संदेश का प्रेषण ठीक समय पर नहीं किया जाता। संप्रेषण की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि संदेश प्राप्त करने वाले को संदेश सही समय पर दिया जाए। सही समय से पूर्व या बाद में दिया गया संदेश कोई महत्व नहीं रखता।

(7) **सुनने की आदत का विकास** – संप्रेषण की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि संस्था के अधीनस्थों में संदेशों को सुनने की आदत का विकास किया जाए, जिससे वे संदेश को भली प्रकार सुनकर तथा समझकर ही निर्णय ले और ऐसा न हो कि वे पूरा संदेश सुनने से पहले ही अपना निर्णय ले ले। यदि सुनने संबंधी कोई कमी या बाधा हो तो उसे दूर करने के लिए उपयुक्त तंत्रों की सहायता ली जानी चाहिए।

संप्रेषण के प्रकार

संप्रेषण के प्रकारों का वर्गीकरण निम्नलिखित आधारों पर किया जा सकता है –

(1) **अभिव्यक्ति के आधार पर** (On the Basis of Expression)
   (अ) मौखिक संप्रेषण (ब) लिखित संप्रेषण

(2) **संबंधों के आधार पर** (On the basis of Relationship)
   (अ) औपचारिक संप्रेषण (ब) अनौपचारिक संप्रेषण

(3) **दिशा के आधार पर** (On the basis of Direction)
   (अ) नीचे की ओर संप्रेषण (ब) ऊपर की ओर संप्रेषण (स) समतल संप्रेषण

(1) अभिव्यक्ति के आधार पर (On the basis of Expression)

(अ) मौखिक संप्रेषण (Verbal Communication) – दो व्यक्तियों के मध्य प्रत्यक्ष वार्तालाप के द्वारा किया गया संप्रेषण मौखिक संप्रेषण होता है। मौखिक संप्रेषण में दोनों पक्ष अर्थात प्रेषक व प्रापक अपने–अपने विचारों का विनिमय मौखिक भाषा द्वारा करते हैं या आमने–सामने वार्तालाप के द्वारा या किसी मशीन या बिजली से चलने वाले यंत्र की सहायता से, जैसे– टेलीफोन, टेलैक्स आदि। जब संप्रेषण वार्तालाप के द्वारा किया जाता है, तब वह व्यक्ति जो संदेश दे रहा है, प्रश्न पूछ सकता है, वर्णन कर सकता है या कई बार संप्रेषण ठीक तरीके से न समझे जाने पर वह अर्थ स्पष्ट कर सकता है। मौखिक संप्रेषण प्रायः तभी संभव होता है जब प्रत्यक्ष संपर्क हो सके तथा भेजा जाने वाले संदेश स्थायी प्रकृति का न हो।

मौखिक संप्रेषण के साधन (Means of Verbal Communication)

मौखिक संप्रेषण के निम्न साधन हो सकते हैं –

टिप्पणी

(i) **व्यक्तिगत वार्तालाप** (Personal Talk) – आमने–सामने बैठकर आपस में बातचीत करना, संप्रेषण का सबसे सरल तरीका है। प्रबंधक संस्था में छोटे–छोटे दैनिक तथा अति आवश्यक आदेश व निर्देश सीधी बातचीत के द्वारा ही देते हैं। इसी प्रकार, सहयोगी कर्मचारी भी, जब कभी उन्हें कोई कठिनाई या शिकायत दिखाई देती है, अपने प्रबंधकों से सीधी बातचीत करके उन्हें अपनी बात बतला सकते हैं। प्रत्यक्ष व्यक्तिगत वार्तालाप औपचारिक भी हो सकती है जैसे सेना में कमांडर द्वारा आदेश दिया जाना और अनौपचारिक भी जैसे फोरमैन द्वारा अपने अधीनस्थ कारीगरों को चाय की मेज पर अपना काम अधिक कुशलतापूर्वक करने के लिए सुझाव देना। प्रत्यक्ष वार्तालाप व्यक्तिगत रूप से दूसरे व्यक्ति का सहयोग पाने तथा आपसी मतभेदों को दूर करने का सबसे सरल साधन है। इस प्रणाली का एक लाभ यह भी है कि इससे विचारों को, शब्दों द्वारा भी व्यक्त किया जा सकता है और हाव–भाव से भी।

(ii) **प्रत्यक्ष सामूहिक वार्तालाप** (Direct Collective Talk) – जब एक से अधिक व्यक्तियों को कोई संदेश देना हो या उनसे लेना हो तो इस माध्यम को अपना सकते हैं। जब कभी प्रबंधक अपने सहयोगियों के साथ किसी विषय पर सामूहिक विचार–विनिमय करना चाहते हैं तो वे उनकी एक बैठक बुला लेते हैं। यह बैठक एक विचार–गोष्ठी का रूप भी ग्रहण कर सकती है और एक सार्वजनिक सभा का रूप भी। पहली स्थिति में विचारों व संदेशों का आदान–प्रदान द्विपक्षीय होता है और प्रस्तावित विषय पर सभी को अपने विचार प्रकट करने का अवसर दिया जाता है। इसके विपरीत, दूसरी स्थिति में प्रबंधक सभी लोगों को एक साथ अपने विचार बतला तो देता है लेकिन उन सबसे विचार अलग–अलग नहीं सुनता। इन सामूहिक सभाओं व गोष्ठियों का प्रयोग प्रायः कम समय में, निजी हस्तक्षेप से, अधिक से अधिक लोगों को एक से आदेश, निर्देश व स्पष्टीकरण देने तथा उनके तत्काल विचार जानने के लिए किया जाता है।

(iii) **टेलीफोन** (Telephone) – टेलीफोन आधुनिक व्यावसायिक संस्थाओं में सबसे अधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय साधन माना जाता है और यह एक ही विभाग में अथवा दूसरे विभागों से संपर्क स्थापित करने के लिए भी अच्छा साधन माना जाता है। यह साधन बड़ी व्यावसायिक संस्थाओं में प्रत्यक्ष संदेशवाहक होने के कारण अत्यधिक सुविधाजनक तथा समय और श्रम बचाने वाला प्रभावी साधन माना जाता है क्योंकि इसमें एक समय में अनेक व्यक्तियों के साथ विचार–गोष्ठी की तरह बातचीत करके सूचनाओं का आदान–प्रदान किया जा सकता है।

(iv) **रेडियो** (Radio) – रेडियो के माध्यम से भी अनेक सूचनाएं श्रोताओं को प्रदान की जा सकती हैं। तकनीकी क्षेत्र में विकास के साथ–साथ यह साधन बहुत

टिप्पणी

लोकप्रिय होता जा रहा है। आकाशवाणी का व्यापारिक विभाग विज्ञापन प्रसारण का एक अत्यंत उपयोगी साधन है।

(v) **दूरदर्शन** (Television) – इसका प्रयोग विज्ञापन, जन–संपर्क, शिक्षा एवं निर्देशन देने हेतु किया जाता है। यहां संदेश के साथ वार्ताकर्ता के दर्शन भी सभी को आसानी से सुलभ हो जाते हैं। भारत की अपेक्षा पाश्चात्य देशों में यह साधन बहुत लोकप्रिय है।

(vi) **अन्य साधन** (Other Means) – मौखिक संप्रेषण के अन्य साधनों के निम्न नाम उल्लेखनीय हैं – सामाजिक गोष्ठियों का आयोजन, सिनेमा स्लाइड्स द्वारा सूचनाओं का प्रसारण, सीटी बजाना, घंटी बजाना, सेवावर्गीय विभागों एवं श्रम–संघ कार्यालयों की बैठकें आदि।

मौखिक संप्रेषण के लाभ (Advantage of Oral Communication)

मौखिक संप्रेषण के लाभ निम्नलिखित हैं–

1. मौखिक संप्रेषण में संदेश को लेखनीबद्ध करने की आवश्यकता नहीं है, अतः संदेश लेखन में समय, कागज तथा स्याही आदि पर व्यय नहीं करना पड़ता। संदेश तुरंत शब्दों के मौखिक उच्चारण द्वारा प्रेषित कर दिया जाता है।
2. मौखिक रूप में दिया हुआ संदेश श्रोता पर तुरंत प्रभाव डालता है। शब्दों के अतिरिक्त शारीरिक अंगों के परिचालन द्वारा संदेश को सुगमता से समझने योग्य एवं अधिक प्रभावोत्पादक बनाया जा सकता है। कभी–कभी किसी प्रश्न का उत्तर मौन रहकर या गर्दन हिलाकर भी दिया जाता है।
3. मौखिक संप्रेषण में भावाभिव्यक्ति अधिक प्रभावोत्पादक और सुगमता से समझने योग्य होती है यद्यपि इसमें कोई संदेश नहीं होता लेकिन फिर भी कोई बात स्पष्ट न हो तो अस्पष्टता तुरन्त दूर की जा सकती है।
4. जब कोई संदेश प्रत्यक्ष रूप से प्रेषित किया जा रहा हो तो प्रेषक प्रेषित व्यक्ति पर संदेश के प्रभाव का साथ ही साथ अनुमान भी लगा सकता है। यदि इच्छित प्रभाव नहीं हुआ हो अथवा पर्याप्त रूप में नहीं हुआ हो तो उसी समय पुनः प्रयत्न किया जा सकता है और संदेश को प्रभावी बनाया जा सकता है।
5. मौखिक संप्रेषण द्वारा संदेश तत्पर गति से प्रसारित किया जा सकता है और इसके अनुसार तुरन्त क्रियान्वयन प्रारंभ हो सकता है। इससे उत्पादन की गति में वृद्धि होती है।

- **मौखिक संप्रेषण के दोष** (Disadvantages of Verbal Communication)

मौखिक संप्रेषण के दोष निम्नलिखित हैं–

1. मौखिक संप्रेषण में संदेश देने वाले व्यक्ति और संदेश पाने वाले व्यक्ति का प्रत्यक्ष संपर्क होना आवश्यक है। लेकिन व्यापारिक कार्यालय में यह सदैव संभव नहीं हो सकता कि संदेश पाने वाला व्यक्ति सरलता से उपलब्ध हो सके।
2. छोटा मौखिक संदेश तो आसानी से स्पष्ट हो जाता है लेकिन बड़े मौखिक संदेश को समझने में समय लगता है और इसका बार–बार स्पष्टीकरण भी आवश्यक होता है जिसमें अधिक समय व्यर्थ ही नष्ट होता है।

टिप्पणी

3. जब संदेश प्रेषण करने वाले व्यक्ति और संदेश प्राप्तकर्ता के मध्य पर्याप्त दूरी होती है और संदेश का प्रेषण टेलीफोन पर वार्तालाप द्वारा किया जाता है तो टेलीफोन करने पर अधिक व्यय हो जाता है।
4. मौखिक संप्रेषण की सबसे बड़ी कमी यह है कि संप्रेषण का कोई लिखित प्रमाण नहीं रहता। सूचना का प्राप्तकर्ता यदि बाद में अपनी स्थिति से विमुख हो जाए तो उसके विरुद्ध कोई लिखित प्रमाण न होने से वैधानिक अथवा अन्य किसी प्रकार की कार्यवाही करने में कठिनाई उत्पन्न हो जाएगी।
5. मौखिक संदेश का स्थायित्व नहीं होता। संदेश देने वाले अधिकारी का परिवर्तन हो जाने पर यह आवश्यक नहीं कि उसके अनुसार भविष्य में कार्य किया जाए। यदि भविष्य में आदेश में परिवर्तन की आवश्यकता पड़े या मूल आदेश के विषय में कोई संदेह उत्पन्न हो जाए तो संदर्भ के लिए मूल आदेश के मौखिक होने के कारण कुछ भी उपलब्ध नहीं हो सकेगा।

(ब) लिखित संप्रेषण (Written Communication) – लिखित संप्रेषण के अंतर्गत प्रेषक संदेश प्राप्तकर्ता को लिखित में संदेश भेजता है। जब सूचनाओं और विचारों का आदान–प्रदान केवल दो व्यक्तियों के बीच लिखकर किया जाए तो इसे व्यक्तिगत लिखित संप्रेषण कहते हैं। इसके भी दो उद्देश्य हो सकते हैं– (क) आपसी मामलों पर एक–दूसरे को पत्र, स्मरण–पत्र या नोट लिखना, तथा (ख) संस्था की भलाई के लिए सुझाव व सलाह मांगना तथा शिकायतें सुनना।

आजकल अधिकांश व्यावसायिक संस्थाओं में कर्मचारियों की शिकायतों और सुझावों को जानने के लिए जगह–जगह शिकायत पेटिका (complaint box) तथा सुझाव पेटिका (suggestion box) रखी जाती हैं। सामूहिक लिखित संप्रेषण का अर्थ है, संगठन में काम करने वाले सदस्यों को सामूहिक रूप से सार्वजनिक सूचना देना। इसके अनेक साधन हैं, जैसे– बुलेटिन तथा मैनुअल्स, कर्मचारी निर्देशिका व नियमावली, सूचना पट्ट तथा प्रशासनिक परिपत्र।

लिखित संप्रेषण के साधन (Means of Written Communication)

लिखित संप्रेषण के साधन निम्नलिखित हैं–

(i) **बुलेटिन व गृह–पत्रिकाएं** (Bulletins and House Magazines) – अधिकतर बड़ी–बड़ी व्यावसायिक संस्थाओं में कई प्रकार की पाक्षिक, मासिक, या त्रैमासिक पत्रिकाओं, बुलेटिनों अथवा गृह पत्रिकाओं का नियमित प्रकाशन किया जाता है। इन पत्रिकाओं में कंपनी, कर्मचारी तथा काम से संबंधित अनेक लेख लिखे जाते हैं और साथ ही कर्मचारियों के सामाजिक, सांस्कृतिक तथा मनोरंजन की सामग्री भी दी जाती है। कर्मचारियों के विचारों, मतों तथा प्रतिक्रियाओं को जानने का यह बड़ा सरल तरीका है। बुलेटिन में प्रायः एकमार्गीय संप्रेषण भी संभव है क्योंकि इनमें प्रबंध अधिकारी विशेष सूचनाएं, तथा कर्मचारी अपने विचार और लेख प्रकाशित करा सकते हैं।

(ii) **कर्मचारी निर्देशिका व नियमावली** (Employees Handbooks and Mannuals)– कर्मचारियों को प्रदत्त हैंडबुक्स, डायरियां या मैनुअल्स प्रायः संस्था की श्रम–नीति प्रस्तुत करती हैं। उनमें निम्न बातों की चर्चा होती है – मजदूरी की दरें, कार्यशील घंटे, पदोन्नति व हस्तांतरण संबंधी नीति, भेदभाव

टिप्पणी

के विरुद्ध संरक्षण, छुट्टियां, बीमारी का अवकाश, अवकाश–ग्रहण संबंधी नियम, वर्कशॉप के नियम, टाइम कार्डों का प्रयोग, धूम्रपान संबंधी नियम, अतिथि, दर्शक, परस्पर लाभ के लिए संघ में भाग लेना, सामूहिक बीमा योजनाएं, मनोरंजन संबंधी कार्य, शिकायत संबंधी कार्यविधि, आदि।

(iii) **सूचना पट्ट** (Notice Board) – प्रायः सभी बड़ी–बड़ी संस्थाओं में कर्मचारियों को तत्काल आवश्यक सार्वजनिक सूचना देने के लिए केन्द्रीय स्थानों पर कुछ सूचना–पट्ट भी लगाए जाते हैं। सूचना–पट्ट पर लगाए जाने वाली सूचनाओं के उदाहरण हैं–कर्मचारियों की छुट्टी, पदोन्नति, स्थानांतरण की सूचना, काम की पाली या काम के घंटों में बदलाव की सूचना, संशोधित बैठकों और चर्चाओं की सूचना, स्थायी आदेश (standing order) सरकारी सूचनाओं तथा विविध अधिनियम संबंधी जानकारी की सूचना।

(iv) **गश्ती पत्र या परिपत्र** (Circular) – परिपत्रों में प्रशासन से संबंधित नवीनतम निर्णयों तथा योजनाओं की जानकारी दी जाती है। उदाहरणार्थ, यदि कंपनी ने कर्मचारियों के श्रम संघ के साथ नौकरी की शर्तों के बारे में कोई नया समझौता किया है तो सभी कर्मचारियों तथा प्रबंधकों को इसकी सही तथा अधिकृत सूचना देने के लिए प्रशासनिक परिपत्र निकाला जाएगा।

(v) **रिपोर्ट** (Report) – किसी भी संस्था के कारोबार को सही ढंग से चलाने के लिए प्रबंधकों को तरह–तरह की सूचनाओं की आवश्यकता पड़ती है। इनमें से कुछ सूचनाएं बार–बार तथा निश्चित आंकड़ों व तथ्यों के आधार पर इकट्ठी हो जाती हैं, जैसे दैनिक या साप्ताहिक उत्पादन, बिक्री, स्टॉक, बैंक शेष आदि के विवरण तैयार करना, जिन्हें नियमित रिपोर्ट कहते हैं। इसके विपरीत, विशेष परिस्थितियों में विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विशेष रिपोर्ट भी बनवाई जा सकती है।

लिखित संप्रेषण के लाभ (Advantages of Written Communication)

लिखित संप्रेषण के लाभ निम्नलिखित हैं–

1. यदि संदेश को भेजने वाला तथा संदेश का प्रापक भिन्न–भिन्न नगरों में रहते हों और संदेश लिखित रूप से भिजवाया जाए तो साधारण व्यय से ही कार्य संपन्न हो जाएगा।
2. इसके लिए पक्षों के बीच सीधा प्रत्यक्ष संपर्क आवश्यक नहीं है। लिखित संदेश भेजते समय प्रेषक को सूचित व्यक्ति के समक्ष उपलब्ध होने की आवश्यकता नहीं।
3. जो संदेश लिपिबद्ध कर लिया जाता है, उसमें स्पष्टता आ जाती है, जिससे संदेश में अधिक प्रभावोत्पादकता उत्पन्न हो जाती है। लिखी बात के अनेक अर्थ लगाने की संभावना कम रहती है।
4. भविष्य में विवाद उत्पन्न हो जाने पर लिखित संदेश को साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। संदेश के लिखित होने पर कोई भी पक्ष इससे विमुख नहीं हो सकता।

5. संदेश लिपिबद्ध होने के कारण यह स्थायी रूप से रिकॉर्ड हो जाता है और आवश्यकता पड़ने पर भविष्य में इसे संदर्भ के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है और इसके आधार पर किसी विवाद का निर्णय भी किया जा सकता है।

टिप्पणी

लिखित संप्रेषण के दोष (Disadvantage of Written Communication)

लिखित संप्रेषण के दोषों का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है।

1. जो संदेश छोटा हो तथा प्रत्यक्ष रूप में दूसरे पक्ष को प्रेषित किया जा सकता हो, यदि ऐसे संदेश को लिखकर भेजा जाएगा तो उससे श्रम, समय एवं धन का अपव्यय ही होगा।
2. यदि किसी संदेश में भूल से कोई बात लिखने से रह जाए तो फिर एक छोटी–सी बात सूचित करने के लिए संदेश लेखन तथा संप्रेषण की पूरी प्रक्रिया की पुनरावृत्ति करनी पड़ेगी। इससे संदेश के संप्रेषण में अनुचित विलंब हो जाएगा।
3. मौखिक संप्रेषण द्वारा प्रेषित संदेश की जानकारी केवल दोनों पक्षों अर्थात सूचक एवं सूचित व्यक्ति को ही रहती है, किन्तु एक वृहत् स्तरीय व्यावसायिक संस्था में संदेश संप्रेषण के लिए लेखक, टंकणकर्ता तथा अन्य कर्मचारियों से गुजरकर पहुंचता है। इससे संदेश की गोपनीयता समाप्त हो जाती है।
4. जब संदेश लिखित रूप में प्रेषित किया जाना हो तो इसका आलेख तैयार करने, टाइप कराने, अधिकारी के हस्ताक्षर कराने तथा प्रेषित करने में अत्यधिक समय लग जाता है जिससे अनावश्यक रूप से विलंब होता है।
5. कभी–कभी लिखित संवाद संवाददाता की भावनाओं को प्रकट करने में असफल रहता है।
6. अशिक्षित व्यक्तियों के लिए लिखित संप्रेषण कोई अर्थ नहीं रखता क्योंकि उनके लिए काला अक्षर भैंस बराबर होता है। ऐसे लोगों को तो आमने–सामने समझाना ही अधिक उपयुक्त होता है।

- **मौखिक बनाम लिखित संप्रेषण** (Oral Vs. Written Communication)

यह कहना अत्यंत कठिन है कि मौखिक संप्रेषण और लिखित संप्रेषण में कौन–सी विधि सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि दोनों ही विधियों में अपने–अपने गुण एवं दोष हैं और किसी भी एक विधि को सभी व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के लिए प्रत्येक परिस्थिति में सर्वोत्तम नहीं कहा जा सकता। इस संबंध में हैमन का यह कथन भी उल्लेखनीय है कि, "यदि प्रबंधक केवल एक विधि को चुनता है तो उसे घोर अकुशलता का सामना करना पड़ेगा। दोनों ही विधियों का प्रयोग समय–समय पर इस बात को ध्यान में रखकर किया जाता है कि किस समय किस विधि का प्रयोग अधिक प्रभावी सिद्ध होगा।"

इस संदर्भ में एक विद्वान का यह कथन भी उल्लेखनीय है कि, ''जुबान और कलम दोनों मन की बातों को कहते हैं, परंतु मैं दोनों में से कलम को ज्यादा भरोसेमंद मानता हूं। जुबान, क्योंकि बहुत फिसलने वाली स्थिति में होती है, जो अति भावाअभिव्यक्ति में लड़खड़ा जाती है। लेकिन कलम की मजबूत स्थिति होने की वजह से इससे त्रुटि होने की संभावना नहीं रहती और अपने पीछे पक्का और विश्वसनीय अभिलेख छोड़ जाती है।'' ("The tongue and the pen both of them are interpreters of the mind, but I hold

the pen the more faithful of the two. The tongue, being seated in a most slippery place, may fail and falter in her sudden extemporal expression, but the pen, having the greater advantage of premediation, is not so subject to error and leaves things behind it upon firm and authentic record.")

टिप्पणी

(2) संबंधों के आधार पर (On the Basis of Relationships)

(अ) औपचारिक संप्रेषण (Formal Communication) – ऐसा संप्रेषण जो औपचारिक संगठन ढांचे तथा कार्यालय स्थिति या संदेश प्रेषक व संदेश प्राप्तकर्ता के पदों से संबंधित होता है, औपचारिक संप्रेषण कहलाता है। यह संगठन चार्ट में कार्यालय में मान्यता प्राप्त पदों के औपचारिक क्रम के अनुसार गुजरता है। संगठन में कर्मचारी की स्थिति से औपचारिकता का अनुमान लगाया जा सकता है। औपचारिक संप्रेषण संगठन ढांचे में अधिकार और दायित्व के संबंधों पर आधारित होता है। औपचारिक संप्रेषण अधिकतर लिखित रूप में होता है। हम प्रायः इस वाक्य 'Through Proper Channel' को सुनते रहते हैं जो कि संप्रेषण की औपचारिक श्रृंखला की आवश्यकता पर बल देता है।

औपचारिक संप्रेषण की विशेषताएं

(1) अधिकांश परिस्थितियों में औपचारिक संदेश लिखकर दिया जाता है।

(2) सूचनाओं का यह आदान–प्रदान सदैव संगठन में बनी अधिकारियों की सीढ़ी के अनुसार ऊपर की ओर भेजा और प्राप्त किया जाता है।

(3) इस संप्रेषण के द्वारा केवल अधिकृत तथा सोची–समझी सूचनाओं का आदान–प्रदान किया जाता है।

(4) सामान्यतः इस संप्रेषण की विषय सामग्री, पद्धति, श्रृंखला तथा सामयिकता आदि सभी पहले से तय होती है।

औपचारिक संप्रेषण के लाभ (Advantages of Formal Communication)

1. संप्रेषण की इस पद्धति में आदेश की एकता को कायम रखा जा सकता है और भिन्न आदेशों व निर्देशों में तालमेल बैठाया जा सकता है।
2. औपचारिक संप्रेषण निश्चित भागों का अनुसरण करता है और अपने लक्ष्य को निश्चित रूप से प्राप्त करता है। इसकी प्रतिक्रिया का पहले से और सही अनुमान लगाया जा सकता है।
3. अपने विभाग के कर्मचारियों के काम के लिए विभागीय अधिकारी ही जिम्मेदार ठहराया जाता है। फलस्वरूप, यह आवश्यक है कि उसके अधीन काम करने वाले कर्मचारियों को जो भी आदेश व निर्देश दिए जाएं, वे उसकी जानकारी में हों। इससे अधिकारी की पदस्थिति बनी रहती है और वह अपने सहायकों पर पूरा नियंत्रण रख सकता है।
4. इस संप्रेषण की दिशा, प्रकृति तथा गति पर संस्था के प्रबंधकों का पूरा–पूरा नियंत्रण रहता है।

औपचारिक संप्रेषण के दोष (Disadvantages of Formal Communication)

1. औपचारिक संप्रेषण में सूचनाएं इतने अधिक स्तरों (levels) से होकर गुजरती हैं कि सही अधिकारी तक पहुंचने में, न चाहते हुए भी आवश्यकता से अधिक देरी हो जाती है।

टिप्पणी

2. संगठन के प्रत्येक स्तर पर आगे भेजी जाने वाली सूचनाओं की संख्या इतनी बढ़ती जाती है कि प्रबंधकों को इनकी छंटनी करनी पड़ती है और संक्षिप्तियां (summaries) बनानी पड़ती हैं। फलस्वरूप कई महत्वपूर्ण सूचनाएं रह जाती हैं जबकि कुछ सूचनाएं सतही या अधूरी दी जाती हैं।
3. प्रबंध प्रत्येक सूचना को आगे भेजते समय भिन्न–भिन्न कारणों से केवल वही तथा उतनी सूचनाएं भेजता है, जितनी वह ठीक समझता है।
4. इससे उच्च अधिकारियों का कार्य–भार बढ़ जाता है क्योंकि उन्हें अपने सामान्य कारोबार के अलावा ऐसी सूचनाओं के आदान–प्रदान का काम भी करना पड़ता है जिनका उनके साथ कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता।
5. नौकरशाही को जन्म मिलता है।

(ब) अनौपचारिक संप्रेषण (Informal Communication) – अनौपचारिक संप्रेषण में संवादों व सूचनाओं का आदान–प्रदान संगठन की औपचारिक रचना के अनुसार नहीं, बल्कि भिन्न लोगों के बीच पैदा गैर रस्मी तथा आपसी समझ के सामाजिक रिश्तों के आधार पर होता है। संप्रेषण की इस विधि का प्रयोग दो समान स्तर के कर्मचारी और अधिकारियों के बीच होता है। संस्था की ओर से इसकी कोई व्यवस्था नहीं होती। यह प्रायः प्रत्यक्ष एवं मौखिक ही होता है, जैसे केवल अपना सिर हिलाकर ही अपनी स्वीकृति दे देना क्योंकि यह पारस्परिक मैत्रीपूर्ण संबंधों पर ही निर्भर होता है। इस प्रकार के संदेश का लिखित होना आवश्यक नहीं है और यह भी हो सकता है कि इसमें कुछ बोलने की भी आवश्यकता न पड़े और केवल सिर या हाथ हिलाने से ही काम निकल जाए। इस संप्रेषण को जनप्रवाद संप्रेषण (Grapevine Communication) भी कहते हैं क्योंकि इसमें सूचना कानों–कान फैलती है – एक ने दूसरे से कहा, दूसरे ने तीसरे से, और फिर तीनों ने अगले तीनों से। इस सूचना के लेने–देने का कोई निश्चित, सीधा–सादा रास्ता नहीं होता बल्कि यह उसी तरह टेढ़ा–मेढ़ा होता है जैसे अंगूर की बेल, जिसका आदि और अंत ढूंढ़ना यदि असंभव नहीं हो तो कठिन अवश्य होता है। इसलिए इसे अंगूरलता भी कहा जाता है।

अनौपचारिक संप्रेषण की विशेषताएं

1. यह संप्रेषण का प्रत्यक्ष एवं मौखिक साधन है।
2. इसके रास्ते टेढ़े–मेढ़े होते हैं क्योंकि इसमें संदेश विभिन्न व्यक्तियों के संबंध और संपर्क पर निर्भर होते हैं।
3. इसमें सूचनाएं आंधी और तूफान की तरह चलती हैं जिनमें मिर्च–मसाला लगता है।
4. इसमें अफवाहें फैलती हैं जिनके आदि और अन्त का ज्ञान नहीं हो सकता।

अनौपचारिक संप्रेषण के लाभ (Advantages of Informal Communication)

1. अनौपचारिक संप्रेषण प्रबंधकों को संगठन में काम करने वाले भिन्न–भिन्न कर्मचारियों की निजी राय की लगभग सही तथा अच्छी जानकारी करा देता है।
2. अनौपचारिक प्रत्यक्ष संप्रेषण के द्वारा संदेश–प्रेषक तथा संदेश प्राप्त–कर्ता के बीच सहयोग तथा सद्भाव का विकास होता है, संदेश प्राप्त कर्ता के बारे में पूरी समझ बनती है तथा अपेक्षित कार्यवाही अधिक तेजी के साथ की जाती है।

टिप्पणी

3. अनौपचारिक संप्रेषण विचारों के आदान–प्रदान का बहुत लचीला माध्यम है क्योंकि इसमें पद स्थिति या, आदेश श्रृंखला का कोई ध्यान नहीं रखा जाता।
4. यह बहुत तेजी से सूचना प्रसारित करने का तरीका है क्योंकि यह कानों–कान फैल जाती है।

अनौपचारिक संप्रेषण के दोष (Disadvantages of Informal Communication)

1. अधिकतर अनौपचारिक संप्रेषण में जो कानों–कान फैलाया जाता है उसमें सच कम और लाग–लपेट अधिक होती है।
2. इसके कारण बहुधा संगठन में मतभेद व गलतफहमियों को बल मिलता है जिससे असामाजिक तत्व अनुचित लाभ उठाने में सफल हो जाते हैं।
3. इस संप्रेषण को नियंत्रित करना कठिन होता है क्योंकि न तो इसके आदि और अन्त का ज्ञान किया जा सकता है और न उसके प्रवाह और दिशा को नियंत्रित किया जा सकता है।
4. यदि अनौपचारिक संप्रेषण लोक सूचना प्रणाली के माध्यम से किया जाए तो यह भय बना रहता है कि संबंधित व्यक्ति उसे प्राप्त भी कर पाएगा या नहीं और इसका क्या स्वरूप होगा।

(3) दिशा के आधार पर (On the Basis of Direction)

(अ) नीचे की ओर संप्रेषण (Downward Communication) – इसे अधोमुखी संप्रेषण कहते है। ऐसा संप्रेषण जो उच्च अधिकारियों से अधीनस्थों की ओर प्रवाहित होता है, नीचे की ओर संप्रेषण कहलाता है। एक संगठनीय ढांचे में अधिकारी को निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अपने अधिकारों का प्रयोग करना चाहिए, जिससे यह अभिप्राय है कि वे निम्न स्तर पर व्यक्तियों को आदेश, संकेत तथा नीति निर्देश देने में लगे रहते हैं, इसे नीचे की ओर संप्रेषण कह सकते हैं। इसे एक प्रकार का सामूहिक औपचारिक संप्रेषण कहा जा सकता है क्योंकि इसके द्वारा संस्था की इकाइयां एक सूत्र में बंधी रहती हैं। बड़े अधिकारियों को ऐसे संदेश बीच के अधिकारियों के माध्यम से ही देने चाहिए अन्यथा उनके असंतुष्ट होने का भय रहता है। कार्य संबंधी सूचनाएं सामान्य हितों की सूचनाएं और सेवा की शर्तों के विषय में सूचनाएं इसी माध्यम से दी जाती हैं। इस संप्रेषण के लिए मौखिक, लिखित, मौखिक एवं लिखित एवं सूचना पट्ट विधि का प्रयोग किया जाता है। अधोमुखी संप्रेषण (Downward Communication) का मुख्य लाभ यह है कि यह संपूर्ण संगठन को एक सूत्र में बांधकर एक ही दिशा में आगे बढ़ाता है। इसके कारण निम्न अधिकारियों के कार्यों में तालमेल (Co-ordination) रहता है तथा उन्हें उच्च प्रबंधकों की योजनाओं, नीतियों, निर्देशों तथा मांगों की साफ–साफ, तत्काल और सही जानकारी (Right knowledge) मिलती रहती है।

(ब) ऊपर की ओर संप्रेषण (Upward Communication) – ऊपर की ओर संप्रेषण में निम्न स्तर के व्यक्तियों से यह आशा की जाती है कि वे संप्रेषण उन व्यक्तियों को दे, जो उनसे ऊपर हैं। यह उर्ध्वमुखी संप्रेषण है। यह नीचे की ओर संप्रेषण से सर्वथा विपरीत होता है। इस तरह के संप्रेषण में श्रमिकों की प्रतिक्रियाएं सुझाव व शिकायतें, इत्यादि सम्मिलित नहीं किए जाते हैं। इस संप्रेषण के दो मुख्य उद्देश्य हैं। सर्वप्रथम, निम्न स्तर के कर्मचारियों को कंपनी की नीतियों व योजनाओं की पूरी स्वतंत्रता के साथ

विवेचना करने का अवसर प्रदान करना, जिससे इनकी कमजोरियों, कमियों तथा गलतियों को जाना जा सके। द्वितीय, निम्न अधिकारियों व कर्मचारियों की कार्य प्रगति, शिकायतों, सुझावों तथा भावनाओं को जानना, जिससे संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति में उन्हें साथ लिया जा सके।

टिप्पणी

ऊपर की ओर संप्रेषण की निम्न विशेषताएं होती हैं –

(i) इस संप्रेषण में सूचनाओं का आदान–प्रदान नीचे से ऊपर की ओर (Upward) किया जाता है।

(ii) इस संप्रेषण की विषय वस्तु, सुझाव शिकायत, विचार, प्रतिक्रियाएं कठिनाइयां, आदि उच्च प्रबंधकों तक पहुंचाना तथा निम्न स्तर पर की जाने वाली कार्यवाही की रिपोर्ट पेश करना है।

(iii) इस संप्रेषण के मुख्य माध्यम (Medium) हैं – मौखिक व लिखित जानकारियां, श्रम संघ द्वारा जारी किए गए प्रकाशन तथा विशिष्ट गोष्ठियां व सभाएं (Conferences and Seminars) अनौपचारिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक मेल–मिलाप तथा संपर्क आदि।

(iv) यह संप्रेषण औपचारिक भी हो सकता है और अनौपचारिक भी। औपचारिक संप्रेषण में आदेश–निर्देश की खड़ी सीढ़ी (Scalar Chain) का कठोरता से प्रयोग किया जाता है जबकि अनौपचारिक संप्रेषण में ऐसा नहीं होता है।

इस प्रकार के संप्रेषण के निम्नलिखित प्रमुख लाभ हैं –

1. यदि इस संप्रेषण को सही ढंग से संगठित किया जाए तो निम्न स्तर के अधिकारियों को प्रबंध की निर्णय प्रक्रिया (Decision Making Process) में सशक्त तथा प्रभावशाली योगदान देने में सहायता मिलती है।
2. इसके द्वारा प्रबंधकों को अपने कर्मचारियों की प्रतिक्रियाओं की जानकारी मिल जाती है जिससे वे अपनी नीतियों व निर्णयों में सुधार (Improvement in Policies and Decisions) कर सकें।
3. उर्ध्वमुखी संप्रेषण निम्न अधिकारियों की कठिनाइयों और शिकायतों को दूर करने में सहायता करता है और इस प्रकार संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति में सभी कर्मचारियों के पूर्ण सहयोग को संभव बनाता है।
4. उर्ध्वमुखी संप्रेषण, यदि बिना डर तथा हिचकिचाहट से किया जा सके, तो प्रबंधकों को अनेक ऐसी विस्फोटक परिस्थितियों का समय रहते ही पूर्वाभास करा सकता है, जिन्हें केवल तत्काल कार्यवाही से दूर किया जा सके।

यदि अधिकारी अधीनस्थ के संबंध में ठीक नहीं हो तो ऊपर की ओर संप्रेषण को गलत तरीके से प्रस्तुत किया जा सकता है। कोई भी कर्मचारी इस तरह की सूचना नहीं देगा, जिससे वह विपरीत दिशा में प्रभावित हो। इसके अलावा, वह अपने अधिकारी को प्रसन्न करने के लिए गलत सूचनाएं भी दे सकता है। एक अधीनस्थ प्रायः ऐसी सूचनाएं देना अधिक पसंद करेगा, जिन्हें वह अपने अधिकारी को सुनाना चाहता है।

(स) समतल संप्रेषण (Horizontal Communication) – जब संप्रेषण एक ही स्तर के अधिकारियों अथवा पृथक–पृथक विभागों के अधिकारियों के बीच होता है तब इसे समतल संप्रेषण कहते हैं। सभी विभागों में समन्वय बनाए रखने के लिए समय–समय

टिप्पणी

पर संबंधित अधिकारियों में विचार–विमर्श एवं परामर्श आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए, व्यावसायिक संस्था के विपणन प्रबंधक (Marketing Manager) के द्वारा उत्पादन प्रबंधक (Production Manager) के साथ बातचीत करके किसी तुरंत सुपुर्दगी वाले ऑर्डर की तुरंत पूर्ति कराना। ऐसे संप्रेषण का मुख्य उद्देश्य विभिन्न समान स्तर के विभागों के कार्यों में तुरंत तालमेल पैदा करने में सहायता देना है। कोई भी व्यावसायिक संस्था तब तक सही प्रगति नहीं कर सकती, जब तक इसके सभी विभाग एक–दूसरे के प्रयत्नों, उपलब्धियों तथा समस्याओं से ठीक–ठीक परिचित न हों।

समतल संप्रेषण के प्रमुख लाभ–

1. यह एक ही विभाग के समान स्तर के विभिन्न व्यक्तियों की कार्यवाहियों में दोहराव (duplication) को रोकने में सहायक है। इससे समय, धन और श्रम तीनों की बचत होती है।
2. समान स्तर के संप्रेषण के फलस्वरूप सभी विभाग एक ही दिशा में संतुलित, समन्वित तथा संयोजित प्रयास करते हैं जिसके फलस्वरूप संस्था की कार्य कुशलता में वृद्धि होती है।
3. समतल संप्रेषण का प्रयोग अधिकारी, समान प्रकृति की समस्याओं को सुलझाने तथा दूसरे के अनुभवों का लाभ उठाने के लिए उनमें विचारों का आदान–प्रदान करने में करते हैं।

संप्रेषण में सुधार

प्रभावशाली संप्रेषण व्यवस्था ही सफल संप्रेषण व्यवस्था मानी जाती है। लेकिन इस बात का निर्णय हम किस प्रकार कर सकते हैं कि संप्रेषण की कोई व्यवस्था सफल व्यवस्था है अथवा नहीं। संप्रेषण की सफलता की जांच के लिए प्रायः निम्नलिखित उपाय किए जाते हैं –

1. **प्रश्नोत्तर** – संप्रेषण की सफलता की जांच करने का सबसे सरल उपाय संदेश पाने वाले से प्रश्न करना और उसके उत्तर सुनना है। कर्मचारियों से किए प्रश्नों के आधार पर बड़ी आसानी से इस बात का निर्णय किया जा सकता है कि वे संदेश पूर्ण रूप से समझते हैं या नहीं। जब तक संदेश को समझा नहीं जाएगा तब तक उस आधार पर कोई कार्य करने का प्रश्न ही नहीं उठता।
2. **लिखित सर्वेक्षण** – प्रबंधक एक लिखित प्रश्नावली तैयार करके अपने कर्मचारियों को भेजकर उनसे अनेक प्रकार के प्रश्न कर सकता है और उनके आधार पर इस बात का निर्णय कर सकता है कि संप्रेषण की प्रणाली सफल है अथवा असफल है, जैसे– कोई सूचना उन्हें किस साधन से मिली, उन्होंने सूचना को समझा या नहीं और सूचना उपयोगी है अथवा नहीं। यहां इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि प्रश्नों के उत्तर देने वाले व्यक्ति सच्चाई और ईमानदारी से उनके उत्तर दें।
3. **मनोवृत्ति अध्ययन** – कर्मचारियों से अनेक प्रकार के प्रश्न किए जा सकते हैं और उनके आधार पर उनकी मनोवृत्ति का अध्ययन किया जा सकता है, जैसे– क्या आप निरीक्षक के व्यवहार से संतुष्ट हैं? क्या आप संस्था की नीतियों से सहमत हैं? क्या आप अपने कार्य की दशाओं से संतुष्ट हैं? क्या आपको उचित

एवं संतोषजनक पारिश्रमिक मिलता है? अतः इस प्रकार के प्रश्नों से संप्रेषण की सफलता अथवा असफलता के विषय में अनुमान लगाए जा सकते हैं।

4. **अन्य उपाय** – उपर्युक्त के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार के परीक्षणों से भी इस प्रकार के अनुमान लगाने में सहायता मिलती है कि कर्मचारी व्यावसायिक संस्था के नियम एवं नीतियों को समझते हैं अथवा नहीं और वे उनसे सहमत हैं अथवा नहीं।

टिप्पणी

संव्यावहारिक संप्रेषण विश्लेषण

संप्रेषण के संव्यावहारिक विश्लेषण से यह पता चलता है कि कोई व्यक्ति किसी विशेष तरीके से व्यवहार क्यों करता है? संव्यवहार आस–पास के व्यक्तियों के मध्य ऐसा विनिमय है जिसमें एक प्रेरक तथा एक प्रत्युत्तर होता है। मानवीय व्यवहार वातावरण, चिंता, नैराश्य एवं अन्य शारीरिक एवं मानसिक दशाओं से प्रभावित होता है। कुछ परेशानियां संव्यावहारिक विश्लेषण से हल की जा सकती हैं। संव्यावहारिक विश्लेषण से व्यक्तित्व का विश्लेषण किया जाता है। यह विश्लेषण यह बताता है कि कोई व्यक्ति विशेष व्यवहार क्यों करता है? संगठन में व्यावसायिक समस्याओं के निदान हेतु इस अवधारणा का प्रयोग किया जाता है। संप्रेषण में संव्यवहार विश्लेषण व्यक्तियों के साथ प्रभावी संप्रेषण में सहायक होता है क्योंकि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व, दृष्टिकोण, अभिरुचि आदि के अनुरूप बातचीत करता है।

ऐसे विश्लेषणों का उद्देश्य व्यक्तियों के बीच होने वाले वैचारिक आदान–प्रदान का अध्ययन करना होता है।

संप्रेषण के संव्यवहार के प्रकार

अहम् स्थिति के आधार पर संप्रेषण के संव्यवहारात्मक प्रकार को प्रमुख तीन भागों में बांटा जा सकता है– 1. पूरक संव्यवहार, 2. विपरीत संव्यवहार तथा 3. गूढ़ संव्यवहार।

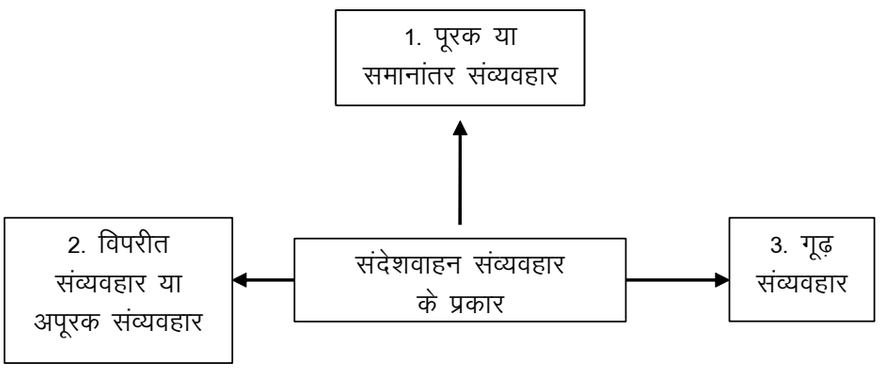

1. **पूरक या समानांतर संव्यवहार** (Complementary Transaction) – इस संव्यवहार में दोनों पक्षों के बीच उत्प्रेरक एवं उत्तर का ढंग एक जैसा तथा समानांतर होता है। इसमें अनुमानित उत्तर प्राप्त होता है। इसे निम्न मॉडल द्वारा बताया जा सकता है –

टिप्पणी

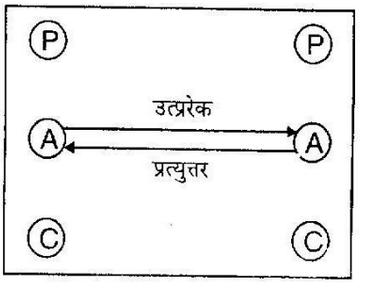

पूरक संव्यवहार मॉडल

इस मॉडल में बातचीत का स्वाभाविक प्रवाह होने के कारण अच्छे परिणाम निकलते हैं। बातचीत का विनम्रतापूर्ण तरीका अपनाया जाता है।

उदाहरण –

(i) प्रबंधक : क्या तुम काट्रिज में स्याही भर दोगे?

चपरासी : श्रीमान जी, पहले मैं यह कार्य करूंगा।

(ii) प्रबंधक : कितने बजे हैं?

अधीनस्थ : श्रीमान जी, 11 बजकर 20 मिनट हुए हैं।

2. **विपरीत संव्यवहार** (Crossed Transactions) – इसमें संदेश भेजने वाला अपनी 'अहम् स्थिति' के अनुसार संदेश देता है परंतु संदेश पाने वाले की प्रतिक्रिया अप्रत्याशित रहती है क्योंकि इस प्रकार के संव्यवहार का कारण असमानांतर उत्प्रेरणा एवं प्रत्युत्तर होता है। प्रबंधक द्वारा अपने अधीनस्थ के साथ 'वयस्क से वयस्क' (Adult toAdult) आधार पर संप्रेषण किया जाता है परंतु कर्मचारी द्वारा 'बच्चा–माता–पिता' आधार पर प्रत्युत्तर दिया जाता है। इसमें संप्रेषण में बाधा आती है। यह अनैच्छिक होता है। इसका मॉडल अग्रवत है –

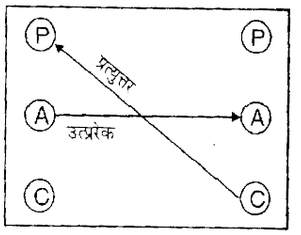

उदाहरण –

(i) अधीनस्थ : कितने बजे हैं?

प्रबंधक : आप घड़ी क्यों नहीं ले लेते?

(ii) पुत्र : क्या आप मेरी पैंसिल शार्प कर दोगे?

पिता : तुम्हारे पास पर्याप्त समय रहता है फिर भी तुम मुझसे इस कार्य की आशा रखते हो।

3. **गूढ़ संव्यवहार** (Ulterior Transactions) – इस प्रकार के संप्रेषण संदेश व्यवहार में व्यक्ति एक अहम् स्थिति में बातचीत करता है। लेकिन उसका

आशय कोई अन्य अहम् स्थिति होती है। दोनों अहम् दशाएं समान रूप से कार्य करती हैं। यह सर्वाधिक जटिल संप्रेषण संव्यवहार होता है। इसमें ऐसा अनुभव किया जाता है कि व्यक्ति एक प्रकार संदेश दे रहा है परंतु वह कोई अन्य गुप्त संदेश भी देता है। इसमें देखने में संप्रेषण स्पष्ट परंतु मनोवैज्ञानिक रूप से नकारात्मक गुप्त संदेश होता है। यह अनैच्छिक होता है।

टिप्पणी

उदाहरण –

प्रबंधक : आपके पास बहुत काम है फिर भी मैं सोचता हूं कि केस के लिए कुछ समय निकाल लोगे?

अधीनस्थ : श्रीमान जी मैं प्रयास करूंगा।

प्रभावशाली संप्रेषण के स्वर्णिम नियम (Golden Rules of Effective Communication) – प्रभावी संप्रेषण के लिए निम्नलिखित नियमों को ध्यान में रखा जाना आवश्यक होता है –

1. संप्रेषण करने से पूर्व अपने विचारों को स्पष्ट कर लेना चाहिए। संप्रेषण के उद्देश्य स्पष्ट होने चाहिए।
2. स्रोत की भाषा में बातचीत की जाए ताकि भाषा संबंधी बाधा न हो।
3. संप्रेषण न अधिक लंबा हो और न ही अधिक छोटा।
4. संप्रेषण के लिए उचित माध्यम को चुनना चाहिए। यदि हो सके तो एक से अधिक माध्यम चुने जा सकते हैं।
5. संप्रेषण ऐसे स्थान से हो जहां शांति हो तथा पूर्णतया गुप्तता हो।
6. संदेशदाता की बात को ठीक से सुना जाए।
7. अनावश्यक संप्रेषण नहीं करना चाहिए, केवल उद्देश्यपूर्ण संप्रेषण हो।

संप्रेषण नियोजन (Communication Planning) – संप्रेषण के लिए नियोजन आवश्यक होता है। तभी संदेशदाता अधिक–से–अधिक तथ्य प्राप्त कर सकता है।

- पीटर एफ. ड्रकर के अनुसार, ''जो प्रबंधक अपने समय का सही उपयोग करते हैं वे अधोगामी संप्रेषण पर अधिक ध्यान देते हैं। ऐसे प्रबंधक अपनी समस्याओं को अधीनस्थों से नहीं बांटते वरन् उनकी समस्याओं को सुलझाने और बांटने का प्रयास करते हैं। अच्छे संप्रेषण का यह प्रयत्न होना चाहिए कि अधीनस्थों को प्रकट करने के लिए वातावरण बनाया जाए ताकि वे किसी मूल्यवान बात को न छिपाएं।''
- ऐलन के अनुसार, ''प्रभावकारी संप्रेषण के लिए सुनने की कला आवश्यक है। जब एक अधिकारी को ये पता होता है कि उसे क्या और कब सुनना है, तब सफलता की संभावना अधिक होती है। संगठन व्यक्तियों से डील करता है और व्यक्तियों को आवश्यकता होती है कि कोई उन्हें सुने और समझे।''

कुछ प्रबंधकीय विशेषज्ञों के अनुसार, ''संगठन के कुछ विभाग अन्य विभागों से जानकारी नहीं बांटते, वहां समन्वय की कमी होती है। समन्वय के बिना दो विभाग प्रभावकारी कार्य नहीं कर सकते। अन्त में यह कहा जा सकता है कि प्रभावकारी संप्रेषण का सभी दिशाओं में अधोगामी, उर्ध्वगामी, समतल व विकर्णी प्रवाह होना चाहिए।''

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

7. "संप्रेषण शब्दों, पत्रों अथवा सूचना, विचारों, सम्मतियों का आदान प्रदान करने की प्रक्रिया है।" उपर्युक्त कथन किस विचारक का है?

(क) लुइस ए. ऐलन (ख) फ्रेड जी. मायर

(ग) कीध डेविस (घ) सी. जी. ब्राउन

8. कीथ डेविस के अनुसार संप्रेषण की प्रक्रिया में कितनी अवस्थाएं शामिल हैं?

(क) दो (ख) चार

(ग) छह (घ) आठ

3.6 अभिप्रेरणा

'अभिप्रेरणा' व्यवसाय की सभी गतिविधियों में सबसे महत्वपूर्ण मानवीय गतिविधि है। अभिप्रेरणा की प्रक्रिया, सतत चलने वाली एक चक्रीय प्रक्रिया है जिसका मूल उद्देश्य कर्मचारियों के व्यवहार को सक्रिय करना या प्रेरित करना है ताकि वे कार्यक्षमता का उचित प्रयोग कर संगठन को सफल बना सकें। प्रबंधक द्वारा प्रोत्साहन, प्रोन्नति, डर, कार्यक्षमता, मनोवृत्ति आदि अभिप्रेरणा के रूप अपनाए जाते हैं जिससे कर्मचारी लक्ष्य की ओर द्रुतगति से पूर्ण क्षमता के साथ अग्रसर हो सके। अभिप्रेरणा के विभिन्न सिद्धांतों को परंपरागत तथा आधुनिक सिद्धांतों में विभक्त किया गया है। मैस्लो, हजबर्ग, क्लेटन एल्डफर, मैकग्रेगर, उर्विक, एडम्स, ब्रूम आदि विद्वानों ने इन सिद्धांतों के प्रतिपादन में विशेष योगदान दिया है।

3.6.1 अभिप्रेरणा का अर्थ एवं प्रक्रिया

'अभिप्रेरणा' शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द 'Motive' से हुई है। अंग्रेजी के 'Motivation' शब्द को ही हिंदी में अभिप्रेरणा के रूप में जाना जाता है। वह प्रक्रिया जो एक लक्ष्य या प्रोत्साहन के उद्देश्य के साथ आरंभ होती है और व्यक्ति के व्यवहार को लक्ष्य हेतु सक्रिय करती है, अभिप्रेरणा कहलाती है। संगठनात्मक व्यवहार में कर्मचारियों में अभिप्रेरणा का संचार प्रबंधक द्वारा किया जाता है जिसे प्रोत्साहन के रूप में पाकर कर्मचारी अपने व्यवहार में सक्रियता लाते हैं तथा उत्पादन की मात्रा तथा गुणवत्ता बढ़ाते हुए संगठन के ग्राहकों को उच्च संतुष्टि स्तर प्रदान करने में सक्षम हो पाते हैं। इस तरह प्रबंधक, संगठन की सफलता में अभिप्रेरण का प्रयोग करते हैं।

कर्मचारी की कार्यक्षमता उसकी योग्यताओं और अभिप्रेरणा पर निर्भर करती है। योग्यता बताती है कि कर्मचारी क्या कार्य कर सकता है और अभिप्रेरणा यह इंगित करती है कि कर्मचारी क्या काम कर सकेगा? यदि सही अभिप्रेरणा हो तो कर्मचारी का उत्पादन बढ़ेगा। अभिप्रेरणा क्रिया तथा कार्य को प्रेरित करने वाली होती है।

संगठन की सफलता कर्मचारियों की रुचि पर निर्भर करती है। दूसरों से काम लेने की प्रक्रिया में बहुत कठिनाई आती है। संगठन का व्यवहार काम को प्रभावित करता है। अतः प्रबंध को जानना चाहिए कि लोग काम क्यों नहीं करना चाहते?

टिप्पणी

व्यवसाय की सभी गतिविधियों में सबसे महत्वपूर्ण मानवीय गतिविधि अभिप्रेरणा ही है। कुछ भी तब तक सकारात्मक नहीं हो सकता जब तक मनुष्य को इसके लिए अभिप्रेरित न किया जाए। व्यक्ति क्या कर सकता है? यह इस पर निर्भर है कि वह काम को करने के लिए कहां तक उत्सुक है? काम को करने की लगन, काम करने की क्षमता से भिन्न होती है। आप मनुष्य से समय और उसकी शारीरिक क्षमता खरीद सकते हैं परंतु उसके जोश, प्रेरणा और ईमान को नहीं खरीद सकते। काम करने की इच्छा प्रेरणा द्वारा ही पैदा की जा सकती है।

संगठन के उद्देश्यों को प्राप्त करना प्रबंधक की जिम्मेदारी है। इसके लिए प्रबंधक को लोगों को अपने मन से काम करने के लिए अभिप्रेरित करना चाहिए। अभिप्रेरणा द्वारा काम कर रहे मनुष्य के व्यवहार को संतुलित करते हुए काम पूरा करवाना होता है। अभिप्रेरणा कर्मचारियों को अभिप्रेरित करती है। कर्मचारी क्षमता लगाकर संगठन के उद्देश्यों को प्राप्त करने में मदद करता है।

अभिप्रेरणा की प्रक्रिया

अभिप्रेरणा की प्रक्रिया एक निरंतर चलने वाली चक्रीय प्रक्रिया है जिसका मूल उद्देश्य कर्मचारियों को अभिप्रेरित करना, उनकी अभिप्रेरित भावना को कायम रखना और उसमें बढ़ोत्तरी करना होता है। इसके लिए प्रबंधकों को क्रमानुसार कुछ कदम उठाने पड़ते हैं जिसे 'अभिप्रेरण प्रक्रिया' कहते हैं। विभिन्न प्रबंध विशेषज्ञों ने अभिप्रेरण प्रक्रिया के भिन्न–भिन्न चरण बताए हैं। माइकल जे. जूसियस (Michael J. Jucius) ने अभिप्रेरणा प्रक्रिया के मुख्य रूप से, चार चरणों को स्पष्ट किया है–

(i) अभिप्रेरणात्मक अवस्थाओं की जानकारी करना

(ii) अभिप्रेरणा के साधनों का समूहीकरण करना

(iii) उचित अभिप्रेरणा का चयन एवं उसका उपयोग करना

(iv) अनुवर्तन

कीथ डेविस (Keith Davis) ने अभिप्रेरण प्रक्रिया का विस्तृत रूप से वर्णन किया है। उनके अनुसार अभिप्रेरण प्रक्रिया के निम्नलिखित छः चरण हैं –

1. **अभिप्रेरण के उद्देश्यों का निर्धारण** (Determination of Objectives of Motivation)– अभिप्रेरणा प्रक्रिया का यह प्रथम चरण है जिसमें अभिप्रेरणा के उद्देश्यों को निर्धारित किया जाता है। उद्देश्यों के अभाव में अभिप्रेरण के स्तर का मूल्यांकन करना कठिन हो जाएगा, प्रबंधक अभिप्रेरणा के तौर–तरीकों का कुशलतापूर्वक चयन नहीं कर पाएगा और वह इस बात से भी अनभिज्ञ रहेगा कि किस दिशा में अधीनस्थ कर्मचारियों को अभिप्रेरित करना है। अतः प्रबंधक को पहले से ही यह निश्चित कर लेना चाहिए कि उसे अभिप्रेरणा किन्हें और किन कारणों से प्रदान करनी है?
2. **कर्मचारियों की भावना का अध्ययन** (Study of the Feeling of Employees)– अभिप्रेरण के दूसरे चरण में कर्मचारियों की भावना का अध्ययन किया जाता है जिससे उनकी कार्य के प्रति मनोदशा ज्ञात हो सके। अतः कर्मचारियों को पूर्ण रूप से प्रेरित करने के लिए प्रबंधक के लिए यह नितांत आवश्यक है कि

टिप्पणी

वह कर्मचारियों की भावना का अध्ययन करे और उन्हें उचित रूप से समझने का प्रयत्न करे।

3. **सम्प्रेषण व्यवस्था** (Communication System) – अभिप्रेरण प्रक्रिया की जानकारी कर्मचारियों को दे देनी चाहिए जिसके लिए अच्छी सम्प्रेषण व्यवस्था आवश्यक है। यदि प्रबंधक अपनी बात को उचित प्रकार से कर्मचारियों तक पहुंचाने में समर्थ रहता है, तो वह निश्चित रूप से अपने कर्मचारियों को उचित प्रकार से अभिप्रेरित करने में भी सफल रहेगा।

4. **हितों का एकीकरण** (Integration of Interests) – अभिप्रेरण प्रक्रिया के इस चरण में प्रबंधकों को संगठन के उद्देश्यों और कर्मचारियों के हितों को दृष्टिगत रखते हुए संस्था के उद्देश्यों का कर्मचारियों के व्यक्तिगत हितों के साथ इस प्रकार समायोजन करना होता है ताकि संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति के साथ ही साथ कर्मचारियों को भी अधिकाधिक प्रेरणा मिल सके।

5. **सहायक कार्य–दशाओं की व्यवस्था** (Provision ofAuxiliary Condition)– कर्मचारियों को उत्प्रेरित करने के लिए आवश्यक है कि उनको कार्य करने में सहायक दशाएं उपलब्ध कराई जाएं। इस संबंध में कर्मचारियों का प्रशिक्षण, उत्तम उपकरण एवं अनुकूल वातावरण की स्थापना अत्यंत आवश्यक है।

6. **टीम भावना** (Team Work) – अभिप्रेरण प्रक्रिया के इस चरण में कर्मचारियों में टीम या समूह भावना का विकास करना चाहिए, जिससे संस्था में कार्यरत सभी व्यक्तियों के कार्य एवं प्रयत्न संस्था के संपूर्ण उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए केंद्रीभूत हो सकें और वे व्यक्तिगत स्तर से ऊपर उठकर संस्था के हितों के लिए प्रयत्नशील हो सकें क्योंकि संस्था के हित–संवर्द्धन में ही कर्मचारियों का हित निहित होता है।

   कीथ डेविस के द्वारा प्रतिपादित अभिप्रेरणा के छः चरणों के विवेचन के पश्चात एक और महत्वपूर्ण चरण जिसका प्रतिपादन माइकल जे. जूसियस ने किया है, यहां जोड़ना उचित समझा जाता है, जिसके कारण 'अनुवर्तन' सातवें चरण के रूप में निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है।

7. **अनुवर्तन** (Follow up) – अभिप्रेरण प्रक्रिया के अन्तिम चरण में प्रबंधक के लिए आवश्यक है कि वह अभिप्रेरणा के पश्चात समय–समय पर इस बात का मूल्यांकन करता रहे कि अभिप्रेरणा की कौन–सी विधि का किस सीमा तक प्रभाव हुआ है? ऐसा करने से वर्तमान की त्रुटियों को भविष्य के लिए समाप्त किया जा सकता है तथा अनावश्यक क्रियाओं का उन्मूलन भी किया जा सकता है। ऐसा करने से भविष्य में अभिप्रेरणा के लिए मार्गदर्शन मिलता है।

3.6.2 अभिप्रेरणा के प्रकार

एक संगठन में प्रबंधक, वातावरण में अभिप्रेरणाओं का संचार करता है जिससे अधीनस्थ, उच्च कार्यक्षमता का प्रदर्शन करते हैं। अभिप्रेरणाएं निम्न प्रकार की हो सकती हैं–

टिप्पणी

1. **प्रोत्साहन अभिप्रेरणा**– संगठन के कर्मचारियों को उत्तम कार्य के लिए प्रेरित किया जाता है तथा कुछ पुरस्कारों की घोषणा की जाती है। समय–समय पर इन प्रोत्साहन प्रेरणा स्वरूप पुरस्कारों से कर्मचारियों का मनोबल बढ़ता है और वे उत्तम कार्यक्षमता का प्रदर्शन करते हैं। इस प्रकार की अभिप्रेरणा प्रोत्साहन के रूप में प्राप्त होती है।
2. **प्रोन्नति अभिप्रेरणा**– एक कुश प्रबंधक यह हमेशा मूल्यांकन करता रहता है कि कौन–सा कर्मचारी, संगठन के लिए अधिक उपयोगी है? योग्यता व कार्यक्षमता के स्तरानुसार कर्मचारियों को प्रोन्नत करने की अभिप्रेरणा से संगठन का उत्पादन स्तर और गुणवत्ता में वृद्धि होती है तथा अन्य कर्मचारी भी प्रोन्नति हेतु अपने कार्य–संबंधी व्यवहार में अधिक सक्रियता लाने लगते हैं।
3. **मनोवृत्ति अभिप्रेरणा**– यदि किसी व्यक्ति को उसकी पसंद का कार्य दिया जाता है तो उसे ज्यादा कार्य संतुष्टि मिलती है और वह ज्यादा मन लगाकर कार्य करता है। उसके मनोबल में वृद्धि होती है तथा मनोवृत्ति अभिप्रेरणा प्राप्त करता है। कर्मचारियों के साथ संयुक्त परामर्श कर समस्याओं का समाधान किया जाए तो उनमें आत्मविश्वास की बढ़ोतरी होती है।
4. **डर अभिप्रेरणा**– एक प्रबंधक विभिन्न कर्मचारियों के मध्य प्रमुखतः सद्भावना या सहयोग स्थापना की कोशिश करता है परंतु जब कुछ कर्मचारियों की कार्य संबंधी गतिविधियों में सक्रियता नहीं आती तो वह उनके लिए कुछ डर स्वरूप प्रतिबंध या आर्थिक कटौती भी करता है। इसका प्रतिकूल प्रभाव कर्मचारियों की कार्यक्षमता को बढ़ाता है और वे भविष्य में डरकर इन प्रतिबंधों से बचना चाहते हैं। इस डर अभिप्रेरणा का प्रभाव शीघ्र पड़ता है परंतु इसका उपयोग कम–से–कम किया जाए तो अभिप्रेरणा ज्यादा समय तक विद्यमान रहती है।
5. **कार्यक्षमता अभिप्रेरणा**– कर्मचारियों की योग्यता को बढ़ाने से उनकी कार्यक्षमता पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। समय–समय पर आयोजित किए जाने वाले प्रशिक्षण अभ्यास कार्यक्रम कर्मचारियों की कार्यक्षमता अभिप्रेरणा का विकास करते हैं। संगठन सफलता की ओर अग्रसर होता है।

अभिप्रेरणा के सिद्धांत

अभिप्रेरणा सिद्धांतों को मुख्यतः दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं–

I. अभिप्रेरणा के परंपरागत सिद्धांत तथा

II. अभिप्रेरणा के आधुनिक सिद्धांत

(I) अभिप्रेरणा के परंपरागत सिद्धांत (Traditional Theories of Motivation)

अभिप्रेरणा के पंरपरागत सिद्धांतों को निम्न प्रकार से समझाया गया है–

1. **भय एवं दण्ड का सिद्धांत** (Fear and Punishment Theory)– भय एवं दण्ड का सिद्धांत अभिप्रेरणा का सबसे प्राचीन सिद्धांत है। इस सिद्धांत के समर्थक विद्वानों की मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति पेट के लिए कार्य करता है।

टिप्पणी

अतः यदि श्रमिकों एवं कर्मचारियों को भय दिखाया जाए कि काम न करने पर अथवा मंद गति से काम करने पर उन्हें सेवानिवृत कर दिया जाएगा तो वे घबराकर कार्य करेंगे। इसी प्रकार दंड का भय भी श्रमिकों एवं कर्मचारियों से बरबस कार्य करा सकता है। औद्योगिक क्रांति की प्रारंभिक अवस्था में यह सिद्धांत सफल रही लेकिन कालांतर में इसका महत्व कम होता गया और वर्तमान समय में तो भय दिखाकर अथवा दण्ड देकर कार्य कराना अमानवीय समझा जाने लगा है।

2. **पुरस्कार का सिद्धांत** (Reward Theory) – अभिप्रेरणा के पुरस्कार सिद्धांत के प्रतिपादन का श्रेय एफ.डब्ल्यू. टेलर को जाता है। यह सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि अच्छा पुरस्कार कर्मचारियों को अधिकाधिक उत्पादन के लिए अभिप्रेरित करता है। जितना अधिक पारिश्रमिक अथवा प्रतिफल कर्मचारियों को मिलेगा, वे उतनी अधिक लगन एवं परिश्रम से कार्य करेंगे। अच्छा पुरस्कार और अच्छी कार्य दशाएं श्रमिकों को संतुष्ट बनाएंगी जिससे उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि होगी। टेलर के अनुसार मौद्रिक अभिप्रेरणाएं कार्यरत श्रमिकों में कार्य के प्रति इच्छा, शक्ति एवं उत्साह जागृत करने के लिए महत्वपूर्ण है अतः उत्पादन में वृद्धि के लिए इन्हीं को आधार बनाना होगा। यह सिद्धांत कार्य करने के वातावरण में मानवीय संबंधों को सर्वश्रेष्ठ बनाने पर भी बल देता है। लेकिन आधुनिक प्रबंध विद्वानों का विचार है कि पुरस्कार एक उत्प्रेरक तत्व है ना कि अभिप्रेरणा का साधन। धन श्रमिकों को संतुष्टि तो प्रदान कर सकता है लेकिन उन्हें अभिप्रेरणा नहीं प्रदान कर सकता। पीटर एफ. ड्रकर के भी इस संबंध में यही विचार हैं कि मौद्रिक पुरस्कार से संतुष्ट होना पर्याप्त अभिप्रेरणा नहीं है।

3. **केरट एवं स्टिक सिद्धांत** (Carrot and Stick Theory)– अभिप्रेरणा का यह सिद्धांत इस बात पर बल देता है कि श्रमिक एवं कर्मचारियों को दण्ड एवं पुरस्कार दोनों के सम्मिश्रण से अभिप्रेरित किया जा सकता है। इस सिद्धांत के अनुसार जिन श्रमिकों का कार्य निष्पादन निश्चित न्यूनतम स्तर से ऊंचा हो उन्हें दण्ड दिया जाना चाहिए। इस प्रकार यह सिद्धांत अभिप्रेरण के लिए पुरस्कार को शर्तयुक्त बना देता है। यह दृष्टिकोण कुछ विशेष परिस्थितियों में ही प्रभावी रहता है। मैकग्रेगर के अनुसार, ''यह सिद्धांत एक बार व्यक्ति के पर्याप्त जीवन स्तर पर पहुंच जाने के बाद कार्य नहीं करती क्योंकि तब श्रमिक मुख्य रूप से उच्चतम आवश्यकताओं द्वारा अभिप्रेरित होता है। इस प्रकार यह सिद्धांत केवल उन व्यक्तियों को ही प्रभावी ढंग से अभिप्रेरित करती है जिनकी जीवन निर्वाह, मनोवैज्ञानिक एवं सुरक्षा संबंधी आवश्यकताएं पूरी नहीं हो सकी हैं।''

(II) अभिप्रेरणा के आधुनिक सिद्धांत (Modern Theories of Motivation)

इन सिद्धांतों को हम मूल रूप में निम्न भागों में बांट सकते हैं :–

(1) मैस्लो (Maslow) का आवश्यकता–पदानुक्रम अभिप्रेरणा सिद्धांत।

(2) मैकग्रेगर का ''एक्स'' (X) तथा ''वाई'' (Y) सिद्धांत।

(3) हर्जबर्ग (Herzberg) का अभिप्रेरक–अनुरक्षक तत्वों का सिद्धांत।
(4) क्लेटन एल्डफर का ERG ई.आर.जी. अभिप्रेरणा सिद्धांत।
(5) मैक्लेलैण्ड का प्रकट या अर्जित आवश्यकता सिद्धांत।
(6) ब्रूम का प्रत्याशा अभिप्रेरणा सिद्धांत।
(7) एडम्स का अभिप्रेरणा समता सिद्धांत।

टिप्पणी

उपरोक्त सिद्धांतों में से कुछ प्रमुख सिद्धांतों का वर्णन निम्न प्रकार है–

(1) मैस्लो का आवश्यकता–पदानुक्रम अभिप्रेरणा सिद्धांत

यह सिद्धांत सर्वप्रथम 1943 में एक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। इसे पुस्तक ''मोटिवेशन एंड पर्सनेलिटी'' (Motivation and Personality) में (न्यूयॉर्क, हार्पर एंड ब्रदर्स 1954 – New York, Harper and Bros. 1954) में विस्तारपूर्वक समझाया गया है। मैस्लो ने ''आवश्यकता'' (Need) को अभिप्रेरणा का आधार माना है। आवश्यकताओं के उन्होंने पांच भाग बनाए हैं और उन्हें एक के बाद एक प्रकट होने के कारण ''सीढ़ी'' के रूप में दिखाया है। यह सिद्धांत अभिप्रेरणा की व्यवहारात्मक विचारधारा 'आवश्यकता–पदानुक्रम' (A Hierarchy of Needs) के अनुकूल है। इसके अनुसार एक व्यक्ति कोई कार्य इसलिए करता है क्योंकि उसके अंदर कोई अतृप्त आवश्यकता, इच्छा या तनाव उस कार्य को करने की प्रेरक शक्ति उत्पन्न करते हैं। उदाहरणार्थ, वह किसी संगठन में इसलिए कार्य करता है क्योंकि वह संगठन उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक साधन उपलब्ध कराता है। मैस्लो ने मनुष्य की आधारभूत आवश्यकताओं को निम्नांकित पांच वर्गों में बांटा है–

1. **शारीरिक आवश्यकताएं** (Physical Needs) – ये मानवीय जीवनयापन की मूल आवश्यकताएं हैं – भोजन, जल, गर्मी, छाया, निद्रा तथा यौन तृप्ति। मैस्लो (Maslow) के अनुसार, जब तक इन इच्छाओं को जीवन में बनाए रखने के स्तर तक संतुष्ट नहीं किया जाता, अन्य आवश्यकताएं व्यक्तियों को अभिप्रेरित नहीं करेंगी। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के अभाव में मनुष्य का जीवित रहना भी मुश्किल हो जाता है। लेकिन जैसे ही मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताएं पूरी हो जाती हैं, इसके बाद वे उत्प्रेरणा का कार्य नहीं करती। जिस मनुष्य की ये आवश्यकताएं पूरी नहीं होतीं, उसे इनके अतिरिक्त कुछ और दिखाई नहीं देता।
2. **सुरक्षा संबंधी आवश्यकताएं** (Safety Needs) – जब मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताएं संतुष्ट हो जाती हैं तो वह इन आवश्यकताओं की संतुष्टि के बारे में विचार करता है। इनका अभिप्राय भौतिक, आर्थिक तथा मनोवैज्ञानिक सुरक्षा से है। भौतिक सुरक्षा (Physical Safety) का अभिप्राय, दुर्घटना, आक्रमण, बीमारियों व अन्य आकस्मिकताओं से बचाव करना है, जबकि आर्थिक सुरक्षा (Economic Safety) का अभिप्राय, रोजगार की सुरक्षा, वृद्धावस्था के लिए व्यवस्था आदि से है। मनोवैज्ञानिक सुरक्षा (Psychological Needs) का अर्थ है – विभिन्न प्रकार की अनिश्चितताओं, जैसे– न्याय व सहानुभूति की आशा से मुक्ति।

टिप्पणी

3. **सामाजिक संबद्धता आवश्यकताएं** (Social Belonging Needs) – शारीरिक एवं सुरक्षा संबंधी आवश्यकताओं की संतुष्टि के बाद मनुष्य की सामाजिक आवश्यकताएं उत्पन्न होती हैं। इसमें मनुष्य का अपनत्व, प्रेम व स्नेह की आवश्यकता शामिल होती है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य चाहता है कि उसके मित्र व संबंधी हों जिसके साथ वह अपना दुःख–दर्द बांट सकें, मिलकर खुशी मना सके तथा अपना समय व्यतीत कर सकें। यदि मनुष्य की स्नेह एवं प्रेम जैसी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती है तो वह कार्य में असहयोग करने लगता है तथा अनेक बाधाएं डालता है। यदि उपक्रम में कार्य करने वाले कर्मचारियों की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती तो उसका बुरा प्रभाव संगठन के उद्देश्यों पर पड़ता है।

4. **सम्मान तथा पद की आवश्यकताएं** (Esteem and Status Needs) – मैस्लो (Maslow) के अनुसार जब व्यक्ति अपने संबंध बनाने की आवश्यकता पूरी करने लगता है तो उसमें उनसे तथा अन्य व्यक्तियों से सम्मान पाने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस प्रकार की आवश्यकताएं, शक्ति, प्रतिष्ठा, पद–स्थिति एवं आत्मविश्वास के रूप में संतुष्टि को जन्म देती हैं। इनमें से अधिकांश आवश्यकताएं संतुष्ट नहीं हो पातीं। यद्यपि इन आवश्यकताओं की संतुष्टि अच्छे परिणाम दे सकती हैं फिर भी अधिकांश संस्थाएं इन आवश्यकताओं की संतुष्टि का प्रयास नहीं करतीं। निम्नांकित चित्र में आवश्यकता–पदानुक्रम को सौपानीकृत किया गया है–

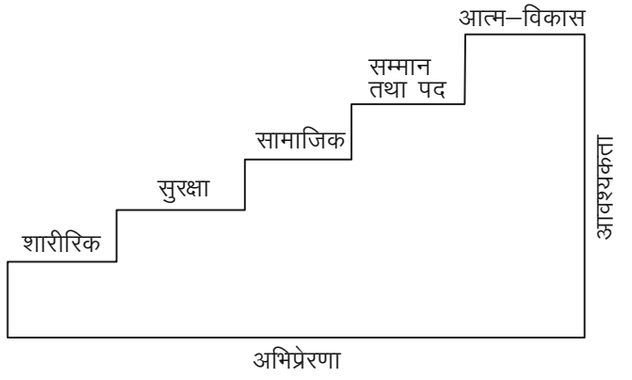

5. **आत्म–विकास की आवश्यकताएं** (Self-development Needs) – मैस्लो (Maslow) ने इसको अपनी क्रम व्यवस्था की उच्चतम आवश्यकता माना है। यह वह बनने की चाह है, जो एक व्यक्ति बन सकता है – अर्थात अपनी संभाविता को अधिकतम करके कुछ प्राप्त करना। ये आवश्यकताएं मनुष्य की योग्यता को उभारने की इच्छा के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती हैं। प्रत्येक मनुष्य में कुछ छिपी हुई योग्यताएं होती हैं जिनको प्रत्येक व्यक्ति उभारने का प्रयास करता है। अतः वह अधिकाधिक कार्य करने के लिए अभिप्रेरित होता है। डॉ. मैस्लो के अनुसार, ''एक संगीतकार को संगीत बनाना चाहिए, एक कलाकार को पेंटिंग करनी चाहिए, एक कवि को कविता की रचना करनी चाहिए क्योंकि वह अन्ततोगत्वा प्रसन्न होना चाहता है। एक मनुष्य जो भी बन सकता है उसे बनना चाहिए।'' एक आवश्यकता, अभिप्रेरणा का कार्य तब

करेगी जबकि अन्य आवश्यकताएं पूरी हो चुकी हों।

अभिप्रेरणा के संबंध में मैस्लो के विचारों को तीन सिद्धांतों के रूप में समझा जा सकता है –

टिप्पणी

(अ) मनुष्य का प्रत्येक व्यवहार किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए किया जाता है। हम संपूर्ण मानवीय आवश्यकताओं को इनके मौलिक रूप में पांच आधारभूत वर्गों में बांट सकते हैं।

(ब) सामान्यतया मनुष्य की पांच प्रकार की आवश्यकताएं एक निश्चित प्राथमिकता क्रम में बंटी होती हैं। मनुष्य सबसे पहले शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति करता है और तत्पश्चात सुरक्षा संबंधी आवश्यकता की। मनुष्य की इन आवश्यकताओं का यह प्राथमिकता–क्रम अटल नहीं है। भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में तथा भिन्न–भिन्न व्यक्तियों में यह प्राथमिकता–क्रम कुछ बदल भी सकता है।

(स) मानवीय आवश्यकताएं अनंत हैं जब मनुष्य की कोई विशेष आवश्यकता पूरी हो जाती है तब वह अपनी किसी दूसरी आवश्यकता की पूर्ति में लग जाता है, और जब दूसरी आवश्यकता भी पूरी हो जाती है तो वह तीसरी आवश्यकता की पूर्ति में लग जाता है और इस प्रकार आवश्यकताओं की पूर्ति का यह क्रम निरंतर चलता रहता है।

कूण्ट्ज एवं ओ'डोनेल ने इसकी विवेचना करते हुए लिखा है – मैस्लो (Maslow) की आवश्यकताओं की क्रम व्यवस्था का वास्तविकता पर शोध, इसकी आवश्यकताओं के क्रमबद्ध व्यवस्थात्मक पहलू की शुद्धता के संबंध में अनेक प्रश्न उत्पन्न करता है। फिर भी आवश्यकताओं के प्रकारों का परिचय उपयोगी जान पड़ता है। यह निस्संदेह सत्य है कि यदि शारीरिक एवं सुरक्षात्मक मूल आवश्यकताएं स्पष्टतया अतृप्त रहें, तो इस स्थिति का अभिप्रेरणा पर व्यापक प्रभाव पड़ सकता है लेकिन ये आवश्यकताएं भी पर्याप्त लोचदार होती हैं, उदाहरणार्थ– कपड़ा और मकान। एक व्यक्ति उस स्तर पर संतुष्ट हो सकता है जो दूसरों की दृष्टि में अपर्याप्त है। इस तरह शोध से यह पाया गया है कि नीचे से नीचे स्तर पर कर्मचारी में आत्म–गौरव एवं आत्म–अभिव्यक्ति की आवश्यकताएं होती हैं, यद्यपि प्राप्ति का गौरव तथा परिस्थिति जो एक व्यक्ति के लिए संतुष्टि का कारण है, दूसरे के लिए पूरी तरह संतुष्टि संभवतः न दे सके। एक व्यक्ति को केवल यही देखना है कि इन बचतों, जैसे कार्यालय का स्थान से संलग्न आत्मगौरव क्या हो सकता है। एक प्रथम स्तरीय अधीक्षक एक छोटे एवं सामान्य कार्यालय को पाकर बहुत खुश हो सकता है, जबकि एक उच्चाधिकारी एक बड़े एवं सुसज्जित कार्यालय को पाकर संतुष्ट होगा।

व्यवहार में इसका अर्थ होगा कि प्रशंसनीय प्रबंधकों को मैस्लो के सिद्धांतों के प्रयोग के लिए एक स्थितिगत एवं आकस्मिक नीति का अनुसरण करना चाहिए। किन आवश्यकताओं का पक्ष वे ले सकते हैं यह व्यक्तियों के व्यक्तित्व, आवश्यकताओं एवं अभिलाषाओं पर निर्भर होगा। किसी भी देश में प्रबंधकों को यह नहीं भूलना चाहिए कि अधिकांश व्यक्तियों की विशेषतया विकसित समाज में, अनेक आवश्यकताएं होती हैं, जो मैस्लो की क्रम व्यवस्था की संपूर्ण परिधि में बिखरी हुई हैं।

टिप्पणी

(2) मैकग्रेगर का 'एक्स' (X) तथा 'वाई' (Y) सिद्धांत

डगलस मैकग्रेगर (Doghlas McGregar) ने मानवीय अभिप्रेरणा के संबंध में परम्परागत ''एक्स'' (X) सिद्धांत तथा आधुनिक ''वाई'' (Y) सिद्धांत की विवेचना की है। इन्होने मैस्लो के आवश्यकता–प्राथमिकता क्रम का समर्थन करते हुए संगठन में कर्मचारियों की अभिप्रेरणा को बढ़ाने के लिए विकेन्द्रीयकरण तथा अधिकार सौंपने, कार्य–विस्तार (Job Enlargement), भागीदारी तथा परामर्शात्मक प्रबंध तथा प्रगति मूल्यांकन (PerformanceAppraisal) आदि प्रणालियों का सुझाव दिया है। मैकग्रेगर की ''एक्स सिद्धांत'' की यह मान्यता है कि औसत कर्मचारी आलसी होते हैं, कार्य से मन चुराते हैं, उनमें कार्य करने की इच्छा नहीं होती, वे उत्तरदायित्वों को टाल देना चाहते हैं और संस्था के लक्ष्यों की प्राप्ति से उनका कोई संबंध नहीं होता। इसलिए किसी उपक्रम के निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कर्मचारियों पर आवश्यक दबाव एवं नियंत्रण रखना पड़ता है। लेकिन कर्मचारी की प्रकृति के संबंध में ''एक्स सिद्धांत'' की मान्यताएं ठीक नहीं हैं। मान्यताओं के आधार पर कर्मचारियों को अभिप्रेरित करने के लिए आरंभ की गई प्रत्येक योजना सफलता प्राप्त नहीं कर सकती।

• सिद्धांत X की विचारधारा

यह प्रबंध–दर्शन का परंपरागत सिद्धांत है। इस सिद्धांत का मुख्य सूत्र है : ''शक्ति सर्वोत्तम है'' (Power is Supreme)। जहां काम पर लगे लोगों को कोई सुझाव देने या आपत्ति करने का तनिक भी अधिकार नहीं होता सिवाय सुपरवाइजर्स के आदेशों के क्रियान्वयन के। अधिसत्ता श्रृंखला (Line ofAuthority or Chain of Command) परंपरागत रूप से संगठन की विभिन्न लेयर्स के माध्यम से अधिसत्ता के कुछ भारार्पण के साथ ऊपर से नीचे की ओर प्रत्यक्षतः जाती है। कार्यस्तर पर लोगों के सामने अधिकारियों के आदेशों को मानने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प ही नहीं होता। इसकी मुख्य मान्यताएं हैं–

(i) अधिकांश लोग जन्मजात ही काम को करना पसंद नहीं करते हैं तथा अपने उत्तरदायित्व से भागते हैं। अतः उनका उत्पीड़न किया जाना चाहिए–ताकि उनको संगठनात्मक लक्ष्यों की अभिप्राप्ति के प्रति अपना पर्याप्त प्रयास देने के लिए विवश किया जा सके।

(ii) औसत व्यक्ति निर्देशित होकर काम करना चाहता है, उत्तरदायित्व से भागना चाहता है तथा काम छोड़ देना चाहता है। काम में सुधार के प्रति उनके हृदय में बहुत ही कम महत्वाकांक्षा रहती है। वे रुचि लेकर काम नहीं करते वरन निर्देशन की प्रतीक्षा करते हैं तथा उसके अनुसार ही काम करते हैं। औसत प्राणी को सुरक्षा चाहिए अतः वे काम धीमा करने की प्रवृत्ति दिखाते हैं।

(iii) अधिकांश कंपनियों में संगठनात्मक समस्याओं के समाधान के प्रति योगदान करने की कम ही क्षमता होती है क्योंकि अधिसत्ता द्वारा उनकी महत्ता सदैव ही कम आंकी जाती है तथा उनको सामान्यतः एक मशीन का तंत्र माना जाता है।

(iv) लोगों की काम करने की विधि सामान्यतः परंपरागत होती है अतः विकास के लिए शोध का उसमें शायद ही कहीं स्थान हो।

(v) लोगों को केवल मुद्रा–उद्देश्य से ही अभिप्रेरित किया जा सकता है। वित्तीय अभिप्रेरकों के आधार पर वे वही कर सकते हैं जो प्रबंध चाहता है।

टिप्पणी

उल्लेखनीय है कि सिद्धांत X आधुनिक समय में एकदम अवांछनीय हो गया है क्योंकि यह अधिनायकवादी परंपरा पर आधारित है जो आज संभव नहीं है। प्रबंध को साफ कर लेना चाहिए कि संगठन में काम कर रहा इनसान सबसे संवेदनशील घटक है जिसका सावधानीपूर्वक नियंत्रण किया जाना चाहिए। अस्थायी समय के लिए ही उत्पीड़न, दबाव, डर या दण्ड के रास्तों से काम कराया जा सकता है। स्वयं मैकग्रेगर ने इस सिद्धांत को खारिज करते हुए लिखा है :

''सिद्धांत X की परंपरागत पहुंच इन गलत धारणाओं पर आधारित है कि क्या कारण है तथा क्या परिणाम है।''

अब यह बात केवल इतिहास के लिए ही है; जब प्रबंध किसी भी नेतृत्व शैली का प्रयोग करने की स्थिति में होता था या कर्मचारियों पर दबाव डाल सकता था। अच्छे परिणाम पाने का एकमात्र प्रभावी तरीका है 'श्रमिकों का संगठन श्रमिकों द्वारा श्रमिकों के लिए' (An Organisation of the Workers, By the Workers and For the Workers)। दुनिया भर में स्वीकार किया जा चुका है कि श्रम को प्रबंध में सम्माननीय सहभागिता दी जानी चाहिए। इस स्वस्थ दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि में आज यह सिद्धांत कालातीत हो चुका है, तथा त्यागा जाना चाहिए। सिद्धांत 'Y' का पालन सभीचीन है क्योंकि यह प्रजातांत्रिक है तथा श्रमिकोन्मुखी है।

• सिद्धांत Y की विचारधारा

सिद्धांत 'Y', सिद्धांत 'X' से पूरी तरह से विपरीत है। यह मानता है कि संगठन के उद्देश्य तथा व्यक्तियों के उद्देश्य बहुत महत्व के नहीं होते लेकिन अधिकांश संगठनों में मूल समस्या होती है संगठनात्मक उद्देश्यों के प्रति श्रमिकों की वचनबद्धता पाना। श्रमिकों की वचनबद्धता विशेषतः उच्च या बाह्य आवश्यकताओं की संतुष्टि से प्रत्यक्षतः संबंधित है।

वाई–सिद्धांत (Y-Theory) मानवीय व्यवहार का वास्तविक चित्रण प्रस्तुत करता है। इस सिद्धांत की मान्यता है कि जिस प्रकार व्यक्ति के लिए आराम करना और खेलना स्वाभाविक है, ठीक उसी प्रकार कार्य करना भी स्वाभाविक है। औसत कर्मचारी उत्तरदायित्वों के निर्वाह करने की कला सीख सकते हैं। व्यक्ति स्वतः अपने से अधिक अनुभव व्यक्तियों से निर्देशन प्राप्त कर सकते हैं एवं यदि उन्हें ठीक ढंग से अभिप्रेरित किया जाए तो ये महान सृजनशील कार्य कर सकते हैं। मैकग्रेगर के अनुसार, ''एक प्रभावशाली संगठन वह है जिसमें निर्देशन एवं नियंत्रण के स्थान पर सत्यनिष्ठा एवं सहयोग हो और जिसके प्रत्येक निर्णय में निर्णय से प्रभावित होने वाले को सम्मिलित किया जाता हो।''

सारांश रूप में, मैकग्रेगर का विचार है कि कर्मचारियों को अभिप्रेरित करने के लिए प्रबंधकों को चाहिए कि वे विकेन्द्रीयकरण, कार्य–विस्तार तथा भागीदारी व परामर्शात्मक प्रबंध प्रणालियों का प्रयोग करें और कर्मचारियों को स्वयं अपना कार्य तय करने तथा अपने दायित्व का स्व–मूल्यांकन करने के लिए प्रेरित करें। उनके अनुसार, प्रबंधक एक शिक्षक, परामर्शदाता तथा सहयोगी तो होता है लेकिन अधीक्षक (Boss) नहीं।

टिप्पणी

यह घटक नियंत्रण तथा आदेश के एक तंत्र के रूप में अधिसत्ता के प्रयोग पर भरोसा नहीं करता। सिद्धांत Y निम्न मान्यताओं पर आधारित है –

(i) औसत व्यक्ति काम करना नापसंद नहीं करता। उतना ही स्वाभाविक होता है, जैसे– आराम या खेलकूद। नियंत्रणीय परिस्थितियों पर निर्भर होकर कार्य संतुष्टि या दण्ड का एक स्रोत हो सकता है।

(ii) संगठनात्मक उद्देश्यों की अभिप्राप्ति हेतु बाहरी नियंत्रण तथा दण्ड की धमकी एकमात्र साधन नहीं होती। श्रमिक उद्देश्यों के प्रति वचनबद्ध होते हैं तथा उनकी प्राप्ति के लिए आत्म नियंत्रण तथा आत्म निर्देशन लागू करते हैं। यदि उनको अच्छा वातावरण मिलता है तो वे अपने कार्य के प्रति पूर्णतः सचेत रहते हैं।

(iii) औसत व्यक्ति उचित परिस्थितियों में काम करना चाहता है, न केवल स्वीकार करने के लिए वरन उत्तरदायित्व पाने के लिए। उत्तरदायित्व का परित्याग, महत्वाकांक्षा की कमी तथा सुरक्षा पर जोर व्यक्ति के जन्मजात गुण नहीं होते वरन वे सभी अनुभव के परिणाम होते हैं।

(iv) कार्य की निष्पत्ति के लिए प्रतिफल यही होता है कि उसके काम को उचित मान्यता मिले। उनके जुनून की तुष्टि तथा वास्तविक आवश्यकता (Actualisation Needs) की संतुष्टि संगठनात्मक लक्ष्यों के प्रति निर्देशित प्रयासों का प्रत्यक्ष परिणाम होती है।

(v) प्रबंध को श्रम प्रबंध संबंधों के महत्व को समझ लेना चाहिए। मूलतः श्रमिकों में कल्पना शक्ति तथा संगठनात्मक समस्याओं के समाधान में सृजन की भारी मात्रा विद्यमान होती है।

(vi) प्रत्येक कर्मचारी में विविध योग्यताएं, दक्षताएं तथा सम्भावनाएं होती हैं जिनका आमतौर पर पूरा विकास नहीं हो पाता। आधुनिक प्रबंध विशेषज्ञों को सुनिश्चित करना चाहिए कि मानवीय क्षमताओं को पूर्ण स्तर तक काम लाया जाए।

(vii) यह सिद्धांत X सिद्धांत के विपरीत प्रजातांत्रिक सिद्धांतों पर आधारित है जिसमें सभी व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व के विकास के समान अवसर मिलते हैं।

सिद्धांत Y शिक्षित, निपुण तथा पेशेवर कर्मचारियों पर कहीं अधिक लागू हुआ जान पड़ता है जो अपने उत्तरदायित्वों को समझते हैं तथा कुछ अपवादों को छोड़कर आत्म–नियंत्रित होते हैं। आजकल परम्परागत प्रबंधकों के विपरीत पेशेवर प्रबंधक यह स्वीकार करने लगे हैं कि औद्योगिक संबंधों को प्रखर करने के लिए मानवीय मूल्य महत्वपूर्ण हैं तथा प्रबंधक में उनकी भागीदारी में विश्वास करते हैं। इस संबंध में कुछ वैधानिक प्रावधान, जैसे– सहभागी प्रबंध, न्यूनतम मजदूरी, कर्म के घंटों आदि के संबंध में प्रावधान सरकार द्वारा बनाए गए हैं।

कार्य–परिस्थितियों के सुधार हेतु भारतीय कारखाना अधिनियम को सभी उद्योगों पर लागू किया गया है ताकि श्रमिक उन सभी लाभों को पा सकें जो उनको मिलने चाहिए। ये सभी प्रयास और कुछ नहीं हैं सिवाय सिद्धांत Y के प्रति संकल्प के; जो उनको प्रोत्साहित करके उनको जिताने में विश्वास करता है।

- **एक्स तथा वाई सिद्धांत का तुलनात्मक अध्ययन** (Comparative Study of X Theory and Y Theory)

टिप्पणी

एक्स सिद्धांत	वाई सिद्धांत
1. सामान्य व्यक्ति कार्य के प्रति सुस्त, आराम पसंद एवं अपरिपक्व होता है अर्थात वह काम से दूर रहना ही पसंद करता है।	1. सामान्य व्यक्ति के लिए बौद्धिक (Mental) और शारीरिक (Physical) कार्य उतना ही आवश्यक है जितना भोजन और आराम करना।
2. कार्य के प्रति विमुखता के कारण अधिकतर व्यक्तियों से कार्य करवाने के लिए उत्पीड़न, कठोर नियंत्रण एवं भय का वातावरण बनाना पड़ता है।	2. संगठनात्मक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए बाह्य नियंत्रण या दण्ड का भय ही एकमात्र तरीका नहीं है।
3. सामान्य व्यक्ति में उत्तरदायित्व एवं पहल की भावना का अभाव पाया जाता है।	3. सामान्य व्यक्ति उपयुक्त परिस्थिति में न केवल दायित्व ही ग्रहण करने का इच्छुक होता है वरन उसमें पहल और कल्पना की भावना भी होती है। परंतु इसके लिए वातावरण का संतोषप्रद होना आवश्यक है।
4. सामान्य व्यक्ति महत्वाकांक्षी नहीं होता वरन निर्देशन एवं आदर्श प्राप्त करना पसंद करता है।	4. सामान्य व्यक्ति महत्वाकांक्षी होता है स्वयं निर्देश प्राप्त करता है और नियंत्रित होता है।
5. सामान्य व्यक्ति सुरक्षा को सर्वाधिक महत्व देता है।	5. उद्देश्यों के प्रति वचनबद्धता, उद्देश्यों की प्राप्ति से प्राप्त होने वाले पारितोषिक से संबंधित होता है।
6. यह परम्परागत, कठोर, तानाशाही विचारधारा है।	6. यह मानवीयता से ओत–प्रोत है, एवं सहभागिता में विश्वास करता है।

(3) हर्जबर्ग (Herzberg) का अभिप्रेरक–अनुरक्षक तत्वों का सिद्धांत

हर्जबर्ग (Herzberg) ने अभिप्रेरणा के एक नवीन सिद्धांत का विकास किया। इस सिद्धांत को 'स्वास्थ्य या आरोग्य सिद्धांत' के नाम से भी जाना जाता है। हर्जबर्ग और उनके साथियों ने ''साइकोलोजिकल सर्विस, पिट्सबर्ग'' (Psychological Service, Pittsberg) में अनेक अध्ययनों के आधार पर इस सिद्धांत का विकास किया। हर्जबर्ग ने स्पष्ट किया कि मनुष्य की आवश्यकताओं को दो समूहों में विभक्त किया जा सकता है जो परस्पर एक–दूसरे से संबंधित हैं और मानवीय व्यवहार को अलग–अलग ढंग से प्रभावित करती हैं। अनुरक्षक, आरोग्यवर्धक अथवा असंतोषजनक तत्व (Maintenance, Hygiene or Dissatisfiers) तथा अभिप्रेरक अथवा संतोषक तत्व (Motivators or Satisfiers)। अनुरक्षक या आरोग्य तत्वों का अभिप्राय उन तत्वों से है जिनकी विद्यमानता कर्मचारियों को अधिक उत्साह से कार्य करने के लिए प्रेरित नहीं करती लेकिन जिनकी अनुपस्थिति उनमें एक भयंकर एवं विस्फोटक असंतोष को जन्म देती है। ये तत्व प्रायः कार्य के वातावरण (Job Condition) से संबंध रखते हैं और उनमें निम्नलिखित दस तत्व शामिल हैं–

टिप्पणी

(1) कंपनी नीति तथा प्रशासन,
(2) तकनीकी निरीक्षण,
(3) अधीनस्थ के साथ पारस्परिक व्यक्तिगत संबंध,
(4) सहकर्मियों के साथ पारस्परिक संबंध,
(5) निरीक्षक के साथ पारस्परिक व्यक्तिगत संबंध,
(6) पारिश्रमिक,
(7) कार्य सुरक्षा,
(8) व्यक्तिगत जीवन,
(9) कार्य करने की दशाएं, तथा
(10) पदस्थिति।

हर्जबर्ग ने संतुष्टि प्रदान करने वाले घटकों को ''अभिप्रेरक घटक या तत्व'' (motivators) के नाम से संबंधित किया है। ये सभी तत्व मनुष्य को अधिक कुशलता के साथ कार्य करने के लिए अभिप्रेरित करते हैं। इन सभी घटकों को हर्जबर्ग एवं उनके सहयोगियों ने कार्य के आंतरिक घटक माना है। ये तत्व प्रायः कार्य (job content) से संबंधित होते हैं। अतः इन्हें कार्य तत्व भी कहा जाता है। इनमें 6 तत्व शामिल हैं –

(1) उपलब्धि या कार्य सफलता (Achievement)
(2) मान्यता (Recognition)
(3) उन्नति (Advancement)
(4) स्वयं कार्य (Job Itself)
(5) प्रगति के अवसर (Opportunities for Growth)
(6) उत्तरदायित्व (Responsibility)

हर्जबर्ग के सिद्धांत की भी अनेक विद्वानों ने आलोचना की है। कुछ विद्वान इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि हर्जबर्ग द्वारा चर्चित आरोग्यवर्धक या अनुरक्षण तत्व केवल असंतुष्टिजनक (Dissatisfiers) होते हैं संतुष्टिजनक (Satisfiers) नहीं। हर्जबर्ग तथा उसके साथियों के द्वारा की गई शोध विधि–सीमित (Method Bound) है अर्थात उन्हीं परिस्थितियों में अनुकूल परिणाम देती है जब उसे उसी विधि से आयोजित किया जाए जिस विधि से हर्जबर्ग ने आयोजित की थी। व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो आज भी व्यावसायिक संगठन में अभिप्रेरण को बढ़ाने के लिए अनुरक्षण या आरोग्यवर्धक तत्वों पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

वस्तुतः हर्जबर्ग का सिद्धांत द्विघटकीय अभिकल्पना पर आधारित है अर्थात कार्य संतुष्टि की ओर ले जाने वाले घटक (Factors Leading to Job Satisfactions) तथा कार्य असंतुष्टि की ओर ले जाने वाले घटक (Factors Leading to Job – Dissatisfaction)। इन घटकों के आधार पर इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि यदि कार्य चुनौतीपूर्ण हो तथा मनोरंजक हो, उसमें विकास की संभावनाएं हों तथा अपने विवेक को काम लेने का अधिकार हो तथा पेशे में आगे बढ़ने की योग्यता हो तथा किए गए काम के लिए उचित मान्यता प्राप्त होती हो; तो लोग अभिप्रेरित अनुभव करते हैं।

1. **सिद्धांत दो पूर्णतः विपरीत घटकों पर आधारित है** (Theory is Based on Two Exactly Opposite Factors) – हर्जबर्ग मॉडल अभिप्रेरणा के द्विघटीय सिद्धांत पर आधारित है अर्थात कार्य असंतुष्टि की ओर ले जाने वाले घटक तथा कार्य संतुष्टि की ओर ले जाने वाले घटक। यह दो अलग–अलग घटकों के रूप में job satisfiers तथा dissatisfiers का सुझाव देता है। इसका इस आधार पर दूसरों द्वारा विरोध किया गया कि कर्म–संतुष्टि तथा कार्य–असंतुष्टि दो विपरीत घटक तथा शक्तियां हैं।

टिप्पणी

2. **यह एक प्रभावी उपगमन है** (It is an EffectiveApproach) – हर्जबर्ग विधि का उपयोग करके अनुकूल परिणाम पाना कहीं अधिक सरल होता है जबकि अन्य विधियां वैसे ही अच्छे परिणाम उत्पन्न करने में असफल रहती हैं। यदि असंतुष्ट कारकों को परे किया जाए तो इस सिद्धांत की विधियां स्वस्थ परिणाम प्रदान कर पाएगी। यह अभिप्रेरणा में कार्य समृद्धिकरण (job enrichment) का मूल्य प्रदर्शित करता है।
3. **यह सिद्धांत वेतन, दर्जे तथा संबंधों की अवमानना करता है** (This Theory Ignores the Pay, Status and Relations) – यह मॉडल सभी अभिप्रेरणात्मक गुणों, जैसे– वेतन, स्तर तथा अंतः वैयक्तिक संबंध आदि पर पर्याप्त जोर नहीं देता जबकि ये कर्मचारी के लिए महत्वपूर्ण भी होते हैं। मॉडल उनकी अनुरक्षण क्षमताओं को प्राथमिकतः क्रैडिट देता है।
4. **इस सिद्धांत में अस्पष्टता है** (This Theory is Not Clear) – मॉडल में प्रयुक्त शब्दावली भ्रामक है। अभिप्रेरक तथा अनुरक्षण घटकों के बीच अंतर काफी कमजोर है। अनुरक्षण घटकों में बताई गईं मदें अभिप्रेरक घटकों का काम कर सकती हैं तथा अभिप्रेरक घटकों की मदें अनुरक्षण मदों का। इनके बीच कोई सटीक अंतर नहीं रखा गया है।
5. **सिद्धांत सीमित सैम्पल पर आधारित हैं** (Theory is Based on Limited Samples) – यह सिद्धांत मात्र 200 लेखाकारों तथा इंजीनियरों के छोटे से सैम्पल पर आधारित है जिसको एक प्रतिनिधि सैम्पल नहीं माना जा सकता है। इसका सार्वभौमिक उपयोग भी नहीं है। शोधतंत्र व्यवस्था भी दोषपूर्ण है तथा ऐसी सूचनाएं सदा ही व्यक्तिगत तथा पक्षपात भरी होती हैं।

(4) क्लेटन एल्डफर का (ERG) ई.आर.जी. अभिप्रेरणा सिद्धांत

येल विश्वविद्यालय के क्लेटर एल्डफर ने त्रिस्तरित आवश्यकता प्राथमिक सिद्धांत प्रस्तावित करके मैस्लो के सिद्धांत की पुनः अभिव्यक्ति की। ERG का अर्थ है अस्तित्व (Existence), संबद्धता (Relatedness) तथा विकास आवश्यकताएं (Growth Needs)। क्लेटन के अनुसार एक से अधिक स्तरों पर आवश्यकताएं किसी भी समय विशेष पर सक्रिय रहती हैं तथा आधार से प्राथमिकता में उच्च स्तर तक उनमें उर्ध्वाधर तथा अधोगामी गतिशीलन होता जाता है। यदि कोई व्यक्ति अपनी उच्च स्तरीय आवश्यकताओं को संतुष्ट न कर पाने के कारण परेशान सा रहता है तो वह उससे निचले स्तर की आवश्यकता की ओर वापिस आएगा तथा उनको पूरा करके ही सन्तुष्टि अनुभव करेगा।

एल्डफर के सिद्धांत के निम्न चार अंग (Components) हैं –

(i) **संतुष्टि आरोह** (Satisfaction Progression) – यह तत्व मास्लो की सिद्धांत में भी लागू होता है। इसका आशय यह है कि जब निम्न स्तर की आवश्यकताएं पूरी हो जाती हैं तो उच्च स्तर की आवश्यकताएं जागृत हो जाती हैं तथा महत्वपूर्ण बन जाती हैं।

(ii) **नैराश्य या विफलता** (Frustration) – निराशा उस समय होती है जब व्यक्ति किसी आवश्यकता की पूर्ति में असफल हो जाता है। इस निराशा से व्यक्ति के लिए असंतुष्ट आवश्यकता और अधिक महत्वपूर्ण हो जाती

टिप्पणी

है तथा वह अधिक शक्ति के साथ उसकी पूर्ति का प्रयास करता है जब तक कि वह लगातार कई बार असफल न हो जाए।

(iii) **नैराश्य पश्चगमन** (Frustration Regression) – इस अवस्था में जब व्यक्ति को किसी आवश्यकता की पूर्ति के संबंध में बार–बार निराशा का अनुभव होता है तो वह निम्न स्तरीय आवश्यकता, जो कि उसे अधिक यथार्थपूर्ण एवं पहुंच योग्य लगती हैं, पर अपना ध्यान केंद्रित करने लगता है।

(iv) **अभिलाषा** (Aspiration) – यह अंग स्पष्ट करता है कि विकास अपनी प्रकृति के कारण गहन रूप से संतृप्तकारी होता है। एक व्यक्ति जितना अधिक विकास करता है वह उतना ही और अधिक विकास करना चाहता है (The More One Grows, the More One Wants to Grow)A अतः विकास आवश्यकता को जितनी अधिक पूरी किया जाए वह उतनी ही महत्वपूर्ण बन जाती है तथा व्यक्ति उसकी पूर्ति के लिए उतना ही अधिक अभिप्रेरित होता है। इस प्रक्रिया को निम्न चित्र के द्वारा समझा जा सकता है–

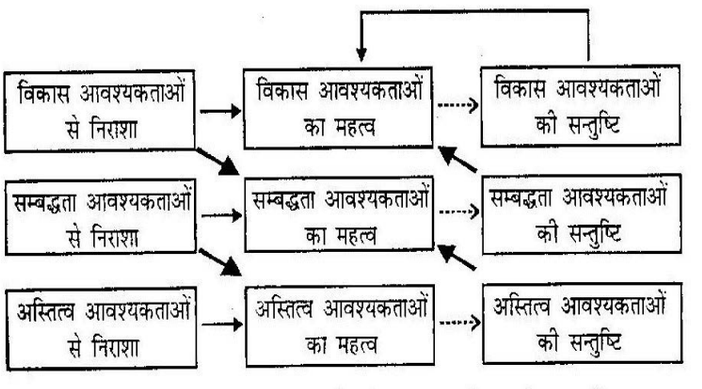

क्लेटन एल्डफर का ERG सिद्धांत (आवश्यकताओं, निराशा, संतुष्टि एवं महत्व में संबंध)

एल्डफर का ई.आर.जी. सिद्धांत स्पष्ट दिशानिर्देश नहीं करता। यह कहता है कि पहले कोई भी तीन आवश्यकताएं संतुष्ट करनी होती हैं। इस नियम के अनुसार आवश्यकताएं समान परिचालन करती हैं। यदि संतुष्टि के किसी विशेष मार्ग पर बाधाएं आती हैं तो वह उस जरूरत को भी संतुष्ट करने का प्रयत्न करेगा जो आसानी से संतुष्ट हो सकती हो। एल्डफर का सिद्धांत आवश्यकताओं के वर्गीकरण, उनके संबंध, संतुष्टि के उपरिगमन एवं प्रतिगमन को बताता है।

(5) मैक्लेलैण्ड का प्रकट या अर्जित आवश्यकता सिद्धांत

हावर्ड विश्वविद्यालय के डेविड मैक्लेलैण्ड ने जॉन अटकिन्सन तथा अन्य के साथ मिलकर 1948 में अभिप्रेरणा के इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया। यह सिद्धांत मर्रे के आवश्यकता सिद्धांत में विश्वास रखता है। मर्रे ने लगभग दो दर्जन से अधिक आवश्यकताओं को परिभाषित किया। उनका विश्वास था कि अधिकांश आवश्यकताएं

जन्मजात उत्पन्न होती हैं। आवश्यकताएं तभी लागू होती हैं जबकि बाहरी वातावरण की दशाएं भी अनुकूल हों। ये आवश्यकताएं एक–दूसरे से भिन्न भी हो सकती हैं। 1948 के उपरांत मैक्लेलैण्ड का यही प्रयास रहा कि प्राप्ति के लिए आवश्यकताओं की खोज की जाए। काफी खोजबीन के उपरांत इन्होंने तीन ऐसी प्रमुख आवश्यकताओं को वर्णित किया जो किसी व्यक्ति को कार्य करने के लिए अभिप्रेरित करती हों। ये आवश्यकताएं निम्न प्रकार हैं –

टिप्पणी

(i) **उपलब्धि के लिए आवश्यकता** (Need forAchievement) – बाहरी प्रतिस्पर्धात्मक परिस्थितियों का सामना करने के लिए उपलब्धि प्राप्त करना अति आवश्यक है। इसके लिए अनेक प्रमाप निर्धारित करने पड़ते हैं। उपलब्धि किसी एक साधन से संभव नहीं है। इसके लिए अनेक तत्वों को ध्यान में रखना पड़ता है, व्यक्तिगत रूप से तथा सामूहिक रूप से विचार करना पड़ता है। श्रेष्ठ बनने के लिए इच्छा, प्रमाणकों के मध्य संबंध स्थापित करने के लिए प्रयत्न करना आवश्यक है। समाधान करने के लिए अपने–अपने उत्तरदायित्व को पूरा करना पड़ता है। आधुनिक प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए उद्देश्यों को इस प्रकार लेकर चलना पड़ता है कि उनका समाधान न तो ज्यादा कठिन हो और न सरल। उद्देश्यों को पूरा करने हेतु तथा उपलब्धि को प्राप्त करने के लिए इस प्रकार का विश्वास उत्पन्न करना पड़ता है कि कमियों को दूर किया जा सके। उपलब्धि प्राप्त करने के लिए उन्हें कर्म पर विश्वास रखना पड़ता है न कि भाग्य पर। भाग्य के भरोसे छोड़कर किसी भी प्रकार की उपलब्धि नहीं की जा सकती। उनका मुख्य आकर्षण उपलब्धि की तरफ होता है, धन की तरफ नहीं। धन तो उनके लिए उपलब्धि का केवल एक साधन मात्र होता है। उन्हें आवश्यकता होती है कार्य में स्वतंत्रता एवं नियंत्रण की।

मैक्लेलैण्ड ने उपलब्धि के लिए आवश्यकता को महत्वपूर्ण माना है। उपक्रम ही आर्थिक विकास के मुख्य आधार होते हैं। वे देश जो कि उपलब्धि के क्षेत्र में आगे रहे हैं – जापान, पश्चिमी यूरोप तथा यू. एस. ए. हैं। मैक्लेलैण्ड ने आर्थिक विकास के कारणों का महत्वपूर्ण अध्ययन किया तथा ऐसे कारणों का पता लगाया जो कि उपलब्धि तथा आर्थिक विकास के लिए उत्तरदायी हैं। इस क्षेत्र में एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका विकसित देश हैं।

(ii) **शक्ति के लिए आवश्यकता** (Need for Power) – अन्य व्यक्तियों, दशाओं पर इस प्रकार नियंत्रण करना कि शक्ति की इच्छा उत्पन्न हो सके। अन्य व्यक्तियों को ऐसा व्यवहार करने के लिए अभिप्रेरित करना अथवा उनके अन्दर ऐसी इच्छा उत्पन्न करना जैसा व्यवहार वे अन्यथा नहीं कर पाते। इसके अंतर्गत सम्मिलित किया जाता है – विभिन्न संसाधनों पर नियंत्रण प्राप्त करने की योग्यता, जो कि शक्ति के संसाधन हों, जैसे – सूचना, ज्ञान, धन इत्यादि। परंतु दुर्भाग्यवश उन्हें नेतृत्व, राजनीतिक, कानूनी, व्यवसाय तथा शिक्षा जैसी स्थितियों का सामना करना पड़ता है। अन्य आवश्यकताओं को पूरा करने की शक्ति का होना नितांत आवश्यक है।

टिप्पणी

मैक्लेलैण्ड का कहना है कि संगठनों में प्रबंधकीय व्यवहार के बारे में स्पष्ट रूप से वर्णन किया जाना चाहिए। प्रबंधकगण को अपने अधिकारों का प्रयोग दूसरों के द्वारा किए गए कार्यों, निर्णय लेने, संसाधनों का उपयोग करने तथा घटनाओं को प्रभावित करने में करना पड़ता है।

(iii) **संबद्धता के लिए आवश्यकता** (Need forAffiliation) – मैत्रीपूर्ण तथा निकटतम अंतः कर्मचारी संबंधों के लिए इच्छा पर भी मैक्लेलैण्ड ने प्रकाश डाला। ऐसे व्यक्ति जिन्हें संबद्धता की अधिक आवश्यकता हो पारस्परिक संबंधों, सामाजिक संबंधों तथा मित्रता पर प्रकाश डालना होता है। संबद्धता का आशय ही एक–दूसरे से संबंध स्थापित करना होता है। इसमें उन आवश्यकताओं पर अधिक प्रकाश डाला जाता है जो कि दूसरों को पसंद हों। संबद्धता की आवश्यकता प्रबंधकों के लिए आवश्यक भी हो सकती है व नहीं भी। प्रबंधकों को संबद्धता की आवश्यकता अपने अधीनस्थों, साथियों के लिए हो सकती है।

मैक्लेलैण्ड ने विस्तार संबंधी व्यक्तित्व परीक्षण के द्वारा उपरोक्त अभिप्रेरणाओं के सामर्थ्य को विभिन्न व्यक्तियों में मापा। मैक्लेलैण्ड के अनुसार कुछ व्यक्तियों में उपलब्धियों की तीव्र इच्छा होती है तथा वे किसी भी स्थिति में सर्वोत्कृष्ट से कम को स्वीकार नहीं करते हैं। उच्च महत्वाकांक्षी भारी जोखिम वहन करते हैं तथा वे तब तक संतुष्ट नहीं हो पाते जब तक कि उन्होंने कार्य की पूर्णता के लिए अधिकतम प्रयास नहीं किया हो। द्वितीय श्रेणी के व्यक्ति अर्थात ऐसे व्यक्ति जिन्हें संबद्धता या संबंध की अत्यधिक आवश्यकता होती है, प्रेम से उत्पन्न होने वाले सुख की इच्छा करते हैं तथा वे घृणा किए जाने वाले कार्य से उत्पन्न होने वाले दुख से बचने का प्रयास करते हैं। तृतीय श्रेणी के व्यक्ति जिन्हें शक्ति की अत्यधिक आवश्यकता होती है, प्रभाव तथा नियंत्रण करने के इच्छुक होते हैं।

(6) ब्रूम का प्रत्याशा अभिप्रेरणा सिद्धांत

अभिप्रेरण के संबंध में 1964 में विक्टर ब्रूम ने प्रत्याशा सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। ब्रूम का मत था कि सन्तुष्टि घटक सिद्धांत कार्य अभिप्रेरण प्रक्रिया की व्याख्या स्पष्ट रूप से नहीं कर पाते। अतः विकल्प के रूप में उन्होंने अभिप्रेरण की प्रक्रिया सिद्धांत का प्रतिपादन किया जो मनोवैज्ञानिक कुर्त लेविन (Kurt Lewin), एडवर्ड टोलमेन (Edward Tolman) की संज्ञानात्मक अवधारणाओं तथा अर्थशास्त्र के चयन व्यवहार व उपयोगिता सिद्धांतों पर आधारित है।

यह सिद्धांत अभिप्रेरणा, निष्पादन तथा कार्य संतुष्टि के कारणों को विभिन्न विवरण प्रदान करता है। इस सिद्धांत के अंतर्गत व्यक्ति अपने कार्य का चयन स्वयं करता है। सभी व्यक्ति अपने उद्देश्यों, आवश्यकताओं, मूल्यों, कुशलताओं, योग्यताओं तथा भूमिकाओं के संबंध में सतर्क रहते हैं। उनके अन्दर भी अपने कुछ अरमान होते हैं, कुछ व्यक्तिगत गुण होते हैं जिनके आधार पर किया जाता है। इसके अतिरिक्त आवश्यकताओं, प्रयासों की प्राथमिकताओं तथा गणनाओं का अनुमान भी इन्हीं के आधार पर किया जाता है।

इस सिद्धांत में मनुष्य की शक्ति को परिभाषित किया जाता है। यदि किसी श्रमिक का इस तथ्य में विश्वास है कि कठिन परिश्रम करना ही उच्च निष्पादन की कुंजी है,

तो इसका आशय स्पष्ट है कि वह उच्च आशावादी है। यदि किसी श्रमिक का यह दृढ़ विश्वास है कि उच्च निष्पादन से ही उसकी मजदूरी में वृद्धि होगी तो इसका आशय है कि उसमें तंत्र–व्यवस्था (Instrumentality) है।

टिप्पणी

इस सिद्धांत का निम्न रूपों में वर्गीकरण किया जा सकता है–

(1) किसी व्यक्ति के कार्य का निष्पादन अर्थात उसकी क्षमता केवल उसके द्वारा किए गए प्रयासों पर ही निर्भर नहीं करती वरन उसकी योग्यताओं, कुशलताओं, कार्य के उद्देश्यों की स्पष्टता, पर्यवेक्षण की किस्म, कार्य प्रबंध तथा तकनीक पर भी निर्भर करती है। आशावाद का स्तर इन सभी तत्वों से प्रभावित होता है।

(2) यह भी कोई वास्तविकता नहीं है कि व्यक्ति अभिप्रेरणा के संबंध में स्वयं चयन करेंगे।

(3) व्यक्ति को विश्वास होना चाहिए कि जो कार्य वह कर रहा है वह अवश्य पूरा होगा तथा आशावादी दृष्टिकोण का सामना किया जा सकता है। यदि अभिप्रेरणा को उच्च स्तर तक पहुंचाना हो तो इन सभी शर्तों को पूरा करना चाहिए।

ब्रूम के सिद्धांत में तीन चर होते हैं जिनको एक समीकरण के रूप में दिया गया है। चूंकि मॉडल सभी तीनों चरों का एक मल्टीप्लायर है अतः इसे अभिप्रेरित निष्पत्ति चयनों के समावेश वाला अत्यधिक सकारात्मक मूल्य का होना चाहिए। यदि कोई भी चर '0' (शून्य) है तो अभिप्रेरित निष्पत्ति की संभावना भी 'शून्य' होगी :

अभिप्रेरणा = संयोजन–शक्ति × प्रत्याशा × तंत्र–व्यवस्था

(Motivation = Valence × Expectancy × Instrumentality)

(1) संयोजन–शक्ति (Valence) – इसे Reward Preference के रूप में जाना जाता है। यह एक पुरस्कार पाने के लिए एक व्यक्ति की प्राथमिकता की शक्ति का बोध कराता है। यह वह मूल्य है जो वह परिणाम या प्रतिफल पर डालता है। एक परिणाम या पुरस्कार से जुड़ा मूल्य व्यक्तिनिष्ठ होता है क्योंकि यह हर व्यक्ति में परिवर्तित होता है, जैसे– यदि एक युवक स्मार्ट तथा गतिशील कर्मचारी पदोन्नति चाहता है तो पदोन्नति की अधिक संयोजन–शक्ति होती है उस कर्मचारी के लिए तथा एक रिटायर हो रहा कर्मचारी भी इसी तरह पुनः रोजगार (Re-employment) की अधिक संयोजन–शक्ति रख सकता है। कर्मचारी अपनी आयु, शिक्षा तथा कार्य प्रकार के अनुसार संयोजन–शक्ति के प्रति सापेक्षिक मूल्य जोड़ते हैं। संयोजन–शक्ति सकारात्मक तथा नकारात्मक हो सकती है जो कार्मिक के लक्ष्यों के लिए उसकी सकारात्मक तथा ऋणात्मक प्राथमिकता पर निर्भर करती है। यदि वह अपने परिणाम के प्रति तटस्थ होता है तो उसकी संयोजन–शक्ति शून्य होती है।

(2) प्रत्याशा (Expectancy) – यह प्रयास–निष्पत्ति संभावना है, उस मात्रा तक जिस तक व्यक्ति विश्वास करता है कि उसके प्रयास परिणाम तक ले जाएंगे अर्थात एक कार्य की पूर्णता। प्रत्याशा किसी गतिविधि से एक परिणाम मात्र इंगित करती है–संभावना की मात्रा। यदि कर्मचारी अनुभव करता है कि किसी परिणाम को पाने के अवसर शून्य हैं तो वह प्रयास भी नहीं करेगा लेकिन यदि वह प्रत्याशा को ऊंचा आंकता है तो वह अपेक्षित परिणाम पाने के लिए कहीं अधिक प्रयास डालेगा।

टिप्पणी

(3) तंत्र–व्यवस्था (Instrumentality) – इससे निष्पादन पदोन्नति संभाव्यता (Performance Reward Probability) का बोध होता है अर्थात जिस संभावना को निष्पत्ति अपेक्षित प्रतिफल तक ले जाएगी। उदाहरण के लिए यदि एक संगठन का उपखाता अधिकारी समझता है कि सुपीरियर तथा उच्च निष्पत्ति स्तरीय परिणाम है तथा पदोन्नति द्वितीय स्तरीय परिणामः तो इस मामले में सुपीरियर निष्पत्ति पदोन्नति पाने में तंत्र व्यवस्था होगी जो द्वितीय स्तर का परिणाम होता है। तंत्र व्यवस्था का मूल्य 0 से 1 के बीच रह सकता है।

उपरोक्त से यह स्पष्ट है कि अभिप्रेरणाएं संयोजन–शक्ति, प्रत्याशा (Valence, Expectancy) तथा तंत्र–व्यवस्था (Instrumentality) के गुणनफल हैं। प्रत्याशा मॉडल में ये तीनों घटक अनेक संयोजनों में विद्यमान हो सकते हैं। यह सब संयोजन (Valence) के दायरे प्रत्याशा (Expectancy) तथा तंत्र–व्यवस्था (Instrumentality) की मात्रा पर निर्भर करता है।

वह संयोजन जो सबसे सुदृढ़ अभिप्रेरणा उत्पन्न करता है उच्च सकारात्मक, उच्च संयोजन (High Valence), उच्च प्रत्याशा (High Expectancy) तथा उच्च तंत्र–व्यवस्था (High Instrumentality) होती है। यदि ये तीनों ही निम्न होते हैं तो अभिप्रेरणा कमजोर होगी लेकिन अन्य मामले में अभिप्रेरणा मध्यम होगी। इसी तरह त्याज्य व्यवहार की ताकत नकारात्मक संयोजन (Valence) तथा प्रत्याशा (Expectancy) तथा तंत्र–व्यवस्था (Instrumentality) घटकों द्वारा निर्धारित की जाएगी।

मान्यताएं (Assumptions) – ब्रूम का सिद्धांत निम्न मान्यताओं पर आधारित है –

(1) कर्मचारी की उपेक्षाओं तथा संयोजन–शक्ति (Valences) में अंतर होता है।

(2) व्यवहार का निर्धारण व्यक्ति एवं वातावरण के निश्चित घटकों से होता है।

(3) कर्मचारी कार्य के लिए तभी तैयार होता है जब उसे वांछित परिणामों की आशा होती है।

(4) व्यक्ति अपने व्यवहार संबंधी निर्णय चैतन्यता से करता है।

सिद्धांत का लागू होना (Implications of the Theory)

अभिप्रेरणा के इस सिद्धांत में प्रबंधकों के लिए अनेक मार्ग दर्शाए गए हैं, जो कि निम्नलिखित हैं–

(1) प्रबंधकों को ऐसे पारितोषिक या कमियों को निश्चित करना होगा जिन्हें कि कर्मचारी या श्रमिक प्राथमिकता देते हैं।

(2) प्रबंधकों को यह भी निश्चित करना होगा कि निष्पादन के कौन–कौन से स्तर होंगे तथा उत्पाद की लागत क्या आएगी तथा वस्तु की किस्म के प्रमाप क्या होंगे।

(3) प्रबंधकों को कार्य की दशाओं, अनौपचारिक समूहों, निष्पादन की आवश्यकताओं के बारे में आधार निर्धारित करने होंगे। यह भी कि, मतभेद होने की दशा में क्या कदम उठाये जाएंगे।

(4) निष्पादन मूल्यांकन तथा पारितोषिक पद्धतियों के निर्धारण में प्रबंधकों को वास्तविक निष्पादन पर ध्यान देना होगा कि मनुष्यों को जो पारितोषिक दिया जा

रहा है वह उचित है या नहीं तथा उन्होंने संगठन में कितने दिन कार्य किया है।

(5) कार्यों में भी आधुनिक ढंग से सुधार किया जा सकता है ताकि उनमें होने वाली घटनाओं को न्यूनतम किया जा सके।

टिप्पणी

सिद्धांत की आलोचना (Criticism of the Theory)

इस सिद्धांत को काफी लाभप्रद बताया गया है परंतु फिर भी आलोचनाओं से मुक्त नहीं है। ये निम्नलिखित हैं –

(1) मनुष्य की सभी इच्छाओं को पूर्णरूप से संतुष्ट नहीं किया जा सकता। कुछ आवश्यकताएं ऐसी रह जाती हैं कि जो कि अनेक कारणों से पूर्ण नहीं हो पातीं।

(2) यह भी कोई वास्तविकता नहीं है कि व्यक्ति अभिप्रेरणा के संबंध में स्वयं चयन करेंगे।

(3) यह भी कोई वास्तविकता नहीं है कि उच्च आशावादी सिद्धांत होगा तो अभिप्रेरणा का स्तर भी उच्च होगा।

यद्यपि आशावादी सिद्धांत की उपरोक्त आलोचनाएं की गई हैं परंतु इसका आशय यह नहीं है कि यह सिद्धांत निरर्थक है। यदि इसका उचित ढंग से प्रयोग एवं इस पर उचित नियंत्रण किया जाए तो निश्चित है कि अमुक आलोचनाओं का उन्मूलन किया जा सकता है तथा आशावादी दृष्टिकोण सार्थक हो सकता है।

(7) एडम्स का अभिप्रेरणा समता सिद्धांत

अभिप्रेरणा के समता सिद्धांत का प्रतिपादन यू.एस.ए. के जे. स्टेसी एडम्स (J. StacyAdams) ने किया। अभिप्रेरणा के सामाजिक सिद्धांतों की तुलना में यह सिद्धांत महत्वपूर्ण है। इस सिद्धांत का आधार शुद्ध या न्यायमुक्त प्रबंध की आवश्यकता है। इस सिद्धांत के अनुसार हम सब अपने प्रयास की तुलना, अपने संगठन में व्यक्तियों के सापेक्ष पारितोषिक से करते हैं। यदि प्रयास के पारितोषिक (Remuneration) के अनुपात समान हैं तो हमें समता की भावना का अनुभव होता है। असमानता की भावना कर्मचारियों की असंतुष्टि का प्रमुख कारण है। अतः प्रबंध को अपनी पारितोषिक पद्धति में समानता स्थापित करने का प्रयास करना चाहिए तथा कर्मचारियों की भावनाओं तथा संगठन की उपलब्धियों तथा उसकी पारितोषिक पद्धति के संबंध में निरंतर सचेत रहना चाहिए।

इस सिद्धांत की मुख्य मान्यता यही है कि संगठन में नियोक्ता अपने कर्मचारियों के साथ कितना न्याय करते हैं, उनके साथ उचित व्यवहार करते हैं या नहीं। इसमें सदस्यों में तुलना होती है कि अन्य सदस्य कितना प्राप्त कर रहे हैं, उन्हें क्या अतिरिक्त सुविधायें प्रदान की जा रही हैं।

अभिप्रेरणा की समता सिद्धांत का प्रतिपादन जे. स्टेसी एडम्स ने किया था। यह सिद्धांत इस बात पर आधारित है कि सदस्य संगठन के व्यवहार में न्याय, संतुलन और निष्पक्षता की अपेक्षा करते हैं। यदि सदस्य अनुभव करता है कि संगठन में पक्षपात हो रहा तो इसका अभिप्रेरणा और निष्पादन पर कुप्रभाव पड़ता है। समता सिद्धांत कार्यों और संगठन सदस्यों में असमान व्यवहार के परिणामों को समझने में सहायक है।

टिप्पणी

समान सिद्धांत के अनुसार दो चरो : प्रथम आदान तथा दूसरा परिणाम में व्यक्ति के ज्ञान, शिक्षा, प्रशिक्षण, अनुभव, वरिष्ठता, कौशल को शामिल किया जाता है। महत्वपूर्ण परिणामों में पदोन्नति, वेतन वृद्धि, कार्य मान्यता, दायित्व का बोध आदि घटक शामिल हैं। व्यक्ति अनुभव करता है कि जो वह संगठन में पुरस्कार के रूप में प्राप्त करता है वह औचित्यपूर्ण है तो वह अपने प्रयास व कौशल को संगठन में निवेश करने लगता है। वह संगठन तथा उसके उद्देश्य से जुड़ जाता है।

- **समता सिद्धांत के गुण** (Merits of Equity Theory)

1. इस सिद्धांत ने कई विस्तृत शोध किए हैं जिसके कई महत्वपूर्ण परिणाम निकले हैं।
2. यह सिद्धांत जानकारी देता है कि अभिप्रेरणा पर सामाजिक तुलनात्मक विधि का प्रभाव क्या रहा।
3. इस सिद्धांत ने अभिप्रेरणा के प्रति वास्तविक सिद्धांत को जन्म दिया है।

- **समता सिद्धांत की आलोचना** (Criticism of Equity Theory)

समता सिद्धांत सभी स्थानों पर खरा नहीं उतरता। इसकी कुछ आलोचनाएं भी हैं, जो कि निम्नलिखित हैं–

(1) समता सिद्धांत अभिप्रेरणा का संपूर्ण सिद्धांत नहीं है वरन यह अभिप्रेरणा के केवल एक विशेष आधार को लेकर चलता है।

(2) किसी व्यक्ति के लिए यह माप करना कठिन है कि असमानता किस सीमा तक है अर्थात असमानता को मापने के उचित प्रमाप नहीं हैं। यह समता सिद्धांत की महत्वपूर्ण आलोचना है।

(3) असमानता को दूर करने के उपाय अनेक गलत भावनाओं के विचारों को भी दूर करते हैं। ये गलत विचार दूसरों को अधिक भुगतान के संबंध में उत्पन्न हो सकते हैं।

उपरोक्त दोषों के बावजूद भी यह सिद्धांत कर्मिकों को अभिप्रेरित करने में महत्वपूर्ण अंतर्दृष्टि प्रदान करता है।

समता की तुलना प्रबंधक के पुरस्कार आबंटन और अधीनस्थों के व्यवहार पर उसके प्रभाव के बीच हस्तक्षेप करती है। समता का प्रबंध उस प्रबंधक के लिए एक कार्य है जो अच्छे मनोवैज्ञानिक अनुबंध बनाना चाहता हो। समता की भावना, कार्य संतुष्टि और निष्पादन में वृद्धि होती है। नकारात्मक भावना से प्राप्त पुरस्कार परिणामों को हानि पहुंचा सकते हैं। प्रबंधक को यह ध्यान रखना होता है कि समता तुलना के नकारात्मक परिणाम से बचा जा सके।

प्रबंधकों को मार्गदर्शन कराने में समता सिद्धांत वास्तव में लाभप्रद सिद्ध हुआ है। प्रबंधकगण ऐसा महसूस कर सकते हैं कि समता प्रेरक तत्व महत्वपूर्ण प्रेरणाप्रद होते हैं। इस स्थिति में कर्मचारियों तथा श्रमिकों को उचित वेतन व मजदूरी मिलती है। कार्य को निश्चित करना भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि वेतन व मजदूरी।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

9. मैस्लो का आवश्यकता–पदानुक्रम अभिप्रेरणा सिद्धांत सर्वप्रथम कब प्रकाशित हुआ।

   (क) सन् 1940 (ख) सन् 1941

   (ग) सन् 1942 (घ) सन् 1943

10. सन् 1964 में विक्टर ब्रूम ने अभिप्रेरणा का कौन–सा सिद्धांत प्रतिपादन किया था?

   (क) अर्जित आवश्यकता सिद्धांत

   (ख) प्रत्याशा अभिप्रेरणा सिद्धांत

   (ग) अभिप्रेरणा समता सिद्धांत

   (घ) अभिप्रेरक अनुरक्षक तत्वों का सिद्धांत

3.7 नियंत्रण की अवधारणा

नियंत्रण प्रबंधकीय प्रक्रिया का अंतिम चरण है। यह एक महत्वपूर्ण प्रबंधकीय कार्य है। यद्यपि नियंत्रण शब्द नकारात्मक दृष्टिकोण को इंगित करता है परंतु प्रबंध प्रक्रिया में यह एक रचनात्मक शक्ति सिद्ध होता है।

3.7.1 नियंत्रण का अर्थ एवं प्रकृति

किसी भी उपक्रम अथवा उसके विभागों के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अपनाई गई योजनाएं उनके मूल रूप में कार्यान्वित की जा रही हैं अथवा नहीं, यह जानने के लिए अधीनस्थों के कार्यों की जांच–पड़ताल करके उनमें आवश्यकतानुसार उचित समय पर सुधार करना 'नियंत्रण' कहलाता है। अनेक विद्वान नियंत्रण को प्रबंध का पर्यायवाची मानते हैं। जब प्रबंधक नियंत्रण का कार्य कर रहा होता है तो ऐसा लगता है कि जैसे वह उपक्रम के प्रबंध कार्य में संलग्न है। उस व्यक्ति को सरलता से हम प्रबंध दल का सदस्य स्वीकार कर लेते हैं जो दूसरे के कार्यों की जांच पड़ताल, कर उनमें संशोधन करता है और उनका मार्गदर्शन करता है। ये कुछ ऐसी धारणाएं हैं जो सामान्यतः नियंत्रण के संबंध में विद्यमान हैं। वास्तव में नियंत्रण, प्रबंध न होकर, प्रबंध का अंश मात्र है अथवा इसे प्रबंध के अनेक कार्यों में से एक कार्य माना जा सकता है।

नियंत्रण शब्द की कई अवधारणाएं हैं। नियंत्रण को एक अधिशासी कार्य माना जाता है। नियंत्रण को अधिशासी नियोजन कार्य से सह संबंधित किया जाता है। नियंत्रण को किसी विशेष प्रबंध पद्धति के अंदर की विद्यमान दशा के रूप में भी व्यक्त किया जाता है। नियंत्रण को प्रबंधकीय नियंत्रण माना जाता है। जिसका आशय यह पता लगाना है कि समस्त कार्य का निष्पादन पूर्व योजना, निर्देशों, उद्देश्यों तथा

टिप्पणी

उत्तरदायी सिद्धांतों के अनुरूप हुआ है या नहीं। यदि नहीं हुआ है तो उसके क्या कारण हैं, इसके लिए कौन उत्तरदायी है और साथ ही उसे सुधारने के लिए क्या कदम उठाए जाने चाहिए। अन्य शब्दों में उपक्रम के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपनाई गई योजनाएं ठीक से चल रही हैं या नहीं, यह जानने के लिए अधीनस्थों की जांच करने एवं आवश्यक सुधार करने को प्रबंधकीय नियंत्रण कहते हैं।

नियंत्रण को एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो यह निश्चित करती है कि सभी कार्य पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार हो रहे हैं या नहीं। नियंत्रण की महत्वपूर्ण परिभाषाएं निम्न प्रकार हैं –

- मेरी कुशिंग नाइल्स (Marry Cushing Niles) के अनुसार, ''नियंत्रण किसी लक्ष्य या लक्ष्यों के समूह की ओर निर्देशित क्रियाओं के मध्य संतुलन बनाए रखना है।''
- मैसी (Massie) के अनुसार, ''नियंत्रण एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा वर्तमान निष्पादन का मापन किया जाता है और कुछ पूर्व–निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मार्गदर्शन प्राप्त किया जाता है।''
- फिलिप कोटलर (Philip Kotler) के अनुसार, ''नियंत्रण एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा वास्तविक परिणामों को अपेक्षित परिणामों के अधिकाधिक समीप लाने के प्रयास किए जाते हैं।''
- बिली ई. गोटज (Billy E. Goetz) के अनुसार, ''प्रबंधकीय नियोजन से आशय कार्यक्रम को सुसंगत, एकीकृत और सुस्पष्ट बनाने से है, जबकि नियंत्रण, घटनाओं को योजनाओं के अनुरूप बाध्य करने का प्रयास करता है।''

3.7.2 नियंत्रण की प्रक्रिया

नियंत्रण प्रक्रिया वह प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत कार्य करने के लिए निष्पादन के प्रमाप स्थापित किए जाते हैं। वास्तविक कार्य की प्रगति की तुलना निर्धारित प्रमापों से की जाती है तथा उनमें यदि कोई विचलन पाया जाता है तो सुधारात्मक कदम उठाए जाते हैं। नियंत्रण प्रक्रिया को निम्नांकित रेखाचित्र द्वारा समझा जा सकता है–

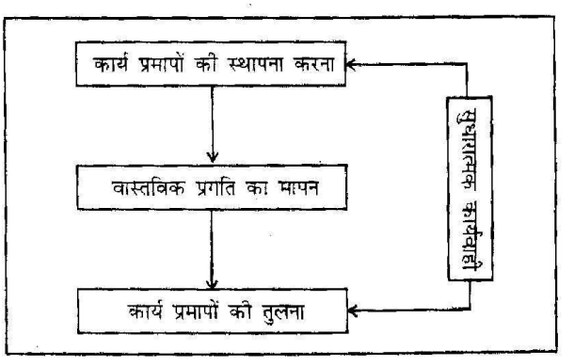

नियंत्रण की प्रक्रिया में निम्न चार तत्वों को शामिल किया जाता है –

1. कार्य प्रमापों की स्थापना

2. वास्तविक प्रगति का मापन
3. वास्तविक प्रगति की कार्य प्रमापों से तुलना
4. सुधारात्मक कार्यवाही

टिप्पणी

1. कार्य प्रमापों की स्थापना (Establishment of Work Standards) – प्रमाप निश्चित करने से हमारा अभिप्राय यह निश्चित करना है कि एक कार्य विशेष से हम किस परिणाम (result) की आशा एवं अपेक्षा करते हैं। हमें नियोजन तथा नीतियों की मर्यादा से प्रत्येक कार्य के लिए प्रमाप निश्चित करने चाहिए अर्थात कितने समय में किसी भी एक कार्य का क्या परिणाम प्राप्त होना चाहिए। अतः इससे यह सिद्ध हुआ कि आयोजन तथा नीतियां नियंत्रण के भी नियोजन के कुछ–न–कुछ परिणाम अवश्य निकलेंगे, परंतु बिना पूर्व–नियोजन के नियंत्रण संभव नहीं है। व्यक्तिगत अभिप्रेरणा में किसी कर्मचारी को अभिप्रेरणाएं दी जाती हैं। इन अभिप्रेरणाओं में प्रशंसा पत्र, नौकरी की सुरक्षा, विकास के समान अवसर आदि प्रमुख हैं। समूह अभिप्रेरणाएं किसी समूह से संबंध रखती हैं अर्थात किसी कर्मचारी को अभिप्रेरणाएं न दी जाकर सभी कर्मचारियों को समूह अभिप्रेरणाएं दी जाती हैं। इन अभिप्रेरणाओं में लाभ सहकारिता, अधिलाभांश, विभागीय पारितोषिक, सुझाव व्यवस्था और समितियों का निर्धारण आदि प्रमुख हैं। जहां किसी उद्योग में कार्य ऐसा हो कि कर्मचारियों के व्यक्तिगत कार्य को मापा जा सकता है और उनका मूल्यांकन किया जा सकता है, वहां व्यक्तिगत अभिप्रेरणाएं अधिक लाभदायक होती हैं और जहां कर्मचारियों के व्यक्तिगत कार्य को मापना संभव न हो और कार्य की पूर्णता के लिए सभी कर्मचारियों को एक–दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता हो वहां समूह अभिप्रेरणाएं ही अधिक उपयोगी एवं लाभप्रद सिद्ध होती हैं।

सामान्यतः नियंत्रण के लिए उपयुक्त मापदंडों में निम्न सात गुण होने चाहिए – (1) सरल और प्राप्य (Attainable) (2) निश्चित (Definite) (3) मापनीय (Measurable) (4) उद्देश्यों के अनुकूल (Consistent with Objectives) (5) लोचपूर्ण (Flexible) – सहन सीमा, (6) सामयिक (Timely) तथा (7) मितव्ययी (Economical)। मानदंडों को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए यह भी आवश्यक है कि सभी उत्तरदायित्व (Responsibility Centres) के अलग–अलग मानदंड तय किए जाएं, जिससे उत्तरदायित्व तय करने और संबंधित पक्षों अभिप्रेरित करने में आसानी हो। संगठन की आवश्यकता और कार्य की प्रकृति के अनुसार ये मानदंड चार प्रकार के हो सकते हैं – (क) उत्पादन या कार्य की मात्रा (Quantity of Output) के मापदंड, (ख) काम की किस्म या उत्तमता (Quality of Work) के मापदंड (ग) कार्य–प्रगति में समय (Time of Schedule) के मापदंड, और (घ) लागत (Cost) के मापदंड। यद्यपि काम के ये मापदंड सभी क्षेत्रों में स्थापित किए जा सकते हैं, लेकिन इनकी लागत तथ व्यावहारिकता को ध्यान में रखते हुए, प्रायः इन्हें निर्णायक बिंदुओं (Critical Points) तक ही सीमित रखा जाता है। एक व्यावसायिक संस्था में नियंत्रण के कुछ महत्वपूर्ण बिंदु हैं – उत्पादन, बिक्री, लागत, उधार, सुरक्षा, ख्याति, उत्पादकता, ग्राहक–संतोष, लाभ, कर्मचारी मनोबल आदि।

किसी संस्था के प्रमाप निर्धारित करते समय निम्नलिखित बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए–

टिप्पणी

(i) **प्रमाप निश्चित, न्यायसंगत एवं प्राप्त करने योग्य होने चाहिए** – किसी संस्था के प्रमाप निश्चित करते समय इस बात का पूरा–पूरा ध्यान रखना चाहिए कि प्रमाप निश्चित, न्यायसंगत और प्राप्त करने योग्य होने चाहिए अर्थात प्रमाप ऐसे होने चाहिए जिन्हें प्राप्त किया जा सके। इससे एक ओर तो कार्य करने वाले कर्मचारियों को इस बात का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि उन्हें क्या करना है और दूसरा लाभ यह होता है कि उसके कार्य का प्रमापित कार्य से मिलान करके आवश्यक सुधारात्मक कार्य किए जा सकते हैं।

(ii) **प्रमाप विभागीय योजनाओं एवं संस्थागत योजना के अनुकूल होने चाहिए** – प्रमाप निर्धारित करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे प्रमाप निर्धारित न किए जाएं जो किसी विभागीय योजना के अंतर्गत न आते हों अथवा संस्था के लिए बनाई गई संपूर्ण योजना के अंतर्गत न आते हों। प्रमापों में पारस्परिक सन्तुलन होना भी आवश्यक है जैसे एक साथ काम करने वाले दो व्यक्तियों के कार्यों का मापदंड एक जैसा ही होना चाहिए। इसी प्रकार बिक्री और उत्पादन के लक्ष्य भी एक समान ही होने चाहिए और क्रय विभाग के लक्ष्य उत्पादन विभाग की योजना के अंतर्गत होने चाहिए।

(iii) **प्रमाप मापनीय होने चाहिए** – प्रमाप ऐसे होने चाहिए जिन्हें मापा जा सके, जिससे उनके माप के आधार पर विचलनों का पता लगाकर उनका विश्लेषण किया जा सके और विचलनों के विश्लेषण के आधार पर सुधारात्मक कदम उठाए जा सकें। मापदंड या प्रमाप मध्य स्तर के होने चाहिए अर्थात प्रमाप न तो ऐसे हों जो बिना किसी परिश्रम के ही प्राप्त हो जाएं और न ऐसे हों जो प्राप्त ही न हो सकें और अंत में कर्मचारी उन्हें प्राप्त करने की चेष्टा करते–करते निराश हो जाएं।

2. वास्तविक प्रगति का मापन (Measurement ofActual Performance) – नियंत्रण प्रक्रिया का अगला कदम है वास्तविक निष्पादन की नाप–तौल या मापन। प्रमाप अपेक्षित निष्पादन का निर्धारण करते हैं लेकिन आवश्यक नहीं है कि अपेक्षित एवं वास्तविक निष्पादन एक ही हों। अतः वास्तविक निष्पादन का सही–सही लेखा–जोखा रखा जाना आवश्यक होता है। बहुत से ऐसे कार्य हैं जिन्हें संख्या के रूप में नापा जा सकता है, उन्हें मूर्त कार्य (Tangible Performance) कहते हैं, जैसे–उत्पादन की मात्रा, बर्बादी (Wastage) की मात्रा, श्रमिकों की संख्या, उत्पादन लागत (Cost of Production) कच्चे माल की मात्रा आदि। परन्तु ऐसी बहुत सी वस्तुएं हैं, जिनको संख्या के रूप में नापा नहीं जा सकता। अतः इन्हें अमूर्त कार्य (Intangible Performance) कहते हैं, जैसे प्रबंधक की कार्यकुशलता, मनोबल, या सार्वजनिक संबंध (Public Relation)। नापने योग्य चीजों को आसानी से नापने के दो तरीके हैं –

(अ) प्रत्यक्ष व्यक्ति दर्शन या निरीक्षण के द्वारा (By Direct Personal Observation or Inspection)

(ब) नियमित रिपोर्ट द्वारा (By Regular Report from Subordinates)

टिप्पणी

कई बार यह आवश्यक होता है कि कार्य करते समय ही तुरन्त नापने का कार्य होना चाहिए ताकि यदि कार्य में त्रुटि हो तो उसे उसी समय ठीक कर लिया जाए अन्यथा विलम्ब होने पर संपूर्ण कार्य बिगड़ सकता है और बाद में उसमें सुधार करना कठिन या असंभव हो सकता है। उच्च प्रबंध तथा निम्न स्तर के प्रबंध के नापने के तरीके भी भिन्न–भिन्न होते हैं। उच्च स्तरीय प्रबंध रिपोर्ट (Reports) पर अपने निर्णय को आधारित करते हैं अर्थात जो कुछ उनको रिपोर्ट किया गया हो। जबकि निम्न स्तर के प्रबंध। अपने अधीनस्थ विभागों के कार्यकलापों को जानना चाहते हैं, अतः वे भौतिक प्रमाप तथा समय प्रमाप का अधिक उपयोग करते हैं, जैसे– उत्पादन की संख्या, अस्वीकृति (Rejected) वस्तुओं की मात्रा आदि।

वास्तविक प्रगति को मापते समय कई बातें ध्यान में रखनी आवश्यक हैं जैसे– (1) प्रगति के ये आंकड़े नियमित रूप से तथा निरन्तर तैयार किये जाने चाहिए, (2) प्रगति मापने के लिए मापने के मानदण्ड standards) वैसे ही होने चाहिए, जैसे कि कार्य–माप तय करने के लिए प्रयोग किए गए हैं, (3) प्रगति के आँकडे यथासंभव पूर्णतया सही होने चाहिए, तथा (4) जहां तक हो सके प्रगति का मापन पूर्वापक्षी (forward looking) अर्थात पहले से यह आभास देने वाला होना चाहिए कि आगे क्या होने जा रहा है। जिससे विचलन होने से पहले ही इसका संकेत मिल जाए और इसके कारणों को दूर किया जा सके।

3. वास्तविक प्रगति की कार्य–प्रमापों से तुलना (Comparison ofActual Performance with Work-standards) नियंत्रण प्रक्रिया का तीसरा महत्वपूर्ण कदम है वास्तविक कार्य निष्पादन की प्रमाप के साथ तुलना। इसमें दो चरण आते हैं–

(1) विचलनों की सीमा ज्ञात करना, तथा (2) ऐसे विचलनों के कारणों की पहचान करना।

जहां प्रमाप संख्यात्मक रूप से स्थापित किए जाते हैं वहां तुलना करना सरल होता है, जैसे उत्पादन तथा विपणन में।

नियंत्रण की दृष्टि से विचलनों को दो वर्गों में बांटा जाता है– (क) नियंत्रणीय विचलन, व (ख) गैर–नियंत्रणीय विचलन। नियंत्रणीय विचलनों Controllable Variations) का अभिप्राय ऐसे अन्तरों से हैं जिन्हें नियन्त्रित किया जा सकता है, जैसे कारीगरों के द्वारा जान बूझकर कम काम करना, कारखानों में कच्चा माल न पहुंच पाने के कारण काम बन्द होना आदि। नियंत्रणीय विचलनों से भिन्न गैर–नियंत्रणीय विचलन (Non-Controllable Variations) संस्था के नियंत्रण से बाहर के कारणों का परिणाम होते हैं जैसे सरकारी नीति में परिवर्तन या श्रम–संघों के द्वारा अपनी व्यापक मांगों को पूरा कराने के लिए हड़ताल का रास्ता अपनाना। इन विचलनों की संभावनाओं का पूर्वानुमान लगाना कठिन है।

विचलन विश्लेषण के कदम (Steps in Analysis of Deviations)

विचलनों के कारणों को ज्ञात करना महत्वपूर्ण होता है ताकि सुधारात्मक कार्यवाही की जा सके। विचलन विश्लेषण की प्रक्रिया के निम्न कदम हैं –

टिप्पणी

(i) **वास्तविक प्रगति और अपेक्षित प्रगति की तुलना करना** – विचलन विश्लेषण में सर्वप्रथम कार्य वास्तविक प्रगति का पूर्व निर्धारित अपेक्षित प्रगति से मिलान करके उसकी तुलना करने का किया जाता है जिससे यह पता लगाया जा सके कि वास्तविक प्रगति अपेक्षित प्रगति से कम है या अधिक है। सुधारात्मक कार्यवाही करने की आवश्यकता दोनों ही परिस्थितियों में होती है चाहे वास्तविक प्रगति कम हो अथवा अधिक हो क्योंकि किसी विषय विभाग की वास्तविक प्रगति का अधिक होना संपूर्ण संस्था के नियोजन को अस्त–व्यस्त करना होगा अर्थात वास्तविक प्रगति का कम होना या अधिक होना दोनों ही संस्था के हित में नहीं होते।

(ii) **विचलन के कारणों को ज्ञात करना** – वास्तविक प्रगति की अपेक्षित प्रगति से तुलना करने के बाद दूसरा कार्य वास्तविक प्रगति के विचलन (अन्तर) के कारणों को ज्ञात करना होता है। इस अन्तर के अनेक कारण हो सकते हैं जैसे बिजली का गुल हो जाना, हड़ताल हो जाना, मशीनों में टूट–फूट हो जाना या समय पर आवश्यक मात्रा में कच्ची सामग्री न मिल पाना आदि। वास्तविक प्रगति और प्रमाणित प्रगति के बीच एक सहन सीमा (Tolerance Limit) होती है अतः जब अन्तर इस सीमा को पार कर जाते हैं तब उन पर ध्यान दिया जाना आवश्यक हो जाता है। उदाहरणार्थ, यदि एक अवधि की कमी दूसरी में पूरी हो जाती है जैसे एक सप्ताह की विक्री दूसरे सप्ताह में पूरी हो जाना सहन सीमा के अन्दर मानी जाती है लेकिन यदि बिक्री के आंकड़ों में निरन्तर कमी दर्शाई गई हो तो उसके विचलन के कारणों को ज्ञात किया जाएगा और उसके आधार पर आवश्यक सुधारात्मक कार्यवाही की जाएगी।

नियंत्रण की दृष्टि से अन्तर के कारणों का वर्गीकरण

नियंत्रण की दृष्टि से अन्तर के कारणों का वर्गीकरण दो प्रमुख भागों में किया जा सकता है –

1. **नियंत्रण योग्य अन्तर** – नियंत्रण योग्य अन्तर वे होते हैं जो नियंत्रण सीमा के अन्दर माने जाते हैं अर्थात जिन पर प्रयत्न करके नियंत्रण किया जा सकता है। जैसे स्टोरकीपर द्वारा समय–समय पर कच्चे माल की व्यवस्था न करना अथवा श्रमिक एवं अन्य कर्मचारियों द्वारा जान बूझकर काम न करना आदि। ये सभी अन्तर निम्नलिखित तीन प्रमुख कारणों से हो सकते हैं – (अ) योजना में कमी (ब) नियंत्रण में कमी अथवा (स) श्रमिक वर्ग द्वारा जानबूझकर काम न करना अथवा काम में बाधा डालना।

   नियंत्रण योग्य अन्तरों का अध्ययन उनसे संबंधित कर्मचारियों का उत्तरदायित्व निश्चित करने और दोषी कर्मचारियों को दण्ड देने में सहायक सिद्ध होता है।

2. **गैर–नियंत्रण योग्य अन्तर** – गैर नियंत्रण योग्य अन्तरों में वे अन्तर आते हैं जिन पर संस्था का अपना कोई नियंत्रण नहीं होता अर्थात संस्था के नियंत्रण से बाहर होते हैं, जैसे – (i) सरकारी नीति में परिवर्तन (ii) श्रम संघ

द्वारा हड़ताल की घोषणा (iii) बाजार में कच्ची सामग्री का अभाव एवं उसकी मूल्य वृद्धि, और (iv) बिजली आपूर्ति में सामान्य कटौती आदि।

गैर नियंत्रण योग्य अन्तरों का ज्ञान हो जाने पर उनसे निपटने के लिए तुरन्त अपनी योजना में आवश्यक परिवर्तन करते ही सफलता प्राप्त की जा सकती है।

टिप्पणी

4. सुधारात्मक कार्यवाही (CorrectiveAction)– यह नियंत्रण व्यवस्था का अन्तिम चरण है। एक सिद्धान्त है सर्वोत्तम को भी सुधारा जा सकता है। यदि त्रुटि का पता लग गया है, तो उनके कारणों को जानना चाहिए और तुरन्त सुधार के लिए ठीक निर्णय लेना चाहिए। कुछ सुधार के निर्णय ऐसे हो सकते हैं जो बिगड़े हुए कार्य को सुधार दें, इन्हें सुधारात्मक कार्यवाही (RemedialActions) कहते हैं और कुछ ऐसे भी हो सकते हैं जो भविष्य के लिए ही उपयोगी हो सकते हैं। वर्तमान में तो जो कुछ हो गया, उसके संबंध में कुछ भी नहीं किया जा सकता। इन्हें ''प्रतिरोधक'' (Preventive) कहते हैं।

सुधारात्मक कार्यवाही करते समय भी प्रबंधकों को चार बातें ध्यान में रखनी चाहिए– (i) सुधारात्मक कार्यवाही, चाहे जो क्यों न हो तुरन्त की जानी चाहिए, (ii) सुधारात्मक कार्यवाही विचलन विश्लेषण की मजबूत आधारशिला पर अवलम्बित होनी चाहिए, अटकलबाजी या जोड़–तोड़ पर नहीं, (iii) सुधारात्मक कार्यवाही जहां तक संभव हो, संबधित कर्मचारी के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से मेल खानी चाहिए, और (iv) सुधारात्मक कार्यवाही उसी स्तर के प्रबंधकों द्वारा आरम्भ करायी जानी चाहिए जिस स्तर पर विचलन रिकार्ड किए जाते हैं।

जार्ज और टैरी के अनुसार, ''सुधार के बिना नियंत्रण शून्यवत है तथा इसका कोई उपयोग नहीं है।''

3.7.3 नियंत्रण के उपकरण

नियंत्रण उपकरणों को दो भागों में बांटा जा सकता है –

(अ) परंपरागत नियंत्रण उपकरण

(ब) आधुनिक नियंत्रण उपकरण

(अ) परम्परागत नियंत्रण उपकरण (Traditional Control Techniques)

परंपरागत नियंत्रण उपकरण को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

1. लागत नियंत्रण (Cost Control) – लागत नियंत्रण का उद्देश्य उत्पादन की लागत को न्यूनतम करना है जिससे कि लाभ को अधिकतम किया जा सके। इसके लिए हमें कुल लागत का ही नहीं अपितु विभिन्न अवस्थाओं में अलग–अलग मदों पर जो लागत आती है उसका भी पता लगाना आवश्यक होता है। इस प्रकार लागत के विभिन्न तत्वों की जानकारी आवश्यक है। इसके द्वारा कच्चे माल की लागत में कमी, कुशल पर्यवेक्षक उत्पादन के उन्नत साधनों या विधियों का प्रयोग, एवं कार्य करने के तरीकों में सुधार करके की जाती है।

- **लागत नियंत्रण के आवश्यक तत्व** (Essentials of Cost Control)
  - लागत का विश्लेषण करना तथा इसके प्रत्येक शीर्षक के लिए लागत के प्रमापों की स्थापना करना।

टिप्पणी

- होने वाले वास्तविक कार्यों के लेखे तैयार करना।
- वास्तविक लागत तथा लागत में यदि कोई अंतर हो तो उसका विवरण रखना।
- विविध स्तरों का विश्लेषण करना और उसकी जिम्मेदारी तय करना,
- सुधारात्मक कार्यवाही (CorrectiveAction) करना।

• **लाभ** (Advantages)

- लागत नियंत्रण से कीमतें कम रखने में सहायता मिलती है, जिससे बिक्री बढ़ती है और बिक्री बढ़ने से लाभ में वृद्धि होती है।
- इससे कच्चे माल के क्रय, संग्रह तथा उपयोग में होने वाली हानि तथा अव्यवस्था की रोकथाम में सहायता मिलती है।
- कच्चे माल की भांति लागत–नियंत्रण प्रणाली में श्रम की लागत भी समय और गति अध्ययन के द्वारा प्रमाणित कर दी जाती है, जिससे श्रम–लागत पर नियंत्रण रहता है।
- लागत–नियंत्रण प्रणाली को लागू करने का अर्थ है, कच्चे माल के उपयोग की मात्रा पर नियंत्रण, इससे इनके उपयोग में होने वाले क्षय और दुरूपयोग को रोका जा सकता है।
- लागत–नियंत्रण लागू करने से प्रबंधकों को मशीन तथा संयंत्र के सही उपयोग आदि के बारे में कई प्रकार की ऐसी जानकारी भी मिलती है, जिससे उन्हें अपने लाभ–हानि सन्तुलन या सम–विच्छेद बिंदु (break event point) को समझने में आसानी रहे।
- इसकी सहायता से लाभ–हानि सन्तुलन–बिंदु आसानी से निकाला जा सकता है जो कि उत्पादन के पैमाने (scale) को तय करने में लाभदायक रहता है।

2. प्रमाप लागत लेखांकन (Standard Costing) – यह अत्यंत महत्वपूर्ण तकनीक है। इस तकनीक के प्रमापों के साथ वास्तविक विचलनों को जाना जाता है तथा नियंत्रण व सुधारात्मक कार्यवाही की जाती है। लागत के विभिन्न भागों, जैसे– मजदूरी, उपरिव्यय, कच्चा माल आदि हेतु लागत स्तर तय किए जाते हैं। वास्तविक कार्य प्रबन्धित किए जाते हैं वास्तविक लागत तथा प्रमाप लागत की तुलना करके विचलन को जाना जाता है तथा भविष्य में विचलनों को रोकने के प्रयास किए जाते हैं।

3. आंतरिक एवं बाह्य अंकेक्षण (Internal and ExternalAudit) – आंतरिक लेखा परीक्षक संगठन का स्वतंत्र कर्मचारी होता है। वह वित्तीय व अन्य कार्यों की स्वतंत्र लेखा परीक्षा करता है। वह ईमानदारी से कंपनी की नीतियों, कार्यों, नियोजन, कर्मचारी व अधिकारियों के प्रत्येक कार्य और वहां तक प्रबंध का भी मूल्यांकन करता है, प्रयोगात्मक सुझाव देता है व बाह्य लेखा परीक्षण को आसान बनाता है।

सभी कम्पनियों के लिए बाहरी वित्तीय, लागत, सामाजिक व निजी लेखा परीक्षा करवाना कानूनी रूप से जरूरी है। यह योग्य चार्टर्ड एकाउंटेंट द्वारा की जाती है। यह व्यवसाय के हर पहलू की क्षमताओं के बारे में जानकारी देता है।

टिप्पणी

4. प्रबंधकीय सांख्यिकीय प्रतिवेदन तैयार करना (Preparation of Managerial Statistical) – प्रत्येक व्यावसायिक संस्था में अनेक प्रकार के आवश्यक आंकड़े आसानी से एकत्र किए जा सकते हैं और उनका समुचित विश्लेषण करके नियंत्रण की दृष्टि से उनका उपयोग सार्थक ढंग से किया जा सकता है। यह विश्लेषण या तो ऐतिहासिक (Historical) या पूर्वानुमान (Forecasting) की प्रकृति का हो सकता है। इस विश्लेषण को या तो तालिका के रूप में (Tabular Form) या चार्ट (Chart) के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रायः प्रबंधक आंकड़ों को चार्ट के रूप में देखना पसंद करते हैं क्योंकि उन्हें समझना आसान होता है और उनका विवेचन करना आसान होता है। यथासंभव सांख्यिकीय रिपोर्ट की उपनीति बरतनी चाहिए जिससे कि उसके माध्यम से आसानी से यह पता लगाया जा सके कि उसकी क्या सम्भावना हो सकती है। इसके लिए 'Time SeriesAnalysis' और वह भी उचित आधार पर आधारित होनी चाहिए जो कि अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि आंकड़ों को इस प्रकार से प्रस्तुत किया जाना चाहिए कि जिससे उनकी तुलना किसी पूर्व–निर्धारित मानक से आसानी से की जा सके। वैसे, इन आंकड़ों का प्रयोग करते समय तथा उनका विवेचन करके नियंत्रण के उपकरण के रूप में प्रयोग करने की जो सीमाएं हैं उनको भी ध्यान में रखना अति आवश्यक है।

5. स्कंध नियंत्रण (Inventory Control) – संगठन विभिन्न प्रकार की मात्रा का स्कंध उपयोग करते हैं। स्कंध अ.ब.स. विश्लेषण, आर्थिक आदेश मात्रा द्वारा किया जाता है।

स्कंध का 'निर्गमन करने के लिए बिन कार्ड, लिफो, फिफो प्रणाली का उपयोग किया जाता है। हर वस्तु को वैज्ञानिक ढंग से रखा जा सकता है। सही मात्रा में ऑर्डर देना, उत्पाद का निर्गमन करना आदि उत्पाद की प्रकृति पर निर्भर करता है।

6. उत्पादन नियंत्रण (Production Control) – उत्पादन नियंत्रण का तात्पर्य यह देखना होता है कि उत्पादन का कार्य पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार हो रहा है अथवा नहीं। इसके लिए संपूर्ण उत्पादन–प्रक्रिया को इस प्रकार से संयोजित, निर्देशित तथा नियन्त्रित किया जाना चाहिए कि उपलब्ध साधनों का समुचित उपयोग हो सके, बर्बादी की मात्रा न्यूनतम हो तथा न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन संभव हो सके। वह तभी संभव होगा जबकि कार्य पूर्ण कुशलता या क्षमता के अनुसार काम कर रहे हैं और समय नष्ट नहीं कर रहे हैं। साथ ही मशीन तथा अन्य उपकरणों का उपयोग निर्धारित क्षमता के अनुसार किया जा रहा है। वास्तव में, उत्पादन नियंत्रण उत्पादन प्रक्रिया में सामग्री के कच्चे माल की स्थिति में लेकर निर्मित माल की स्थिति तक से व्यवस्थित प्रवाह को नियन्त्रित करता है। यह संस्था में आने वाले विक्रय आदेशों (orders) को एकत्र करता है, उन्हें उत्पादन आदेशों में बदलकर कारखाने में उत्पादन के लिए ऐसे गति एवं क्रम में लगाता है कि कारखाने में उत्पादन के लिए ऐसे गति एवं क्रम में लगाता है कारखाना इस आसानी से संभाल सके और उसके लिए कम से कम आंतरिक उथल–पुथल करनी पड़े।

टिप्पणी

7. स्थायी आदेश देना (Standing order) – प्रबंधकीय नियंत्रण के लिए स्थायी आदेशों का प्रयोग होता है। इसमें प्रबंधक जिनको शक्ति का प्राधिकरण देते हैं वह उनकी सीमाएँ भी निश्चित करता है। स्थायी आदेश प्रबंध द्वारा नियत होते हैं और कर्मचारियों द्वारा अपनाए जाते हैं। यह नियम, नीतियों, विधियों और कार्यों से संबंधित हो सकते हैं।

8. व्यक्तिगत अवलोकन (Personal Observation) – व्यक्तिगत अवलोकन नियंत्रण की सबसे प्राचीन तकनीक है। निम्न स्तर पर नियंत्रण हेतु इसे बहुत अधिक उपयुक्त माना जाता है। नियंत्रण में, व्यक्तिगत अवलोकन का आज भी महत्व है यद्यपि नियंत्रण की नई–नई वैज्ञानिक विधियाँ निकल चुकी हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अनेक सूचनाएँ व्यक्तिगत अवलोकन से ही ज्ञात की जा सकती हैं और बिना इसके उसकी जानकारी हो ही नहीं सकती। अनेक सूचनाएँ या तथ्य प्रबंधक अपने कमरे में बैठकर रिपोर्ट चार्ट या आँकड़ों से नहीं ज्ञात कर सकता है। अनेक बातें जो आँकड़ों से स्पष्ट नहीं होती हैं, स्वयं देखकर ही हो सकती है। यह प्रबंधक को कर्मचारियों से व्यक्तिगत रूप से बात करने, विचार विमर्श करने का भी अवसर प्रदान करता है। इसके माध्यम से व्यक्तियों की कठिनाइयों, दुःखों और अकुशलताओं को भी दूर किया जा सकता है। व्यक्तियों से व्यक्तिगत रूप से मिलकर सुझाव प्राप्त किया जा सकता है। प्रायः इस माध्यम से बहुमूल्य सुझाव प्राप्त हो सकते हैं। व्यवहार में, देखा गया है कि एक व्यक्ति जो काम नहीं करता और कुशल भी है, प्रबंधक के सामने आने पर कुशलता से काम करने लगता है। किसी भी स्थान पर उसकी उपस्थिति हो व्यक्तियों को प्रेरित करने के लिए पर्याप्त होती है। यहाँ पर यह बात लागू होती है कि जो काम लिख–पढ़कर नहीं हो सकता उसे आमने–सामने बात करके किया जा सकता है। इस प्रकार, व्यक्तिगत अवलोकन, प्रायः कुछ परिस्थितियों में, नियंत्रण का अत्यन्त उपयोगी उपकरण सिद्ध होता है।

9. अभिप्रेरणा द्वारा नियंत्रण (Control of Motivation) – कर्मचारियों को अभिप्रेरित करके उनकी क्रियाओं पर नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है। यह एक प्रकार से स्व–नियंत्रण है। कर्मचारियों को अभिप्रेरित करके वांछित परिणामों की प्राप्ति की जा सकती है। अभिप्रेरित कर्मचारी आपस में स्वतः सहयोग करते हैं जिससे स्वतः नियंत्रण स्थापित हो जाता है।

10. नीतियों द्वारा नियंत्रण (Control by Policies) – नीतियाँ संस्था के कार्यों के निष्पादन में मार्गदर्शक तत्वों के रूप में काम करती हैं। इनके आधार पर भविष्य में क्या करना है, इसका पहले से ही निर्धारण करना संभव हो जाता है।

11. तदर्थ निर्णयों द्वारा नियंत्रण (Control byAdhoc Decisions) – यदि योजना के निर्माण के समय भावी समस्याओं की जानकारी नहीं हो पाती है तो समस्याओं के उदय होने पर भी प्रबंधक तदर्थ निर्णय लेकर नियंत्रण प्रणाली को बनाए रख सकते हैं।

12. अनुशासनात्मक कार्यवाही द्वारा नियंत्रण (Control by DisciplinaryAction) – यह विधि एक ऋणात्मक विधि है। इसके अन्तर्गत यदि अधीनस्थ गलत कार्य करता है तो उसे दण्ड दिया जाता है।

13. उदाहरण द्वारा नियंत्रण (Control by Example) – एक पुरानी कहावत है कि ''कहने से करना भला''। यदि एक उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थों की क्रियाओं पर नियंत्रण स्थापित करना चाहता है तो उसे अपने आचरण एवं व्यवहार का आदर्श उदाहरण अपने अधीनस्थों के सम्मुख प्रस्तुत करना था। जैसे– सही समय पर आना आदि। उनका आचरण अधीनस्थों के लिए एक आदर्श बन जाता है।

टिप्पणी

14. गुणवत्ता नियंत्रण (Quality Control) – किस्म नियंत्रण उत्पादन नियंत्रण का प्रमुख अंग है, परन्तु यह इतना महत्वपूर्ण है कि इसका अलग से अध्ययन करना आवश्यक है। किस्म नियंत्रण का तात्पर्य उत्पादित वस्तुओं की किस्म पर नियंत्रण करने से है। इसके अन्तर्गत प्रमाणित या पूर्व निश्चित किस्म के वास्तविक निर्मित वस्तु की किस्म की तुलना करके यह पता लगाना होता है कि निर्मित माल की किस्म प्रमाणित किस्म की तरह ही है या उनमें कुछ अन्तर है। यदि उनमें अन्तर है तो उसके कारण का पता लगाना होता है। इसमें यह भी देखना होता है कि जितनी भी वस्तुएँ तैयार हुई हैं उन सभी की किस्म एक समान है या नहीं।

गुणवत्त नियंत्रण की कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं –

- डॉ. डब्लू. आर. स्प्रीगल के अनुसार, ''उत्पादन की किस्म की व्याख्या उसके विभिन्न लक्ष्यों के योग के रूप में की जाती है, जैसे–आकृति, आकार, रचना, शक्ति, कारीगरी, समायोजन तथा अन्तिम रूप–रंग।''
- सिगमण्ड पी. जे. के अनुसार, ''किस्म नियंत्रण का आशय यह निश्चित करता है कि ग्राहकों को वही मिलता है जिसको कि खरीदने का वह विश्वास रखता है। यह लागत को कम करने का कार्यक्रम है।''
- जे. ए. शुबिन के अनुसार, ''किस्म नियंत्रण से आशय निर्धारित प्रमापों से विचलन तथा पहचानने योग्य दोषों के कारणों की मान्यता प्रदान करना एवं उन्हें दूर करना है।''
- अल्फर्ड एवं बीटी के अनुसार, ''किस्म नियंत्रण प्रबंध की एक ऐसी तकनीक अथवा तकनीकों का समूह है जिसके द्वारा एक सी स्वीकृति योग्य किस्म के उत्पादन तैयार किये जाते हैं।"
- एच. डी. शोरी (H.D. Shoree) – ''किस्म नियंत्रण अनिवार्य रूप से कच्चे माल को प्राप्त करने से लेकर निर्मित माल के लादने के विभिन्न व्यय होते हैं उनमें कमी लाने एवं निरीक्षण लागतों को न्यूनतम करने से संबंधित है। यह एक उत्पादकता तकनीक है जिसका उद्देश्य इन दोनों प्रकार की लागतों को कम करना है। यह एक निवाराणात्मक (preventive) तकनीक भी है, क्योंकि इसका एकमात्र उद्देश्य शुरू में ही ऐसी व्यवस्था कर देना है कि जिससे दोष उत्पन्न न हो सकें।''

(ब) आधुनिक नियंत्रण उपकरण (Modern Techniques of Control)

नियंत्रण के आधुनिक उपकरण को निम्न प्रकार समझा जा सकता है–

बजटरी नियंत्रण (Budgetary Control)

जार्ज आर. टैरी के शब्दों में, ''बजट भावी आवश्यकताओं का एक अनुमान होता है जो एक व्यवस्थित आधार पर संस्था की कुछ या सभी कार्यवाहियों के लिए एक निर्धारित समय अवधि के लिए बनाया जाता है।''

टिप्पणी

बजट शब्द की उत्पत्ति फ्रेंच भाषा के "BONGETTEES" से हुई है जिसका अर्थ चमड़े की एक थैली (leather pouch) अर्थात जिसमें अनुमानित व्ययों को पूरा करने के लिए वित्त को एकत्रित करके रखा जाता है। वास्तव में, बजट तैयार करने के पीछे यही एक मुख्य आधार होता है। बजट संख्यात्मक पदों में वर्णित सम्भावित परिणामों का विवरण होता है। इसे जिस अवधि के लिए बनाया जाता है उससे पहले ही तैयार किया जाता है। बजट नियोजन के साथ–साथ नियंत्रण का एक यन्त्र होता है। यह एक प्रमाप के रूप में भी सहायता करता है जिसके साथ वास्तविक परिणामों की तुलना की जाती है। बजट को एक दी हुई अवधि के लिए आर्थिक योजना के रूप में भी समझा जा सकता है। बजट बनाना बजटों को तैयार करने की एक प्रक्रिया है।

सारभूत रूप से, बजट बनाना एक प्रबंधकीय प्रक्रिया होती है जिसका संबंध नियोजन, समन्वय तथा नियंत्रण से होता है। व्यावसायिक बजट एक योजना होती है जो एक संस्था से भावी निश्चित समय की अवधि के लिए कार्य संचालन के सभी चरणों को सम्मिलित करती है। यह एक निश्चित भावी अवधि के लिए तैयार की जाती है तथा सभी बातों को विस्तृत तथा संख्यात्मक पदों में वर्णित किया जाता है। इस प्रकार बजट को एक विवरण के रूप में समझा जा सकता है जो विशिष्ट लक्ष्यों तथा उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए एक निश्चित अवधि में लागू की जाने वाली नीतियों तथा योजनाओं को वर्णित करता है।

नियंत्रण की यह अत्यधिक प्रचलित एवं महत्वपूर्ण विधि है जिसके अनुसार नियंत्रण बजट के माध्यम से किया जाता है। इसके लिए योजनाओं को बजट का रूप दे दिया जाता है और इसी बजट के माध्यम से यह देखा जाता है कि प्रगति ठीक हो रही है या नहीं, और यदि नहीं तो अन्तर कहां पर है, और उसके लिए सुधारात्मक कार्यवाही की जाती है। इस प्रकार, व्यावसायिक, कारोबार का नियंत्रण बजट के अनुसार किया जाता है। बजटीय नियंत्रण की एक उचित परिभाषा लन्दन की सी.आई. एम.ए. (CIMA. London) ने दी है। उसके अनुसार, ''बजटीय नियंत्रण कार्यकारी अधिकारियों के उत्तरदायित्व को निश्चित नीति योजना के अनुरूप विभागीय बजटों के रूप में निर्धारित करना तथा वास्तविक प्रगति की बजट में निर्धारित लक्ष्यों से तुलना करना, जिसमें या तो उस नीति के उद्देश्यों को व्यक्तिगत प्रयासों के द्वारा प्राप्त किया जा सके अथवा उसमें परिवर्तन के लिए आधार प्रस्तुत करना है।''

बजट तैयार करना वास्तव में भावी निश्चित समय के लिए संख्यात्मक, पदों (numerical terms) में योजना को तैयार करना है। वे निश्चित परिणाम के आधार पर बनाए गए अनुमान होते हैं। बजट वित्तीय पदों में हो सकते हैं जैसा कि आगम व्यय बजट या पूंजी बजट (capital budge) में होता है या किसी गैर–वित्तीय पद में हो सकते हैं जैसा कि प्रत्यक्ष श्रम बजट (direct labour budge) सामग्री बजट आदि में होता है।

बजट निर्माणक कार्यविधि (Procedure of Preparing Budget)

एक व्यावसायिक संस्था में बजट बनाने के लिए निम्नलिखित कार्याविधि से कार्य किया जाता है–

(i) **बिक्री का अनुमान लगाना** – सर्वप्रथम बिक्री के पूर्वानुमान लगाए जाते हैं क्योंकि अन्य अनेक सहायक बजट का पूर्वानुमानों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निर्भर करते हैं। बिक्री के पूर्वानुमान लगाकर व्यवसाय की स्थायी नीतियाँ निर्धारित की जाती हैं।

टिप्पणी

(ii) **निर्णायक तत्वों की व्याख्या करना** – बिक्री के पूर्वानुमान लगाने और स्थानीय नीतियाँ निर्धारित करने के बाद बजट निर्माण से संबंधित निर्णायक तत्वों की स्पष्ट व्याख्या की जाती है। जिससे बजट से संबंधित किसी व्यक्ति को कोई सन्देह न रहे।

(iii) **विभागीय बजट बनाना** – नए बजट की अवधि प्रारंभ होने और वर्तमान बजट की अवधि समाप्त होने से पहले सभी विभागों के पृथक–पृथक प्रारंभिक बजट बनाए जाते हैं। विभागीय बजट में विभाग से संबंधित आवश्यकताओं और प्राथमिकताओं पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

(iv) **मास्टर बजट बनाना** – सभी विभागीय बजट तैयार हो जाने पर उनके आधार पर संस्था का एक सामूहिक बजट बनाया जाता है। जिसमें सभी विभागीय बजटों का समन्वय एवं समावेश होता है। इस बजट को मास्टर बजट कहते हैं।

(v) **बजट को अन्तिम रूप देना** – अन्त में व्यावसायिक योजनाओं को ध्यान में रखकर बजट को अन्तिम रूप दिया जाता है और इस प्रकार बजट बनाने की कार्यविधि सम्पन्न हो जाती है।

3.7.4 पर्यवेक्षण

पर्यवेक्षण का अर्थ है कर्मचारियों को निर्देश देना, मार्गदर्शन करना, निगरानी करना और उनकी देखरेख करना, जब वे संगठन में कार्य कर रहे हों। पर्यवेक्षण का मतलब है कि ऊपर से कर्मचारियों की गतिविधियों को देखना।

शब्द की उत्पत्ति के दृष्टिकोण से कहें तो पर्यवेक्षण (Supervision) दो शब्दों "पर्य" और "वेक्षण" का योग है जिसका अर्थ है– देखरेख अतः पर्यवेक्षण का अर्थ– 'श्रेष्ठतरों द्वारा उनके अधीनस्थों के कार्यों की देखरेख है।

पर्यवेक्षण में विभिन्न गतिविधियाँ शामिल हैं जैसे– निगरानी, निर्देशन, मार्गदर्शन, निरीक्षण और तालमेल। शिक्षा–संबंधी और परामर्श संबंधी पहलू भी इसके अंग हैं। इस तरह, एक पर्यवेक्षक की भूमिका एक नेता की भूमिका से मिलती–जुलती है

पर्यवेक्षण का अर्थ प्रबंधन के विभिन्न स्तरों पर योजना, आयोजन आदि के प्रबंधकीय कार्यों को पूरा करना है। शीर्ष स्तर के प्रबंधक मध्यम स्तर के प्रबंधकों की गतिविधियों की निगरानी करते हैं। मध्यम स्तर के प्रबंधक निचले स्तर के प्रबंधकों की गतिविधियों की निगरानी करते हैं। निचले स्तर के प्रबंधक गैर–प्रबंधकों अर्थात संगठन के कर्मचारियों या श्रमिकों के संचालन की निगरानी करते हैं।

'सुपरवाइजर' शब्द आम तौर पर सबसे निचले स्तर पर प्रबंधकों के साथ जुड़ा होता है जो श्रमिकों की गतिविधियों की निगरानी करते हैं। वे कर्मचारियों के साथ

टिप्पणी

आमने–सामने बातचीत करते हैं। वे प्रबंधकों और कार्यबल के बीच कड़ी के रूप में कार्य करते हैं। शीर्ष प्रबंधकों द्वारा जारी किए गए निर्देश अंततः पर्यवेक्षकों के माध्यम से श्रमिकों तक पहुंचते हैं। इसी प्रकार पर्यवेक्षकों के माध्यम से उच्च स्तर तक कार्मिकों की शिकायतें भी पहुंचती हैं।

पर्यवेक्षक श्रमिकों के साथ संवाद करते हैं और उनकी गतिविधियों की योजना, आयोजन, स्टाफ और नियंत्रण के सभी प्रबंधकीय कार्य करते हैं। वे दो बलों, प्रबंधकों और श्रमिकों के बीच कार्य करते हैं और प्रबंधकों और श्रमिकों दोनों की जरूरतों और इच्छाओं को पूरा करने का प्रयास करते हैं। पर्यवेक्षक व्यवहार विज्ञान के विशेषज्ञ होते हैं। व्यवहार वैज्ञानिक विभिन्न विषयों, उन अवधारणाओं, सिद्धांतों और अनुसंधानों को एक साथ लाने का प्रयास करते हैं, जो व्यक्तियों और समूहों के व्यवहार के बारे में निर्णय लेने में लोगों के लिए उपयोगी हो सकते हैं। पर्यवेक्षक ऐसे व्यवहार वैज्ञानिक हैं जो मानव व्यवहार का विश्लेषण करते हैं और उनके माध्यम से किए गए कार्यों को प्राप्त करने के लिए व्याख्या करते हैं। इस प्रकार, पर्यवेक्षण, वरिष्ठों और अधीनस्थों के बीच संबंधों से संबंधित है। इन संबंधों को बनाए रखने में, पर्यवेक्षक व्यवहार–वैज्ञानिकों के रूप में कार्य करते हैं।

परिभाषा

हेनरी रेइनिंग– "पर्यवेक्षण दूसरों के कामों का प्राधिकार के साथ निर्देशन है।" टेरी व फ्रैंकलिन– "पर्यवेक्षण का अर्थ है– कर्मचारियों के प्रयासों और अन्य संसाधनों का मार्गदर्शन और निर्देशन करना ताकि वांछित कार्य परिणाम प्राप्त जा सके।"

एम.विलियमसन– "पर्यवेक्षण एक प्रक्रिया है जिसमें अपनी आवश्यकतानुसार सीखने, अपनी क्षमताओं को बढ़ाने के लिए अपने ज्ञान और कौशल का सर्वश्रेष्ठ उपयोग करने में कर्मचारियों की निर्दिष्ट स्टाफ सदस्यों द्वारा मदद की जाती है, ताकि वे अपना काम अपने और एजेंसी के लिए अधिक प्रभावी और संतोषजनक ढंग से कर सकें।" पर्यवेक्षण का सिद्धांत संगठन के पदानुक्रमिक ढाँचे (स्केलीय श्रृंखला) में अंतर्निहित होता है, जिसके अंतर्गत सभी स्तरों पर प्रत्येक कर्मचारी अपने श्रेष्ठ के पर्यवेक्षण के अंतर्गत होता है।

इस परिप्रेक्ष्य में, जे.एम. फिफनर टिप्पणी करते हैं– "एक दृष्टिकोण से पर्यवेक्षण पदानुक्रम के उच्चतम स्तरों तक जाता है ब्यूरो प्रमुख प्रभागीय प्रमुख को पर्यवेक्षित करता है, जो स्वयं विभागीय प्रमुखों को पर्यवेक्षित करता है, जो कतारों को पर्यवेक्षित करते हैं।" इस तरह, प्राधिकार में मौजूद सभी व्यक्ति जो दूसरों के कार्यों को नियंत्रित करते हैं, वे संगठन के आधिकारिक पदानुक्रम से जुड़े पर्यवेक्षक होते हैं।

पर्यवेक्षण की भूमिका

पर्यवेक्षक द्वारा किए गए मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं :

1. **श्रमिकों और प्रबंधन के मध्यस्थ की भूमिका** : एक पर्यवेक्षक एक व्यक्ति है जो पर्यवेक्षण में लगा हुआ है। वह अधीनस्थों के काम का पर्यवेक्षण करता है। वह श्रमिकों और प्रबंधन के बीच की कड़ी है। वह यह सुनिश्चित करता है कि योजनाओं और प्रक्रियाओं को अनुसूची के अनुसार लागू किया जाए। पर्यवेक्षक

जोड़ने की भूमिका निभाता है क्योंकि वह प्रबंधन की योजनाओं, नीतियों, निर्णयों, और अधीनस्थों के लिए प्रबंधन और अधीनस्थों की शिकायतों और सुझावों को संप्रेषित करता है।

टिप्पणी

2. **कार्यकर्ताओं से सीधा संपर्क** : पर्यवेक्षक श्रमिकों के साथ सीधा संपर्क रखता है। वह एक दोस्त, दार्शनिक के रूप में कार्य करता है और श्रमिकों का मार्गदर्शन करता है।
3. **टकराव और गलतफहमी** : वह प्रबंधन के सभी निर्देशों, योजनाओं और विचारों को श्रमिकों और श्रमिकों के सुझावों, शिकायतों आदि को प्रबंधन तक पहुंचाता है। इस प्रकार, एक संगठन में उनकी उपस्थिति श्रमिकों और प्रबंधन के बीच संघर्ष और गलतफहमी से बचने में मदद करती है।
4. **श्रमिकों के मध्य एकता** : वह अपने अधीन विभिन्न कामगारों की गतिविधियों को एकीकृत करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, ताकि वे अपनी समस्याओं को यथासंभव अधिक से अधिक हल कर सकें।
5. **कार्यकर्ताओं को प्रेरित करना** : उसके पास नौकरी पूरी करने की जिम्मेदारी हैय इसलिए वह अपने कार्यकर्ताओं को उसी को पूरा करने के लिए प्रभावी प्रदर्शन करने के लिए प्रेरित करता है।
6. **श्रमिकों का प्रशिक्षण** : एक कुशल और अनुभवी पर्यवेक्षक अपने कार्यकर्ताओं को नौकरी प्रशिक्षण प्रदान करने की व्यवस्था करता है और श्रमिकों की एक कुशल टीम भी बनाता है।
7. **नेतृत्व के गुण** : अच्छे नेतृत्व गुणों के साथ पर्यवेक्षण श्रमिकों को प्रभावित करने और उनका मनोबल बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।
8. **कार्य प्रदर्शन का विश्लेषण** : एक अच्छा पर्यवेक्षक हमेशा अपने अधीनस्थों के काम का विश्लेषण करता है और उन्हें अपने कार्य कौशल और प्रदर्शन में और सुधार के लिए सुझाव देता है।

पर्यवेक्षण के उद्देश्यः

पर्यवेक्षण निम्नलिखित उद्देश्यों को पूरा करता हैः

1. **संचार को बढ़ावा देना** : यह प्रबंधकों को श्रमिकों के लक्ष्यों को समझने में मदद करता है और श्रमिक संगठनात्मक लक्ष्यों को समझते हैं। दोनों एक दूसरे के लक्ष्यों को पूरा करने की कोशिश करते हैं और इस प्रकार, संगठनात्मक उत्पादकता में योगदान करते हैं।
2. **प्रेरणा को बढ़ावा देना** : दो–तरफा संचार के साथ–साथ पर्यवेक्षण, संगठनात्मक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए श्रमिकों को प्रेरित करता है।
3. **प्रदर्शन का मूल्यांकन करना** : पर्यवेक्षण श्रमिकों के प्रदर्शन का मूल्यांकन करता है और उनके मुआवजा पैकेजों को निर्धारित करता है। जो लोग मानकों को प्राप्त करते हैं, उन्हें उन लोगों की तुलना में प्रोत्साहन का भुगतान किया जाता है जो मानकों से कम हासिल करते हैं।

4. प्रदर्शन में सुधार : यदि कार्यकर्ता लक्ष्य हासिल करने में सक्षम नहीं हैं, तो पर्यवेक्षण उनके प्रदर्शन को निर्देशित करने और सुधारने में मदद करता है।

टिप्पणी

पर्यवेक्षण के कार्य

पर्यवेक्षण के कार्य निम्नांकित हैं :

(i) प्रत्येक काम के लिए उचित व्यक्ति का चुनाव।

(ii) प्रत्येक व्यक्ति में उसके काम के प्रति रुचि पैदा करना और उसे वह काम करने का तरीका सिखाना।

(iii) यह निश्चित करने के लिए कि सिखाना पूरी तरह प्रभावी रहा है।

(iv) जहाँ जरूरी हो, वहाँ चीजों को दुरुस्त करना और कर्मचारियों को अधिक उपयुक्त काम पर स्थानांतरित करना या उन कामों से हटाना जिन पर वे अप्रभावी सिद्ध हुए हैं।

(v) जब भी प्रशंसा का मौका हो, प्रशंसा करना और अच्छे काम पर ईनाम देना।

(vii) कार्य समूह में प्रत्येक व्यक्ति को सामंजस्यपूर्ण ढंग से बिठाना।

पर्यवेक्षण के प्रकार

(i) एकल और बहुल : जब किसी संगठन के किसी सदस्य का पर्यवेक्षण केवल एक पर्यवेक्षक करें तो इसे एकल पर्यवेक्षण कहते हैं। इसके विपरीत, जब किसी संगठन के किसी सदस्य का कई पर्यवेक्षक पर्यवेक्षण करते हैं तो इसे बहुल पर्यवेक्षण या बहुपर्यवेक्षण कहते हैं। पहला हेनरी फेयाल द्वारा प्रतिपादित निर्देशों में एकता के सिद्धांत पर आधारित है जबकि दूसरा एफ. डब्ल्यू. टेलर द्वारा समर्थित कार्यात्मक फोरमैनशिप के सिद्धांत पर आधारित है।

(ii) रेखा और कार्यात्मक : रेखा पर्यवेक्षण का अर्थ है– निर्देश की रेखा में लोगों द्वारा प्रयोग किया जाने वाला नियंत्रण। यह स्वभाव से प्रत्यक्ष और निर्देशात्मक होता है और इसमें निरंकुश निर्देशन शामिल होता है।

इसके विपरीत, कार्यात्मक पर्यवेक्षण का अर्थ है– ओ एंड एम (ऑर्गेनाइजेशन एंड मैथड्स) अर्थात व्यक्तियों, ऑडिटरों इत्यादि जैसे विषयवस्तु विशेषज्ञों द्वारा प्रयोग में लाया जाने वाला नियंत्रण। एक स्टाफ कार्य होने के कारण यह प्रभावित करता है बजाय निर्देशित करने के। इस प्रकार, यह स्वभाव से परामर्शीय है।

(iii) सारभूत और तकनीकी : मिलेट ने पर्यवेक्षण को सारभूत और तकनीकी पर्यवेक्षण में वर्गीकृत किया। पहले का सम्बन्ध एक एजेंसी द्वारा किए जाने वाले वास्तविक कार्य से होता है, जबकि दूसरे का सरोकार काम करने में इस्तेमाल की गई पद्धतियों से है।

पर्यवेक्षण की विधियां

पर्यवेक्षण निम्नलिखित विधियों द्वारा किया जा सकता है :

1. व्यक्तिगत सम्पर्क : पर्यवेक्षक व्यक्तिगत रूप से कर्मचारियों के काम का निरीक्षण करते हैं, समस्याओं का विश्लेषण करते हैं, उन्हें ठीक करते हैं और उन्हें काम के बेहतर तरीके बताते हैं।

2. पत्र – व्यवहार : पर्यवेक्षक पत्राचार के माध्यम से कर्मचारियों से संपर्क करते हैं। वे लिखित में निर्देश भेजते हैं और उनसे लिखित जवाब प्राप्त करते हैं।

पर्यवेक्षण का महत्व

टिप्पणी

पर्यवेक्षक श्रमिकों और प्रबंधन के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में कार्य करता है। पर्यवेक्षक न केवल श्रमिकों को प्रबंधन के उद्देश्य व विचारों की व्याख्या करता है बल्कि प्रबंधन को श्रमिकों की समस्याओं व शिकायतों की भी व्याख्या करता है।

निर्देश जारी करना : पर्यवेक्षक यह सुनिश्चित करता है कि सभी निर्देशों को प्रत्येक कर्मचारी को सूचित किया जाए। शीर्ष–स्तर और मध्य स्तर, सभी निर्देशों की योजना बनाते हैं लेकिन निर्देश केवल पर्यवेक्षी स्तर प्रबंधन द्वारा जारी किए जाते हैं।

नियंत्रण की सुविधा : नियंत्रण का अर्थ है वास्तविक और नियोजित आउटपुट के बीच मेल। जब भी श्रमिक निरंतर पर्यवेक्षण या निगरानी में होते हैं तो चरण दर चरण जांच रखी जाती है और यदि वे योजना से भटक रहे हैं तो पर्यवेक्षक द्वारा तत्काल निर्देश जारी किए जाते हैं। इस निरंतर निगरानी के द्वारा, पर्यवेक्षण कार्य अधीनस्थों की गतिविधियों पर सख्त नियंत्रण सुनिश्चित करता है।

संसाधनों का इष्टतम उपयोग : यह कार्य कौशल विकसित करता है जो संसाधनों के इष्टतम उपयोग में मदद करता है। जब श्रमिकों की लगातार निगरानी या अवलोकन किया जाता है तो वे हमेशा संसाधनों का सर्वोत्तम संभव तरीके से उपयोग करते हैं जिससे न्यूनतम अपव्यय होता है। लेकिन अगर श्रमिकों पर कोई पर्यवेक्षण या जाँच नहीं है, तो उनके परिणामस्वरूप संसाधनों की बर्बादी हो सकती है।

अनुशासन : पर्यवेक्षक के सख्त पर्यवेक्षण और मार्गदर्शन कर्मचारियों और श्रमिकों को उनकी गतिविधियों में अधिक अनुशासित होने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। पर्यवेक्षक के मार्गदर्शन में, कार्यकर्ता एक निश्चित या सख्त समय–सारणी का पालन करते हैं और योजनाओं को सही दिशाओं में निष्पादित करते हैं।

प्रतिक्रिया : यह सुझाव, शिकायतों और शिकायतों के रूप में प्रतिक्रिया की सुविधा देता है। पर्यवेक्षक सीधे अधीनस्थों के साथ काम कर रहे हैं। इसलिए वे अधीनस्थों की प्रतिक्रिया देने के लिए सबसे अच्छे व्यक्ति हैं। वे प्रत्येक कार्यकर्ता के काम की रिपोर्ट करते हैं जो कर्मचारियों के लिए प्रदर्शन मूल्यांकन का आधार बन जाता है। पर्यवेक्षक अधीनस्थों को शिकायतों, शिकायतों और अधीनस्थों की समस्याओं के बारे में प्रतिक्रिया देता है।

सामूहिक एकता बनाए रखना : पर्यवेक्षक अपने अधीन काम करने वाले श्रमिकों के बीच समूहगत एकता बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वह अपने विवादों को हल करके श्रमिकों के बीच सामंजस्य बनाए रखता है।

प्रेरणा में सुधार : कर्मचारियों के प्रेरणा स्तर में सुधार के लिए पर्यवेक्षक के साथ संबंध एक बहुत अच्छा प्रोत्साहन है। कर्मचारियों का मार्गदर्शन करते हुए पर्यवेक्षक अधीनस्थों को उनकी सर्वोत्तम क्षमता के लिए प्रोत्साहित करते हैं।

संचार में सुधार : पर्यवेक्षक सभी अधीनस्थों को निर्देश और आदेश जारी करते हैं और सुनिश्चित करते हैं कि ये निर्देश और आदेश सभी सदस्यों के लिए स्पष्ट

हैं। लिंकिंग पिन या मध्यस्थ की भूमिका निभाते हुए पर्यवेक्षक वरिष्ठों और अधीनस्थों के बीच संचार की खाई को कम करने की कोशिश करता है क्योंकि वह अधीनस्थों की शिकायतों और समस्याओं पर वरिष्ठ अधिकारियों और अधीनस्थों को निर्देश देता है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

11. "नियंत्रण किसी लक्ष्य या लक्ष्यों के समूह की ओर निर्देशित क्रियाओं के मध्य संतुलन बनाए रखना है।" यह कथन किस विद्वान का है?

    (क) फिलिप कोटलर (ख) गैसी

    (ग) मेरी कुशिंग नाइल्स (घ) बिली ई. गोटज

12. पर्यवेक्षण का अर्थ निमन में से क्या है?

    (क) निर्देश देना (ख) मार्गदर्शन करना

    (ग) निगरानी करना (घ) उपर्युक्त सभी

3.8 प्रबंधन में मानवीय संबंध : एल्टन मेयो

मानव संबंधात्मक उपागम को मानवीय या सामाजिक मनोवैज्ञानिक उपागम भी कहा जाता है। अमेरिकी समाजशास्त्री जॉर्ज एल्टन मेयो ने इसके आधारभूत नियमों का प्रतिपादन किया। मेयो ने जो प्रयोग किए वे हॉथोर्न प्रयोग के नाम से प्रसिद्ध हुए। मेयो ने इस उपागम को एक डॉक्टरी विधि कहा है। इन प्रयोगों के कारण यांत्रिक उपागम को धक्का लगा और उसकी लोकप्रियता उत्तरोत्तर कम होती गई। अनेक प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया गया कि प्रशासन में मनुष्य की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण होती है। उसकी स्थिति मशीन के एक पुर्जे के समान नहीं हो सकती है। व्यक्ति एक संवेदनशील प्राणी होता है। उसकी अपनी इच्छाएं और अनिच्छाएं होती हैं। मनुष्य सामाजिक प्रभावों से घिरा होता है और काम करते समय उसका व्यवहार बहुत हद तक उनसे प्रभावित रहता है। इससे स्पष्ट है कि यांत्रिक उपागम प्रशासन के अध्ययन में अधिक सहायक नहीं हो सकता है। इस उद्देश्य से ही मानवीय उपागम को लोकप्रिय बनाया गया। इस उपागम को विस्तार से समझने के लिए इसके प्रति किए गए प्रयोगों के निम्नलिखित उदाहरणों को समझना आवश्यक है।

बहुचर्चित हॉथोर्न प्रयोग शिकागो नगर के निकट बसे हॉथोर्न नामक नगर में स्थित वेस्टर्न इलेक्ट्रॉनिक कंपनी में किए गए। इन प्रयोगों का श्रेय हारवर्ड कॉमर्स स्कूल के एल्टन मेयो को दिया जाता है जिन्होंने अपने सहयोगियों के सहयोग से इन प्रयोगों को सफल बनाया। इन प्रयोगों की चर्चा सन् 1939 में प्रकाशित एफ. जे. रॉथलिस्बर्जर एवं विलियम जे. डिक्स्टन की पुस्तक में मिलती है।

पहला प्रयोग टेलीफोन के स्विच बनाने वाले मजदूरों के बीच किया गया। स्विच बनाने वाली कंपनी के प्रबंधकों ने इस विश्वास के साथ कि उत्पादन अधिक होगा, प्रति स्विच की दर से मजदूरी तय कर ली थी। प्रबंधकों की यह मान्यता थी कि अधिक पैसे कमाने के लोभ में मजदूर अधिक काम करेंगे और उत्पादन अधिक होगा। प्रबंधकों की यह मान्यता गलत सिद्ध हो गई यह देखा गया कि मजदूर अपनी जरूरत भर ही काम करते

हैं। मजदूरों ने यह सोचा कि जल्दी काम करने से उनकी छंटनी जल्दी हो सकती है और उनकी मजदूरी में भी कमी की जा सकती है। ऐसे मजदूरों ने अपना सुसंगठित सामाजिक समूह कायम कर लिया और उसके निर्णयानुसार ही कार्य करने लगे। इस संगठित समूह का मानना था कि अधिक काम करने वालों, कम काम करने वालों तथा सहयोगियों की कमजोरियों की सूचना देने वालों को हतोत्साहित किया जाता है। इस प्रयोग से टेलर का यह मत गलत सिद्ध हो गया कि अधिक परिश्रम के चलते प्रबंधकों एवं मजदूरों के पारस्परिक हितों में वृद्धि होती है।

टिप्पणी

अध्ययनकर्ताओं ने एक और प्रयोग किया। यह प्रयोग महिला श्रमिकों पर किया गया। अध्ययन की दृष्टि से महिला श्रमिकों को अलग कमरे में काम करने दिया गया। उत्पादन पर भौतिक स्थितियों के प्रभाव के आंकलन के लिए कमरे में काम करने की भौतिक परिस्थितियों में भी परिवर्तन किया गया। कमरे में रोशनी की व्यवस्था कभी पर्याप्त कर दी जाती थी और कभी कम। काम करने के दौरान विश्राम की अवस्था में भी परिवर्तन कर दिया जाता था। कभी विश्राम की अवधि बढ़ा दी जाती थी तो कभी आराम दिया ही नहीं जाता था। इस प्रयोग से उत्पादन में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई इससे अध्ययनकर्ताओं ने यह निष्कर्ष निकाला कि भौतिक वातावरण और कार्यक्षमता में कोई स्पष्ट एवं निश्चित सह–संबंध नहीं होते। इससे यह भी प्रमाणित हुआ कि कार्यक्षमता बहुत हद तक मजदूरों के काम के प्रति दृष्टिकोण पर निर्भर होती है। अध्ययनकर्ताओं का पहला प्रयोग नकारात्मक माना जाएगा और दूसरा सकारात्मक। दूसरे प्रयोग में महिलाओं को यह आभास हुआ कि अन्य मजदूरों से अलग कर उन्हें महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसलिए उन्होंने प्रबंधकों के साथ सहयोग कर अपनी अधिकतम कार्यक्षमता का प्रदर्शन किया।

इन प्रयोगों से निष्कर्ष निकला कि संगठन एक सामाजिक प्रणाली है जिसमें उत्पादकता काम करने वालों की सेवा की दशाओं पर निर्भर करती है। श्रमिक भी अंततः मनुष्य ही हैं, संगठन में उनकी उपेक्षा करना अनुचित है। संगठन की मानव संबंधी विचारधारा का सार है कि संगठनात्मक व्यवहार काफी जटिल होता है और संगठनात्मक समस्याओं के विश्लेषण एवं समाधान के लिए बहुपक्षीय प्रकृति का ज्ञान परमावश्यक है। संगठन संबंधी समस्याओं का समाधान करने के लिए मनुष्य के स्वभाव के साथ–साथ अनौपचारिक संगठनों का अध्ययन भी किया जाना चाहिए।

यांत्रिक उपागम और मानवीय उपागम के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट होती है कि यांत्रिक उपागम औपचारिक प्रशासन का समर्थक है, जबकि मानवीय उपागम अनौपचारिक प्रशासन का समर्थन करता है। औपचारिक प्रशासन में मानवीय मूल्यों की उपेक्षा की जाती है। इसके विपरीत, अनौपचारिक प्रशासन मानवीय और भावात्मक होता है। मानवीय उपागम के द्वारा मनुष्य की मानवीय प्ररेणाओं और अनौपचारिक कार्यपद्धति पर विशेष बल दिया जाता है। ह्वाइट का कहना सही है कि ''कार्य संबंधों का समूह है जो दीर्घकाल तक एक साथ काम करने के कारण विकसित हो जाते हैं।''

रॉथलिस बर्जर का कहना भी सही है कि ''हम अधिकांश समस्याओं का समाधान गैर मानवीय तथ्यों और आंकड़ों के संदर्भ में करते हैं। मेरा यह सामान्य मत है कि

टिप्पणी

मानवीय समस्याओं का समाधान मानवीय तथ्यों के तहत होना चाहिए। हमें यह देख कर ही मानवीय समस्या को समझना चाहिए न कि अन्य प्रकार से। मानवीय समस्या के मानवीय समाधान के लिए मानवीय तथ्यों या आंकड़ों तथा मानवीय उपकरणों की आवश्यकता होती है।''

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही उपागमों के अपने–अपने गुण और दोष हैं। यही कारण है कि लोक प्रशासन में अन्य लोकप्रिय उपागमों का प्रादुर्भाव हुआ है। फिर भी कहा जा सकता है कि यांत्रिक उपागम की तुलना में मानवीय या सामाजिक मनोवैज्ञानिक उपागम अधिक उपयुक्त हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

13. प्रबंधन में मानवीय संबंध के आधारभूत नियमों का प्रतिपादन किसने किया?

(क) एल्टन मेयो (ख) एडम्स

(ग) विक्टर ब्रूम (घ) हर्सबर्ग

14. हॉथोर्न प्रयोग का श्रेय निम्न में से किसको दिया गया है?

(क) एडम्स (ख) पीटरसन

(ग) एल्टन मेयो (घ) चेस्टर बर्नार्ड

3.9 सिविल सेवा की भूमिका एवं महत्व

भारत में शासन की संसदीय व्यवस्था कार्यरत है जिसमें प्रधानमन्त्री अपने अपने मन्त्रीमण्डल की सहायता से सरकार का संचालन करते हैं। किन्तु देश के प्रशासन में संघ और राज्यों की लोक सेवाओं का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि प्रशासन हेतु नीतियों का निर्धारण मन्त्रीगण अथवा मन्त्रीमण्डल द्वारा किया जाता है किन्तु इन नीतियों का क्रियान्वयन लोक सेवाओं द्वारा किया जाता है।

कार्यपालिका में राजनीतिक कार्यकारी (मंत्रीगण एवं प्रधानमन्त्री) तथा गैर राजनैतिक स्थायी कार्यकारी (लोक सेवा एवं अधिकारी तन्त्र) आते हैं। राजनैतिक कार्यकारी नीति निर्माण का कार्य करते हैं तथा यह सुनिश्चित करते हैं कि सरकार के सभी विभागों द्वारा सभी विधियों को ठीक प्रकार से लागू किया गया है। जबकि स्थायी कार्यकारी दिन प्रतिदिन का प्रशासन तथा सरकारी विभागों के कार्य चलाते हैं। ये राजनैतिक कार्यकारिणी के पर्यवेक्षण तथा नियंत्रण के अन्तर्गत कार्य करते हैं। लोक सेवक प्रत्येक नीतिगत मामले तथा व्यक्तिगत प्रस्तावों का निष्पक्ष व स्वतन्त्र रूप से विश्लेषण करते हैं तथा तदानुसार राजनैतिक कार्यकारिणी को अपना अभिमत प्रस्तुत करते हैं। चूंकि राजनैतिक कार्यकारिणी प्रत्येक पांच वर्ष में परिवर्तित हो जाती है अतएव प्रशासन में निरन्तरता बनाए रखने के लिए लोक सेवकों के एक स्वतन्त्र एवं स्थायी निकाय की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए लोक सेवकों को संवैधानिक संरक्षण प्रदान किया गया है जिससे एक सेवा विधिशास्त्र का आविर्भाव हुआ है जो अत्यधिक कठिन है। इसका मुख्य कारण है कि यह विधान, नियम, निदेश,

व्यवहार न्यायिक निर्णय, प्रशासनिक विधि के सिद्धान्त, संवैधानिक निर्णय, मूलाधिकार तथा नैसर्गिक न्याय जैसे जटिल विषयों से सम्बन्ध रखती है, किन्तु कल्याणकारी राज्य की पूर्ण स्थापना के लिए अत्यधिक संख्या में लोक सेवकों की नियुक्ति आवश्यक थी। ऐसी परिस्थितियों में सेवा विधिशास्त्र का उद्‌गम होना स्वाभाविक था। जो संविधान के एक स्तम्भ के रूप में उभर कर सामने आया है। स्वतन्त्रता के पश्चात समाज कल्याण और सामाजिक–आर्थिक न्याय के उद्‌देश्य को प्राप्त करने हेतु सरकार ने विभिन्न सामाजिक–आर्थिक विधान पारित किये तथा विभिन्न योजनाओं एवं परियोजनाओं को अन्तिम रूप प्रदान किया जिनका क्रियान्वयन किया जाना लोक सेवा के अभाव में सम्भव नहीं था।

टिप्पणी

लोक सेवा, नियुक्ति प्राधिकारियों से मुक्त तथा पदानुक्रमिक रूप से व्यवस्थित तथा नियमों के समूह व सेवा की शर्तों द्वारा शासित, प्रस्तावित नीतियों का विश्लेषण करने की अपनी प्रशासनिक क्षमताओं का प्रयोग करके अपने राजनैतिक आकाओं की सेवा के लिए नियुक्त तथा क्रियान्वयन की प्रणालियों तथा सम्भावित कठिनाईयों के बारे में उनको सलाह देने का एक प्रशासनिक संगठन है। किन्तु वास्तविक रूप में, नीति निर्माण में लोक सेवक औपचारिक प्रशासनिक संगठन है। किन्तु वास्तविक रूप में, नीति निर्माण में लोक सेवक और औपचारिक रूप से दशाये गये अपने कर्त्तव्यों की तुलना में बहुत अधिक शक्ति प्रयोग करते हैं। भारत में स्वतन्त्रता पूर्व से ही, लोक सेवा, जिसकी स्थापना अपने विदेशी आकाओं की सेवार्थ की गयी थी, प्रशासन में एक अति आवश्यक भूमिका निभाती रही है। जिसका मुख्य उद्देश्य न्याय व्यवस्था बनाए रखना तथा राजस्व संग्रहित करना था। किन्तु स्वतन्त्रता उपरान्त लोक सेवा की भूमिका, अपेक्षाएं तथा वास्तविक प्रदर्शन बहुत अधिक सीमा तक परिवर्तित हो गया है क्योंकि राष्ट्र अब कल्याणकारी राज्य बन चुका था अतएव, उसको सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन के उपकरण के रूप में परिवर्तित किया जाना था तथा नये कर्त्तव्यों और कार्यों को प्रारम्भ किया जाना था तथा एक कल्याणकारी राज्य के तन्त्र के रूप में स्थापित करना था। स्वतन्त्रता के उपरान्त पर्यावरणात्मक परिवर्तन के बाद भी, ब्रिटिश मॉडल ने लोक सेवा पर अपना प्रभाव जारी रखा।

''भारत में आदर्श प्रशासक को अभी भी एक प्रतिभाशाली आम आदमी के रूप में देखा जाता है। जोकि सेवा के अन्तर्गत बारम्बार कार्य बदलते हुए अपने सरकारी तन्त्र के ज्ञान व अनुभव के प्रकाश में विषय–वस्तु पर ध्यान दिये बिना, किसी समस्या पर व्यवहारिक दृष्टिकोण अपना सकता है।'' (सिविल सेवा पर फुलटन कमेटी की यू.के. रिपोर्ट, लंडनः एचएमएसओ, 1968, वल्यूम 1, पृ. 11.)

भारत में एक व्यापक अवधारणा है कि लोक सेवा की भूमिका नीति के क्रियान्वयन तक ही सीमित नहीं है बल्कि लोक सेवा नीति निर्माण में भी सक्रिय रूप से कार्यरत है। लोक सेवा स्पष्ट रूप से आंकड़ों का संग्रहण, विश्लेषण व विनिर्माण करके नीति निर्माण में एक अति महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है क्योंकि इसका प्रयोग राजनैतिक कार्यकारिणी द्वारा नीति निर्धारण में किया जा सकता है।

लोक सेवा की भूमिका का महत्त्व अन्तिम परिणाम से सम्बन्ध रखता है ताकि केवल माध्यम से। अब यह विस्तृत रूप से स्वीकार्य है कि राजनीति व प्रशासन के मध्य

टिप्पणी

का पुराना विरोधाभास कृत्रिम था तथा उच्चतर लोक सेवक अपने प्रशासनिक ज्ञान, कार्य–सम्पादन तथा राजनैतिक शक्ति से निकटता के कारण नीति निर्माण पर बहुत भूमिकाएं निभाती है। आर.बी. जैन ने अभिकथित किया है कि, ''अपने कार्यान्वयन के निश्चित प्रक्रम में लोक सेवा उन कार्यों का निष्पादन करती है जिनको सनिरिक्षण कार्यों के रूप में जाना जाता है, जबकि अन्य प्रक्रमों में यण्ह विकृतियों के यथावत स्रोत को खोजने का निदानिक कार्य है। निश्चित अवस्थाओं में, यह उन कार्यों को निष्पादित करते हैं जिनको एंटीना कार्य है। निश्चित अवस्थाओं में, यह उन कार्यों को निष्पादित करते हैं जिनको एंटीना कार्य भी कहा जा सकता है यानि उन उदघटनाओं का ध्यान रखना जिनकी सरकार को किसी निश्चित घटनाक्रम में आवश्यकता पड़ सकती है तथा अन्य अवस्थाओं में, नीतियों का कार्य निष्पादन तथा नीति विकल्प के लिए सम्भावित उन्मुखीकरण प्रदान कर सकते हैं।'' (आर.बी. जैन, पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया : 21वीं सेन्च्यूरी चैलेन्जिग फॉर गुड गवर्नेन्स नयी दिल्ली : दीप एण्ड दीप, 2001, पृ. 159)

नीति प्रस्तावों के निर्धारण में, लोक सेवा कार्यकारिणी की सहायता करती है। लोक सेवकों के पास लम्बा अनुभव तथा निपुणता होती है जिसका प्रयोग प्रभावी ढंग से नीति का प्रारूप तैयार करने में सहायता करने तथा नीतियों के क्रियान्वयन करने में किया जाता है। एक वरिष्ठ आई.ए.एस. अधिकारी ने कहा है कि लोक सेवक का मुख्य कर्त्तव्य मन्त्री के समक्ष निर्णय हेतु स्पष्ट विकल्प प्रस्तुत करना है। यह कार्य अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण या वरियताओं से प्रभावित हुए बिना निष्पक्षता के उच्चतम मानकों का अनुसरण करके किया जाना चाहिए। लोक सेवकों की नीति निर्माण तथा क्रियान्वयन में महत्त्वपूर्ण कार्य के रूप में व्याख्यित किया गया है। नीति निर्माण व क्रियान्वयन प्रशासन या सरकार के केवल एक कार्य को इंगित नहीं करते वरन् यह कार्यवाहियों के एक अनुक्रम का समर्थन करता है कदाचित एक लम्बे समय के अन्तराल में। नीतिगत निर्णय प्रशासनिक कार्यों को दिशा बोध कराते हैं। प्रशासन में नीति अति आवश्यक है जोकि राजनैतिक तथा सामाजिक उद्देश्यों को ठोस आकार प्रदान करता है। आधुनिक शासन में, लोक सेवा प्रशासन के साथ समानावस्था बनाती है तथा व्यवहारिक प्रयोजनों के लिए, यह कोई गलत समीकरण नहीं है। परम्परागत रूप से, प्रशासन के कार्य को सार्वजनिक नीतियों का कार्यान्वयन ही मान लिया गया है। नीति के प्रति लोक सेवकों की प्रतिबद्धता का स्तर नीति की सफलता या असफलता के लिए उत्तरदायी होता है : राजनैतिक मूल्य व विचारधाराएं नीति की ओर लोक सेवक की प्रतिबद्धता को बाधित कर सकता है तथा नीति निर्माण के एक महत्त्वपूर्ण घटक के रूप में कार्य कर सकता है। आधुनिक लोक प्रशासन सार्वजनिक नीति निर्माण के दायरे में राजनैतिक व प्रशासनिक दोनों घटकों के संयुक्त प्रयास को पहचानता है। कार्ल फ्रेडरिक ने अभिलिखित किया है कि : ''लोकनीति, सीधे तौर पर एक सतत् प्रक्रिया है, जिसका निर्धारण उसके निष्पादन से अविभाज्य है। राजनीति और प्रशासन निर्धारण निष्पादन दोनों में सतत् भूमिका निभाते हैं, यद्यपि नीति निर्धारण में सम्भाव्य रूप से राजनीति अधिक है तथा उसके निष्पादन में प्रशासन अधिक है। जहां तक कि विशेष व्यक्ति या समूह किसी निश्चित क्षेत्र में शक्ति या नियन्त्रण पा रहे हैं या खो रहे हैं तो यह राजनीति है, जहां तक लोकहित के नाम पर कार्यवाही प्रस्तावित करने का प्राधिकृत कार्य है, यह प्रशासन है।''

टिप्पणी

एक दायित्वपूर्ण प्रशासन से ''लोकहित में'' परिणाम निकालने के लिए अपनी शक्ति, संसाधनों व निपुणता का प्रयोग करने की अपेक्षा की जाती है। किसी प्रशासक का विकास नीतियां बनाने में तथा लोक हित परिभाषित करने में पृथक दृष्टिकोण हो सकता है। राजनैतिक आकाओं के कार्यक्रमों के निष्पादन के प्रक्रम में लगातार हस्तक्षेप तथा अतार्किक रूप से प्रक्रिया को प्रभावित करने के प्रयास से प्रशासन अवसर असहज हो जाता है। जनता के प्रतिनिधि होने के नाते राजनेता यह समझते हैं कि केवल वही जनहित से वास्ता रखते हैं। राजनैतिक कार्यकारिणी के प्रशासनिक दायित्व जनहित की धारणा से बंधे हुए हैं जिनको कि प्रशासकों द्वारा अंसगठित नागरिकों के विश्वास के एक प्रकार के रूप में संरक्षित किया जाना होता है। आधुनिक लोकतान्त्रिक राज्य में प्रशासनिक दायित्व दो मापदण्डों पर निर्भर करता है : तकनीकी ज्ञान एवं लौकिक समर्थन। स्पष्ट रूप से कुछ जटिल समस्याओं में तकनीकी समाधान की आवश्यकता होती है कि जोकि स्वत राजनैतिक दायित्वों की गारन्टी नहीं करती है। लौकिक समर्थन तक विधायी संचार, सार्वजनिक जनमत सर्वेक्षणों तथा प्रभावित समूहों की प्रतिक्रियाओं के माध्यम से पहुंचा जाना चाहिए। अतएव नागरिक प्रशासनिक शक्ति का परम स्रोत है क्योंकि वह ही सार्वजनिक लक्ष्यों व सेवाओं का तर्कसंगत उपभोक्ता है। लोक सेवा नागरिक को अपने कार्य अभिव्यक्त करने से बाधित करती है तथा सार्वजनिक अधिमान को सीमित करती है।

एक अन्य प्रमुख विद्वान मोरस्टीन मार्क्स मानते हैं कि यदि लोक सेवा को जनहित में कार्य करना है तो उसको अपनी, व्यक्तिगत व अपनी सामाजिक, दोनों अवस्थाओं की सचेतना द्वारा व्यवसाी में समा जाना चाहिए, किन्तु साथ ही साथ उसको यह नहीं सोचना चाहिए कि एक तटस्थ लोक सेवा कूप मंढूक की तरह राजनैतिक प्रक्रिया के केन्द्र बिन्दू से निकाली हुई तथा एकाकीकृत जैसी प्रतीत होती है।

लोक सेवा जिसका नीति कार्यान्वयन में एकाधिकार है। उसका नीति निर्माण प्रक्रिया में भी अच्छा प्रभाव है। विनियमों तथा नियामक संहिताओं को तैयार करना तथा सरकार की नीतियों का विस्तार करना लोक सेवकों का कार्य है। नीति लोक सेवकों द्वारा निर्णय का मामला है तथा नीति की प्रभावशीलता लोक सेवकों की परिणामतः भावना व इच्छा है। नीति व प्रशासन एक दूसरे के समकक्ष हैं। लुई ब्राउनलों ने यह अन्तर रेखांकित किया है कि राजनीति तथा प्रशासन अन्तर है व सदैव रहेगा, यह बात महत्त्वहीन है कि लोकतान्त्रिक समाज में वह एक दूसरे से निकट रूप से सम्बन्धित है। टी.एन. चतुर्वेदी ने टिप्पणी की है कि भारत में लोक सेवा से अनेक प्रकार की भूमिकाएं निभाने की अपेक्षा की जाती है। लोक सेवकों की अवधारित भूमिका व अपेक्षित भूमिका में मिलान की आवश्यकता होती है जिससे कि उनके द्वारा निष्पादित भूमिका अधिकतम हो तथा समुदाय की आकस्मिक आवश्यकताओं को संतुष्ट कर सके। लोक सेवा संविधान में अभिव्यक्त लोगों की इच्छाओं तथा आकांक्षाओं के कार्यान्वयन के लिए एक साधन है। सार्वजनिक नीति निर्माण सार्वजनिक रूप से निश्चित सामाजिक मामलों के सामान्य दिशा–निर्देश का निर्धारण है।

लोक सेवा देश के सामाजिक–आर्थिक विकास के लिए उत्तरदायी एक अभिकरण बन गयी है। लोक सेवकों को, लोक सेवा के आदर्शों तथा विकास के हमारे लक्ष्य

सामंजस्यपूर्ण नई प्रबन्धन तकनीकों को समझना होता है, नवीनतम कौशल को सीखना होता है तथा नई अवस्थाओं को समझना होता है।

टिप्पणी

सार्वजनिक नीति निर्माण बहु–संस्थागत वर्ग की चिन्ता का विषय है। पॉल एच. एप्पल बॉय ने सरोकार के साथ राजनीति तथा प्रशासन के विरोधाभास का उल्लेख किया। उन्होंने कहा कि सार्वजनिक नीति निर्माण को समर्थ–सार्वजनिक लोक सेवा में सरकार की सभी शाखाओं द्वारा साझा किया गया था जहां राजनैतिक मूल्यांकन पर निर्भर होकर निर्णय अन्तिम रूप से लिया गया था।

भारत में लोक सेवा के लिए चुनौती राजनैतिक नेतृत्व की सर्वोच्चता को स्वीकार करना तथा राजनैतिक व्यवस्था की मांग तथा आवश्यकता के साथ समायोजन करना है। लोकसेवक प्रशासनिक नियमों, विनियमों तथा प्रक्रिया का पालन करते हैं। यह उनके सम्बन्धों में तनाव व संघर्ष तथा संचार में कठिनाईयां उत्पन्न करता है तथा उनको राष्ट्र निर्माण तथा व्यवस्था बनाये रखने की गतिविधियों में सहयोग करने की अनुमति नहीं देता। यह तथ्यगत है कि जहां राजनैतिक नेतृत्व कमजोर होता है वहां प्रशासन के कुछ क्षेत्र लोकतान्त्रिक राजनैतिक संस्था के प्रभाव को कम करके शक्ति के लोक सेवा के अधीन केन्द्र की आकस्मिकता की ओर प्रवृत्त होना दर्शाते हैं। ऐसे क्षेत्रों में, लोक सेवा अपनी सत्ता को बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं तथा ऐसी नीतियों का प्रतिरोध करते हैं जिनसे उनकी सत्ता कम होने की सम्भावना है।

कुछ कमियों के अलावा, लोक सेवा समिति नीति निर्माण करने तथा स्पष्ट व निष्पक्ष सलाह देकर अपने राजनैतिक आकाओं सहायता करने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। लोक सेवा नीति निर्माण में दो प्रकार से प्रभावित करती है। प्रथमतया, लोक सेवा घोषित नीति को चुनाव तथा निर्णय के प्रयोग के माध्यम से तथा उन्हें प्रशासित करके आकार प्रदान कर सकता है तथा द्वितीया, लोक सेवा अपनी सुझावात्मक, विश्लेषणात्मक तथा वर्णनात्मक भूमिकाओं के माध्यम से नीति निर्धारण से अभिनियुक्त हो सकते हैं।

लोक सेवकों के कार्य (Functions of Civil Servants)–लोक सेवकों के कार्यक्षेत्र में निम्नलिखित मुख्य कार्य आते हैं।

(1) तटस्थता की संकल्पना (The concept of Neutrality)

(2) नीति निर्माण में लोक सेवकों की सलाहकार की भूमिका (Advisory role of Civil Servants)

(3) प्रत्यायोजित / प्रदत्त कार्यों का कार्यान्वयन (discharge of delegated functions)

(1) तटस्थता की संकल्पना– लोक सेवकों को 'राजनैतिक तटस्थता' अथवा 'योजना की तटस्थता' के साथ भ्रमित नहीं होना चाहिए। नीति निर्धारण के समय लोक सेवकों की भूमिका स्वतन्त्र एवं स्पष्ट सलाह उपलब्ध कराने की होती है जिसमें राजनैतिक विचारधारा का रंग नहीं होना चाहिए। एक बार निर्वाचित सरकार द्वारा किसी नीति या योजना का अनुमोदन कर दिया गया है तो यह लोक सेवकों का कर्त्तव्य होता है कि इनका कार्यान्वयन निष्ठापूर्ण तथा उत्साहपूर्ण रूप से किया जाए।

टिप्पणी

इस कार्य को सही भावना से न किया जाना दुर्व्यवहार की श्रेणी में आता है जिस पर उचित रोक लगायी जा सकती है। लोक सेवा आयोग का मानना है कि राजनैतिक तटस्था तथा लोक सेवकों की निष्पक्षता को अनुरक्षित किये जाने की आवश्यकता है। जिसका भार समान रूप से राजनैतिक कार्यकारिणी तथा लोक सेवकों पर है।

(2) **नीति निर्माण में लोक सेवकों की सलाहकार की भूमिका**–राजनैतिक कार्यकारिणी को नीतिगत सलाह उपलब्ध कराना लोक सेवकों का सबसे महत्त्वपूर्ण ''विभागीय कार्य'' है। नीति निर्माण मन्त्री का मौलिक कर्त्तव्य है। निर्वाचित सरकार द्वारा नीति के अनुमोदन के पश्चात उस नीति का सही भावना से कार्यान्वयन किया जाना लोक सेवकों का कर्त्तव्य है चाहे वह उससे सहमत हो अथवा न हो। यह अप्रत्याशित है कि कई अवसर पर वरिष्ठ लोक सेवक दैनिक प्रशासनिक निर्णय–निर्माण में फंस जाते हैं तथा अपने कार्यों के इस निर्णायक पहलू पर उचित रूप से योगदान करने में असमर्थ हो जाते हैं।

यदि निर्धारित की गयी नीति के बारे में लोक सेवक को यह विदित होता है कि यह लोक हित के विरुद्ध है तो यह उसका दायित्व होता कि ऐसी नीति के विपरीत कार्यान्वयन के लिए राजनैतिक कार्यकारिणी को तैयार करे। यद्यपि, यदि ऐसी सलाह से राजनैतिक कार्यकारिणी सहमत नहीं होती है तो अपने विचारों को स्पष्ट रूप से अभिलेखों में अभिलिखित करने के अतिरिक्त लोक सेवक अधिक कुछ नहीं कर सकता। यह अन्य संस्थागत तन्त्रों जैसे कि संसद न्यायपालिका तथा अन्तिम यप से निर्वाचक मण्डल पर होगा कि वह राजनैतिक कार्यकारिणी से खराब नीति का लेखाजोखा मांगे।

(3) **प्रत्यायोजित/प्रदत्त कार्यों का कार्यान्वयन**–किसी भी लोकतन्त्र में प्रशासन सम्बन्धी सभी उद्देश्यों के लिए अन्तिम कार्यकारी अधिकारिता राजनैतिक कार्यकारिणी की होती है, जोकि संसद के माध्यम से जनसाधारण के प्रति जवाबदेह होते हैं। यद्यपि किसी बड़े संगठन की तरह सरकार भी, विभिन्न स्तरों पर एवं विभिन्न क्षेत्रों में, पूर्व निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए पदाधिकारियों/कार्यकर्ताओं के पदानुक्रम के माध्यम से ही कार्य करती है। ऐसे में, सरकार में विभिन्न स्तरों पर लोक सेवकों को अधिकारिता तथा उत्तरदायित्व का प्रत्यायोजित किया जाना आवश्यक हो जाता है।

ऐसा प्रत्यायोजन आधीनस्थाता के सिद्धान्त (Principle of subsidiarity) के अनुरूप होता है जोकि सरकार को जनसाधारण के समीप लाने में सहायता करता है। अधिकारिता तथा उत्तरदायित्व का परस्पर होना दृढ़ प्रबन्धन के सिद्धान्तों (Principles of sound mangement) की एक आवश्यकता है।

लोक सेवकों हेतु सेवा सम्बन्धी नियम एवं शर्तें (Service Rules and Conditions for Civil Servants)

भारतीय संविधान में लोक सेवा से सम्बन्धित प्रत्येक मामले के बारे में विस्तृत रूप से कथ्य उपबन्ध नहीं किये गये हैं। संघ एवं राज्यों के लोक सेवकों की भर्ती व सेवा की शर्तों को समुचित विधान मण्डल (Legislature) द्वारा अधिनियमों के माध्यम से विनियमित किये जाने के लिए छोड़ दिया गया है।

टिप्पणी

संविधान के अनुच्छेद 309 के अधीन समुचित विधान मण्डल को लोक सेवाओं व पदों के लिए भर्ती करने व नियुक्त व्यक्तियों की सेवा की शर्तों को विनियमित (Regulate) करने की शक्ति प्रदान की गयी है परन्तु अनु. 309 के परन्तुक के अनुसार जब तक अनु. 309 के अधीन समुचित विधानमण्डल कोई उपबन्ध नहीं करता है तब तक इन विषयों पर कार्यपालिका नियम बना सकती है। भगवान दास बनाम हरियाणा राज्य, ए.आई.आर. 1987 एस.सी. 2049 में उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट किया है कि इन नियमों को संविधान के अनुच्छेद 39(घ) के अधीन समान कार्य के लिये समान वेतन की शर्तों को भी पूरा करना चाहिए। अनु. 0309 के अधीन बनाये गये नियमों के मूतलक्षी प्रभाव हो सकते हैं (देखें : वी.ए. बडेरा बनाम भारत संघ, ए.आई.आर. 1969 एस.सी. 118)। किन्तु विद्यमान विधि के अधीन अर्जित लाभ को भूतलक्षी प्रभाव से संशोधित करके नहीं लिया जा सकता अर्थात अनु. 309 के परन्तु के अधीन कार्यकारिणी को ऐसी शक्ति प्राप्त नहीं है जो निहित अधिकारों को प्रभावित या प्राप्त करने के लिए हो। उच्चतम न्यायालय ने टी.आर. कपूर बनाम हरियाणा राज्य, ए.आई.आर. 1987 एस.सी. 415 में आगे स्पष्ट किया है कि विनियमन, जो प्रोन्नति के अर्हताएं अधिकथित करते हैं, अनु. 14 व 16(1) के प्रावधानों की संतुष्टि अवश्य करें।

सत्यवीर सिंह बनाम भारत संघ, ए.आई.आर. 1966 एस.सी. 555 में अभिकथित तथा भारत संघ बनाम तुलसी राम पटेल, ए.आई.आर. 1985 एस.सी. 1416 में पुनःस्थापित उच्चतम न्यायालय की एक महत्त्वपूर्ण व्यवस्था है कि अनु. 309 के अनुपालन में बनाये गये अधिनियम या नियम अनु. 310(1) में अधिकथित प्रसादपर्यन्त के सिद्धान्त (Doctrime of Pleasure) के अध्यधीन हैं तथा जहां तक कि प्रसादपर्यन्त का सिद्धान्त संविधान के उपबन्धों द्वारा निर्बन्धित (restricted) किया गया है, उस सीमा को छोड़कर अनु. 309 के अधीन बनाये गये अधिनियम या नियमों द्वारा कोई निर्बन्धन नहीं लगाया जा सकता है। इसी प्रकार अनु. 311(2) के द्वितीय परन्तुक द्वारा प्रसादपर्यन्त के सिद्धान्त पर अधिरोपित निर्बन्धनों को जिन्हें शिथिल कर दिया गया है फिर से अनु. 309 के अधीन बनाए गये अधिनियम द्वारा प्रविष्ट नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि इस प्रकार वे प्रविष्ट किये जाते हैं तो उनकी असंवैधानिकता को दूर करने के लिए उन्हें निर्देशात्मक माना जायेगा। (प्रसादपर्यन्त का आशय राष्ट्रपति या राज्यपाल के अनुग्रह से है।)

- **लोक सेवकों की पदावधि–'प्रसाद पर्यन्त' सेवा का सिद्धान्त** (Tenure of Civil Servants—Doctrine of 'Pleasure' service)—अनुच्छेद–310 संविधान के भाग–14 का सबसे महत्त्वपूर्ण अनुच्छेद है जिसमें प्रसाद पर्यन्त सेवा का सिद्धान्त सन्निविष्ट है। अनु. 310 के खण्ड (i) के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति, जो रक्षा सेवा का या संघ की लोक सेवा का या अखिल भारतीय सेवा का सदस्य है या रक्षा से सम्बन्धित कोई पद या संघ के अधीन कोई सिविल पद धारण करता है, राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करता है तथा प्रत्येक व्यक्ति जो किसी राज्य की लोक सेवा का सदस्य है या राज्य या राज्य के अधीन कोई सिविल पद धारण करता है, उस राज्य के राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त पद धारण करता है। यह साधारण नियम है जो कि संविधान द्वारा अभिव्यक्त रूप से यथा

टिप्पणी

उपबन्धित के सिवाय लागू होता है। यह प्रसाद पर्यन्त का सिद्धान्त इंग्लैण्ड में भी मान्य है। इंग्लैण्ड से ही यह सिद्धान्त भारत में आया है। इंग्लैण्ड में क्राउन का सेवक क्राउन के प्रसाद पर्यन्त पद धारण करता है। सिविल सेवक की पदावधि विधि द्वारा अन्यथा उपबन्धित के सिवाय बिना कारण बनाये स्वेच्छा से किसी भी समय समाप्त की जा सकती है।

क्राउन अपने व सिविल सेवक के बीच किसी विशेष संविदा से आबद्ध नहीं होता है क्योंकि सिद्धान्त यह है कि देश के कल्याण के लिये क्राउन अपनी कार्यपालिका की कार्यवाही को किसी संविदा से निर्बन्धित नहीं कर सकता है।

प्रसादपर्यन्त का सिद्धान्त एक बहुत प्रभावशाली सिद्धान्त है क्योंकि यह सिद्धान्त लोकहित पर आधारित है। इसके आधार पर संघ व राज्य सरकारें, जब भी लोकहित में आवश्यक हो जाए, लोक सेवकों को अपने पद से हटाने के लिए सक्षम होती है। इसी सिद्धान्त के आधार पर संघ व राज्य सरकारें लोक सेवकों की सेवा की शर्तों को भी, जब भी कभी लोकहित में ऐसा करना आवश्यक हो, उनकी सहमति के बिना परिवर्तित कर सकती है।

इस विषय में संविधान न्यायपीठ (Constitutional) की ओर से न्यायमूर्ति बी. रामास्वामी ने रोशनलाल टण्डन बनाम भारत संघ, ए.आई.आर. 1967 एस.सी. 1889 के मामले में अभिकथित किया है कि सरकारी कर्मचारी की उपलब्धियाँ और उसकी सेवा के निर्बन्धन, अधिनियम या अधिनियम की क्षमता रखने वाले नियमों से शासित होते हैं जिन्हें सरकार कर्मचारी की सहमति के बिना परिवर्तित करने के लिए सक्षम होती है।

राष्ट्रपति या राज्यपाल के प्रसाद का प्रयोग उनमें से प्रत्येक द्वारा व्यक्तिगत रूप से किया जाना अपेक्षित नहीं है। ऐसे प्रसाद का प्रयोग राष्ट्रपति या राज्यपाल द्वारा मंत्रिपरिषद की सहायता व सलाह से किया जा सकता है।

- **प्रसाद पर्यन्त सेवा के सिद्धान्त पर निर्बन्धन (Restrictions on doctrine of 'Pleasure' Service)**—यद्यपि अनुच्छेद 310 में सन्निविष्ट प्रसादपर्यन्त का सिद्धान्त विधायी शक्ति के अध्यधीन नहीं है तथापि यह असीमित भी नहीं है। इसके प्रयोग पर संविधान निम्नलिखित निर्बन्धन अधिरोपित करता है—

  1. प्रसादपर्यन्त सेवा के सिद्धान्त के प्रयोग का एक निर्बन्धन तो अनुच्छेद 310 के खण्ड (2) में विद्यमान है। जिसके अनुसार कोई संविदा, जिसके अधीन कोई व्यक्ति जो रक्षा सेवा का या अखिल भारतीय सेवा का या संघ या राज्य की लोक सेवा का सदस्य नहीं है ऐसे किसी पद को धारण करने के लिए संविधान के अधीन उस दिशा में नियुक्त किया जाता है जिसमें यथास्थिति राष्ट्रपति या राज्यपाल विशेष अर्हताओं वाले किसी व्यक्ति की सेवाएं प्राप्त करने के लिए आवश्यक समझता है, यह उपबन्ध कर सकेगी कि यदि संविदा की अवधि की समाप्ति से पूर्व वह पद समाप्त कर दिया जाता है या ऐसे कारण से जो उसके अवचार से सम्बन्धित नहीं है, उससे यह पद रिक्त करने की अपेक्षा की जाती है तो उसे प्रतिकर दिया जाएगा।

टिप्पणी

2. राष्ट्रपति या राज्यपाल का प्रसाद मूल अधिकारों (Fundamental Rights) द्वारा नियन्त्रित है। इस सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय के अनेक विनिश्चय है जैसे–भारत संघ बनाम मोरे, ए.आई.आर. 1962 एस.सी. 630 तथा उड़ीसा राज्य बनाम धीरेन्द्रनाथ, ए.आई.आर. 1961 एस.सी. 1715।

3. मूल अधिकारों के अतिरिक्त संविधान के और भी उपबन्ध प्रसाद पर निर्बन्धन डालते हैं या उसके प्रयोग के लिए अपवाद स्थापित करते हैं। इस प्रकार के अभिव्यक्त उपबन्ध अनु. 124(3), 217(1), 148(1) तथा 324(5) में क्रमशः उच्चतम न्यायालय के न्यायधीशों, उच्च न्यायालय के न्यायधीशों, भारत के नियन्त्रक महालेखा परीक्षक तथा मुख्य निर्वाचन आयुक्त को उनके पदों से हटाने के सम्बन्ध में अथवा उनके पदों की शर्तों में अलाभकारी परिवर्तन करने के सम्बन्ध में हैं। ये पदाधिकारी प्रसाद के अधीन नहीं हैं।

4. इन अनुच्छेदों के अतिरिक्त अनु. 311 के उपबन्ध भी अनु. 310 में उल्लिखित प्रसाद के अपवादों की स्थापना करते हैं। अतएव जिन–जिन परिस्थितियों में अनु. 311 के उपबन्ध सुसंगत या लागू होते हैं उनमें प्रसाद इन उपबन्धों के अध्यधीन होता है।

- **लोक सेवकों का संवैधानिक संरक्षण (Constitutional Protection of Civil Servants)**–अनु. 311 प्रसाद पर पदच्युति के परमाधिकार पर दो मुख्य निर्बन्धन लगाता है जो लोक सेवकों के दृष्टिकोण से उनके दो महत्त्वपूर्ण संवैधानिक संरक्षण है–

  (1) किसी व्यक्ति को जो संघ की लोक सेवा का या अखिल भारतीय सेवा का या राज्य की लोक सेवा का सदस्य है अथवा संघ या राज्य के अधीन कोई सिविल पद धारण करता है उसकी नियुक्ति करने वाले प्राधिकारी के अधीनस्थ किसी प्राधिकारी द्वारा पदच्युत नहीं किया जाएगा या पद से नहीं हटाया जायेगा। (अनु. 311(1))

  (2) किसी भी ऐसे व्यक्ति को, ऐसी जांच के पश्चात ही, जिसमें उसे अपने विरुद्ध आरोपों की सूचना दे दी गयी है और उन आरोपों के सम्बन्ध में सुनवायी का युक्तियुक्त अवसर दे दिया गया है, पदच्युत किया जायेगा, अन्यथा नहीं। (अनु. 311(2))

- **लोक सेवकों के संवैधानिक संरक्षण की विस्तार (Scope of Constitutional Protection of Civil Servants)**–संवैधानिक संरक्षण दण्ड के रूप में पदच्युति, हटाया जाना या पंक्ति में अवनति के मामले में ही प्राप्त है।

'पदच्युति' व 'हटाया जाना' व्यवहार में एक समान संकल्पनाएं हैं। दोनों में अन्तर यह है कि 'पदच्युति' में व्यक्ति भावी नियोजन (Future employment) से वर्जित हो जाता है किन्तु हटाये जाने के मामले में नहीं। (देखे : अब्दुल सलाम खां बनाम सरफराज, ए.आई.आर. 1975 एस.सी. 1064)। अवनति पद से तात्पर्य है किसी कर्मचारी

की उच्चतर पंक्ति से निम्नतर पंक्ति में अवनति। जो सिद्धान्त 'पदच्युति' या 'हटाये जाने' में लागू होते हैं वही सिद्धान्त यथा आवश्यक परिवर्तन के साथ 'पंक्ति में अवनति' में भी लागू होते हैं। अनु. 213(2) तभी लागू होता है जब पंक्ति में अवनति दण्ड के रूप में अधिरोपित की जाती है।

टिप्पणी

किसी लोक सेवक का निलम्बन 'पदच्युति' या 'हटाया जाना' नहीं है क्योंकि इससे उसकी सेवा समाप्त नहीं होती है (देखें : उड़ीसा राज्य बनाम शिवप्रसाद दास, ए.आई.आर. 1985 एस.सी. 701)। निलम्बन के उपरान्त भी वह सेवा में बना रहता है। यद्यपि वह कार्य करने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जाता है तथा वह जीवनयापन हेतु भत्ता पाता है। निलम्बन की स्थिति में अनु. 311 संरक्षण प्रदान नहीं करता।

उत्तरभोग के मामलों में किसी कलंक के बिना मूलपद (original position) पर प्रतिवर्तन अनु. 311 को आकृष्ट नहीं करता है। (देखें : आर.एस. सियाल बनाम उत्तर प्रदेश राज्य, ए.आई.आर. 1974 एस.सी. 1517)

सेवा समाप्ति कब दण्डात्मक (punitive) या पूर्णरूपेण (Sumplicitor) या आधार (foundation) या हेतु (motive) है, उच्चतम न्यायालय ने दीप्ति प्रकाश बैनर्जी बनाम एस.एन. बोस नेशनल सेन्टर फॉर बेसिक साइंसेज, (1993) 3 एस.सी.सी. 60 में स्पष्ट किया है। न्यायालय ने प्रतिपादित किया है कि :

(i) यदि किसी कर्मचारी के अवचार के बारे में किसी नियमित जांच के बिना उसकी पीठ के पीछे जांच में निष्कर्ष पर पहुंचा गया है तो सेवा समाप्ति का साधारण आदेश अभिकथन पर आधारित होगा, अतएव विधि के अनुसार गलत है।

(ii) यदि जांच इसलिए नहीं की गयी क्योंकि नियोक्त जांच कराने के लिए अभिमत नहीं था तो सेवा समाप्ति का आदेश पूर्णरूपेण होगा तथा यह हेतु का एक मामला होगा, न कि आधार का। अतः विधि में गलत नहीं होगा।

(iii) यदि नियोक्ता कर्मचारी के विरुद्ध अभिकथनों में जांच नहीं कराना चाहता है क्योंकि कार्यवाही करने में विलम्ब होगा या यदि उसे सन्देह है कि क्या पर्याप्त साख्य उपलब्ध हो पायेगा तो सेवा समाप्ति के लिए अभिकथन हेतु (motive) होंगे तथा इसलिए सेवा समाप्ति पूर्णरूपेण होगी, जोकि विधि में गलत नहीं होगी।

(iv) जहां कर्मचारी पर किसी अभिलेख या आदेश या उपाबन्ध से उत्पन्न कलंक है जिसके बारे में भारी नियोक्त द्वारा पूछा जा सकता है तो सेवा समाप्ति का आदेश विधि में गलत होगा।

- पदच्युति, हटाया जाना या पंक्ति में अवनति कब दण्ड के समान है (When dismissal, removal or reduction in rank are ideatical with punishment) अनु. 311(2) के उपबन्धों का आश्रय (recourse) तभी लिया जा सकता है जबकि पदच्युति (सेवा मुक्ति), हटाया जाना या पंक्ति में अवनति अर्थदण्ड (penalty) के रूप में होती है। अतः न्यायालय का कार्य यह अवधारित करना होता है कि सेवा के पर्यवसान (termination) या पंक्ति में अवनति का आदेश कब दण्ड के रूप में किया जाता है। उच्चतम न्यायालय ने पुरुषोत्तम लाल ढींगरा बनाम भारत

टिप्पणी

संघ, ए.आई.आर. 1958 एस.सी. 36 व पंजाब राज्य बनाम बलबीर सिंह, ए.आई. आर. 1977 एस.सी. 629 के मामलों में स्थिति स्पष्ट करते हुए इस हेतु दो मापदण्ड अभिकथित किये हैं–

(i) क्या लोक सेवक को पद या पंक्ति हेतु अधिकार था, या

(ii) क्या लोक सेवक पर हानिकर परिणाम हुआ है।

तद्नुसार यदि लोक सेवक को पद का अधिकार प्राप्त है तो पद का प्रत्येक पर्यवसान जो नियोजन संविदा (employment contract) के निबन्धनों (terms) या सेवा को शासित करने वाले किसी नियम (rule) के अनुसार नहीं है तो स्वतः दण्ड के रूप में होगा। ऐसी स्थिति में लोक सेवक अनु. 311 के अधीन संरक्षण का अधिकारी होगा। इसी प्रकार यदि किसी लोक सेवक को किसी विशिष्ट पंक्ति का अधिकार है तो उस पंक्ति की अवनति अर्थदण्ड के रूप में कार्य करेगी क्योंकि उसे पंक्ति की उपलब्धियों और विशेषाधिकारों की हानि होगी। इस विषय में विभिन्न दशाओं में नियुक्त लोक सेवकों की स्थिति निम्न प्रकार है–

(i) **स्थायी लोक सेवक**–यदि किसी लोक सेवक की नियुक्ति स्थायी पद पर वास्तविक (Substantive) रूप से पुष्ट हो चुकी है तो उसे अपने पद में अनु. 311(2) का लाभ दिये बिना सेवा निवृत्त करने का अधिकार राज्य या संघ को केवल तीन परिस्थितियों में प्राप्त है–(1) लोक सेवक द्वारा अधिवर्षिता (Superan mation) की आयु प्राप्त करने की दशा में, (2) लोक सेवक का सेवा नियमों के अनुसार अनिवार्य सेवा निवृत्ति का भागी होने की दशा में, तथा (3) लोक सेवक के पद का आर्थिक यह प्रशासनिक नीति के आधार पर समाप्त (abolish) होने की दशा में। इन तीन कारणों के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से स्थायी लोक सेवक को उसके पद से अनु. 311(2) की प्रक्रिया का लाभ दिये बिना अपदस्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह लोक सेवक का संवैधानिक अधिकार है। अनु. 309 के अधीन बनाया गया कोई सेवा नियम इस अधिकार को कम नहीं कर सकता। देखें : मोतीराम डेका बनाम महाप्रबन्धक, नार्थ ईस्टर्न फ्रंटियर रेलवे, ए.आर.आर. 1964 एस.सी. 600)

(ii) **अस्थायी पद**–अस्थायी नियुक्ति में यह विवक्षित निबन्धन होता है कि नियुक्त व्यक्ति की सेवा, युक्तियुक्त सूचना, प्रायः एक माह की सूचना पर समाप्त की जा सकती है। (देखें : सतीश चन्द्र आनन्द बनाम भारत संघ, ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 250)

(iii) **परिवीक्षा (probation) पर स्थायी नियुक्ति**–ऐसी नियुक्ति की समाप्ति चाहे परिवीक्षा के समय में हो अथवा उसके अन्त पर हो सामान्य रूप से दण्ड के समतुल्य नहीं होता है। (देखे : हार्ट वेलडोसकाट सिंह बनाम उ.प्र. राज्य, ए.आई. आर. 1957 एस.सी. 886 तथा उ.प्र. राज्य बनाम अकबर अली, ए.आई.आर. 1966 एस.सी. 1842)

(iv) **स्थायी पद पर स्थानापन्न नियुक्ति**–इस प्रकार की नियुक्ति में विवक्षित निबन्धन (implied term) यह होता है कि नियुक्त व्यक्ति की सेवा युक्तियुक्त सूचना पर समाप्त की जा सकती है। जहां किसी व्यक्ति को किसी उच्चतर पद

टिप्पणी

(higher post) पर स्थानापन्न हैसियत (officiating status) में नियुक्त किया जाता है वहां उस व्यक्ति को उस पद को धारण करने का किसी अवधि के लिए अधिकार प्राप्त नहीं होता। (देखे : मैसूर, राज्य बनाम नारायण (1966) एस.सी. (सिविल अपील) 1420/66)। यदि उसे अपने अधिष्ठायी (वास्तविक) पद पर प्रतिवर्तित (reverted) किया जाता है तो अनु. 311(2) के अर्थ में पंक्ति से अवनति नहीं होती। (देखें : पुरुषोत्तम लाल ढींगरा बनाम भारत संघ, ए.आई.आर. 1958 एस.सी. 36 तथा रामास्वामी बनाम पुलिस महानिरीक्षक, ए.आई.आर. 1966 एस. सी. 175)

(v) **अस्थायी सेवकों का कब संरक्षण**—अस्थायी सेवकों या परिवीक्षाधीन व्यक्तियों की सेवाओं के बारे में उच्चतम न्यायालय ने पंजाब राज्य बनाम सुखराज, ए.आई. आर 1968 एस.सी. 1089 के मामले में प्रतिपादित किया है कि यदि आदेश से लोक सेवक पर हानिकर परिणाम होता है या उसके चरित्र या सत्यनिष्ठा पर कलंक लगाता है तो इसे दण्ड के रूप में समझना चाहिए चाहे वह परिवीक्षाधीन व्यक्ति हो या अस्थायी सेवक।

- **लोक सेवकों के संवैधानिक संरक्षण के अपवाद (Exceptions to constitutional protection of civil servants)**—संविधान के अनु. 311(2) में लोक सेवकों को दिये गये संवैधानिक संरक्षण के तीन अपवाद अनु. 311(2) के ही द्वितीय परन्तुक में उल्लिखित है। जिसके अनुसार जब किसी व्यक्ति को पदच्युत किया जाता है या हटाया जाता है या पंक्ति में अवनत किया जाता है तो तीन प्रकार के मामलों में कोई जांच या सुनवायी का अवसर देने की आवश्यकता नहीं है, चाहे ये तीनों कार्यवाहियां दण्ड स्वरूप ही क्यों न की गयी हों।

अनु. 311(2) के द्वितीय परन्तुक में अभिकथित किया गया है कि जांच या सूचना देने की आवश्यकता नहीं होगी–

(क) जहां किसी व्यक्ति को ऐसे आचरण के आधार पर पदच्युत किया जाता है या पद से हटाया जाता है या पंक्ति से अवनत किया जाता है जिसके लिए अपराधिक आरोप पर उसे दोषसिद्ध ठहराया गया है, या

(ख) जहां किसी व्यक्ति को पदच्युत करने या पद से हटाने या पंक्ति में अवनत करने के लिए सशक्त प्राधिकारी की यह संतुष्टि हो जाती है कि किसी कारण से, जो उस प्राधिकारी द्वारा लेखबद्ध किया जाएगा, यह युक्ति युक्त रूप से साध्य नहीं है कि ऐसी जांच की जाए, या

(ग) जहां यथास्थिति, राष्ट्रपति या राज्यपाल की यह संतुष्टि हो जाती है कि राज्य की सुरक्षा के हित में यह समीचीन नहीं है कि ऐसी जांच की जाए।

इन तीन अपवादों पर उच्चतम न्यायालय ने भारत संघ बनाम तुलसी राम पटेल, ए.आई.आर. 1985 एस.सी. 1416 के मामले में अभिनिर्धारित किया कि अनुशासनिक प्राधिकारी द्वारा जांच के बिना व सुनवायी का अवसर दिये बिना दिया गया दण्ड संवैधानिक था।

टिप्पणी

तुलसी राम पटेल के मामले में अभिनिर्धारित प्रतिपादनाओं को सत्यवीर सिंह बनाम भारत संघ, ए.आई.आर. 1986 एस.सी. 555 के मामले में पुनःस्थापित किया गया। इस मामले में रिसर्च दण्ड एनालिसिस विंग के कर्मचारियों को जांच के बिना पदच्युत कर दिया गया था क्योंकि भारी संख्या में सिविल सेवकों द्वारा अभूतपूर्व हिंसात्मक युक्ति अपनायी गयी थी। इसमें उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि यह युक्तियुक्त रूप से साध्य नहीं था कि अनु. 311(2) अपेक्षित जांच की जाती।

उत्तर प्रदेश राज्य बनाम हरेन्दर अरोरा, ए.आई.आर. 2001 एस.सी. 2319 के मामले में उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि यदि सरकारी कर्मचारी को पदच्युत किया जाता है तथा जांच रिपोर्ट उसे नहीं दी जाती है तो इससे पदच्युति आदेश अवैध नहीं होगा जब तक इससे प्रतिकूल प्रभाव नहीं दिखाया जाता है।

- **सरकारी सेवाओं को हड़ताल का अधिकार नहीं (Civil servants have no sight to strike)**—उच्चतम न्यायालय ने टी.के. रंगराजन बनाम तमिलनाडु सरकार, ए.आई.आर. 2003 एस.सी. 3032 के मामले में यह अभिकथित किया कि सरकारी सेवक को हड़ताल पर जाने का कोई अधिकार नहीं है। न्यायालय ने यह भी स्पष्ट किया कि सरकारी सेवक को हड़ताल करने का न तो मूल अधिकार है, न कानूनी अधिकार है, न नैतिक अधिकार है। इस मामले में सन् 2003 के प्रारम्भ में तमिलनाडु के सरकारी कर्मचारीगण अपनी मांगों को लेकर हड़ताल पर चले गये। सरकार ने आवश्यक सेवा बनाए रखने हेतु 2002 के अधिनियम के अन्तर्गत तथा 2003 के एक अध्यादेश द्वारा उनको नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया था।

अपनी प्रगति जांचिए

15. किस अनुच्छेद के अधीन समुचित विधान मंडल को लोक सेवाओं व पदों के लिए भर्ती करने व नियुक्त व्यक्तियों की सेवा की शर्तों को विनियमित करने की शक्ति प्रदान की गई है?

    (क) अनुच्छेद 306 (ख) अनुच्छेद 309

    (ग) अनुच्छेद 312 (घ) अनुच्छेद 315

16. संविधान के भाग 14 का सबसे महत्वपूर्ण अनुच्छेद कौन–सा है, जिसमें प्रसादपर्यन्त सेवा सिद्धांत सन्निविष्ट है?

    (क) अनुच्छेद 309 (ख) अनुच्छेद 310

    (ग) अनुच्छेद 311 (घ) अनुच्छेद 312

3.10 कार्मिक प्रशासन

कार्मिक प्रशासन लोक प्रशासन की वह शाखा है जो कार्मिक संसाधनों के प्रबंधन में संगठन की सहायता करती है। संगठन में मानवीय तत्व की दृष्टि से दो बातें आवश्यक हैं– प्रथम, संगठन में कुशल तथा अनुभवी कार्यकर्ताओं की नियुक्ति और द्वितीय, उन्हें कार्य की संतोषजनक स्थितियां प्रदान करना। ये दोनों विषय कार्मिक प्रशासन के

मूलभूत विषय हैं। कर्मचारियों की कार्यकुशलता की दृष्टि से इन बातों का ध्यान रखा जाता है– कार्मिकों की वैज्ञानिक तरीके से भर्ती, कार्य का समुचित प्रशिक्षण, कार्यकर्ताओं की रुचि, योग्यता एवं कार्यक्षमता के अनुरूप ही उन्हें काम सौंपना। वेतन भुगतान की वैज्ञानिक पद्धति, कार्मिक कल्याण हेतु की गई समुचित व्यवस्था तथा कार्मिकों से जुड़े कार्यक्रमों की प्रभावशीलता का मूल्यांकन करते हुए आवश्यक अनुसंधान को प्रोत्साहित करना भी अहम होता है।

टिप्पणी

कार्मिक प्रशासन की अवधारणा (Concept of PersonnelAdministration)

मार्शल ई. डिमाक (Marshal E. Dimock) की मान्यता है कि कार्मिक प्रशासन ऐसी प्रशासनिक क्रियाएं हैं, जिनके द्वारा कर्मचारियों की नियुक्ति एवं रोजगार संबंधों का नियमन तथा परिवर्तन किया जाता है।

'राष्ट्रीय कार्मिक प्रबंधन संस्थान' (National Institute of Personnel Management) ने कार्मिक प्रशासन की परिभाषा इस प्रकार दी है–

''कार्मिक प्रशासन प्रबंधन कार्य का वह भाग है जिसका संबंध प्रमुखतया संगठन के भीतर मानवीय रिश्तों से होता है। इसका उद्देश्य इन रिश्तों को ऐसे आधार पर बनाए रखना है, जो व्यक्ति की भलाई को ध्यान में रखते हुए उन सभी को जो उस संगठन में कार्य करते हैं; इस योग्य बनाता है कि वे संगठन को प्रभावशाली ढंग से चला सकें।''

पिगर्ज और मायरज (Pigors and Myers) का कथन है कि ''कार्मिक प्रशासन कर्मचारियों की समर्थता को विकसित करने का एक तरीका है ताकि वे अपने कार्य से अधिकतम संतोष प्राप्त करें और संगठन के लिए अपने उत्तम प्रयास करें।''

थामस जी. स्पेटस (Thomas G. Spates) के अनुसार ''कार्मिक प्रशासन काम पर लगे हुए व्यक्तियों के साथ व्यवहार करने और उनको संगठित करने के तरीकों की नियम–संहिता है, ताकि उनमें से प्रत्येक अपनी भीतरी योग्यताओं की यथासंभव उच्चतम प्राप्ति कर सके। वे अपने लिए तथा अपने समूह के लिए अधिकतम कुशलता प्राप्त कर सकें और इनके द्वारा अपने उपक्रम को जिनका वे भाग हैं, उसका निर्धारित प्रतिस्पर्धात्मक लाभ और उसका अनुकूलतम परिणाम दे सकें।''

ऊपर दी गई परिभाषाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कार्मिक प्रशासन–

(क) सगंठन के अंतर्गत प्रबन्ध प्रक्रिया का एक भाग है।

(ख) कुछ सिद्धान्तों, व्यवहारों तथा तकनीकों के प्रयोग से कार्मिक संसाधनों के प्रबन्धन में संगठन की सहायता करता है।

(ग) सिद्धान्तों और तकनीकों का उद्देश्य कार्मिकों की क्षमताओं का विकास करना है ताकि वे कार्य से न केवल अधिकतम संतोष प्राप्त कर सकें परन्तु अति कुशल और किफायती ढंग से संगठन के लक्ष्यों को पूरा करने के लिए अपना अधिकतम योगदान भी दें।

कार्मिक प्रशासन की प्रकृति

कार्मिक प्रशासन की अपनी कुछ विशेषताएं होती हैं, जिनसे उसकी निम्नांकित प्रकृति का पता चलता है–

टिप्पणी

1. यह संगठन में मानवीय तत्व से सम्बन्धित होता है। इसका सम्पर्क कार्य कर रहे लोगों से है। इसका संबंध प्रबन्धन में मूल कार्य से है और वह है लोगों के सहयोग से अधिक अच्छे परिणाम प्राप्त करना।
2. यह प्रबन्धन का एक सम्पूर्ण भाग है, प्रत्येक मैनेजर, चाहे उसका कोई भी पद हो या वह किसी भी स्तर पर कार्य करता हो, को लोगों से बर्ताव करना पड़ता है। उनसे अधिकतम प्राप्ति करनी होती है और कार्य करवाने में उनका सहयोग प्राप्त करना होता है। अतः उसमें मानवीय संबंधों की निपुणता होना अनिवार्य है।
3. कार्मिक प्रबन्धन प्रबन्धकों का उत्तरदायित्व होता है। उस उत्तरदायित्व को सगंठन में स्थापित किये गये कार्मिक अभिकरण पर पूर्णतया नहीं छोड़ा जा सकता क्योंकि वह अभिकरण भर्ती, प्रशिक्षण विकास आदि जैसे सक्रिय कार्य ही केवल करता है।
4. कार्मिक प्रशासन एक व्यापक कार्य है। यह सभी उपक्रमों में अन्तर्निहित होता है। यह प्रबन्धन का मूल कार्य है जो प्रबन्धन के क्षेत्रों और स्तरों पर किया जाता है जैसे उत्पादन प्रबन्धन, वित्तीय प्रबन्धन आदि।
5. यह एक निरन्तर कार्य है जो प्रत्येक मैनेजर को करना पड़ता है। ऐसा नहीं कि यह दिन में एक घण्टा या सप्ताह में एक दिन किया जा सके। कार्मिक प्रशासन में निरन्तर चौकन्नेपन, मानवीय सम्बन्धों की जानकारी तथा प्रतिदिन के संचालन में इसके महत्व को समझने की आवश्यकता है।
6. कार्मिक वर्ग तटस्थ होता है। यह राजनीतिक गतिविधियों से अप्रभावित रहकर कार्य करता है। राजनीतिक दल आते और जाते हैं, सरकारें बदलती रहती हैं, किन्तु कार्मिक वर्ग तटस्थ भाव से अपना कार्य सम्पादित करता रहता है।
7. कार्मिक प्रशासन की नीति कुछ लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए निर्धारित की जाती है, अतः इनकी सार्थकता भी इस बात पर निर्भर है कि यह लक्ष्यों को प्राप्त करने में कितनी सफल रही।
8. इसमें योग्यता व्यवस्था को अपनाया जाता है। लूट प्रणाली का इसमें कोई स्थान नहीं है।

   अतः कार्मिक प्रशासन प्रशासन का वह क्षेत्र है जो कर्मचारियों की भर्ती, विकास, नियमन तथा कार्यों के नियोजन, संगठन, निर्देशन और नियन्त्रण से सम्बन्धित है।

कार्मिक प्रशासन के कार्य अथवा क्षेत्र

उल्लेखनीय है कि कार्मिक कार्य परामर्शात्मक और सलाहकारी होता है। कार्मिक प्रबन्धक (Personnel Manager) एक स्टाफ अधिकारी होता है जो सगंठन में सीधी आदेश शृंखला के अंतर्गत नहीं होता। उसका कार्य सूत्र या लाईन अधिकारी (Line Officer) को कार्मिक नीतियों और समस्याओं के सम्बन्ध में परामर्श देना होता है। संगठन के जिस भाग अथवा इकाई से वह सम्बन्धित है उसे कार्मिक विभाग अथवा कार्मिक एजेन्सी कहते हैं। कार्मिक प्रशासन के कार्य का सम्बन्ध संगठन में हो रहे काम के मानवीय पहलू से होता है। यह सगंठन में व्यक्तियों का प्रबन्ध है। राष्ट्रीय कार्मिक प्रबंधन संस्थान (National Institute of Personnel Management) का विचार है कि

कार्मिक प्रशासन की भूमिका संगठन में मानवीय सम्बन्धों के विकास का कार्य करना है। यह कार्मिक प्रबन्ध के निम्नांकित तीन पहलुओं का उल्लेख करता है–

टिप्पणी

(i) **श्रम अथवा कार्मिक पहलू** (Labour or PersonnelAspects)– इसका सम्बन्ध भर्ती, कर्मचारियों का स्थापन, पारिश्रमिक, पदोन्नति, प्रोत्साहन, उत्पादकता आदि से होता है।

(ii) **औद्योगिक सम्बन्ध पहलू** (Industrial RelationsAspects)– इसका सम्बन्ध श्रम संगठनों से बातचीत, औद्योगिक झगड़ों का निपटारा, संयुक्त परामर्श तथा द्विपक्षी समझौतों से होता है।

(iii) **कल्याणकारी पहलू** (WelfareAspects)– इसका सम्बन्ध कार्यस्थल की परिस्थितियों और सुविधाओं से होता है जैसे–कैंटीन, शिशुगृह, आवास, कर्मचारियों की व्यक्तिगत समस्याएं, स्कूल और मनोरंजन।

डेल योडर (Dale Yodar) ने कार्मिक प्रबन्ध के निम्नलिखित सात कार्यों का उल्लेख किया है–

1. संगठनात्मक सम्बन्धों के लिए सामान्य तथा विशिष्ट प्रबन्धन नीति स्थापित करना तथा नेतृत्व और सहयोग के लिए एक उपयुक्त संगठन स्थापित करना और उसको सक्रिय रखना,
2. द्विपक्षीय समझौते, अनुबन्ध बातचीत, अनुबन्ध प्रशासन तथा शिकायत व्यवस्था,
3. संगठन में भर्ती करना, निश्चित प्रकार और संख्या के कर्मचारियों की तलाश तथा उनको प्राप्त कर अपने पास रखना,
4. सभी स्तरों पर कर्मचारियों के स्व–विकास में सहायता देना। कार्मिक विकास तथा उन्नति के साथ–साथ उचित कौशल और अनुभव प्राप्त करने हेतु अवसर प्रदान करना,
5. प्रोत्साहन देकर कर्मचारियों में प्रेरणा विकसित करना और उसे बनाये रखना,
6. संगठन में मानवशक्ति प्रबन्ध का पुनरावलोकन तथा लेखा परीक्षण एवं
7. औद्योगिक सम्बन्ध अनुसंधान जो ऐसे अध्ययन करे जिसमें कर्मचारियों के व्यवहार का स्पष्टीकरण हो और उसके द्वारा मानवशक्ति प्रबन्धन में सुधार किया जा सके।

स्ट्रॉस तथा सेयल्ज (Strauss and Sayles) ने कार्मिक प्रशासन के कार्यों को निम्नांकित दस भागों में बांटा है–

1. भर्ती, चयन तथा पद स्थापन,
2. पद विश्लेषण, पद विवरण तथा मूल्यांकन,
3. मुआवजा तथा मूल्यांकन योजनाएं,
4. रोजगार अभिलेख,
5. कर्मचारी लाभ कार्यक्रम,
6. विशेष सेवायें,
7. प्रशिक्षण तथा शिक्षा कार्यक्रम,
8. श्रम सम्बन्ध,

9. सार्वजनिक सम्बन्धकर्त्ता एवं
10. कार्मिक नियोजन और मूल्यांकन।

टिप्पणी

कुछ लेखक कार्मिक प्रबन्ध के कार्यों को दो श्रेणियों में बांटते हैंः प्रबन्धात्मक कार्य (Managerial Functions) तथा परिचालन कार्य (Executional Functions)। पहली श्रेणी में नियोजन, संगठन, निर्देशन तथा कार्मिक एजेंसी अथवा विभाग की विभिन्न क्रियाओं को नियंत्रित करना शामिल है। दूसरी श्रेणी में वे कार्य सम्मिलित हैं जो विशेषकर कार्मिक विभाग को सौंपे जाते हैं, जैसे–सगंठन के कार्मिकों का रोजगार, उनका विकास, एकीकरण तथा पोषण।

कार्मिक प्रशासन के कार्यों अथवा क्षेत्र को निम्न श्रेणियों में बांटना अधिक सुविधापूर्ण होगा–

(क) स्टाफ कार्य (Staff Functions)

1. कार्मिक समस्याओं के सम्बंध में सूत्र प्रबन्धकों को परामर्श तथा सूचना प्रदान करना।
2. मानवशक्ति की आवश्यकताओं के अनुरूप मानवशक्ति बजट तैयार करना, ताकि कार्मिकों के प्रशिक्षण और पद स्थापन के लिए उचित प्रबन्ध किये जा सकें।
3. प्रबन्धकों और कर्मचारियों के बीच संचार के माध्यम के रूप में कार्य करना। प्रभावकारी कार्मिक नीतियां बनाने में प्रबन्धकों की सहायता करना।

(ख) परिचालन कार्य (Operative Functions)

1. रिक्त पदों को भरने के लिए सावधानीपूर्वक जांच करने के उपरान्त योग्यतम उम्मीदवारों का चयन तथा नियुक्ति करना।
2. कर्मचारियों की योग्यता का मूल्यांकन और एक ऐसी पदोन्नति की व्यवस्था की खोज करना जो कर्मचारियों को संतुष्टि दे सके।
3. प्रबन्धकों और कर्मचारियों के बीच सामंजस्यपूर्ण सम्बन्धों को प्रोत्साहित करना।
4. वेतन भुगतान का एक समुचित तरीका निश्चित करना ताकि उत्पादन वृद्धि हेतु कार्मिक प्रोत्साहित हों।
5. कार्य हेतु सांत्वनादायक, स्वस्थ तथा उत्पादक वातावरण स्थापित करने के लिए संगठन के भीतर अनिवार्य सेवाएं तथा सुविधाएं प्रदान करना।
6. देश के कानून के अंतर्गत संगठन और कर्मचारियों का अनिवार्य तथा सही अभिलेखन रखना।

(ग) कल्याणकारी कार्य (Welfare Functions)

काम के दौरान तथा काम के पश्चात कर्मचारियों के हितों से संबंधित विविध प्रकार की गतिविधियों का प्रबन्ध करना जैसे–चिकित्सा तथा सुरक्षा सेवायें, यातायात तथा आवास सुविधायें, बीमा, मनोरंजन सुविधायें, व्यावसायिक प्रशिक्षण, कैण्टीन सुविधा आदि।

कार्मिक प्रशासन के उद्देश्य एवं महत्व

कार्मिक प्रशासन का मुख्य उद्देश्य संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करना है। इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अनिवार्य है कि मानवीय संसाधनों का प्रभावकारी उपयोग हो।

इसलिए यह आवश्यक है कि कार्मिक उपक्रम संगठनात्मक संरचना को डिजाइन करें और संगठन के सभी सदस्यों में प्रभावकारी व्यावहारिक संबंध स्थापित करें। कार्मिक प्रशासन के विशिष्ट उद्देश्य इस प्रकार हैं–

टिप्पणी

1. संगठन के भीतर अच्छे मानवीय संबंधों को प्राप्त करना तथा बनाये रखना।
2. प्रत्येक व्यक्ति को इस योग्य बनाना कि एक संगठन के प्रभावकारी कार्य करने में अपना अधिक से अधिक योगदान दे सके।
3. व्यक्ति की भलाई और मानवीय व्यक्तित्व के प्रति आदर की भावना जाग्रत करना।
4. कार्मिकों के अधिकतम व्यक्तिगत विकास के लिए प्रयास करना।
5. संगठनात्मक लक्ष्यों में उनके अधिकतम योगदान को प्राप्त करने के लिए व्यक्तियों की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास करना।

कार्मिक प्रशासन का महत्व– आधुनिक वर्षों में इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि किसी संगठन में मनुष्य ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्व होते हैं। जैसा कि प्रो. क्लाउड (Prof. Claude) ने कहा है, एक बहुत महत्वपूर्ण अर्थ में प्रत्येक संगठन की पहचान उसके कर्मचारी समूह में निहित होती है। सदस्य, शेयर होल्डर अथवा नागरिक भले ही संगठन को नियंत्रित करें, परंतु वे इसका कार्य नहीं चला सकते। स्टाफ तथा कर्मचारी ही संगठन होते हैं।

कार्मिक प्रशासन का महत्व निम्न बिंदुओं के अंतर्गत देखा जा सकता है–

- **सरकार की नीतियों की क्रियान्विति** (The Execution of Government Policies)– व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत नीतियों एवं कार्यपालिका द्वारा प्रसारित आदेशों को कार्यरूप देने का दायित्व नौकरशाही का होता है। नौकरशाही अपने इस दायित्व का सही रूप में निर्वाह कर सके, ऐसी परिस्थितियां कार्मिक प्रशासन द्वारा उपलब्ध कराई जाती हैं। उदाहरण के लिए भारत में जब 1 जुलाई, 1975 को तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा नए आर्थिक कार्यक्रम की घोषणा की गई तो निश्चय ही देश की नौकरीशाही पर नए दायित्व आ गए और तदनुसार लोक–सेवकों की भर्ती, अनुशासन, कार्य की शर्तें, वेतन, सेवानिवृत्ति, आचरण–संहिता के बारे में भी वांछनीय परिवर्तन किया जाना आवश्यक हो गया।
- **सही स्थान पर सही व्यक्ति रखना** (Placement of Right Person at Right Place)– कार्मिक प्रशासन द्वारा यह प्रयास किया जाता है कि जो कर्मचारी जिस कार्य को करने के लिए उपयुक्त है उसे उसी कार्य में लगाया जाए। जहां एक डॉक्टर की आवश्यकता हो वहां इन्जीनियर को नियुक्त नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार जो कर्मचारी क्षेत्रीय कार्यालयों में अच्छा कार्य करने में सक्ष्म हो उसे मुख्य कार्यालय में रख दिया गया तो उसे घुटन का अनुभव होगा। इसके विपरीत होने पर भी वह असुविधा अनुभव करेगा। सेवीवर्ग प्रशासन ऐसी नीतियों का अनुशीलन करता है कि प्रत्येक कर्मचारी अपनी रुचि एवं योग्यता के अनुकूल पद प्राप्त कर सके।

टिप्पणी

- **योग्य तथा कुशल कर्मचारी** (Eligible and Skilled Employees)– कार्मिक प्रशासन द्वारा निरन्तर यह प्रयास किया जाता है कि विभिन्न प्रशासनिक पदों पर योग्य कर्मचारी कार्य करें। इस हेतु भर्ती की वैज्ञानिक विधियां अपनाई जाती हैं। नियुक्ति से पूर्व प्रत्याशियों की योग्यता एवं क्षमता को वस्तुगत रूप से मापने की चेष्टा की जाती है, उनके प्रवेश–पूर्व तथा प्रवेशोत्तर प्रशिक्षण का प्रबन्ध किया जाता है। यदि इतने पर भी कोई अयोग्य तथा असक्षम कर्मचारी भर्ती हो जाए तो उसे पदमुक्त करने की व्यवस्था की जाती है। इसके अतिरिक्त विभिन्न पदाधिकारियों की अपेक्षित योग्यताओं का समय–समय पर मूल्यांकन किया जाता हैं। आजकल भारत में कार्मिक प्रशासन योग्यता पर विशेष ध्यान देता है। बहुत समय से कार्यरत होने पर भी अयोग्य तथा अक्षम कर्मचारियों को अनिवार्य सेवानिवृत्ति दे दी जाती है। जबकि योग्य कर्मचारी अपेक्षाकृत नए होने पर भी पदोन्नत कर दिए जाते हैं।
- **सेवा की सन्तोषजनक शर्तें** (Satisfactory Service Conditions)– कार्मिक प्रशासन द्वारा सभी लोक–सेवकों के लिए कार्य की उपयुक्त शर्तों की व्यवस्था की जाती है ताकि वे सन्तोष का अनुभव करते हुए अपने पद के दायित्वों को पूरा कर सकें। उनके लिए पर्याप्त वेतन, कार्य के उपयुक्त घण्टे, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सुविधाएं, आकस्मिक संकट के समय सहायता, पदोन्नित की समुचित व्यवस्था तथा सेवानिवृत्ति का समुचित प्रबन्ध किया जाता है। इन प्रयासों के माध्यम से प्रत्येक कर्मचारी की योग्यता और क्षमता का संगठन के लिए पूरा लाभ प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है।
- **अच्छे कार्य के लिए प्रोत्साहन** (Motivation for Good Work)– कार्मिक प्रशासन का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष अच्छे कार्य की प्रशंसा करके उसे प्रोत्साहित करना है ताकि सम्बन्धित कर्मचारी सन्तोष अनुभव करें तथा अन्य कर्मचारियों को अच्छे कार्य की प्रेरणा प्राप्त हो सके। इस उद्देश्य से कर्मचारियों के कार्यों पर एक सजग दृष्टि रखी जाती है, समय समय पर उनके कार्यों का मूल्यांकन किया जाता है और विशेष योग्य तथा कार्यकुशल पाए जाने वाले कर्मचारियों को अतिरिक्त वेतन–वृद्धि, पदोन्नति, विशेष सम्मान तथा कार्यकुशलता के प्रमाण–पत्र आदि से पुरस्कृत किया जाता है।
- **अनुशासन की स्थापना** (Establishment of Discipline)– प्रशासनिक संगठन के कर्मचारियों में पर्याप्त अनुशासन का होना वांछनीय है। इसके बिना कोई कर्मचारी अपने अपेक्षित कार्यों को सम्पन्न नहीं करेगा तथा संगठन अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में असफल हो जाएगा। अतः कार्मिक प्रशासन द्वारा यह व्यवस्था की जाती है कि प्रत्येक कर्मचारी अनुशासित रह कर अपना दायित्व पूरा करता रहे ताकि दूसरों के कार्यों में अनावश्यक रूप से दखलन्दाजी न करे, संगठन के लक्ष्यों के विरुद्ध कोई कार्य न करे तथा साथी कर्मचारियों के साथ बेहतर मानवीय–सम्बन्ध बनाए रखे। यदि कोई कर्मचारी इन अपेक्षाओं की अवेहलना करके संगठन के अनुशासन को तोड़ता है तो कार्मिक प्रशासन

उसके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही करेगा और उसके लिए उचित दण्ड की व्यवस्था करेगा। यह दण्ड व्यवस्था प्रतिशोधात्मक और सुधारात्मक दोनों प्रकार की होती है।

टिप्पणी

- **जन–सन्तोष एवं जनहित की उपलब्धि** (Achievement of Public Satisfaction and Public Interest)–कार्मिक प्रशासन जनहित की उपलब्धि के लिए उन साधनों तथा मार्गों का अनुगमन करता है जो उस देश की सरकार द्वारा निर्धारित किए गए हैं। वह ऐसा वातावरण प्रस्तुत करता है जिसमें सभी कर्मचारी अपने कार्यों में लगे रहें तथा अपने आचरण से जन–असन्तोष पैदा न होने दें। यहां इन कर्मचारियों को सदैव इस बात का ध्यान रखना होगा कि केवल अच्छे व्यक्ति या कार्यकर्ता होना ही पर्याप्त नहीं है अपितु दूसरों को अच्छा लगना भी उतना ही महत्वपूर्ण है। प्रजातान्त्रिक शासन प्रणाली में वांछनीय जन–सहयोग तभी प्राप्त हो सकता है जबकि जनता प्रशासनिक कार्यों के प्रति सन्तोष का अनुभव करती हो।
- **उत्तरदायित्व की भावना–जनतान्त्रिक प्रशासन** (Feeling of Responsibility DemocraticAdministration)– जनतान्त्रिक प्रशासन 'जन सेवकों' की भूमिका निभाता है और इसलिए वह ऐसे कार्य करता है ताकि जनता के प्रति उत्तरदायित्व की भावना स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हो सके। इसके लिए कार्मिक प्रशासन द्वारा समुचित व्यवस्था की जाती है। भर्ती के समय यह ध्यान रखा जाता है कि जन–सेवा की ओर उन्मुख प्रत्याशियों का चयन किया जाए। जो कर्मचारी अनुत्तरदायी रूप से अपनी शक्तियों का उपयोग करता है उसके विरुद्ध कार्यवाही करने की व्यवस्था की जाती है। कर्मचारी की आचरण–संहिता में उन बातों का उल्लेख किया जाता है जो कर्मचारी को उत्तरदायित्पूर्ण आचरण के लिए प्रेरित कर सकें। देश की विधायिका एवं न्यायपालिका द्वारा लोक सेवकों के कार्यों पर समुचित नियन्त्रण रखा जाता है।
- **गतिशील एवं परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल सामंजस्य की क्षमता** (The Capability ofAdjustmentAccording to Changing and Dynamic Situation)– एक नदी की धारा की भांति प्रत्येक देश की परिस्थितियां बदलती रहती हैं। उन बदलती हुई परिस्थितियों के साथ ही प्रशासन के दायित्वों तथा चुनौतियों में भी अन्तर आ जाता है। कार्मिक प्रशासन इस तथ्य के प्रति सजग रहकर ऐसी व्यवस्था करता है ताकि बदली हुई परिस्थितियों का सामना करने में प्रशासनिक संगठन सक्षम रह सके तथा अप्रासंगिक न बन जाए।
- **संगठन के सिद्धान्तों का पालन** (Adherence to Organization's Rule)– कार्मिक प्रशासन द्वारा संगठन के आधारभूत सिद्धान्तों जैसे–पदसोपान, आदेश की एकता, नियन्त्रण का क्षेत्र, संचार व्यवस्था, प्रत्यायोजन आदि का समुचित ध्यान रखा जाता है और इन सिद्धान्तों के समुचित निर्वाह की दृष्टि से ही विभिन्न नीतियां अपनाई जाती हैं।

उपरोक्त के अलावा कार्मिक प्रशासन का महत्व निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत भी देखा जा सकता है–

टिप्पणी

संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मानवीय साधनों का प्रभावशाली उपयोग, सन्तोषजनक संगठनात्मक संरचना की स्थापना, प्रशासनिक संगठन के साथ गैर–सरकारी तथा अनौपचारिक समूहों का एकीकरण, कर्मचारियों में संगठन के मूल लक्ष्यों के प्रति रुचि, अपनत्व एवं स्वामिभक्ति जागृत करना, संगठन में उच्च मनोबल तथा मानवीय साधन स्रोतों का मूल्यांकन इत्यादि।

लोक कार्मिक प्रशासन का एक विषय के रूप में विकास

प्रशासनिक विचारधारा चिंतन की अन्य संबंधित शाखाओं, जैसे– राजनीति, आचारशास्त्र तथा कानून से चिरकाल तक भिन्न नहीं की जा सकी। रामायण और महाभारत जैसे हिन्दू महाग्रंथों में राजनीति के साथ–साथ पर्याप्त प्रशासनिक चिंतन भी है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। इसी प्रकार की घटनाओं को हम अन्य स्थानों पर भी देखते हैं। प्राचीन चीन में कनफ्यूशियस (Confucius) के उपदेशों में बहुत प्रशासनिक सिद्धांत–वाक्य मिलते हैं। अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' के संदर्भ में भी यही देखने को मिलता है। मध्य युग के अंत में मैकियावली के ग्रंथ 'प्रिन्स' में प्रशासन और सरकार की कला के संदर्भ में शोध मिलता है।

वास्तविकता यह है कि 'लोकप्रशासन' शब्दावली का प्रयोग 17वीं शताब्दी से पूर्व देखने को नहीं मिलता। इससे संबंधित तथ्यों का संकलन 'फेडरलिस्ट' नाम से अमेरिका में 18वीं शताब्दी के अंत में किया गया। इसमें हैमिल्टन (Hamilton) का विचार छपा था, जिसमें लोक–प्रशासन की परिभाषा तथा क्षेत्र दिए गए थे। फ्रांस में 1812 में प्रथम बार इस विषय पर एक पृथक शोध ग्रंथ प्रकाशित हुआ। इसके लेखक चार्ल्स जीन बौनिन (Charles Jean Bounin) थे। इसका शीर्षक था– 'प्रिंसिपल्ज डी ऐडमिनिस्ट्रेशन पब्लिक' (Principles d'Administration Publique)।

कालांतर में लोक कार्मिकों की प्रशासनिक कुशलता और अनुभव को व्यवस्थित करके नियम संहिताएं व पुस्तिकाएं बनाई गईं। इसका विकास संयुक्त राज्य अमेरिका में बहुत उल्लेखनीय था, जिसने अपना राजनीतिक–प्रशासनिक जीवन इस दृढ़ विश्वास से आरंभ किया था कि सरकारी तथा प्रशासनिक क्रियाएं इतनी सरल बनाई जा सकती हैं कि वे साधारण व्यक्ति की योग्यता और समझ के दायरे में आ सकें।

अमेरिका में 1880 में पैडल्टन ऐक्ट (PeddletonAct) पारित हुआ जिसके द्वारा संघीय लोक सेवा में सीमित रूप में योग्यता पर आधारित भर्ती व्यवस्था लागू की गई। लोक प्रशासन को एक स्वतंत्र अध्ययन विषय के रूप में विकसित करने का आंदोलन भी शुरू हुआ। इसका सूत्रपात पॉलिटिकल साइंस क्वार्टरली (Political Science Quarterly) में प्रकाशित वुडरो विल्सन (Woodrow Wilson) के लेख 'दी स्टडी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन (The Study ofAdministration) से हुआ।

कार्मिक प्रशासन का संबंध संगठन में कार्मिक नियोजन, मानव व्यवहार मूल्यांकन, चयन, भर्ती, प्रशिक्षण, विकास, उन्हें बनाये रखने, उत्पादकता एवं कुशलता को बढ़ाने के तौर–तरीकों और अंततः संगठन की समस्त प्रभावशीलता से होता है। लोक प्रशासन की एक अभिन्न शाखा के रूप में कार्मिक प्रशासन का अध्ययन निरंतर होता रहा है।

विकास के विविध चरण (Various Steps of Development)

टिप्पणी

लोक कार्मिक प्रशासन के एक विषय के रूप में विकास को विभिन्न चरणों में समझा जा सकता है–

प्रथम चरण : लोक कार्मिक प्रशासन को स्वतंत्र विषय बनाने पर बल (1887–1926)

एक विषय के रूप में लोक कार्मिक प्रशासन का जन्म 1887 में संयुक्त राज्य अमेरिका में हुआ। प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी में राजनीतिशास्त्र के तत्कालीन प्राध्यापक वुडरो विल्सन को इस शास्त्र का जनक माना जाता है। उन्होंने 1887 में प्रकाशित अपने लेख 'प्रशासन का अध्ययन' (The Study ofAdministration) में राजनीति और प्रशासन को अलग–अलग बताते हुए कहा, ''एक संविधान का निर्माण सरल है पर उसे चलाना बड़ा कठिन है।'' उन्होंने इसे चलाने के क्षेत्र के अध्ययन पर बल दिया, जो स्पष्टतः प्रशासन ही है।

राजनीति–प्रशासन के द्विविभाजन के साथ जुड़ा हुआ एक दूसरा नाम फ्रैंक गुडनाउ (Frank Goodnow) का है, जिसने 1900 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'राजनीति तथा प्रशासन' (Politics andAdministration) में यह तर्क प्रस्तुत किया कि राजनीति और प्रशासन अलग–अलग हैं, क्योंकि जहां राजनीति राज्य–इच्छा का प्रतिपादन करती है वहां प्रशासन का संबंध इस इच्छा या राज्य–नीतियों के क्रियान्वयन से है।

गुडनाउ ने अपनी पुस्तक में इस बात पर बल दिया था कि नीतियों के क्रियान्वयन का प्रशासनिक कार्य राजनीतिक रूप से तटस्थ, योग्य तकनीकी दक्षता से युक्त तथा प्रशासनिक कार्यों में निपुण अधिकारियों द्वारा संपन्न किया जाना चाहिए। 1914 में अमेरिकी राजनीति–विज्ञान संघ ने अपनी एक रिपोर्ट में कहा कि सरकार में काम करने के लिए कुशल व्यक्तियों की पूर्ति करना राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का एक लक्ष्य है।

1926 में एल.डी. व्हाइट की पुस्तक 'लोक प्रशासन के अध्ययन का परिचय' (Introduction to the Study of PublicAdministration) प्रकाशित हुई। यह लोक प्रशासन की प्रथम पाठ्य पुस्तक थी, जिसमें राजनीति–प्रशासन अलगाव में विश्वास व्यक्त किया गया। व्हाइट ने अपनी पुस्तक में कहा था कि ''प्रशासन किसी विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बहुत से व्यक्तियों का निर्देशन, समन्वयीकरण तथा नियंत्रण की कला है।''

द्वितीय चरण : लोक कार्मिक प्रशासन के सार्वभौमिक सिद्धांतों पर जोर (1927–1937)

संगठन में वैज्ञानिक प्रबंध की महत्वपूर्ण विचारधारा 20वीं सदी की शुरुआत में ही प्रतिपादित की गई थी, जिसे संगठन की प्रथम व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध विचारधारा के रूप में मान्यता मिली। यह विचारधारा प्रबंध को एक विज्ञान मानती है। उस समय अमेरिका के कारखानों तथा उत्पादन केंद्रों में सभी कुछ अनियोजित था। कार्य व कार्यपद्धति के पूर्ण प्रमाणीकरण का अभाव था। प्रबंधकों एवं श्रमिकों को श्रमिक प्रबंध एवं उत्तरदायित्व की स्पष्ट जानकारी नहीं थी। 19वीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में फ्रेडरिक डब्ल्यू. टेलर (Fredrick W. Taylor) के लेखों ने जिस वैज्ञानिक आंदोलन को प्रारंभ किया था, उसने इस तथ्य पर जोर दिया कि 'कार्य का एक विज्ञान' कार्यों को करने का 'सदा एक उत्तम

तरीका' होता है। वह व्यक्तिगत रूप से प्रबंध विज्ञान के अन्य प्रवर्तकों जैसे हेनरी आर्ट टोबने तथा हेनरी मेटोक से बहुत अधिक प्रभावित थे।

टिप्पणी

टेलर ने अपने वैज्ञानिक प्रबंध के विचारों को निम्नांकित चार महत्वपूर्ण लेखों में अभिव्यक्त किया–

1. Piece Rate System (टुकड़ा दर प्रणाली)
2. Shop Management (दुकान प्रबंधन)
3. TheArt of Cutting Metals (धातुओं को काटने की कला)
4. The Principles of Scientific Management (वैज्ञानिक प्रबंधन के सिद्धांत)

टेलर के अनुसार वैज्ञानिक प्रबंध के सिद्धांत का दर्शन यह है कि प्रबंध के अंतर्गत कामगारों तथा उपभोक्ताओं के हितों में कोई अंतर्निहित टकराव नहीं होता। वैज्ञानिक प्रबंध का मुख्य उद्देश्य प्रबंधकों की अधिकतम समृद्धि के साथ–साथ प्रत्येक कामगार को भी अधिकतम धन प्राप्त कराना है। हेनरी फेयोल द्वारा लिखित 'इण्डस्ट्रियल एण्ड जनरल मैनेजमेण्ट' (Industrial and General Management), लुथर गुलिक तथा डर्विक द्वारा लिखित 'पेपर्स ऑन द साइंस ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन' (Papers on the Science ofAdministration), मूने तथा रैले द्वारा ऑनवर्ड इंडस्ट्री (Onward Industry), एम.पी. फालेट की 'द क्रियेटिव एक्सपीरियन्स (The Creative Experience) इत्यादि रचनाओं में यह दावा किया गया कि प्रशासन में सिद्धांत होने के कारण यह एक विज्ञान है। गुलिक और उर्विक ने प्रशासन के सिद्धांतों को पोस्डकॉर्ब में नियोजन, संगठन, कर्मचारी, निर्देशन, समन्वय, प्रतिवेदन तथा बजट / POSDCORB (Planning, Organizing, Staffing, Directing, Coordinating, Reporting & Budgeting) का प्रारूप दिया है।

तृतीय चरण : प्रशासनिक व्यवहार का अध्ययन (1937–1947)

1938 में चेस्टर बर्नार्ड की पुस्तक 'द फंक्शन ऑफ द एक्जीक्यूटिव' (The Functions of the Executive) में बर्नार्ड ने यह बताया कि प्रशासन एक सहकारी सामाजिक क्रिया है जिसमें व्यक्तियों के आचरण प्रशासकीय कार्यों को विशेष रूप से प्रभावित करते हैं। बर्नार्ड ने संगठनात्मक विश्लेषण हेतु मनोवैज्ञानिक एवं व्यवहार पर आश्रित उपकरणों पर बल दिया। इस संबंध में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान प्रसिद्ध हॉथोर्न प्रयोगों का रहा। यह प्रयोग सन् 1927–32 के मध्य शिकागो के वेस्टर्न इलैक्ट्रिक कंपनी के हॉथोर्न प्लांट में किये गये थे। इसी कारण इन्हें 'हॉथोर्न प्रयोग' कहा जाता है। एल्टन मेयो को इन प्रयोगों का जनक माना जाता है। उन्होंने थकान, अवकाश एवं विश्राम का उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन किया। इन प्रयोगों ने यह सिद्ध कर दिया कि भौतिक वातावरण की अपेक्षा कर्मचारियों के कार्य परिणाम पर मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक वातावरण का अधिक प्रभाव पड़ता है। इन प्रयोगों ने औपचारिक संगठन में अनौपचारिक संगठन का प्रभाव, नेतृत्व, संगठन के परिवेश में गुटों के बीच पारस्परिक संघर्ष और सहयोग की ओर लोगों का ध्यान खींचा।

चतुर्थ चरण : आंतरिक अनुशासनात्मक दृष्टिकोण (1948–1970)

1940 से प्रारंभ होने वाले दशक में सुप्रसिद्ध जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर (Max Weber) ने नौकरशाही के आदर्श नमूने पर अपनी अवधारणा प्रस्तुत की। यह

टिप्पणी

प्रशासनिक विचारधारा में संभवतः सबसे प्रबल संकल्पना थी जो विश्व के बहुत सारे देशों में विशेषतया पश्चिमी देशों में प्रचलित वास्तविकता के निकट पहुंचती थी। हर्बर्ट साइमन की रचना 'ऐडमिनिस्ट्रेटिव बिहेवियर' (Administrative Behavious, 1947) लोक प्रशासन के विकास की यात्रा में मील का पत्थर मानी जाती है। साइमन के दृष्टिकोण ने लोक प्रशासन को मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा राजनीति–विज्ञान से जोड़कर इसके अध्ययन क्षेत्र का विस्तार कर दिया। उसके लिए प्रबंध की समस्त कार्यवाही निर्णयन है। साइन की विचारधारा का मूल निष्कर्ष यह है कि संगठन के अध्ययन के लिए व्यक्ति को निर्णयन प्रक्रियाओं की जटिल संरचना का अध्ययन करना चाहिए। इसी चरण में फ्रेड डब्ल्यू. रिग्स (Fred W. Riggs) ने प्रशासन पर परिवेश के प्रभाव को समझने पर बल दिया। उन्होंने स्पष्ट किया कि प्रशासन और परिवेश एक–दूसरे से प्रभावित होते हैं।

पंचम चरण : नव लोक प्रशासन तथा नव लोक प्रबन्ध परिप्रेक्ष्य (1971 से वर्तमान तक)

1968 के बाद लोक प्रशासन के अध्ययन को नवीन प्रशासन के अभ्युदय ने समृद्ध किया। नवीन लोक प्रशासन की दृष्टि से निम्नलिखित घटनायें उल्लेखनीय हैं– (i) संयुक्त राज्य अमेरिका में लोक सेवा के लिए उच्चतर शिक्षा पर हनी प्रतिवेदन (1967), (ii) अमेरिका में आयोजित लोकप्रशासन के सिद्धान्त और व्यवहार पर फिलोडेल्फिया सम्मेलन (1967), (iii) फ्रेंक मेरीनो द्वारा सम्पादित ग्रन्थ ''टुवार्ड ए न्यू पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशनः द मिनाउ पर्सपैक्टिव'' (1971) तथा (iv) वाल्डो द्वारा सम्पादित ग्रन्थ ''पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन ए टाइम आफ टरबुलेन्स'' (1977)।

1980–90 के दशक में लोक प्रशासन में नवीन लोक प्रबन्धकीय दृष्टिकोण का उदय हुआ। इस नवीन लोकप्रबन्ध के परिप्रेक्ष्य का जोर तीन Es को प्राप्त करना है Efficiency, Economy and Effectiveness (दक्षता, मितव्ययिता एवं प्रभावशीलता। नवीन लोक प्रबन्ध प्रशासन में प्रबन्धवाद को बढ़ावा देता है। यह प्रशासन में प्रतिस्पर्धात्मक तत्व को शामिल करता है।

आधुनिक वर्षों में कार्मिक प्रबन्धन इत्यादि विषयों को तकनीकी पाठ्यक्रम जैसे बी.बी.ए., एम.टेक, एम.बी.ए. इत्यादि कोर्सेज में एक अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाया जाता है, जिसे HRM, HRD इत्यादि नये नामों से पुकारा जाता है।

कार्मिक प्रशासन सम्बन्धी नीतियां

कार्मिक प्रशासन के सम्बन्ध में अपनायी जाने वाली नीति ही बहुत कुछ इस बात का निर्धारण करती है कि संगठन को अपने लक्ष्य की प्राप्ति में कितनी सफलता मिलेगी।

मैक्स वेबर के अनुसार एक स्वस्थ सेवीवर्ग नीति वह होती है जिसमें सभी कर्मचारियों के कर्तव्य निर्धारित कर दिये जायें, इन कर्तव्यों की पूर्ति के लिए उन्हें पर्याप्त सत्ता सौंपी जाये तथा कार्य की उचित पद्धति एवं व्यवस्था निर्धारित की जाये। सरकारी संगठनों में इसकी उपयोगिता एवं प्रभाव कुछ अधिक होता है। इसकी सहायता से एक देश के प्रशासन को सार्थक, उपयोगी, कार्यकुशल, प्रभावशाली मितव्ययी तथा उत्तरदायी बनाया जा सकता है। स्वस्थ कार्मिक प्रशासनिक नीति की निम्न विशेषतायें होती हैं–

टिप्पणी

1. यह नीति संगठन के लक्ष्य तथा उद्देश्यों की दृष्टि से उपयोगी एवं सार्थक होनी चाहिए।
2. यह नीति गत्यात्मक होनी चाहिये ताकि समय की परिस्थितियों तथा नई चुनौतियों के साथ स्वयं को ढाल सके। इसमें कार्मिक वर्ग के सभी सदस्य उत्साही हों तथा वे नवाचार के लिए सदैव तत्पर रहें।
3. इसमें कर्मचारियों की भर्ती का आधार प्रत्याशियों की सापेक्षिक योग्यता होनी चाहिए तथा यह लूट प्रणाली से प्रभावित नहीं होनी चाहिए।
4. संगठन के सभी कर्मचारियों को भविष्य के प्रति आशायें रहती हैं तथा पदोन्नति के पर्याप्त अवसर प्रदान किये जाते हैं।
5. एक स्वस्थ कार्मिक वर्ग नीति के लिए स्पष्ट पदसोपान की व्यवस्था की जानी चाहिए। सभी कर्मचारियों को उनके कर्त्तव्य तथा दायित्व बता दिये जाने चाहिए तथा प्रत्येक का उसके उच्च अधिकारी तथा अधीनस्थ अधिकारियों के साथ सम्बन्ध स्पष्ट कर देना चाहिए।
6. स्वस्थ कार्मिक वर्ग नीति कर्मचारियों को राजनीतिक गतिविधियों से अलग रखने का प्रयास करती है। यह राजनीतिक तटस्थता इसलिए वांछनीय है क्योंकि राजनीतिक दल सत्ता में आते और जाते रहते हैं किन्तु लोकसेवकों को इन परिवर्तनों से अप्रभावित रहकर तटस्थ भाव से अपना कार्य करते रहना चाहिए।
7. कार्मिक वर्ग नीति में कर्मचारी अनाम रहकर कार्य करते हैं। उसके द्वारा सम्पन्न की जाने वाली सेवाओं में कर्ता का भाव नहीं रहता वरन सेवक का भाव रहता है। कर्ता के रूप में नाम राजनीतिज्ञ का होता है।
8. स्वस्थ कार्मिक नीति कर्मचारियों में ऐसे मूल्य स्थापित करती है कि वे सेवित व्यक्तियों के साथ एक जैसा व्यवहार कर सकें किसी के साथ भी भेदभाव नीति न अपनायें।

कार्मिक नीतियों के आवश्यक तत्व

कार्मिक नीतियों के आवश्यक तत्व अधोलिखित हैं–

- **कार्मिक वर्ग की भर्ती** (Recruitment of Employees)– यह कार्मिक प्रशासन का प्रथम तथा मूलभूत तत्व है। इसके लिए आवेदन पत्र आमन्त्रित किये जाते हैं। प्रत्याशियों की योग्यता की जांच के लिए लिखित परीक्षा एव डाक्टरी जांच की जाती है तथा साक्षात्कार किये जाते हैं।
- **प्रशासनिक संगठन** (Administrative Organization)– प्रशासनिक संगठन की समुचित व्यवस्था के लिए आन्तरिक संरचना स्थापित की जाती है जिसमें प्रत्येक कर्मचारी को कार्य स्पष्ट रूप से बता दिये जाते हैं और उच्चस्तरीय नीतियां तथा सिफारिशें तैयार की जाती हैं। संगठन के कार्यों, कर्मचारियों तथा भौतिक साधनों के बीच इस प्रकार का संबंध स्थापित किया जाता है ताकि संगठन के सामान्य लक्ष्य प्राप्त किये जा सकें।
- **प्रशिक्षण** (Training)– संगठन के कर्मचारियों को परिवर्तित समय के नये दायित्वों का निर्वाह करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। प्रशिक्षण के द्वारा

कर्मचारी की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है तथा वह पदोन्नति के योग्य बन जाता है।

टिप्पणी

- **पदोन्नति** (Promotion)– कार्मिक प्रशासन कर्मचारियों की पदोन्नति के लिए विभिन्न सिद्धान्त निर्धारित करता है। वरिष्ठता एवं योग्यता के आधार पर कर्मचारियों की उत्तरोत्तर उच्च पदों पर पदोन्नतियां की जाती हैं।
- **पद–वर्गीकरण एवं वेतन व्यवस्था** (Position Classification and Salary System)– पद–वर्गीकरण द्वारा संगठन में ऊपर से लेकर नीचे तक सभी पदों के कार्यों की स्पष्ट परिभाषा की जाती है। पद–वर्गीकरण के आधार पर कर्मचारियों की वेतन श्रृंखलायें तय की जाती हैं तथा समान कार्य के लिए समान वेतन की व्यवस्था की जाती है।
- **कार्य मूल्यांकन** (Job Evaluation)– कार्मिक प्रशासन में ऐसी व्यवस्था की जाती है कि प्रत्येक कर्मचारी की योग्यता एवं प्रभावशीलता का सही–सही मूल्यांकन किया जा सके तथा उसकी व्यक्तिगत योग्यताओं का श्रेष्ठतम उपयोग किया जाता है।
- **सेवीवर्ग को प्रदत्त अन्य सेवाएं** (Other Services Provided to Employees)– कार्मिक प्रशासन अपने कर्मचारियों के लिए स्वल्पाहारगृह तथा अन्य मनोरंजन की सुविधाएं उपलब्ध कराता है। सभी कर्मचारियों को उनकी निजी समस्याओं में परामर्श देता है।
- **चिकित्सा सुविधा** (Medical Facilities)– कर्मचारियों के लिए चिकित्सा सेवाओं की दृष्टि से स्वास्थ्य स्तरों का निर्धारण, सफाई प्रबन्ध, शारीरिक प्रशिक्षण, परीक्षण अस्पतालों–औषधालयों की व्यवस्था आदि कार्य किये जाते हैं।
- **श्रम–सम्बन्ध** (Industrial Relations)– कार्मिक प्रशासन कर्मचारियों के साथ सहवार्तायें करता है, कर्मचारियों की समस्याओं का समाधान करता है। यह कर्मचारी संघों तथा संगठनों से वार्ता करने, नीतियों तथा योजनाओं के संबंध में सुझाव तथा सहयोग देता है।
- **शोध कार्य** (Research Work)– कार्मिक प्रशासन के द्वारा कार्यप्रेरणा, व्यक्तित्व के विकास, कर्मचारियों के चयन, मूल्यांकन तथा उनके कल्याण कार्यक्रमों के क्षेत्र में अनुसंधान करके नये तथा विकसित तरीकों की व्यवस्था की जाती है।
- **अनुशासन** (Discipline)– कार्मिक प्रशासन द्वारा कर्मचारियों के अनुशासन, निलम्बन, पदमुक्ति, स्वामिभक्ति इत्यादि विषयों के बारे में नतियां एवं तकनीकें विकसित की जाती है।
- **अभिलेख करना** (Maintaining Records) – यह कर्मचारियों की सेवा के संबंध में विभिन्न प्रकार के अभिलेख रखता है ताकि उनका कार्यकाल एवं वेतनक्रम अवकाश, बीमारी अवकाश, सेवानिवृत्ति तथा ऐसे ही अन्य विषयों संबंधी आंकड़े आवश्यकता के समय उपलब्ध किये जा सकें।

इन कार्यों को सम्पन्न करने के लिए उचित कार्मिक नीति की व्यावस्था की जाती है। प्रायः लोक सेवा आयोग तथा विभागीय अभिकरण मिलकर इस नीति को तैयार करते हैं।

टिप्पणी

कार्मिक नीतियों के प्रकार (Kinds of Personnel Policies)– कार्मिक नीतियों को विभिन्न श्रेणियों में बांटा जा सकता है। यह निम्नांकित कई बातों पर निर्भर करता है–

(i) उनकी उत्पत्ति के स्रोत के आधार पर : आरम्भिक (Originated), अपीलीय (Appealed) प्राप्त की हुई (Imposed), (ii) क्षेत्र के आधार पर : सामान्य (General) विशिष्ट (Specific तथा (iii) स्वरूप के आधार पर : लिखित (Written) अन्तर्निहित (Implied)।

1. **आरम्भिक नीतियां** (Originated Policies)– यह प्रबन्धन के शिखर स्तर पर निर्धारित की जाती हैं ताकि विभिन्न स्तरों पर क्रियान्वयन के समय दिशा–निर्देश मिल सकें।
2. **अपीलीय नीतियां** (Appealed Policies)– यह विशिष्ट परिस्थितियों में निश्चित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनायी जाती हैं। इनमें पूर्व की नीतियां सम्मिलित नहीं की जातीं। इस प्रकार की नीतियों के निर्माण के लिए सामान्यतः अधीनस्थों के द्वारा मांग की जाती है। जब समस्या विशेष का समाधान वह तात्कालिक नीति से नहीं कर पाते।
3. **प्राप्त की हुई नीतियां** (Imposed Policies)– यह बाह्य अभिकरणों जैसे सरकार, व्यापार संघ और अन्य संघों के दवाब द्वारा निर्मित की जाती है।
4. **सामान्य नीतियां** (General Policies)– यह प्रबन्धन के उच्च वर्ग द्वारा संगठन के विकास लक्ष्यों, प्राथमिकताओं को ध्यान में रखकर तय की जाती हैं।
5. **विशिष्ट नीतियां** (Specific Policies)– यह कुछ निश्चित विषयों से सम्बन्धित होती हैं, जैसे भर्ती, प्रशिक्षण इत्यादि।
6. **लिखित एवं अन्तर्निहित नीतियां** (Written and Implied Policies)– अन्तर्निहित नीतियां सदस्यों के कार्य के समय व्यवहार से जुड़ी होती हैं जैसे ड्रेस कोड, कार्य के समय गुस्सा न होना, शिष्ट व्यवहार इत्यादि। ज्यादातर कार्मिक नीतियां लिखित रूप में होती हैं ताकि किसी भी नीति की अनावश्यक व गलत व्याख्या न हो सके।

कार्मिक नीतियों का निर्माण (Making of Personnel Policies)– कार्मिक नीतियों के निर्माण तथा क्रियान्वयन में निम्नांकित विभिन्न चरणों को शामिल किया जाता है–

1. **प्राथमिक लक्ष्यों एवं आवश्यकता की पहचान** (Identification of the Need and Objectives)– सर्वप्रथम कोई भी नीति निर्धारित करते समय विभिन्न स्तरों पर लक्ष्य एवं आवश्यकता की पहचान की जाती है।
2. **तथ्यों का संग्रहण** (Collection of Facts)– प्राथमिकाओं का निर्धारण करने के बाद उनसे सम्बन्धित तथ्य एकत्रित किये जाते हैं। इसके लिए संगठन के पुराने रिकार्ड, अतीत के अनुभव, संगठनों की नीतियों का सर्वे, विभिन्न मुद्दों से सम्बन्धित कार्मिक नीतियों का अनुभव, उच्च प्रबन्धन दर्शन, संगठन की संस्कृति परिवर्तित सामाजिक, आर्थिक, कानूनी परिवेश इत्यादि का अवलोकन किया जाता है।
3. **विकल्पों की व्याख्या** (Explanation of Options)– विभिन्न स्रोतों से सम्बन्धित तथ्यों को एकत्रित करने के बाद विकल्पों की व्याख्या की जाती है। ये संगठन के लक्ष्यों से सम्बन्धित होने चाहिएं।

टिप्पणी

4. **नीति का संचार** (Communication of Policies)– विभिन्न विकल्पों में से सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन किया जाता है तथा नीति का निर्माण किया जाता है। सम्पूर्ण संगठन में निर्मित नीति का संचार किया जाता है। पॉलिसी मैन्यूल्स, जरनल्स इत्यादि के द्वारा भी प्रचार किया जाता है।
5. **नीति का मूल्यांकन** (Evaluation of Policies)– कार्मिक नीतियां प्रभावी होनी चाहिएं उनका पुरावलोकन करते हुए निर्धारित मापदण्डों के विरुद्ध उनका मूल्यांकन करना चाहिये। सभी नीतियों का वार्षिक तथा समय–समय पर पुनर्निरीक्षण होना चाहिए।

कार्मिक नीतियों के लाभ (Benefits of Personnel Policies)– कार्मिक नीतियों की उपादेयता को निम्नांकित बिंदुओं के तहत समझा जा सकता है–

1. **प्रत्यायोजन** (Delegation)– कार्मिक नीति का निर्माण होने से विभिन्न स्तरों पर कार्य एवं शक्तियों का प्रत्यायोजन हो जाता है।
2. **समरूपता** (Uniformity)– एक कार्मिक नीति का निर्माण होने से संगठन में समरूपता स्थापित करने में मदद मिलती है।
3. **बेहतर समन्वय एवं नियंन्त्रण** (Better control and Co-ordination)– लक्ष्यों के अनुसार कार्मिक नीति निर्धारित होने से संगठन में प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों के बीच मधुर सम्बन्ध रहते हैं। बिना किसी संघर्ष के सभी व्यक्ति संगठन के लक्ष्य प्राप्त करने की कोशिश करते हैं।
4. **प्रभावशीलता के मापदण्ड** (Standards of Effectiveness)– नीति को क्रियान्वित करते समय यह देखा जाता है कि नीति निर्धारित मापदण्डों के अनुसार क्रियान्वित हो रही है या नहीं, अन्यथा उसमें संशोधन किये जा सकते हैं।
5. **आत्मविश्वास** (Confidence)– जब संगठन के सभी कर्मचारी सुनिश्चित योजना के अनुसार कार्य करते हैं तो उनमें निश्चित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए आत्मविश्वास बना रहता है।
6. **त्वरित निर्णय** (Quick Decisions)– अतीत की कार्मिक नीतियों से अनुभव प्राप्त करके संगठन में त्वरित निर्णय लिये जा सकते हैं।

लोक कार्मिक प्रशासन की भूमिका

विकसित और विकासशील देशों में कार्मिक प्रशासन की समस्याएं एवं चुनौतियां भिन्न–भिन्न प्रकार की हैं। अतः कार्मिक प्रशासन की भूमिका में भी अंतर आ जाता है।

(अ) विकसित देशों में लोक कार्मिक प्रशासन की भूमिका

संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान, कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी कोरिया, पश्चिमी यूरोप आदि देशों को विकसित देशों की श्रेणी में रखा जाता है। ये ऐसे देश हैं जहां आर्थिक विकास के फलस्वरूप राष्ट्रीय उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि हो चुकी है, इस कारण इन देशों में राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने के साथ–साथ आम लोगों की बचत करने की क्षमता भी बढ़ी है।

आधुनिकीकरण, वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास के परिणामस्वरूप हमारे समाज में अनेक समस्याएं एवं चुनौतियां भी उपस्थित हुई हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका

टिप्पणी

और यूरोप के अनेक शहरों में हिंसा, आतंकवाद, तोड़फोड़ का आलम है। भौतिकवाद को बढ़ावा देने से पर्यावरण प्रदूषण आदि समस्याएं उत्पन्न हो गई हैं। ऐसे समाजों में सामंजस्य बिठाना कार्मिक प्रशासन का दायित्व है। इन समाजों में संचार एवं आवागमन व्यवस्था के विस्तार ने प्रशासनिक क्रियाकलाप के विषय क्षेत्र को पर्याप्त रूप से विस्तृत कर दिया है और साथ ही लोक कार्मिक प्रशासन के दायित्वों में वृद्धि भी की है। इन तथ्यों के संदर्भ में विकसित देशों में प्रशासन की भूमिका इस प्रकार है–

1. **कानून एवं व्यवस्था की बहाली** (Maintenance of Law and Order)– प्रशासन का अस्तित्व ही विधि एवं व्यवस्था की बहाली से जुड़ा हुआ है। कार्मिक प्रशासन आन्तरिक व्यवस्था बनाये रखता है तथा विदेशी आक्रमणों से राज्य की रक्षा करता है।
2. **नीति निर्माण और नियोजन संबंधी कार्य** (Policy Formulation and Employment Related Functions)– कार्मिक वर्ग नीति निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वैसे तो नीति–निर्माण का कार्य विधायिका के जिम्मे होता है, लेकिन वास्तविकता यह है कि नीति–निर्माण की रूपरेखा सेवीवर्ग के द्वारा ही तय की जाती है।
3. **नीति को कार्यान्वित करना** (Implementing the Policies)– सेवी वर्ग के द्वारा नियोजन का प्रारूप तैयार किया जाता है ताकि नियोजन को बेहतर ढंग से क्रियान्वित किया जा सके। सेवी वर्ग से नियोजन में परामर्श लेना इसलिए भी आवश्यक है कि उन्हें नियोजन तकनीक के बारे में जानकारी होती है।
4. **अर्द्धन्यायिक कार्य** (Quasi -judicial Functions)– प्रशासनिक अधिनिर्णय तथा प्रशासनिक कानून के परिणामस्वरूप कार्मिक वर्ग को प्रशासन संबंधी कार्यों के अलावा न्यायिक कार्यों को भी सम्पादित करना पड़ता है।
5. **चुनौतीपूर्ण भूमिका** (Challenging Role)– अधिकांश विकसित औद्योगिक समाज लोकतान्त्रिक कल्याणकारी राज्य है, जहां कार्मिक प्रशासन को चुनौतीपूर्ण भूमिका निभानी होती है ताकि लोकतान्त्रिक और कल्याणकारी कार्यों को पूरा किया जा सके।
6. **मितव्ययी तरीका** (Inexpensive Method)– औद्योगिक समाजों के नागरिक प्रभावी और कुशल लोक–सेवाओं के अभ्यस्त हैं। अतः कार्मिक प्रशासन को नियम सीमा में रहते हुए कार्यकुशल और मितव्ययी ढंग से कल्याणकारी कार्यों को पूरा करना पड़ता है।
7. **कानूनों का क्रियान्वयन** (Implementation of Laws)– कार्मिक प्रशासन कानूनों का क्रियान्वयन करता है राजस्व एकत्रित करता है। इस तरह वह आन्तरिक व्यवस्था बनाये रखता है।
8. **निजी उद्यमों को प्रोत्साहन** (Encouragement to Private Industry)–विकसित देशों में अधिकांश कार्य निजी उद्यम करते हैं। अतः कार्मिक प्रशासन निजी उद्यमों को प्रोत्साहित करता है। उनकी समस्याओं का निराकरण करता है और उनमें समन्वय स्थापित करता है।

आज विकसित देशों में पर्यावरण प्रदूषण, शस्त्रीकरण, नगरीकरण की समस्यायें चिन्ता का विषय बनती जा रही हैं। अतः इन समस्याओं के समाधान में कार्मिक प्रशासन की भूमिका स्वीकार की जाने लगी है।

टिप्पणी

(ब) विकासशील देशों में लोक कार्मिक प्रशासन की भूमिका

कार्मिक प्रशासन का दायित्व उन देशों में और भी अधिक है जिनका आर्थिक, राजनीतिक एवं शैक्षिणिक स्तर निम्न एवं पिछड़ा हुआ है। विकासशील देशों में प्रशासन का कार्य नकारात्मक ही नहीं है, वरन् वह अप्रक्रियात्मक भी है। यदि प्रशासन आम नागरिकों के लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने में असफल रहा तो इन देशों में जनजीवन सुरक्षित नहीं रह सकता।

संयुक्त राष्ट्र संघ के वर्तमान 193 सदस्य राज्यों में 152 को विकासशील राज्यों (Developing Countries) की श्रेणी में रखा जाता है जिनमें 48 राज्यों को निर्धनतम राज्यों की श्रेणी में रखते हुए 'अल्प विकसित राज्य' (Least Developed Countries, LDC) कहकर पुकारा गया है।

विकासशील राष्ट्रों की कुछ ज्वलन्त समस्याएं हैं–आन्तरिक संघर्ष, राजनीतिक अस्थिरता, राजनीति में सेना की प्रभावी भूमिका और प्रशासन में राजनीतिक हस्तक्षेप आदि अतः इन देशों में कार्मिक प्रशासन को नियमित कार्यों के साथ–साथ विकासात्मक कार्य भी करने पड़ते हैं। विकासशील देशों में कार्मिक प्रशासन की भूमिका निम्न बिन्दुओं के रूप में देखी जा सकती है–

1. विकसित देशों के विपरीत विकासशील देशों में प्रशासनिक समस्यायें अलग हैं जिनके लिए चुस्त, निष्पक्ष और कर्त्तव्यपरायण प्रशासन की भूमिका वहां के कार्मिक प्रशासन को निभानी पड़ती है।
2. विकासशील समाज में बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ नई समस्यायें भी जन्म ले रही हैं। इन समस्याओं से यहां के कार्मिक प्रशासन को ही निपटना पड़ता है। गरीबी, बेरोजगारी, जनसंख्या विस्फोट, आर्थिक मंदी, राजनीतिक अस्थिरता, आंतकवाद इन देशों की मुख्य समस्यायें हैं।
3. विकासशील समाज में कार्मिक वर्ग का महत्वपूर्ण कार्य सामाजिक जीवन को शोषणमुक्त तथा आर्थिक समानता को लाना है। प्रशासन द्वारा हानिकारक तथा अस्वास्थ्यकर वस्तुओं के उपयोग को नियन्त्रित किया जाता है तथा आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति की व्यवस्था की जाती है।
4. भारत जैसे विकासशील समाज में मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाया गया है। अतः सार्वजनिक उपक्रमों का प्रभावी प्रशासन कार्मिक वर्ग का एक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। सार्वजनिक उपक्रमों से आशय उन औद्योगिक संस्थाओं से है जिन पर राज्य का स्वामित्व होता है और जिनका प्रबन्ध व संचालन राजकीय प्रशासन द्वारा किया जाता है।
5. आज विकासशील समाजों में भूमण्डीकरण, निजीकरण जैसी प्रक्रियायें बहुत तेजी से चल रही हैं ऐसी स्थिति में लोककार्मिक वर्ग को निजी प्रशासन से कठोर प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है।

टिप्पणी

6. विकासशील समाजों में कार्मिक प्रशासन को अपनी औपनिवेशिक कार्य प्रकृतियों से बाहर निकलकर जनतन्त्रात्मक चुनौतियों के बीच में कार्य करना पड़ता है। इसके लिए उसे समाज की बदलती आकांक्षाओं को समझना पड़ता है। जनप्रतिनिधियों, राजनीतिक विरोधियों एवं उदासीन जनसाधारण के बीच रहते हुए उसे ऐसी भूमिका निभानी होती है जो सभी को संतुष्ट रख सके। साथ ही व्यवस्था एवं विकास के प्रशासनों में भी तालमेल रख सके। विकासशील समाजों में कार्मिक प्रशासन को लोक–कल्याणकारी राज्य के कार्य की दिशा में कदम रखते हुए जनता की समुचित भलाई करनी होती है। जनता को प्रशासन से भावात्मक लगाव होना चाहिए। प्रशासन को जनता का स्वामी न समझकर मित्र एवं मार्गदर्शक समझा जाना चाहिए।

   विकासशील देशों में कार्मिक प्रशासन की भूमिका बहुत जटिल एवं कठिन है। वहां एक ओर उन्हें वे सारी भूमिकायें निभानी होती हैं जो विकसित देशों में प्रशासन निभाता है तथा दूसरी ओर उन्हें नवीन दायित्वों का भी निर्वाह करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त जन सहयोग एवं सहभागिता की कमी, भारी बेरोजगारी, जातीय एवं साम्प्रदायिक गतिविधियां आदि कार्मिक प्रशासन के समक्ष अन्य समस्यायें भी हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

17. एल.डी.व्हाइट की पुस्तक 'लोक प्रशासन के अध्ययन का परिचय" प्रकाशित हुई?

    (क) सन् 1916 (ख) सन् 1920

    (ग) सन् 1926 (घ) सन् 1930

18. पैडल्टना एक्क सन् 1880 में कहां पारित हुआ?

    (क) अमेरिका (ख) फ्रांस

    (ग) भारत (घ) जापान

3.11 लोक सेवकों की भर्ती : प्रशिक्षण, पदोन्नति

भर्ती का सामान्य अर्थ है विभिन्न सरकारी नौकरियों के लिए उपयुक्त प्रकार के व्यक्तियों को खोजना। सामान्यतः भर्ती शब्द का प्रयोग 'नियुक्ति' शब्द के समानार्थी रूप में प्रयुक्त किया जाता है। कुछ लोग भर्ती के लिए ली जाने वाली परीक्षाओं को भर्ती कहते हैं कुछ शिक्षा या ट्रेनिंग में प्रवेश को भर्ती कहते हैं। वास्तव में भर्ती के यह संकुचित अर्थ हैं। लोक प्रशासन के व्यापक अर्थों में भर्ती से अभिप्राय स्पर्धात्मक परीक्षाओं, रिक्त स्थानों एवं पदों के लिए योग्य व्यक्तियों को आकर्षित करना ही भर्ती है। प्रशासन की प्राविधिक शब्दावली में भर्ती का अर्थ है किसी पद के लिए योग्य प्रत्याशियों को आकर्षित करना। भर्ती एक व्यापक प्रक्रिया है जिसके द्वारा लोक प्रशासन में योग्य कर्मचारियों के संगठन, उनका चुनाव किया जाता है और उन्हें अपने पदों पर नियुक्त कर प्रशासन में निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति की जाती है।

भर्ती की अवधारणाएं

टिप्पणी

भर्ती का अर्थ दो रूपों में लिया जाता है–

1. सकारात्मक भर्ती (Positive Recruitment)
2. नकारात्मक भर्ती (Negative Recruitment)

(अ) सकारात्मक भर्ती (Positive Recruitment)– भर्ती की सकारात्मक अवधारणा का आशय यह है कि विभिन्न सरकारी पदों के लिए उचित और योग्य व्यक्तियों की खोज के प्रयास किये जायें। इस पद्धति में अयोग्य लोगों को बाहर रखने पर इतना बल नहीं दिया जाता जितना इस बात पर दिया जाता है कि सेवा के लिए सर्वोत्तम व्यक्तियों को किस प्रकार प्रोत्साहित किया जाये और उनकी योग्यता का मूल्यांकन कैसे किया जाये।

(ब) नकारात्मक पद्धति (Negative Recruitment) का उद्देश्य यह होता है पदों से अयोग्य व्यक्तियों को दूर रखा जाये। लोक सेवाओं में पक्षपात और दलगत राजनीति के प्रभाव को मिटाया जाये। इस प्रक्रिया में भर्तीकर्ता कुछ ऐसे नियम बना देता है और न्यूनतम शर्तें निर्धारित कर देता है, जिसके आधार पर केवल योग्य व्यक्तियों को ही उम्मीदवार बनने के अवसर प्राप्त हो सकें और अयोग्य लोग सार्वजनिक सेवा से बाहर रखे जा सकें।

भर्ती की प्रणालियां (Systems of Recruitment)

भर्ती दो प्रकार से की जाती है–

1. **भीतर से भर्ती अथवा पदोन्नति** (Internal Recruitment of Promotion)– रिक्त पदों पर उसी संगठन के निम्न पदों पर कार्यरत व्यक्तियों में से ही चयन किया जाता है तो उसे पदोन्नति या अप्रत्यक्ष या भीतर से भर्ती कहते हैं। इस पद्धति के समर्थक यह तर्क देते हैं कि इस व्यवस्था में कर्मचारी पहले से ही सेवा में होते हैं और उच्च पदों पर नियमानुसार पदोन्नत कर दिये जाते हैं। अतः पद के लिए पूर्व प्रशिक्षित और अनुभवी व्यक्ति प्राप्त होते हैं।
2. **बाहरी अथवा प्रत्यक्ष भर्ती** (External Direct Recruitment)– प्रत्यक्ष भर्ती का तात्पर्य सभी इच्छुक व्यक्तियों के लिए रोजगार के समान अवसरों को ध्यान में रखते हुए न्यूनतम अर्हताओं के अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक को चयन का समान अवसर दिया जाता है। इस पद्धति के माध्यम से सेवाओं में नये वर्ग व स्फूर्ति का समावेश होता है। सेवा में प्रवेश की आयु 18 से 30 वर्ष तक होती है।

भारत में भर्ती प्रक्रिया

भारत में अखिल भारतीय एवं केन्द्रीय सेवाओं की भर्ती मैकाले समिति, कोठारी समिति और सतीशचन्द्र समिति की सिफारिशों पर आधारित है। भारत में उच्च सेवाओं में भर्ती का कार्य प्रतिवर्ष संघीय लोक सेवा आयोग करता है। आयोग प्रतिवर्ष सिविल सेवा परीक्षा आयोजित करता है जिसके माध्यम से अखिल भारतीय सेवाओं तथा केन्द्रीय सेवाओं के विभिन्न पद भरे जाते हैं। भारतीय प्रशासनिक सेवा तथा भारतीय पुलिससेवा में आयोग द्वारा सिविल सेवा परीक्षा के माध्यम से खुली भर्ती होती है। भारतीय वन सेवा

की परीक्षा आयोग द्वारा पृथक से आयोजित की जाती है। इन सेवाओं में राज्य सेवाओं के अधिकारी पदोन्नति से भी प्रवेश पाते हैं।

टिप्पणी

सिविल सेवा परीक्षा में स्वतन्त्रता के पश्चात् कुछ आवश्यक परिवर्तन किये गये थे। इसी प्रकार सन् 1974 में कोठारी समिति (कमेटी ऑन रिक्रूटमेण्ट पॉलिसी एण्ड सलैक्शन मैथड) का गठन हुआ। कमेटी ने सन् 1976 में अपना विस्तृत प्रतिवेदन सरकार को प्रस्तुत किया था जिसमें सभी सेवाओं के लिए एक समान परीक्षा आयोजित करने, प्रतियोगी परीक्षा को प्रारम्भिक तथा मुख्य दो चरणों में बांटने तथा बहु विकल्पात्मक प्रश्न प्रद्धति को सम्मिलित करने जैसे महत्वपूर्ण सुझाव सम्मिलित थे। सन् 1979 से सिविल सेवा परीक्षा तीन चरणों यथा–प्रारम्भिक परीक्षा, मुख्य परीक्षा तथा साक्षात्कार में विभक्त हो गई। प्रारम्भिक परीक्षा के माध्यम से अधिकांश उम्मीदवारों की छंटनी हो जाती है। इसी वर्ष (1979) से सिविल सेवा परीक्षा अंग्रेजी के साथ–साथ हिन्दी एवं अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में भी होने लगी।

सिविल सेवा परीक्षा प्रणाली का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है–

भर्ती प्रक्रिया (Recruitment Process)– कार्मिक, लोक शिकायत तथा पेंशन मंत्रालय एवं अन्य केन्द्रीय विभागों से रिक्त पदों का अनुमान प्राप्त होने पर संघ लोक सेवा आयोग प्रायः दिसम्बर माह में 'रोजगार समाचार' तथा अन्य प्रमुख समाचार–पत्रों में सिविल परीक्षा का नोटिस प्रकाशित करवाता है। अखिल भारतीय सेवाओं तथा केन्द्रीय सेवाओं ग्रुप 'क' तथा 'ख' में प्रायः 300 से 500 उम्मीदवार प्रतिवर्ष भर्ती किये जाते हैं। प्रारम्भिक परीक्षा प्रायः मई माह में तथा मुख्य परीक्षाएं अक्टूबर में आयोजित होती हैं।

सिविल सेवा परीक्षा में प्रमुख बिन्दु निम्नलिखित हैं–

1. **परीक्षा केन्द्र** (Examination Centers)– देश के 45 शहरों में स्थित परीक्षा केन्द्रों के माध्यम से प्रतियोगी परीक्षा आयोजित होती है।
2. **पात्रता** (Eligibility)–
   (i) **राष्ट्रीयता** (Nationality)– भारतीय प्रशासनिक सेवा और भारतीय पुलिस सेवा के उम्मीदवार को भारत का नागरिक अवश्य होना चाहिए। शेष सेवाओं हेतु उम्मीदवार भारत का नागरिक हो या नेपाल की प्रजा हो या भूटान की प्रजा हो या ऐसा तिब्बती शरणार्थी हो जो भारत में स्थायी रूप से रहने के इरादे से 1 जनवरी, 1962 से पहले भारत आ गया हो या कोई भारतीय मूल का व्यक्ति जो भारत में स्थायी रूप से रहने के इरादे से पाकिस्तान, बर्मा, श्रीलंका, कीनिया, उगाण्डा, संयुक्त गणराज्य तंजानिया के पूर्वी अफ्रीकी देशों, जाम्बिया, मलावी, जैरे, इथियोपिया तथा वियतनाम से प्रवजन कर आया हो। इन सभी (भारतीयों के अतिरिक्त) के पास भारत सरकार द्वारा जारी किया गया पात्रता प्रमाण–पत्र होना चाहिए। भारतीय विदेश सेवा हेतु नेपाली, भूटानी तथा तिब्बती व्यक्ति पात्र नहीं हैं।
   (ii) **आयु सीमा** (Age limit)– 21 से 30 वर्ष (सन् 1999 से पूर्व 28 वर्ष थी) निर्धारित है, जो प्रायः परीक्षा आयोजित होने वाले वर्ष के 1 अगस्त को

आधार मानकर गिनी जाती है। अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के उम्मीदवारों को अधिकतम आयु सीमा में 5 वर्ष की, अन्य पिछड़े वर्गों को 3 वर्ष की तथा विस्थापितों, सशस्त्र सेना के कमीशन प्राप्त अधिकारियों तथा कुछ अन्य वर्गों को आयु सीमा में नियमानुसार छूट प्राप्त है।

टिप्पणी

(iii) **न्यूनतम शैक्षिक योग्यता** (Minimum Eductional Qualifications)– उम्मीदवार के पास भारत के केन्द्र या राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्गमित किसी विश्वविद्यालय की या संसद के अधिनियम द्वारा स्थापित या विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम, 1956 के खण्ड–III के अधीन विश्वविद्यालय के रूप में मानी गई किसी अन्य शिक्षा संस्था की स्नातक डिग्री या समकक्ष योग्यता होनी चाहिए।

(iv) **अवसरों की संख्या** (Number ofAttempts)– सामान्य वर्ग के उम्मीदवारों हेतु चार अवसर निर्धारित हैं जबकि अन्य पिछड़ा वर्ग (OBC) हेतु सात अवसर दिए जाते हैं किन्तु यह बाध्यता अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के उम्मीदवारों पर लागू नहीं है। प्रारम्भिक परीक्षा में बैठने (वस्तुतः चाहे एक प्रश्न–पत्र में बैठा हो) को एक अवसर गिना जाता है।

3. **शुल्क** (Fee)– इन परीक्षाओं के लिए सरकार द्वारा शुल्क निर्धारित किये जाते हैं। अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के उम्मीदवारों को शुल्क में या शुल्क से छूट प्राप्त होती है।

4. **परीक्षा की रूपरेखा** (Plan of Examination)–

(i) **प्रारम्भिक परीक्षा** (Preliminary Examination)– उक्त परीक्षा में दो प्रश्न–पत्र होते है –(प्रत्येक के लिए समय 2 घण्टे निश्चित है)

प्रश्न पत्र–1 सामान्य अध्ययन 150 अंक

प्रश्न पत्र–2 निम्नांकित ऐच्छिक विषयों में से चुना गया एक विषय

कुल $\frac{300 \text{ अंक}}{450 \text{ अंक}}$

प्रारम्भिक परीक्षा हेतु ऐच्छिक विषय

1. कृषि विज्ञान 2. पशुपालन तथा पशुचिकित्सा विज्ञान 3. वनस्पति विज्ञान 4. रसायन विज्ञान 5. सिविल इंजीनियरिंग 6.वाणिज्य शास्त्र 7. अर्थशास्त्र 8. विद्युत इंजीनियरिंग 9. भूगोल 10. भू–विज्ञान 11. भारतीय इतिहास 12. विधि 13. गणित 14. यान्त्रिकी इंजीनियरिंग 15. चिकित्सा विज्ञान 16. भौतिक 17.राजनीति विज्ञान 18. दर्शनशास्त्र 19. मनोविज्ञान 20. लोकप्रशासन 21. समाजशास्त्र 22. सांख्यिकी 23. प्राणिशास्त्र।

प्रारम्भिक परीक्षा के दोनों प्रश्न–पत्र बहुविकल्पात्मक (Objective Type) प्रश्नों से युक्त होते हैं। सामान्य अध्ययन में संविधान, समाज, सामान्य शिक्षा, सामान्य ज्ञान, इतिहास, राजनीति, पर्यावरण तथा समसामयिक घटनाओं से सम्बन्धित प्रश्न पूछे जाते हैं। ऐच्छिक विषय के प्रश्न–पत्रों में स्नातक स्तर का पाठ्यक्रम होता है।

टिप्पणी

(ii) **मुख्य परीक्षा** (Main Examination)– प्रारम्भिक परीक्षा में उत्तीर्ण घोषित उम्मीदवार ही मुख्य परीक्षा में बैठते हैं। परीक्षा की निम्नलिखित योजना होती है–

प्रश्न–पत्र 1	संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित भाषाओं में से उम्मीदवारों द्वारा चुनी गई कोई एक भारतीय भाषा	300 अंक
प्रश्न–पत्र–2	अंग्रेजी	300 अंक
प्रश्न–पत्र 3	निबन्ध	200 अंक
प्रश्न पत्र 4 तथा 5	सामान्य अध्ययन	प्रत्येक के 300 अंक
प्रश्न–पत्र 6 से 9	ऐच्छिक विषयों की सूची में चुने गए कोई दो विषय, प्रत्येक विषय के दो प्रश्न–पत्र	प्रत्येक प्रश्न–पत्र के 300 अंक

मुख्य परीक्षा में निबन्धात्मक शैली के प्रश्न–पत्र होते हैं। समयावधि 3 घण्टे की है। भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी का प्रश्न–पत्र सैकण्डरी या समकक्ष स्तर का होता है। इन प्रश्न–पत्रों में प्राप्त अंक योग्यता क्रम निर्धारण में नहीं गिने जाते हैं लेकिन इन भाषाओं के प्रश्न पत्रों के आवश्यक अंक प्राप्त करने पर ही सामान्य अध्ययन, निबन्ध तथा ऐच्छिक विषयों के प्रश्न–पत्रों की जांच होती है। भारतीय भाषाओं का प्रथम प्रश्न–पत्र उन उम्मीदवारों के लिए अनिवार्य नहीं है, जो अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम, नागालैण्ड तथा सिक्किम राज्यों के हैं।

भाषाओं के प्रश्न–पत्र के साथ लिपि का निर्धारण इस प्रकार किया गया है–

भाषा	**लिपि**	**भाषा**	**लिपि**
असमिया	असमिया	मराठी	देवनागरी
बंगला	बंगला	नेपाली	देवनागरी
गुजराती	गुजराती	उड़िया	उड़िया
हिन्दी	देवनागरी	पंजाबी	गुरमुखी
कन्नड़	कन्नड़	सिंधी	देवनागरी या अरबी
कोंकणी	देवनागरी	तमिल	तमिल
मलयालम	मलयालम	तेलुगु	तेलुगु
मणिपुरी	बंगला	उर्दू	फारसी
संस्कृत	देवनागरी	कश्मीरी	फारसी

मुख्य परीक्षा हेतु ऐच्छिक विषयों की सूची इस प्रकार है–

1. कृषि विज्ञान
2. पशुपालन तथा पशु चिकित्सा विज्ञान
3. नृविज्ञान
4. वनस्पति शास्त्र
5. रसायन विज्ञान
6. सिविल इंजीनियरिंग
7. वाणिज्यशास्त्र एवं लेखाविधि
13. विधि
14. प्रबन्ध
15. यान्त्रिकी इंजीनियरिंग
16. चिकित्सा विज्ञान
17. दर्शनशास्त्र
18. भौतिकी
19. राजनीति विज्ञान

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

8. अर्थशास्त्र
9. विद्युत इंजीनियरिंग
10. भूगोल
11. भू–विज्ञान
12. इतिहास
20. मनोविज्ञान
21. लोक प्रशासन
22. समाजशास्त्र
23. सांख्यिकी
24. प्राणीविज्ञान
25. गणित

टिप्पणी

उपर्युक्त वर्णित विषयों में निम्नलिखित विषय एक साथ नहीं लिए जा सकते हैं–

1. राजनीति विज्ञान तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एवं लोक प्रशासन,
2. वाणिज्यशास्त्र तथा लेखा विधि एवं प्रबन्ध।
3. नृविज्ञान एवं समाजशास्त्र
4. गणित एवं सांख्यिकी
5. कृषि विज्ञान एवं पशुपालन तथा पशुचिकित्सा विज्ञान,
6. प्रबन्ध तथा लोक प्रशासन,
7. इंजीनियरिंग के कोई दो विषय एक साथ नहीं,
8. पशुपालन तथा पशुचिकित्सा विज्ञान एवं चिकित्सा विज्ञान।

साक्षात्कार (Interview)– प्रधान परीक्षा के तीन से आठवें प्रश्न पत्र के कुल 1800 अंकों के प्राप्तांकों के आधार पर कुल स्थानों के करीब दो गुना उम्मीदवारों को साक्षात्कार के लिए बुलाया जाता है। साक्षात्कार एक बोर्ड द्वारा होता है। संघीय लोक सेवा आयोग की विज्ञप्ति के अनुसार साक्षात्कार बोर्ड उम्मीदवार से सामान्य रुचि की बातों पर प्रश्न पूछता है। इसका उद्देश्य यह जानना है कि वह लोक सेवा के लिए व्यक्तित्व की दृष्टि से उपयुक्त है या नहीं। इसके माध्यम से उसकी मानसिक क्षमता को आंकने का प्रयास किया जाता है।

साक्षात्कार का प्रयोजन बौद्धिक गुणों के साथ–साथ उसके सामाजिक लक्षणों तथा सामाजिक घटनाओं में उसकी रुचि का मूल्यांकन करना है। इसमें उम्मीदवार की मानसिक सतर्कता, आलोचनात्मक ग्रहण–शक्ति, स्पष्ट एवं तर्कसंगत प्रतिपादन की शक्ति, संतुलित निर्णय की शक्ति, रुचि की विविधता एवं गहराई, नेतृत्व एवं सामाजिक संगठन की योग्यता, बौद्धिक एवं नैतिक ईमानदारी आदि की भी जांच की जाती है। साक्षात्कार के लिए 250 अंक निर्धारित किए गए हैं।

इस प्रकार प्रधान परीक्षा के प्रश्न पत्रों में प्राप्त कुल अंकों में साक्षात्कार के प्राप्तांकों को जोड़कर योग्यता सूची बनाई जाती है। माना सभी प्रकार की उन सेवाओं के लिए, जिनके लिए परीक्षा की गई है, रिक्त पद 500 हैं। आवेदन पत्र में उम्मीदवार की सेवा निर्धारित कर दी जाती है। इसकी सिफारिश संघीय लोक सेवा आयोग भारत के कार्मिक, लोक शिकायत एवं पेंशन मंत्रालय को कर देता है।

मूल्यांकन (Evaluation)– सन् 1979 में अपनाई गई भर्ती पद्धति अनेक आयामों से अच्छी मानी जा सकती है। इसमें उम्मीदवारों की संख्या पर पूरा नियन्त्रण कर लिया गया है। सब सेवाओं के लिए एक ही परीक्षा होने से व्यय तथा समय में बचत हुई है। भाषाओं को योग्यता की बजाए मात्र अर्हता के रूप में स्वीकार करना एवं सामान्य ज्ञान की बजाए

सामाजिक अध्ययन का महत्व सभी भाषाओं को माध्यम के रूप में स्वीकार करके आयोग ने उदारता का परिचय दिया है। परन्तु इन सबके बावजूद भर्ती पद्धति को भारतीय सेवाओं की आवश्यकता के अनुरूप नहीं बनाया जा सका है।

टिप्पणी

भर्ती प्रणाली की कठिनाइयां :

उच्च सेवाओं में भर्ती प्रणाली की कुछ ऐसी कठिनाइयां हैं जिनके कारण कोई अच्छी पद्धति विकसित नहीं हो पा रही हैं। ये निम्नलिखित हैं–

1. ब्रिटिशकालीन भारत में उद्योगों को हतोत्साहित किया गया तथा नौकरीपेशा को समाज में अधिक प्रतिष्ठा मिली। फलतः अभी तक रोजगार के अवसर बहुत सीमित हैं और शिक्षित युवा पीढ़ी का पूरा भार सेवाओं पर आ जाता है। साथ ही लोक सेवा में ''सेवा'' की बजाए ''प्रतिष्ठा'' प्राप्ति के उद्देश्य से उम्मीदवार अपनी पूरी शक्ति लगा देता है। एक ओर तो अत्यधिक संख्या के कारण चयन में कठिनाई होती है, दूसरी और प्रत्येक उम्मीदवार सेवा में घुसने के लिए सभी प्रकार के अनुचित साधनों (रिश्वत, दबाव–सामाजिक, राजनैतिक आदि तथा परीक्षा के गलत तरीके) का उपयोग करने पर जोर देता है।
2. भारतीय प्रशासन में अभी तक भी निश्चित, स्पष्ट एवं मापने योग्य जिम्मेदारी निर्धारित नहीं की जा सकी है। इसके बिना किसी सेवा या अधिकारी की सफलता–असफलता को मापा नहीं जा सकता और न ही योग्यता का कोई ठोस स्वरूप निर्धारित हो सकता है। सेवा के लिए आवश्यक निश्चित योग्यता के बिना चयन की अच्छी पद्धति विकसित नहीं की जा सकती।
3. शासन के नीति–निर्धारक एवं निर्णय से सम्बन्धित प्रबुद्ध वर्ग ने अभी भी आई. सी.एस. संस्कृति को आदर्श व्यवस्था मान रखा है। अतः आमूल परिवर्तन की न तो इच्छाशक्ति है और न ही मांग।
4. देश में शिक्षा पद्धति को इस प्रकार पुनर्गठित नहीं किया जा सकता है कि वह सुसंस्कृत एवं सुदृढ़ व्यक्तित्व गढ़ सके। जब स्नातकों का व्यक्तित्व ही कमजोर या अधूरा होगा तो चयन पद्धति को क्या दोष दिया जा सकता है।
5. स्वतन्त्रता के बाद सभी क्षेत्रों में सरकार के कार्यों में और इसलिए विभागों तथा सेवाओं में अत्यधिक वृद्धि हुई है। परन्तु केन्द्र सरकार ने अभी तक ऐसी कोई व्यवस्था नहीं की है कि पर्याप्त समय रहते लोक सेवा आयोग को सूचित कर सके कि किस कार्य के लिए लगभग कितने व्यक्ति भर्ती करने होंगे। इसके अभाव में आयोग उचित भर्ती तकनीक नहीं विकसित कर पाया है। एक स्पष्ट भर्ती नीति का भी अभाव है।
6. उच्च सेवाओं में भर्ती के लिए पाठ्यक्रम अभी भी पूरी तरह से ठीक नहीं किया जा सका है। चीनी, रूसी, जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाओं के साहित्य का आई.ए.एस. या आई.पी.एस. की योग्यता से सम्बन्ध कम समझ में आता है।
7. चयन के लिए लिखित परीक्षा की कोई तर्कसंगत पद्धति विकसित नहीं की गई है। परीक्षा पद्धति में वे सब कमियां देखी जा सकती हैं जो विश्वविद्यालय परीक्षा में पाई जाती हैं। जैसे–दस में से पांच प्रश्न चुनना, भाग्य पर आधारित, परीक्षक

की कमजोरियां, अनुचित साधनों का प्रयोग आदि। निबन्धात्मक पद्धति के माध्यम से ज्ञान की जानकारी की जांच बहुत कम हो पाती है। यह पद्धति पूरी तरह व्यक्तिपरक है, जिसमें विचार–भेद का प्रभाव रहता है।

टिप्पणी

8. वर्तमान भर्ती पद्धति से योग्यता आंकने की बजाय हम ''अयोग्यता'' की घोषणा अधिक करते हैं और एक बड़ी संख्या में युवाओं को हतोत्साह एवं निराशा में धकेल देते हैं। इस चयन पद्धति के माध्यम से मात्र 3 अंक की कमी/अधिकता से आई.पी.एस या आई.ए.एस. चुन लिए जाते हैं और वे जीवनभर इसी हीन/श्रेष्ठता के भाव के साथ जीते हैं। इस पद्धति में आयोग नहीं बताता कि कौन किस कार्य के योग्य है, बल्कि उम्मीदवार तय करता है कि उसे कौन–सी सेवा चाहिए।
9. प्रशासन सुधार आयोग (1968) की ठोस सिफारिशों के बावजूद चयनकर्त्ता की क्षमता बढ़ाने के लिए कोई प्रयास नहीं किया गया। लोक सेवा आयोग में नियुक्तियां अभी भी बिना चयन क्षमता को ध्यान में रखे की जा रही हैं। साक्षात्कार बोर्ड में आयोग का एक सदस्य, विषय सम्बन्धी विशेषज्ञ, एक नौकरशाह आदि होते हैं। इसमें कोई भी उस योग्यता को मापने की क्षमता नहीं रखता, जिसकी जांच का विज्ञापन संघीय लोक सेवा आयोग देता है।

भर्ती पद्धति के लिए सुधारात्मक सुझाव

यदि सुधार के लिए प्रयास किया जाए तो सवेाओं की क्षमता और मनोबल को बढ़ाने की पर्याप्त गुंजाइश है। भर्ती व्यवस्था अनेक तत्वों से प्रभावित होती है। इसलिए केवल चयन पद्धति पर केन्द्रित होकर सुधार नहीं किया जा सकता। भर्ती पद्धति में सुधार के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं–

1. केन्द्रीय सरकार का कार्मिक विभाग भावी आवश्यकता का अनुमान लगाते हुए लम्बी अवधि के लिए श्रम–शक्ति या मानव–शक्ति योजनाएं बनाए।
2. प्रशासकीय संगठनों में जिम्मेदारी एवं योग्यता निर्धारण का प्रयास किया जाना चाहिए। इसके साथ ही प्रत्येक स्तर पर उपलब्धि मूल्यांकन के लिए माप तैयार किए जाने चाहिए जिससे सेवाओं में भर्ती के लिए आवश्यक योग्यता निर्धारण में मदद मिले।
3. चयन के लिए परीक्षाओं के पाठ्यक्रम को सेवा की आवश्यकता से जोड़ा जाए। परीक्षा पद्धति को वस्तुपरक बनाया जाए। परीक्षा तथा साक्षात्कार में अधिक प्रासंगिक प्रश्न पूछे जाएं।
4. सेवाओं में व्यावसायीकरण को विकसित किया जाना चाहिए। सेवाओं को उनके कार्य की अधिक स्वायत्त जिम्मेदारी देते हुए अधिकतर सेवाओं के बीच समानता का स्तर स्थापित किया जाना चाहिए। सरकार के किसी कार्य को कम महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता।
5. भर्ती पद्धति में सीमित स्तर के प्रयोग किए जाएं। ब्रिटेन की भर्ती की पद्धति की तरह के प्रयोग का सुझाव प्रशासन सुधार आयोग ने भी दिया है। इसके अनुसार विश्वविद्यालय डिग्री में प्रथम श्रेणी प्राप्त युवाओं को मामूली लिखित परीक्षा किन्तु विस्तृत साक्षात्कार के माध्यम से चयन किया जाए। यह प्रयोग केवल 10

टिप्पणी

प्रतिशत पदों के लिए किया जाए। इस प्रकार चयनित लोगों की कुशलता की पारम्परिक चयन पद्धति से चयनित लोगों की कुशलता से तुलना की जानी चाहिए। प्रो. एम.वी. माथुर (Prof. M.V. Mathur) का सुझाव है कि उच्चतर माध्यमिक के बाद भर्ती करके आयोग की देख–रेख में उनकी शिक्षा की व्यवस्था की जाए और उनके व्यक्तित्व को विकसित किया जाना चाहिए। फ्रांस में इसी पद्धति को अपनाया जाता है।

6. संघीय लोक सेवा आयोग को अधिक सक्षम बनाया जाना चाहिए। प्रशासन सुधार आयोग ने इसे सुदृढ़ करने के लिए उसके सदस्यों की न्यूनतम शैक्षणिक योग्यता निर्धारित करने, भिन्न–भिन्न क्षेत्रों से सदस्य लेने, शोध इकाई स्थापित करने आदि के सुझाव दिए हैं।

कार्मिक प्रबन्ध में भर्ती को उचित महत्व दिया जाना चाहिए। सेवाओं के लिए योग्य, प्रतिबद्ध एवं उच्च मनोबल के व्यक्ति चयनित होंगे तभी प्रबन्ध की अन्य क्रियाओं का भी कोई अर्थ हो सकता है। ''बीज अच्छा नहीं तो खेती अच्छी नहीं'' की लोकोक्ति कार्मिक व्यवस्था में सही उतरती है। अतः भर्ती की उचित और आदर्श व्यवस्था नितान्त आवश्यक है।

3.11.1 प्रशिक्षण

सामान्य अर्थ में प्रत्येक कोटि के कर्मचारियों के लिए सेवा में उन्नति तथा कौशल की दृष्टि से कुशल तथा व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त कराना प्रशिक्षण कहलाता है।

प्रशिक्षण का अर्थ है लोक सेवकों को अपने कार्य के लिए तैयार करना। जब एक अधिकारी की कुशलता, शक्ति, बुद्धि एवं दृष्टिकोण को एक निश्चित दिशा में सशक्त करने का प्रयास किया जाता है तो वह प्रशिक्षण कहलाता है। प्रशिक्षण कर्मचारियों की कुशलता, आदतें, ज्ञान तथा दृष्टिकोण विकसित करने की प्रक्रिया है, जिससे कर्मचारियों की उनकी वर्तमान स्थितियों में प्रभावशीलता बढ़ाई जा सके और साथ, उन्हें भावी सरकारी स्थितियों के लिए तैयार किया जा सके।

भारत में प्रशिक्षण प्रणाली (Training System in India)

स्वतन्त्रता के बाद ब्रिटिश प्रशिक्षण पद्धति द्वारा भारतीय प्रशासन के नवीन लक्ष्यों तथा उद्देश्यों को प्राप्त करना असम्भव हो गया। सरकारी कार्यों में तीव्रगति से विस्तार होने के कारण प्रशिक्षण व्यवस्था का प्रसार किया गया। भारतीय प्रशासनिक सेवा के सदस्यों के लिए भारत में सर्वप्रथम 1947 में दिल्ली में एक प्रशिक्षण संस्थान की स्थापना की गई। सन् 1947 में ही ओ.एण्ड.एम. डिवीजन की भी स्थापना की गई। बाद में दिल्ली स्थित प्रशिक्षण संस्थानों को समाप्त कर प्रशासन के राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र की स्थापना की गई। यह संस्थान सभी उच्च पदाधिकारियों के लिए आधारभूत प्रशिक्षण तथा आई. ए.एस. सेवकों को व्यावसायिक प्रशिक्षण देता था।

सभी राज्य सरकारों को अखिल भारतीय सेवाओं के उच्च अधिकारियों के लिए नवीन पाठ्यक्रम आरम्भ करने का सुझाव दिया गया। फलस्वरूप 1957 में शिमला में आई.ए.एस. स्टाफ कालेज में अभिनव पाठ्यक्रम शुरू कर दिया गया जिसमें 6 से 10 वर्ष तक की सेवा कर चुके उच्च पदाधिकारियों को बुलाया गया। सन् 1959 से दिल्ली

में आई.ए.एस. प्रशिक्षण स्कूल में निम्नलिखित के लिए एक संयुक्त पाठ्यक्रम की शुरुआत की गई–

1. भारतीय प्रशासनिक सेवा
2. भारतीय विदेश सेवा
3. भारतीय लेखा परीक्षण तथा लेखा सेवा
4. भारतीय सुरक्षा सेवा
5. भारतीय डाक सेवा
6. भारतीय आयकर सेवा
7. भारतीय आयात कर तथा आबकारी सेवा।

टिप्पणी

इस मौलिक पाठ्यक्रम के लागू होने के तुरन्त बाद आई.ए.एस. प्रशिक्षण स्कूल, दिल्ली तथा आई.ए.एस. स्टाफ कालेज शिमला को मिलाकर एक नया प्रशिक्षण केन्द्र खोला गया। अतः 1 सितम्बर, 1959 को मसूरी में नेशनल अकादमी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन की स्थापना की गई।

भारत में प्रमुख विभागों से संबंधित प्रशिक्षण व्यवस्था को निम्नांकित बिन्दुओं के तहत समझा जा सकता है–

1. **भारतीय प्रशासनिक सेवा के लिए प्रशिक्षण** (Training for IndianAdministrative Services)– भारतीय प्रशासनिक सेवा के सदस्यों का प्रशिक्षण लालबहादुर शास्त्री अकादमी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन (L.B.S.Academy Mussoorie), मसूरी में होता है। इनके प्रशिक्षण की अवधि एक वर्ष की होती है। इस अवधि में परिवीक्षाधीनों को भारतीय दण्ड–विधि और दण्ड–प्रक्रिया, लोक–प्रशासन के सिद्धान्त, भारत का प्रशासकीय इतिहास, जिले का प्रशासन, अर्थशास्त्र के सिद्धान्त, हिन्दी का प्रारम्भिक ज्ञान, पंचायती राज व्यवस्था, पंचवर्षीय योजनाओं तथा सामुदायिक विकास विषयों की शिक्षा दी जाती है। जिस राज्य में परिवीक्षाधीन का पदांकन किया जाता है उस राज्य की भाषा का ज्ञान भी कराया जाता है। प्रशिक्षण के दौरान सैनिक प्रशिक्षण हेतु उनको किसी सैनिक केन्द्र में भी रखा जाता है।

   विभिन्न संस्थाओं तथा महत्वपूर्ण योजनाओं और सामुदायिक विकास योजनाओं को दिखाने के लिए ले जाया जाता है। घुड़सवारी, मोटर–यान्त्रिकी तथा आग्नेयास्त्रों का भी प्रशिक्षण दिया जाता है। बुनियादी प्रशिक्षण के दौरान प्रशिक्षार्थियों को लोक–सेवा के उद्देश्य, दायित्व, सेवा, नैतिकता, वस्तुनिष्ठता, ईमानदारी तथा निष्पक्षता आदि का पाठ पढ़ाया जाता है। साथ में प्रारम्भिक मनोविज्ञान, प्राथमिक उपचार, आपातकालीन सेवा, भारतीय संस्कृति व कला, जनगणना, जनसंख्या से समबन्धित अध्ययन, भाषा–विज्ञान आदि का भी ज्ञान कराया जाता है।

   संस्थागत प्रशिक्षण में प्रशासनिक सेवा की बहुत–सी तकनीकी व प्राविधिक बातों का प्रशिक्षण प्राप्त नहीं हो पाता, परन्तु इस प्रकार के प्रशिक्षण के लिए ''कार्य करते हुए प्रशिक्षण'' का प्रावधान है जो वे पदांकित राज्य में जाकर प्राप्त करते हैं।

टिप्पणी

संस्थागत प्रशिक्षण की अवधि में भी प्रशिक्षणार्थियों को कुछ प्रायोगिक प्रशिक्षण दिया जाता है, जैसे–बागवानी, शारीरिक व्यायाम, मोटर चलाने आदि का प्रशिक्षण।

दस दिन के व्यावहारिक प्रशिक्षण के लिए प्रशिक्षणार्थियों को कुछ वर्गों में विभाजित कर दिया जाता है। उन्हें लखनऊ, उदयपुर, मैसूर, हैदराबाद और रांची के पूर्वाभिमुखी अध्ययन–केन्द्रों पर भेज दिया जाता है। ग्रामीण समस्याओं को वे अपनी आंखों से देख सकें, इसका समुचित प्रबन्ध किया जाता है। न्यायालयीय प्रक्रिया को अपनी आंखों से देखने के लिए उनको देहरादून के मजिस्ट्रेट की अदालत के साथ तीन दिन तक रखा जाता है। सैनिक प्रशिक्षण के लिए उन्हें किसी सैनिक छावनी में सैनिकों के सान्निध्य में रखा जाता है।

इसके पश्चात् जनवरी–फरवरी माह में भारत–दर्शन की उनकी यात्रा आयोजित की जाती है। उत्तर भारत के प्रशिक्षणार्थियों को दक्षिण भारत के स्थानों का दर्शन कराया जाता है। ऐतिहासिक व सांस्कृतिक महत्व के साथ–साथ उन्हें सार्वजनिक उद्योग भी दिखाये जाते हैं। इन यात्राओं में वे भारतीय अनुसन्धान केन्द्र, राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला, लोक–प्रशासन का भारतीय केन्द्र आदि केन्द्रों का अवलोकन करते हैं।

अकादमी के एक वर्ष के प्रशिक्षण के उपरान्त अप्रैल में प्रशिक्षणार्थियों को एक परीक्षा देनी पड़ती है। यह परीक्षा दो भागों में विभाजित होती है– एक भाग लिखित परीक्षा का और दूसरा भाग प्रायोगिक परीक्षा का। लिखित परीक्षा में चार प्रश्न–पत्र होते हैं– राजनीति सिद्धान्त और भारत का संविधान, बुनियादी आर्थिक सिद्धान्त और पंचवर्षीय योजनाएं, विधि तथा सामान्य प्रशासकीय ज्ञान। अकादमी के निर्देशक तथा अध्यापकों के द्वारा मूल्यांकन किया जाता है। परिवीक्षाधीन का स्थान इन अंकों पर निर्भर करता है।

इसके पश्चात् परिवीक्षाधीन को उस राज्य में भेज दिया जाता है जिसमें उसका आबंटन हुआ है। यहां उन्हें काम करते हुए प्रशिक्षण दिया जाता है। उन्हें जिला कार्यालयों से सम्बद्ध किया जाता है जिससे वे व्यावहारिक अनुभव प्राप्त कर सकें। यह प्रशिक्षण इस विचार से दिया जाता है कि अधिकारियों को प्रशासकीय प्रक्रिया, प्रशासकीय तकनीक तथा कार्य करने के ढ़ंग का प्रशिक्षण प्राप्त हो जाये। राज्यों में जो ''काम करते हुए प्रशिक्षण'' प्राप्त होता है उसकी अवधि राज्यों में अलग–अलग होती है। इस अवधि में निम्नलिखित बातों का प्रशिक्षण दिया जाता है–

1. राज्य सचिवालय में प्रशिक्षण
2. जिला कलेक्टर के कार्यालय में प्रशिक्षण
3. कोषालय में प्रशिक्षण,
4. भू–अभिलेख और बन्दोबस्त का प्रशिक्षण
5. पुलिस कार्यालय में प्रशिक्षण
6. विकास कार्यक्रमों से सम्बन्धित विभागों में प्रशिक्षण,
7. उप–मण्डलीय कार्यालय में प्रशिक्षण
8. मजिस्ट्रेट के कार्यों तथा न्यायिक कार्य का प्रशिक्षण।

''कार्य करते हुए प्रशिक्षण'' की अवधि में प्रशिक्षणार्थी को कोई उत्तरदायित्व नहीं सौंपा जाता है, ताकि प्रशिक्षणार्थी स्वतन्त्रतापूर्वक प्रशिक्षण प्राप्त कर सके। विभागीय परीक्षा उत्तीर्ण करके ही वह उपमण्डल के शासन का उत्तरदायित्व ग्रहण करता है। अधिक अनुभव प्राप्त करने के लिए प्रारम्भिक अवस्था में उनका विभिन्न जिलों में स्थानान्तरण कर दिया जाता है। उन्हें लगभग अठारह माह के लिए अवर सचिव का कार्य करने हेतु सचिवालय में भी भेजा जाता है। यह सब प्रशिक्षण इसलिये दिया जाता है जिससे भारतीय प्रशासनिक सेवा के पदाधिकारी जिले तथा सरकारी विभाग में कोई भी उत्तरदायित्व का पद संभालने के योग्य हो जायें। भारतीय प्रशासनिक सेवा का अधिकारी प्रायः सेवा के छठे या सातवें वर्ष में जिलाधीश के पद पर कार्यभार संभालने के योग्य हो जाता है।

टिप्पणी

1969 में ''सैण्डविच प्रशिक्षण कार्यक्रम'' आरम्भ हुआ है। इसके अन्तर्गत परिवीक्षाधीन राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, मसूरी में प्रारम्भ में छह माह तक रहता है। इसके बाद वह अपने नियत राज्य में एक वर्ष तक प्रयोगात्मक प्रशिक्षण प्राप्त करता है। इस प्रशिक्षण के बाद वह पुनः 9 सप्ताह के लिए अकादमी में वापस आ जाता है। इस प्रकार प्रशिक्षण पूर्ण हो जाने के बाद वह परिवीक्षाधीन अधिकारी बन जाता है।

2. **भारतीय विदेश सेवा के लिए प्रशिक्षण** (Training for the Indian Foreign Services)– भारतीय विदेश सेवा के नवीन सदस्यों को तीन वर्षीय प्रशिक्षण कार्यक्रम से होकर गुजरना पड़ता है। सर्वप्रथम नवीन सदस्यों को लालबहादुर शास्त्री अकादमी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन, मसूरी में चार माह का बुनियादी प्रशिक्षण दिया जाता है। तत्पश्चात् इन्हें चार माह के लिए इण्डियन स्कूल ऑफ इण्टरनेशनल स्टडीज, नई दिल्ली में प्रशिक्षण के लिए भेजा जाता है। यहां अन्तर्राष्ट्रीय कानून, राजनय, भारतीय विदेश–नीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आदि विषयों की जानकारी दी जाती है। इन्हें छह माह के लिए विभिन्न जिला कार्यालयों में भेज दिया जाता है ताकि वे दायित्व के व्यावहारिक सम्पर्क में आने के योग्य हो जायें। पुनः छह माह के लिए विदेश मंत्रालय के कार्यालय में प्रशिक्षण हेतु भेजा जाता है। नवीन सदस्यों को कुछ दिनों के लिए सेना के यूनिट में तथा ''भारत दर्शन के लिए भी भेजा जाता है। इसके अतिरिक्त प्रशिक्षण के लिए विदेश भेजा जाता है जहां वे विदेशी भाषा तथा अन्य सामान्य प्रशिक्षण प्राप्त कर सकें।

3. **भारतीय पुलिस सेवा के लिए प्रशिक्षण** (Training for the Indian Police Services)– भारतीय पुलिस सेवा के परिवीक्षाधीन को माउण्ट आबू स्थित केन्द्रीय पुलिस प्रशिक्षण कॉलिज (Police Training CollegeAbu) में प्रशिक्षण दिया जाता था। इस कॉलेज की स्थापना 1948 में की गयी थी। लेकिन आन्तरिक आपातकाल (25 जून, 1975 से 23 मार्च, 1977) में इसे हैदराबाद स्थानान्तरित कर दिया गया। अतः आज भारतीय पुलिस सेवा में प्रवेश पाने वालों को केन्द्रीय पुलिस प्रशिक्षण कॉलेज, हैदराबाद में प्रशिक्षण दिया जाता है। आई.पी.एस. अधिकारियों के प्रशिक्षण अथवा व्यावहारिक प्रशिक्षण पर अधिक जोर दिया जाता है। प्रशिक्षण के दो भाग होते हैं–प्रथम सैद्धान्तिक और द्वितीय

टिप्पणी

प्रयोगात्मक या व्यावहारिक। सैद्धान्तिक प्रशिक्षण में भारतीय दण्ड–संहिता, दण्ड–प्रक्रिया संहिता, भारतीय साक्ष्य अधिनियम, भारतीय संविधान, अपराध मनोविज्ञान तथा अश्वारोहण के प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसके लिए उन्हें सैनिक इकाइयों में भेजा जाता है। साथ में अपराध का पता लगाने में सहायक उपकरणों का प्रशिक्षण, प्राथमिक उपचार प्रशिक्षण, अग्निशमन तथा नागरिक सुरक्षा के साधनों का प्रशिक्षण, आपातकालीन सेवा का प्रशिक्षण, भीड़ को तितर–बितर करने तथा यातायात के नियमन आदि का प्रशिक्षण भी दिया जाता है।

प्रशिक्षण के नवीनी पाठ्यक्रम में सिण्डीकेट कार्य तथा वर्गीय वाद–विवाद पर अधिक बल दिया गया है। एक वर्ष के संस्थागत प्रशिक्षण के बाद पारिवीक्षाधीन को संघ लोक–सेवा आयोग द्वारा आयोजित परीक्षा को उत्तीर्ण करना होता है। इसके पश्चात् उसको आबंटित राज्य के जिलों में ''कार्य करते हुए प्रशिक्षण'' प्राप्त करने के लिए भेज दिया जाता है। एक वर्ष की अवधि के बाद उसको सहायक पुलिस अधीक्षक के पद पर नियुक्त कर दिया जाता है, जहां अपने वरिष्ठतम सहयोगी के सान्निध्य में रहकर वह कार्य पर प्रशिक्षण प्राप्त करता है।

4. **भारतीय लेखा–परीक्षण तथा लेखा सेवा के लिए प्रशिक्षण** (Training for IndianAudit &Account Services)– भारतीय लेखा परीक्षण तथा लेखा–सेवा में भर्ती हुए नवनियुक्त अधिकारियों को शिमला में अपने विभाग के प्रशिक्षण स्कूल में एक वर्ष का प्रशिक्षण दिया जाता है। प्रशिक्षण का पाठ्यक्रम भारतीय प्रशासनिक सेवा से भिन्न होता है। विभागीय कार्यों की प्रकृति और उद्देश्य को ध्यान में रखकर ही प्रशिक्षण दिया जाता है। इनके पाठ्यक्रम में लेखांकन, लेखा–परीक्षण, वित्तीय नियन्त्रण, वाणिज्यिक बहीखाता, लेख–संहिताएं तथा भारतीय संविधान की मुख्य रूप से जानकारी दी जाती है। साथ ही उन विषयों में व्यवस्थित प्रशिक्षण दिया जाता है, जो भविष्य में उन्हें अपने कर्तव्यों से पालन में सहायक हों। प्रशिक्षण काल में उन्हें व्यावहारिक अनुभव देने के लिए लेखा कार्यालय तथा जिला राजकोषों से सम्बद्ध कर दिया जाता है। प्रशिक्षण के अन्त में परिवीक्षाधीन अधिकारी को उन विषयों में एक विभागीय परीक्षा भी उत्तीर्ण करनी होती है।

   विभागीय परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने के पश्चात् परिवीक्षाधीन अधिकारी को सहायक लेखाधिकारी के पद पर नियुक्त कर दिया जाता है।

5. **आय–कर सेवा के लिए प्रशिक्षण** (Training for Income Tax Services)– आय–कर सेवा के पारिवीक्षाधीन अधिकारियों को प्रशिक्षण, विभागीय प्रशिक्षण विद्यालय, नागपुर में दिया जाता है। प्रशिक्षण की अवधि 18 माह होती है। इनका प्रशिक्षण भारतीय लेखा–परीक्षण तथा लेखा–सेवा के प्रशिक्षण के समान ही होता है। अपने विभागीय कार्यों को अच्छे ढंग से सम्पादित करने के लिए इनके पाठ्यक्रम में आयकर कानून, लेखा–परीक्षण, विभिन्न संस्थानों पर छापा मारने के तौर–तरीकों तथा अन्य नियमों को सम्मिलित किया गया है।

6. **भारतीय रेल सेवा के लिए प्रशिक्षण** (Training for Indian Railway Services)– भारतीय रेल सेवा के अधिकारियों को प्रशिक्षण रेलवे स्टाफ कॉलेज, बड़ौदा में

दिया जाता है। नवनियुक्त अधिकारियों को यहां यातायात, परिवहन, रेलवे नियमों, दुर्घटना, राहत कार्यों तथा यात्रियों के कल्याण से सम्बन्धित बातों का प्रशिक्षण दिया जाता है। इसके साथ–साथ अधिकारियों के कार्यों की प्रकृति से सम्बन्धित विशेष व्यावहारिक प्रशिक्षण भी दिया जाता है। ''कार्य करते हुए प्रशिक्षण'' के लिए इन्हें विभिन्न रेल कार्यालयों में भेज दिया जाता है।

टिप्पणी

यह कॉलेज विशेष तथा रिफ्रेशर पाठ्यक्रमों का आयोजन भी करता है। इस कॉलेज में यातायात, परिवहन तथा वाणिज्य विभाग के नवनियुक्त अधिकारियों को साढ़े तीन महीने का प्रशिक्षण–दो माह आरम्भ में तथा डेढ़ माह प्रशिक्षण के द्विवर्षीय कार्यक्रम के मध्य में दिया जाता है। भारतीय रेलवे लेखा–सेवा के नवनियुक्त अधिकारियों को आरम्भ में दो माह का प्रशिक्षण भी यहीं दिया जाता है। प्रशिक्षण का पाठ्यक्रम व्यावहारिक है और इसका सीधा संबंध पदाधिकारियों के कार्य से है।

7. **भारतीय डाक सेवा के लिए प्रशिक्षण** (Training for Indian Postal Services)– भारतीय पोस्टल सेवा के अधिकारियों को पोस्ट एण्ड टेलीग्राफ ट्रेनिंग केन्द्र, सहारनपुर में प्रशिक्षण दिया जाता है। प्रशिक्षण की अवधि दो वर्ष होती है। प्रारम्भिक चार माह का प्रशिक्षण सहारनपुर में स्थापित ट्रेनिंग केन्द्र में दिया जाता है। इसके बाद समय–समय पर पुनः इस प्रशिक्षण केन्द्र में नवीनीकरण पाठ्यक्रम या रिफ्रेशर पाठ्यक्रम के लिए बुलाया जाता है। विभागीय परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद यदि किसी कर्मचारी की पदोन्नति हो जाती है तो इसे पुनः इस केन्द्र से नये पद के अनुरूप प्रशिक्षण प्राप्त करना पड़ता है।

प्रमुख प्रशिक्षण संस्थान

1. **सचिवालयीय प्रशिक्षण एवं प्रबन्ध संस्थान (पुराना केन्द्रीय सचिवालय प्रशिक्षण स्कूल), नई दिल्ली** (Institute of Secretariat Training and Management, New Delhi)– इस स्कूल की स्थापना मई 1948 में हुई थी। इसमें केन्द्रीय सचिवालय के पदाधिकारियों, सहायकों तथा निम्नवर्गीय लिपिकों के लिए चयनित कर्मचारियों को प्रशिक्षण दिया जाता है। इसमें सचिवालय के संगठन, सचिवालय की कार्यप्रणाली, वित्तीय नियम तथा विनियम आदि का प्रशिक्षण दिया जाता है। इस प्रशिक्षण का कार्यालय के कार्य से निकट का सम्बन्ध है। प्रशिक्षण पूर्ण कर लेने के बाद व्यावहारिक प्रशिक्षण के लिए उन्हें विभिन्न मन्त्रालयों में पदों पर नियुक्त किया जाता है। उच्च श्रेणियों में कार्यरत कर्मचारियों के लिए यह स्कूल रिफ्रेशर पाठ्यक्रम का भी आयोजन करता है। इस प्रकार विभिन्न अखिल भारतीय प्रशासकीय सेवाओं के लिए भारत में अलग–अलग प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है।

   अध्ययन के पाठ्यक्रम के मुख्य भाग संगठनों की रचना, आन्तरिक सम्बन्ध, बाहरी सम्बन्ध, श्रम और प्रशासन तथा जीवन–शक्ति से सम्बन्धित होते हैं। यहां कोई औपचारिक शिक्षा नहीं दी जाती, बल्कि विभिन्न क्षेत्रों के विद्वानों और विशेषज्ञों के व्याख्यान आयोजित किये जाते हैं। मुख्य विषय हैं– अर्थशास्त्र, आर्थिक संस्थाएं, नियोजन तथा विकास, व्यापारिक सम्बन्ध, श्रम तथा सरकार, संविधान का संचालन, प्रबन्ध–विज्ञान, सरकारी तथा व्यापारिक लेखा तथा किन्हीं विशेष उद्योगों के विषय में सूचना।

प्रशिक्षण की दूसरी विधि है सामूहिक चर्चा। प्रत्येक विषय में सामूहिक चर्चा का आयोजन किया जाता है। प्रत्येक विषय के लिए अलग–अलग अध्यक्ष तथा मन्त्री होते हैं। इन पदों तक पहुंचने का अवसर सबको दिया जाता है।

टिप्पणी

2. **ग्रामीण विकास का राष्ट्रीय संस्थान, हैदराबाद** (National Institute of Rural Development, Hyderabad)– इसकी स्थापना 1958 में इस आशय से की गयी थी कि एक विशाल संख्या में ऐसे महत्वपूर्ण कर्मचारी तैयार किये जा सकें, जो कार्यक्रम के प्रशासकीय एवं समाजशास्त्रीय पहलुओं से परिचित हों। ग्रामीण विकास के क्षेत्र में अनुसंधान भी इस संस्थान में किये जाते हैं। अध्ययन के क्षेत्र में इसका एक बुनियादी उद्देश्य 23–25 दिन के पुनरावलोकन पाठ्यक्रम का आयोजन करना है। इन पाठ्यक्रमों में भाग लेने वाले वे होते हैं जो ग्रामीण विकास योजनाओं से सम्बन्धित हैं। इनके माध्यम से वे एक–दूसरे के समीप आते हैं, एक–दूसरे की समस्याओं को समझने का प्रयास करते है और नवीन परिवर्तनों की जानकारी प्राप्त करते हैं।

3. **भारतीय लोक–प्रशासन संस्थान, नई दिल्ली** (Indian Institute of PublicAdministration, New Delhi)– भारतीय लोक–प्रशासन संस्थान की स्थापना 1954 में हुई। भारतीय लोक–प्रशासन विद्यालय, जो भारतीय लोक–प्रशासन संस्थान, दिल्ली का ही एक भाग था, इसकी स्थापना 1958 में हुई। लोक प्रशासन विद्यालय को 1968 में बन्द कर दिया गया। भारतीय लोक–प्रशासन संस्थान में केन्द्र और राज्य सरकारों के उच्च अधिकारियों के लिए भी अभिनव तथा रिफ्रेशर प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है लेकिन सामान्यतः केन्द्र राज्य सरकारों के उपसचिव एवं अवर सचिवों की श्रेणी के कर्मचारी इन पाठ्यक्रमों में भाग लेते हैं।

   पूर्वाभिमुखी तथा अभिनव पाठ्यक्रमों के माध्यम से भी प्रशिक्षण दिया जाता है। जो प्रशिक्षणार्थी प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए एकत्रित होते हैं वे परस्पर विचार–विमर्श करके समस्याओं के हल ढूंढने का प्रयास करते हैं। सामान्यतः भारत सरकार के अनुभवी वरिष्ठ अधिकारियों या विषय के विशेषज्ञों द्वारा व्याख्यान दिये जाते हैं। प्रशिक्षणार्थियों को केन्द्रीय सरकार के कार्यालय को दिखाने की भी व्यवस्था की जाती है ताकि वे स्वयं कार्यालय की कार्य पद्धति देखकर अपने ज्ञान तथा अनुभव में वृद्धि कर सकें।

सेवाकालीन प्रशिक्षण (In-service Training)

जब लोक सेवक सरकारी पद पर कार्य करने लगता है तो उसे समय–समय पर प्रशिक्षण दिया जाता है। ऐसे प्रशिक्षण को सेवाकालीन प्रशिक्षण कहते हैं। इनमें से निम्नलिखित प्रमुख हैं–

1. **रिफ्रेशर्स कोर्स** (Refresher Course)– इसका उद्देश्य सेवा में कार्यरत कर्मचारियों को उनके प्रतिदिन के कार्यों से कुछ समय के लिए हटाकर उनमें ताजगी लाना होता है।

   भारत सरकार के आदेश से प्रत्येक आई.ए.एस. को चार सप्ताह का ऐसा प्रशिक्षण दिया जाता है तथा निर्णय लिया गया है कि प्रतिवर्ष एक सप्ताह का प्रशिक्षण

उन्हें अनिवार्य रूप से दिया जायेगा। इसमें प्रशासन के नये आयामों, विकास प्रशासन, पर्यावरण का महत्व, ग्राम विकास की तकनीक, परिवार नियोजन व समन्वय आदि विषयों का नवीन ज्ञान दिया जाता है। इस कोर्स के माध्यम से वरिष्ठ अधिकारी एकत्र होकर अपने अनुभवों का आदान–प्रदान करते हैं।

टिप्पणी

2. **लम्बी अवधि के विशेष प्रशिक्षण** (Special Training for Long Term)– उच्च अधिकारियों को उनकी सेवा अवधि तथा भावी जिम्मेदारी के अनुसार चार से आठ सप्ताह की अवधि के विशेष प्रशिक्षण दिये जाते हैं। ये कार्य की तकनीक विशेष का विकास करने के उद्देश्य से दिये जाते हैं। शुरू के 5–6 वर्ष के कार्यकाल में सरकार में प्रबन्ध (एम.आई.जी.) कार्यक्रम के माध्यम से लोक सेवक को सरकार के ढांचे एवं कार्य प्रबन्ध का ज्ञान दिया जाता है। उसे 6–9 वर्ष के कार्यकाल के दौरान कार्यकारी विकास कार्यक्रम (ई.डी.पी.) द्वारा प्रबन्ध की उच्च तकनीक सिखायी जाती है।

   इनके अलावा आयोजन, कम्प्यूटर, निर्णय, संचार, नेतृत्व, नीति–आयोजन आदि के लिए विशेष प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है। ये कार्यक्रम ऐसे संस्थानों द्वारा आयोजित किये जाते हैं जहां किसी तकनीक विशेष पर शोध की उत्तम व्यवस्था हो। भारतीय लोक प्रशासन संस्थान, नई दिल्ली की इस संदर्भ में सराहनीय भूमिका रही है।

प्रशिक्षण विधियां

प्रशिक्षण कार्यक्रम की सफलता उसे प्रदान करने की विधि पर बहुत कुछ निर्भर करती है। प्रो. वी.एम. सिन्हा ने प्रशिक्षण की निम्नलिखित पांच विधियों का वर्णन किया है–

1. भाषण विधि
2. निर्दिष्ट कांफ्रेंस
3. केस पद्धति
4. काम करके सीखना
5. सिंडिकेट पद्धति

भारतीय सेवाओं के प्रशिक्षण में सभी विधियों के उपयोग का प्रयास किया जा रहा है। सैंडविच कोर्स के दौरान आधारभूत पाठ्यक्रम का ज्ञान भाषण तथा विचार–विमर्श पद्धति से दिया जाता है। राज्यों में काम द्वारा सीखने एवं पुनः एकेडमी में ग्रुप डिस्कशन पर अधिक बल दिया जाता है। रिफ्रेशर्स कोर्स तो पूरी तरह विचार–विमर्श पर आधारित रहता है।

प्रशिक्षण सामग्री (Training Material)

लोक सेवा में प्रशिक्षण के लिए प्रभावी सामग्री जैसे–प्रशासकीय स्थितियों, कार्यालय फाइल, सामाजिक स्थितियों के वीडियो कैसेट, शोध प्रतिवेदन, चार्ट आदि होने चाहिए। लोक सेवक अपने अनुभव, कठिन स्थितियों में निर्णय लेने एवं उनके परिणाम आदि पर मोनोग्राफ लिखें, जिन्हें प्रशिक्षण के लिए उपयोग में लाया जा सकता है।

टिप्पणी

भारतीय सेवाओं में प्रशिक्षण संबंधी कमियां (Defects of Training in Indian Services)

भारत में उच्च सेवाओं में प्रशिक्षण संबंधी सामान्यतः निम्नलिखित कमियां देखी जा सकती हैं–

1. **नैतिक गुणों पर ध्यान नहीं** (No Focus on Moral Values)– प्रशिक्षण के माध्यम से कौशल देने का प्रयास तो किया जा रहा है परन्तु लोक सेवा में सेवा–भाव, ईमानदारी, सामाजिक न्याय, विकास के लिए प्रतिबद्धता, संविधान में आस्था आदि का विकास नहीं हो पा रहा है। इसके लिए आवश्यकतानुसार प्रयास नहीं किये गये हैं।
2. **इच्छाशक्ति का अभाव** (Lack of will-power)– सरकार की इच्छा शक्ति भी प्रशिक्षण के लिए नहीं है। प्रशासन सुधार आयोग के अनुसार सेवाओं पर किये जाने वाले कुल व्यय का प्रशिक्षण पर केवल 0.4 प्रतिशत ही व्यय किया जाता है। इतने कम साधनों में प्रशिक्षण संस्थानों में अच्छे प्रशिक्षक तथा जरूरी सामग्री की व्यवस्था सम्भव नहीं है।
3. **प्रशिक्षणार्थी में रुचि का अभाव** (Lack of Interest among Trainees) – प्रशिक्षण तभी प्रभावी हो सकता है जब प्रशिक्षणार्थी इसकी आवश्यकता महसूस करें। प्रशिक्षण दिलवाने की जिम्मेदारी उच्च अधिकारियों की है। ये अधिकारी अपने कार्य की ही चिन्ता करते हैं, सम्पूर्ण प्रशासन की नहीं। वर्तमान में प्रशिक्षण संस्थान मांग करता है और विभागाध्यक्ष आदेश दे देता है और इसलिए उच्च अधिकारी ऐसे व्यक्ति को भेज देता है जिसकी विभाग में कम–से–कम आवश्यकता हो। वह व्यक्ति भी अपने को दण्डित महसूस करता है। प्रशिक्षण व्यक्ति लाभ से जोड़ा नहीं गया है।
4. **सहायक सामग्री का अभाव** (Lack of Supporting Material)– प्रशिक्षण देने के लिए उच्च सामग्री विकसित नहीं की गयी है। अभी भी ऊबाऊ भाषणों को ही आधार बनाया जाता है। विश्वविद्यालय के अध्ययन से परेशान युवाओं को फिर किताबी ज्ञान प्राप्त करने के लिए कहा जाता है।
5. **उच्चाधिकारियों की कम रुचि** (Less Interset among HighAuthorities)– उच्च अधिकारियों का मुख्य जिम्मा अधीनस्थों का प्रबन्ध करना है परन्तु कार्मिक प्रबन्ध में प्रशिक्षण पर अभी तक विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।
6. **योग्य प्रशिक्षकों का अभाव** (Unavailability of Competent Trainers)– हमारे पास प्रशिक्षक या तो वरिष्ठ नौकरशाह हैं जो स्वयं प्रशासकीय कमियों या रूढ़ियों से ग्रस्त हैं या फिर विश्वविद्यालय के शिक्षकों से लिये जाते हैं जो प्रशासन की व्यावहारिक कठिनाइयों से अनभिज्ञ हैं। प्रायः विभाग से किसी अधिकारी को प्रशिक्षक बना दिया जाता है तो वह भी अपने को दण्डित–सा महसूस करता है।
7. **शोध का अभाव** (Lack of Research)– प्रशिक्षण कार्यक्रम की सफलता को आंकने के लिए कोई शोध नहीं किया जाता है। प्रायः यह कहा जाता है कि व्यवहार में प्रशिक्षित एवं अप्रशिक्षित व्यक्ति के बीच प्रशासकीय कुशलता की दृष्टि से कोई फर्क नहीं है। यही भाव प्रशिक्षण में रुचि समाप्त कर देता है।

प्रशिक्षण व्यवस्था में सुधार के लिए आवश्यक सुझाव

टिप्पणी

उच्च सेवाओं में गूढ़ एवं उच्च प्रकृति के गुणों की जितनी आवश्यकता है, इनके लिए प्रशिक्षण का कार्य भी उतना ही कठिन है। प्रशिक्षण व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं–

1. प्रशिक्षण के लिए एक दीर्घकालीन नीति तथा योजना बनायी जानी चाहिए, ताकि आवश्यकतानुसार संस्थान, सामग्री एवं कार्यक्रम तैयार किये जा सकें।
2. सरकार ने यद्यपि 1986 में निरन्तर प्रशिक्षण की व्यवस्था के आदेश जारी किये हैं परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब उसके अनुकूल संसाधनों के प्रावधान हों। प्रशासन सुधार आयोग ने सेवाओं पर किये जाने वाले व्यय का एक प्रतिशत प्रशिक्षण पर खर्च करने का सुझाव दिया है।
3. प्रशिक्षण में लोक सेवकों की रुचि विकसित करने के लिए आवश्यक है कि प्रशिक्षित व्यक्तियों को वही पद दिये जायें जहां प्रशिक्षण काम आ सके और साथ ही पदोन्नति आदि के लिए प्रशिक्षण आवश्यक कर दिया जाये।
4. प्रत्येक बड़े विभाग, मंत्रालय में एक मुख्य प्रशिक्षण अधिकारी रखा जाये जो विभाग में प्रशिक्षण कार्यों का समन्वय करे।
5. राष्ट्रीय प्रशासन एकेडमी, मसूरी केवल आधार पाठ्यक्रम पूरा करने तथा प्रबन्धकीय प्रशिक्षण का कार्य करे और आई.ए.एस. के व्यावहारिक प्रशिक्षण के लिए अलग स्टॉफ कॉलेज बनाया जाये। कार्य पर प्रशिक्षण के दौरान इसी कालिज में प्रशिक्षणार्थियों के लिए एक ट्यूटर की व्यवस्था की जानी चाहिए।
6. प्रशिक्षक वे लोग ही बनाये जायें, जो प्रशासकीय कुशलता के धनी रहे हों और स्वयं प्रशिक्षक बनने की इच्छा रखते हों। प्रशिक्षक को पदोन्नति या वेतन भत्तों की हानि नहीं होनी चाहिए। प्रशिक्षक तैयार करने के विशेष प्रयास किये जायें।
7. प्रशिक्षण सामग्री विकसित करने पर विशेष बल दिया जाये।
8. फ्रांस में प्रशिक्षण के लिए लोक सेवकों को प्रथम सप्ताह एक साथ निर्जन पहाड़ पर कैम्प में रहना होता है ताकि उनमें सामाजिक तादात्म्य स्थापित हो। प्रारम्भ में एक वर्ष के लिए काम का प्रशिक्षण दिया जाता है। दूसरा 6 माह लोक प्रशासन और बाकी 6 माह निजी प्रशासन का अनुभव लेना होता है। इस दौरान पेरिस से बाहर रहना होता है। यह कार्य एक स्थायी ट्यूटर के पर्यवेक्षण में पूरा करना होता है। फिर एक वर्ष का शैक्षणिक प्रशिक्षण होता है। व्यावहारिक प्रशिक्षण में प्रिफेक्ट अपनी देख–रेख में अपना अधिकतम कार्य सौंप देता है। यहां तक कि सार्वजनिक कार्यक्रमों में वह प्रिफेक्ट की ओर से भाषण भी देता है। इन सबके अच्छे पहलू को अपनाया जाना चाहिए।
9. प्रशिक्षण के दौरान प्रशिक्षु को 'सादा जीवन उच्च विचार' की भावना से लबालब करने के लिये, अकादमी में 'कांटे–छुरी' की संस्कृति से दूर रखा जाये, ताकि वे सामान्य भारतीय के जीवनस्तर से परिचित हो सकें और प्रशिक्षण के बाद सेवा भावना से समाज के कार्यों में अग्रणी भूमिका निभायें।

टिप्पणी

प्रो. चन्द्र प्रकाश भांभरी का मत है कि कार्य के कुशल निष्पादन कौशल के लिए प्रशिक्षण सम्भव है परन्तु सकारात्मक मूल्य विकसित करना या मूल्यों में परिवर्तन प्रशिक्षण के माध्यम से सम्भव नहीं है। यह कार्य शिक्षण–पद्धति या समाज का है।

3.11.2 पदोन्नति

पदोन्नति भर्ती का ही एक रूप है। भर्ती में सभी प्रत्याशियों को खुले रूप में समान अवसर दिये जाते हैं। पदोन्नति में चयन की प्रक्रिया केवल उन्हीं तक सीमित रहती है, जो पहले से संगठन की सेवा में होते हैं।

पदोन्नति से तात्पर्य कर्मचारी के वेतन की वार्षिक वृद्धि से नहीं है, प्रत्येक कर्मचारी सरकारी नौकरी में निश्चित वेतनक्रम में रहता है। उसमें कर्मचारी के वेतन में वार्षिक वृद्धि होती रहती है। इस वेतन वृद्धि को ही पद वृद्धि अथवा पदोन्नति नहीं माना जायेगा।

पदोन्नति से तात्पर्य है एक निम्न श्रेणी से उच्च श्रेणी के पद पर उन्नत होना और उसके साथ–ही–साथ कर्तव्यों व उत्तरदायित्वों में परिवर्तन होना पदोन्नति प्रक्रिया का एक अनिवार्य लक्षण है।

पदोन्नति के लिए आवश्यक है–

1. पहले की अपेक्षा उसे अधिक दायित्व का पद दिया जाये।
2. पहले के वेतनमान से अधिक वेतनमान का पद दिया जाये।

पदोन्नति के प्रकार (Kinds of Promotion)

(i) **एक वर्ग से दूसरे वर्ग में पदोन्नति**– उदाहरण के लिए, राजस्थान प्रशासकीय सेवा से भारतीय प्रशासकीय सेवा में पदोन्नति अथवा राजस्थान पुलिस सेवा में पदोन्नति।

(ii) **किसी सेवा के कनिष्ठ वेतनमान से वरिष्ठ वेतनमान में पदोन्नति**– उदाहरण के लिए, भारतीय पुलिस सेवा के कनिष्ठ वेतनमान से वरिष्ठ वेतनमान में पदोन्नति इसी श्रेणी में आती है।

पदोन्नति के सिद्धान्त (Principles of Promotion)

1. वरिष्ठता या ज्येष्ठता का सिद्धान्त (Principle of Seniority)

इस सिद्धान्त के अनुसार पदोन्नति केवल वरिष्ठता के आधार पर होनी चाहिये। इस सिद्धांत के अनुसार जिस कर्मचारी की सेवा सबसे अधिक अवधि की है, उसे पदोन्नति मिलनी चाहिये। उदाहरण के लिए, किसी विभाग में सेक्शन ऑफिसर का पद रिक्त होता है, तो वहां पर नियुक्ति केवल उसी व्यक्ति की होनी चाहिये जो क्लर्कों में सबसे वरिष्ठ है।

2. योग्यता का सिद्धान्त (Principle of Merit)

इसका अभिप्राय है पदोन्नति की आकांक्षा रखने वाले सभी उम्मीदवारों की योग्यता का मूल्यांकन करते हुए इसके आधार पर उनकी पदवृद्धि करना। यहां पदोन्नति में योग्यता

का तात्पर्य किसी विशेष योग्यता अथवा डिग्री धारण करने से नहीं है बल्कि उस विशेष ज्ञान का अर्जन करने से होता है जो उस सेवा के लिए उपयुक्त होता है।

कर्मचारियों की पदोन्नति के सम्बन्ध में योग्यता का निर्धारण निम्नलिखित तीन विधियों द्वारा किया जाता है–

टिप्पणी

(i) प्रतियोगी परीक्षा (Competitive Examinations)

(ii) सेवा अभिलेख (Service Records)

(iii) विभागाध्यक्ष या पदोन्नति बोर्ड का व्यक्तिगत निर्णय (Personal Decision of Head of the Department or the Promotion Board)

(i) **प्रतियोगी परीक्षा** (Competitive Examinations)

ये पदोन्नति सम्बन्धी प्रतियोगिता परीक्षाएं तीन प्रकार की होती हैं जो अन्तर–विभागीय (Interdepartmentally) होती हैं–

(क) खुली प्रतियोगिता परीक्षा (Open Competitive Examinations)– ये खुली परीक्षाएं संगठन में प्रत्येक विभाग के लिए विभागीय स्तर पर होती हैं, जिसमें उस विभाग के सभी कर्मचारी परीक्षा बैठते हैं तथा सफल होने पर अपना पद ग्रहण करते हैं।

(ख) सीमित प्रतियोगिता परीक्षा (Limited Competitive Examinations)– यह उन सीमित लोगों के लिए आयोजित की जाती हैं जो संगठन में निम्न पदों पर कार्य करते हैं।

(ग) उत्तीर्ण परीक्षा (Pass Examinations)– इस परीक्षा के आयोजन का उद्देश्य मात्र परीक्षा उत्तीर्ण करना होता है। शेष अपनी योग्यता सम्बन्धी प्रमाण–पत्र दिखाकर पदोन्नति प्राप्त की जा सकती है।

(ii)**सेवा अभिलेख** (Service Records)

सेवा अभिलेख से तात्पर्य ऐसे अभिलेख से होता है जो संगठन में कार्य कर रहे कर्मचारियों के कार्य निष्पादन हेतु रखे जाते हैं। संगठन में कर्मचारियों के इस प्रकार के अभिलेख रखने का एक लाभ होता है कि वह जब चाहे तब अपने कार्य के निष्पादन या प्रगति के विषय में जान सकता है और इस आधार पर पदोन्नति पाने हेतु दावा कर सकता है। इस प्रकार के अभिलेख विभागाध्यक्ष अपने पास रखता है।

(iii) **विभागाध्यक्ष का व्यक्तिगत निर्णय** (Personal Decision of HODs)

विभागाध्यक्ष का व्यक्तिगत आंकन कर्मचारी की पदोन्नति का मानक बन सकता है जिसके आधार पर वह पदोन्नति प्राप्त भी कर सकता है और नहीं भी। यद्यपि ये पद्धति संगठन में बहुत अच्छा करने पर ही कारगर होती है क्योंकि विभाग में अनेक कर्मचारी होते हैं और प्रत्येक के बारे में निर्णय कर पाना विभागाध्यक्ष के लिए समस्या बन जाता है।

विभागीय पदोन्नति मण्डलों के निर्णय के आधार पर भी पदोन्नति की जा सकती है। ये मण्डल कर्मचारी संघो के प्रतिनिधियों व अधिकारियों को मिलाकर बनाये जाते हैं।

टिप्पणी

भारत में पदोन्नति व्यवस्था (Promotion System in India)

भारत में लोकसेवाओं में होने वाले रिक्त स्थानों की पूर्ति कुछ बाहर से प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा और कुछ भीतर से पदोन्नति द्वारा की जाती है। इन दोनों तरीकों का अनुपात विभिन्न सेवाओं तथा श्रेणियों में अलग–अलग रहता है।

पदोन्नति के अवसर या प्रतिशत (Promotion Opportunities or Percentage of Promotion)

भारत में कुछ अपवादों को छोड़कर विभिन्न सेवाओं में रिक्त स्थानों की एक निश्चित संख्या उन कर्मचारियों की पदोन्नति द्वारा भरी जाती जो निम्न पद (ग्रेड) में पहले से ही काम कर रहे होते हैं। इस संख्या का अनुपात सेवाओं की विभिन्न श्रेणियों में भिन्न–भिन्न होता है।

सिविल सेवा की विभिन्न श्रेणियों से भरे जाने वाले पदों के अनुपात या प्रतिशत की मुख्य रूपरेखा इस प्रकार है–

1. प्रथम श्रेणी के पदों में लगभग 45 प्रतिशत भर्तियां पदोन्नति द्वारा होती हैं तथा 55% पर सीधी भर्तियां की जाती हैं। इसका अनुपात विभिन्न सेवाओं में अलग–अलग होता है। उदाहरण के लिए भारतीय विदेश सेवा की शाखा 'घ' में पदोन्नति द्वारा केवल 10% भर्तियां की जाती हैं, जबकि केन्द्रीय सचिवालय तथा अन्य एक–दो सेवाओं की शत–प्रतिशत भर्तियां पदोन्नति द्वारा ही होती हैं। 25 से लेकर 33% पदों की अथवा एक सामान्य वर्ष में उत्पन्न होने वाले रिक्त स्थानों की पूर्ति पदोन्नति द्वारा होना एक सामान्य बात है।
2. द्वितीय श्रेणियों के राजपत्रित अधिकारियों के 65% पद पदोन्नति द्वारा भरे जाते हैं। तृतीय श्रेणी के कर्मचारियों को ही पदोन्नत करके ये पद दिए जाते हैं। प्रत्यक्ष भर्ती केवल मेडिकल तथा इन्जीनियरिंग सेवाओं में ही होती है। द्वितीय श्रेणी की विभिन्न राजपत्रित सचिवालय सेवाओं के 50% रिक्त स्थानों की पूर्ति भी सीधी भर्ती द्वारा ही की जाती हैं। अन्य सेवाओं की अधिकांश भर्तियां पदोन्नति द्वारा ही होती हैं।
3. द्वितीय श्रेणी के अराजपत्रित कर्मचारियों की भर्ती पदोन्नति द्वारा होती हैं। लगभग 78% पदों की सीधी भर्तियां की जाती है। ऐसे पद अधिकांशतः केन्द्रीय सचिवालय में सहायक तथा आशुलिपिक और वैज्ञानिक संस्थाओं में होते हैं।
4. तृतीय श्रेणी के पदों में प्रायः अन्तर्विभागीय पदोन्नतियां होती हैं। इतनी अन्तर्विभागीय पदोन्नतियां द्वितीय श्रेणी में नहीं होतीं। तृतीय श्रेणी में उच्च वेतन श्रृंखला वाले प्रायः सभी पद पदोन्नति द्वारा भरे जाते हैं।
5. चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों को पदोन्नति करके तृतीय श्रेणी में प्रायः कम ही लिया जाता है। यह पदोन्नति केवल रेलवे तथा डाक–तार विभागों तक ही सीमित हैं। रेलवे में तृतीय श्रेणी के लगभग 10% पद चतुर्थ श्रेणी से पदोन्नत करके भरे जाते हैं। अनुमानतः डाक एवं तार विभाग में प्रत्येक अंश (Quota) में हाल ही में वृद्धि की गई है।

पदोन्नति के आधार (Bases of Promotion)

टिप्पणी

भारत में कर्मचारियों की पदोन्नति करते समय सामान्यतः वरिष्ठता और योग्यता के दो आधारों को सामने रखा जाता है। आजकल एक तीसरा आधार भी प्रचलित हो रहा है।

1. वरिष्ठता कर्मचारी के सेवाकाल से सम्बन्ध रखती है। इस आधार पर उस कर्मचारी को पदोन्नति के योग्य माना जाता है, जिसको सेवा करते हुए अधिक समय हो गया है। इस मापदण्ड को अपनाने पर अनुचित पक्षपात या राजनीतिक हस्तक्षेप की सम्भावना नहीं रहती। कर्मचारी भी यह मान लेते हैं कि पदोन्नति न्यायपूर्ण तरीके से हुई है। उनकी सद्भावना बढ़ती है और नैतिक चरित्र ऊंचा उठता है। इस तरीके का दोष यह है कि इसमें श्रेष्ठ व्यक्ति के चयन का निश्चय नहीं रहता। कम समय तक सेवा करने वाला व्यक्ति बहुत वर्षों से सेवा कर रहे व्यक्ति से अधिक योग्य हो सकता है। वरिष्ठ व्यक्ति आवश्यक रूप से अधिक योग्य नहीं होता।
2. पदोन्नति का दूसरा आधार योग्यता है। इसके अनुसार पदाधिकारियों को उनके सेवाकाल के आधार पर नहीं वरन् उनकी योग्यताओं तथा कुशलताओं के आधार पर पदोन्नत किया जाता है। योग्यता में शैक्षणिक उपलब्धियों के साथ–साथ व्यक्तित्व, नेतृत्व की क्षमता, चरित्र की गरिमा आदि को शामिल किया जाता है।
3. आजकल एक तीसरा आधार भी पदोन्नति के लिए अपनाया जाने लगा है। यह वरिष्ठता एवं योग्यता का मिला हुआ रूप है। निम्न स्तर की सेवाओं के लिए वरिष्ठता और उच्च स्तरीय सेवाओं के लिए योग्यता को पदोन्नति का आधार बनाया जाता है।

पदोन्नति की रीतियां और सिद्धान्त (Methods and Principles of Promotion)

संविधान में व्यवस्था है कि एक सेवा से दूसरी सेवा में पदोन्नतियां करने और ऐसी पदोन्नतियों के लिए प्रत्याशियों की उपयुक्ता (Suitability) के सम्बन्ध में अपनाए जाने वाले सिद्धान्तों के बारे में सरकार संघीय लोकसेवा आयोग से परामर्श करेगी। किन्तु व्यवहार में जब तक कि सम्बन्धित भर्ती–नियमों के विपरीत कोई विशेष उपबन्ध न हो, संविधान के अनुच्छेद 320 (3) के अन्तर्गत बनाए गए विनियमों के द्वारा तृतीय और चतुर्थ श्रेणी और इनमें ऊपर की ओर जाने वाली पदोन्नतियों को आयोग के अधिकार–क्षेत्र से विमुक्त कर दिया गया है। विभिन्न विभागों ने पदोन्नति के अपने नियम बना लिए हैं अथवा अपनी अधीनस्थ सेवाओं के लिए आदेश जारी कर दिए हैं। पदोन्नति के सम्बन्ध में इन विभागीय नियमों में काफी अन्तर पाया जाता है। पदोन्नति की जो रीतियां अपनाई गई हैं, मोटे तौर पर वे निम्नानुसार हैं–

(अ) योग्यता के आधार पर पदोन्नति।

(ब) योग्यता और वरिष्ठता या वरिष्ठता और योग्यता के आधार पर पदोन्नति।

(स) वरिष्ठता के आधार पर पदोन्नति (यदि वरिष्ठ अधिकारी को सेवा के अयोग्य घोषित न कर दिया गया हो।)

सिविल सेवा में, पदोन्नति सम्बन्धी सिद्धान्तों के विषय में प्रधानतः वही आदेश लागू होते हैं जो मई, 1957 में जारी किए थे। ये आदेश केवल 'चयन पदों' (Selection Posts) के ही सम्बन्ध में है। 'चयन पद' उन्हीं को माना जाता है जिन्हें एक मन्त्रालय

ऐसा घोषित करता है। अभिप्रायः यह है कि मन्त्रालय अपने अधीन पदों को 'चयन पदों' तथा अन्य पदों में वर्गीकृत कर सकता है।

चयन पदों के सम्बन्ध में जो आदेश हैं, उनकी मुख्य बातें इस प्रकार हैं–

टिप्पणी

1. चयन पदों और चयन पदक्रमों के लिए नियुक्तियां योग्यता के आधार पर की जाएं और इसमें वरिष्ठता का ध्यान केवल निम्न सीमा तक रखा जाए।
2. विभागीय पदोन्नति समिति अथवा चयन–सत्ता सर्वप्रथम चयन क्षेत्र का निश्चय करें अर्थात् पदोन्नति की परीक्षा करने वाले पात्र अधिकारियों की संख्या निश्चित करें जिन्हें 'चयन सूची' में सम्मिलित किया जाना सम्भव हो। असाधारण योग्यता वाले अधिकारी को इस नियम का उल्लंघन करके भी पात्र अधिकारी की सूची में सम्मिलित किया जा सकता है।
3. जो अधिकारी पदोन्नति के लिए अनुपयुक्त हों, उन्हें छोड़ दिया जाए। शेष अधिकारियों को उस योग्यता के आधार पर, जो उनके अपने–अपने सेवा अभिलेखों द्वारा निश्चित की जाए, 'उत्कृष्ट', 'बहुत–श्रेष्ठ' के रूप में वर्गीकृत कर लिया जाए। प्रत्येक वर्ग की चयन–सूची में जो भी अधिकारी आते हों उनमें परस्पर वरिष्ठता का ध्यान रखा जाए।
4. पदोन्नतियां किसी अपवाद को छोड़कर 'चयन सूची' के क्रम के अनुसार की जाएं।
5. निश्चित अवधि के बाद चयन सूची का पुनरावलोकन किया जाए और उन अधिकारियों के नाम उस सूची से हटा दिए जाएं, जो पहले ही पदोन्नत किए जा चुके हों और उस पद पर अब भी कार्य कर रहे हों। शेष नामों को ही चयन सूची में अन्तिम रूप से विचारार्थ रखा जाए।

यद्यपि पदोन्नतियों के सम्बन्ध में (चयन पदों के अतिरिक्त) विभिन्न विभागों के अपने–अपने नियम हैं तथापि मोटे तौर पर इन नियमों में उच्च तथा मध्य स्तर के पदों के लिए तो 'योग्यता (Merit) पर बल दिया गया है और निम्न स्तर के पदों के लिए वरिष्ठता तथा उपयुक्तता पर। कुछ स्थितियों में उच्च और मध्य स्तर के पदों के लिए भी 'वरिष्ठता और योग्यता' तथा 'योग्यता एवं वरिष्ठता' का सिद्धान्त अपनाया जाता है। इन सिद्धान्तों के वास्तविक अनुसरण के बारे में विभिन्न विभागों और सेवाओं में कोई एकरूपता नहीं पाई जाती।

भारत में पदोन्नति की प्रक्रिया (Process of Promotion in India)

भारत में पदोन्नति के लिए अपनाई गई प्रक्रिया निम्नांकित है–

1. कुछ विभागों में पदोन्नति के लिए अलग से एक बोर्ड अथवा समिति नियुक्त कर दी जाती है। उदाहरण के लिए केन्द्रीय सचिवालय की पदोन्नति समिति का नाम लिया जा सकता है। इस समिति में लोकसभा का एक सदस्य भी रहता है।
2. विभागों की पदोन्नति–समिति का निर्णय अन्तिम नहीं होता, यह केवल सिफारिश मात्र होता है, जो लोकसेवा आयोग को भेज दिया जाता है। यह व्यवस्था भारतीय संविधान के अनुरूप है, जिसमें कहा गया है कि एक सेवा में पदोन्नत

करने तथा प्रत्याशियों की उपयुक्तता के सम्बन्ध में अपनाए जाने वाले सिद्धान्तों के विषय में संघीय लोकसेवा आयोग से परामर्श किया जाना चाहिए।

3. प्रत्येक राज्य में इसके लिए एक कार्यकारी समिति (Working Committee) की व्यवस्था की जाती है। इसमें संघीय लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष या एक सदस्य और उसके वरिष्ठ कर्मचारी होते हैं। यह समिति राज्य कर्मचारियों की सूची तैयार करती है, जिनको पद–वृद्धि के लिए उपयुक्त समझा जाए। इसके लिए योग्यता एवं वरिष्ठता दोनों को ही आधार बनाया जाता है। वरिष्ठ कर्मचारी के अयोग्य होने पर उससे कनिष्ठ कर्मचारी को योग्य मान लिया जाता है। रिक्त होने पर इस सूची के क्रमानुसार भर्ती की जाती है। इसे केन्द्रीय पूल व्यवस्था (Central Pool System) कहा जाता है।

टिप्पणी

पदोन्नति के लिए मुख्य अभिकरण (ImportantAgencies for Promotion)

कर्मचारियों के प्रति न्याय की दृष्टि से पदोन्नति का उपयुक्त, निष्पक्ष एवं कार्यकुशलतापूर्ण तरीका अपनाने का प्रयास किया जाता है। अन्याय को रोकने के लिए भी उपयुक्त व्यवस्था की जाती है।

भारत की उपर्युक्त प्रक्रिया को संचालित करने वाले मुख्य अभिकरण निम्नलिखित हैं–

1. **लोकसेवा आयोग** (The Public Services Commission)– भारतीय संविधान की धारा 320 (3) के अधीन संघीय तथा राज्य–लोकसेवा आयोगों को पदोन्नति के सिद्धान्त निर्धारित करने एवं कर्मचारियों का चयन करने की दृष्टि से व्यापक शक्तियां प्रदान की गई हैं। व्यवहार में तृतीय एवं चतुर्थ श्रेणी की पदोन्नति को आयोग के क्षेत्राधिकार से बाहर रखा गया है। इसके लिए विभागीय नियमों का पालन किया जाता है। इन नियमों में पर्याप्त भिन्नता रहती है। कहीं–कहीं वित्त मन्त्रालय की स्वीकृति भी आवश्यक हो जाती है।
2. **विभागीय पदोन्नति समितियां** (Departmental Promotion Committees)– कुछ विभागों में पदोन्नति बोर्ड या समितियां स्थापित कर दी जाती हैं। संघीय लोकसेवा आयोग के प्रथम प्रतिवेदन (1951) में विभागीय समिति का उल्लेख किया गया था। इसमें संघीय लोकसेवा आयोग का सदस्य सभापति होता है तथा मन्त्रालय या विभाग के वरिष्ठ अधिकारी होते हैं जो कर्मचारियों के कार्यों से परिचित होते हैं। इन विभागीय समितियों की सिफारिशों को संघीय लोकसेवा आयोग के सम्मुख रखा जाता है।
3. **पूल व्यवस्था** (Pool System)– उच्चतम प्रशासनिक पदों के लिए पदोन्नति का कार्य एक पूल बनाकर किया जाता है। इसके उम्मीदवारों का चयन संघीय लोकसेवा आयोग के परामर्श से किया जाता है तथा राज्य का मुख्य सचिव राज्य में होने वाली पदोन्नतियों को प्रभावित करता है।
4. **भारतीय प्रशासनिक सेवा के लिए पदोन्नति** (Promotion for the I.A.S.)– भारत एक संघ–राज्य है और इसलिए यहां राज्य के लोकसवकों को भारतीय प्रशासनिक सेवा में पदोन्नत किया जा सकता है। इसका निर्णय राज्य के लिए निर्मित एक समिति द्वारा किया जाता है। इसके संगठन तथा कार्यों का उल्लेख

टिप्पणी

पहले किया जा चुका है। इस समिति द्वारा पदोन्नति के लिए जो सूची बनाई जाती है, उसमें वरिष्ठता एवं योग्यता दोनों का ध्यान रखा जाता है। चयन के लिए कम–से–कम आठ वर्ष की सेवा अनिवार्य है, किन्तु असाधारण योग्यता के आगे वरिष्ठता के सिद्धान्त की उपेक्षा की जा सकती है। उच्चतम पदों के लिए पदोन्नतियां कैबिनेट की समिति द्वारा की जाती हैं। इसमें प्रधानमन्त्री, गृहमन्त्री तथा सम्बन्धित विभाग का मन्त्री रहता है। मन्त्रिमण्डल का सचिव इस समिति के सचिव के रूप में कार्य करता है।

भारत में पदोन्नति व्यवस्था के दोष (Defects of the Promotion System in India)

भारत में लोकसेवकों की पदोन्नति के लिए कोई वैज्ञानिक तरीका नहीं अपनाया गया है। यही कारण है कि स्वयं लोकसेवक तथा सामान्य जनता द्वारा इसकी आलोचना की जाती है। पदोन्नति का आधार कभी तो विभागीय अध्यक्ष की इच्छा को बनाया जाता है और कभी कर्मचारी के कार्यों को। फलतः पक्षपात के अवसर बढ़ते हैं और योग्य तथा क्षमतावान व्यक्ति पदोन्नत होने से वंचित रह जाते हैं। हमारी पदोन्नति व्यवस्था के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं–

1. कर्मचारी की व्यक्तिगत फाइल की जिन बातों को पदोन्नति के समय देखा जाता है वे पूरी जांच–पड़ताल तथा निष्पक्षता के साथ अंकित नहीं की जातीं।
2. योग्यता के सिद्धान्त को पदोन्नति के समय उपयुक्त स्थान नहीं मिल पाता। इसके अनुशीलन की अपेक्षा इसका उल्लंघन अधिक किया जाता है।
3. बहुत से कर्मचारियों के पदोन्नति के प्रार्थना–पत्र विभागीय अध्यक्ष द्वारा विचारार्थ प्रेषित नहीं किए जाते, अतः लोकसेवा आयोग उन पर विचार ही नहीं कर पाता और ऐसे कर्मचारी पदोन्नति के लाभ से वंचित रह जाते हैं।
4. विभागीय अध्यक्ष द्वारा इस सम्बन्ध में प्राप्त शक्तियों का कई बार दुरुपयोग किया जाता है। इसके लिए या तो कोई स्वतन्त्र अभिकरण बनाया जाए अथवा इस कार्य में कर्मचारियों के प्रतिनिधियों के भाग लेने की व्यवस्था हो।
5. रिक्त स्थानों की सूचना को कर्मचारियों से गुप्त रखा जाता है और इस कारण कभी–कभी तो वे अपने प्रति किए गए अन्याय से अपिरिचत ही रह जाते हैं।
6. कई पदोन्नतियां स्वेच्छाचारी तथा असम्बद्ध रूप में होती हैं। जिस गोपनीय प्रतिवेदन के आधार पर ये की जाती हैं, उसका निष्पक्ष एवं विश्वसनीय होना भी सन्देहजनक है। प्रायः ये प्रतिवेदन खानापूर्ति एवं औपचारिकता निभाने के लिए तैयार किए जाते हैं। सम्बन्धित अधिकारी से व्यक्तिगत सम्पर्क अथवा पूछताछ नहीं की जाती।
7. ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है जिसके द्वारा प्रभावित कर्मचारी अपनी पदोन्नति सम्बन्धी शिकायतों का समाधान पा सके। उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थ अधिकारी के प्रतिवेदन पर विरोध या आपत्ति प्रकट नहीं करते, उसे यथावत् स्वीकार कर लेते हैं।
8. पदोन्नति के अवसर कम और प्रत्याशी अधिक होते हैं। इस प्रकार प्रतियोगिता बढ़ जाती है। यह व्यक्तिगत सुरक्षा के लिए एक गम्भीर समस्या है। इससे

योग्यता में अविश्वास पैदा होता है तथा अयोग्यता दूसरे तरीकों से सफलता प्राप्त कर लेती है।

उपर्युक्त दोषों को ध्यान में रखकर यदि सुधार किए जाए तो पदोन्नति–व्यवस्था को पर्याप्त सशक्त बनाया जा सकता है।

टिप्पणी

पदोन्नति के सम्बन्ध में वेतन आयोग की सिफारिशें (Recommendations of the Pay Commission on Promotion) – वेतन आयोग द्वारा पदोन्नति के सम्बन्ध में की गयी सिफारिशें निम्नलिखित हैं :

1. उच्च पदों पर पदोन्नति करते समय योग्यता को मापदण्ड बनाना चाहिए और निम्न स्तर के पदों पर वरिष्ठता एवं उपयुक्तता को अपनाना चाहिए।
2. पदोन्नति के लिए योग्यता परीक्षाएं केवल उन्हीं पदों के सम्बन्ध में ली जानी चाहिए, जिनके लिए विशिट ज्ञान की आवश्यकता होती है।
3. 'ग' श्रेणी तथा राजपत्रित 'ख' श्रेणी कर्मचारियों की पदोन्नति करते समय सीमित प्रतियोगी परीक्षाओं की व्यवस्था की जानी चाहिए।
4. गोपनीय प्रतिवेदन का उच्च स्तर पर सूक्ष्म परीक्षण करके यह पता लगाया जाना चाहिए कि क्या इसे वांछनीय अनुदेशों के आधार पर ही तैयार किया गया है। ऐसा न होने पर उसे संशोधन के लिए वापस लौटा दिया जाना चाहिए।

प्रशासनिक सुधार आयोग की पदोन्नति विषयक सिफारिशें (Recommendations ofA.R.C. Related to Promotion)

सन् 1969 में प्रशासनिक सुधार आयोग ने केन्द्रीय कर्मचारियों की पदोन्नति के बारे में निम्नलिखित सिफारिशें की थीं–

1. **विभागीय पदोन्नति समिति** (Department Promotion Committee)– पदोन्नति का कार्य सदैव विभागीय पदोन्नति समितियों द्वारा जाना चाहिए, क्योंकि केवल विभागाध्यक्ष द्वारा किये जाने वाले पदोन्नति के कार्य से यह बेहतर विकल्प है।
2. **कार्य सम्पन्नता प्रतिवेदन** (Work Performance Report)– वर्ष की समाप्ति पर जिस अधिकारी की रिपोर्ट लिखी जानी है, उसे स्वयं 300 शब्दों में उसके द्वारा वर्ष में किये गये विशेष कार्यों का विवरण उच्च अधिकारी को (रिपोर्ट देने वाले अधिकारी को) प्रस्तुत करना चाहिए। उच्च अधिकारी को अपनी टिप्पणियां और सम्मत्तियां लिखकर अपने से उच्च समीक्षक अधिकारी को इन्हें भेज देना चाहिए। समीक्षक अधिकारी को इस पर आवश्यकतानुसार अपनी टिप्पणियां देते हुए सम्बद्ध अधिकारी के कार्य का मूल्यांकन करते हुए उसका क्रम–निर्धारण (Grading) करना चाहिए जैसे–
   (क) अवसर न होने पर भी पदोन्नति योग्य (Fit for Promotion Out of the Turn)
   (ख) पदोन्नति योग्य (Fit for Promotion)
   (ग) अभी पदोन्नति योग्य न होना (Not Yet Fit for Promotion)
3. **समूह 'क' में पदोन्नति हेतु परीक्षाएं** (Examination for Promotion in Group-A)– वर्तमान में प्रायः समूह 'ख' से समूह 'क' में पदोन्नति से भरे

टिप्पणी

जाने वाले पदों की संख्या 20 प्रतिशत होती है। प्रशासनिक सुधार आयोग ने इसे 40 प्रतिशत तक बढ़ाने की सिफारिश की थी और यह कहा था कि इनमें से आधे पदों के लिए वर्तमान ढंग से पदोन्नति की जाये, किन्तु शेष आधे पदों के लिए परीक्षा पद्धति को अपनाया जाये। इससे ऐसे व्यक्तियों को पर्याप्त प्रोत्साहन मिलेगा जो तुलनात्मक दृष्टि से कम आयु के और कनिष्ठ होते हुए भी बहुत योग्य होते हैं।

4. **समूह 'ग' वालों की समूह 'ख' में पदोन्नति** (Promotion of Group-C Personnels in Group-B)— ऐसे कर्मचारियों की संख्या काफी होती है जो समूह 'ग' से समूह 'ख' में पदोन्नत किये जाते हैं। ऐसे 50 प्रतिशत पदों पर पदोन्नति के लिए परीक्षा प्रारम्भ की जानी चाहिए। शेष 50 प्रतिशत की पदोन्नति के लिए वर्तमान तरीका ही अपनाया जाना चाहिए।

अपनी प्रगति जांचिए

19. सिविल सेवा परीक्षा तीन चरणों में कब से विभक्त हुई?

    (क) सन् 1976 (ख) सन् 1979

    (ग) सन् 1983 (घ) सन् 1985

20. भारतीय लोक–प्रशासन संस्थान की स्थापना, नई दिल्ली में कब हुई?

    (क) सन् 1950 (ख) सन् 1952

    (ग) सन् 1954 (घ) सन् 1968

21. प्रशासनिक सुधार आयोग ने केंद्रीय कर्मचारियों की पदोन्नति से संबंधित सिफारिशें कब की थी

    (क) सन् 1964 (ख) सन् 1966

    (ग) सन् 1969 (घ) सन् 1972

3.12 कर्मचारी या कर्मचारी संघ और यूनियन

'श्रमिक संघ' को विभिन्न लोगों ने भिन्न–भिन्न तरीके से परिभाषित किया है। कुछ लोगों का कहना है कि यह संगठन में काम करने वालों की या वेतन पाने वालों की जो एक या अधिक पेशे या उद्यम या व्यवसाय के साथ युक्त हैं, उनकी समिति होती है। दूसरों का कहना है कि इसके अंतर्गत संगठन के नियोजक एवं मैत्रीपूर्ण संगठन आते हैं। कहा जा सकता है कि श्रमिक संघ एक या अधिक पेशे से युक्त या संगठन में काम करने वाले श्रमिकों या कर्मचारियों का दीर्घकालिक समिति है जिसका उद्देश्य है श्रमिकों के स्वार्थ की रक्षा करना।

भारतीय व्यवसाय विधि 1926 के अनुसार स्थायी या अस्थायी श्रमिक संघ की स्थापना का प्राथमिक उद्देश्य है नियोजक एवं श्रमिकों के बीच या कर्मचारी एवं कर्मचारियों के बीच या श्रमिक एवं श्रमिकों के बीच सम्पर्क या किसी भी प्रकार के

व्यवसाय के संचालन में दो या अधिक श्रमिक संघों को शामिल करने पर किसी प्रकार की निषेधात्मक शर्त लागू करने की स्थिति पर नियंत्रण करना।

टिप्पणी

श्रमिक संघ कारखाना व्यवस्था का एक परिणाम है। भारत में औद्योगिक क्रांति ने श्रमिक प्रबंधन सम्पर्क का पारम्परिक दृष्टिकोण में परिवर्तन लाया है। आधुनिक कारखाना व्यवस्था में नियोजक एवं कर्मचारी का सम्पर्क अब नहीं रहा। उसके स्थान पर कई सामाजिक एवं आर्थिक कुरीतियां उभर आई हैं जिन्होंने श्रमिकों को नियोजकों के साथ सम्पर्क करने का एक प्रभावशाली साधन सोचने एवं उनके साथ सौदेबाजी करने की प्रक्रिया को अंजाम देने को अनिवार्य बना दिया है। श्रमिक संघ की स्थापना इस समस्या के समाधान के रूप में सामने आई है।

3.12.1 श्रमिक संघ : एक परिचय

श्रमिक संघ विधि 1926 का सम्पादन इस उद्देश्य से किया गया कि एक स्थायी एवं स्थिर श्रमिक संघ की स्थापना हो जिससे इसके सदस्यों को कुछ सहूलियतें मिलें एवं अनुचित जिम्मेदारियों से सुरक्षा कर सके। श्रमिक संघ का पंजीकरण अपने आप में उसके अस्तित्व का प्रमाण नहीं है। पंजीकरण विधि 1860, को ओपरेटिव सोसाईटी विधि 1912 एवं कम्पनी विधि 1956 इत्यादि श्रमिक संघ या पंजीकरण पर लागू नहीं होते। यह इनमें से किसी भी विधि के अंतर्गत प्रारंभ से ही अवैधानिक घोषित किए गए हैं।

श्रमिकों का शोषण कर अधिक से अधिक मुनाफा कमाना : प्रबंधन के इस उद्देश्य के परिणामस्वरूप श्रमिक संघों की स्थापना हुई है जिससे प्रबंधन को संगठन के सबसे महत्वपूर्ण संसाधन अर्थात् मानव संसाधन के प्रति उनकी जिम्मेदारियों का एहसास हो। अतः श्रमिक संघ की स्थापना श्रमिकों के स्वार्थ की रक्षा करने के लिये किया गया है।

श्रमिक, श्रमिक संघ से युक्त होते हैं। क्योंकि वे अपने उद्देश्यों की पूर्ति व्यक्तिगत रूप से करने में असमर्थ होते हैं। कामगार श्रमिक संघ के साथ निम्नलिखित कारणों से युक्त होते हैं–

1. आर्थिक सुरक्षा पाने के लिये। दूसरे शब्दों में, उच्च वेतन एवं सुविधाओं के साथ स्थायी नियोजन पाने के लिये।
2. सौदेबाजी की ताकत बढ़ाने के लिये एवं उसे संगठन के साथ समन्वित करने के लिये। श्रमिक प्रबंधन का अतार्किक, पक्षपाती कार्यों का विरोध करने के लिये। श्रमिक प्रबंधन की मनमानी का विरोध अपने सौदेबाजी की ताकत में सुधार से एवं श्रमिक संघ से युक्त होकर रह सकते हैं। पदोन्नति, स्थानान्तरण, कार्य निर्धारण, शिकायतों का समाधान, अनुशासन संबंधी निर्णय को कोई श्रमिक व्यक्तिगत रूप की अपेक्षा श्रमिकों का गुट चुनौती दे सकते हैं।
3. अपनी शिकायतों को प्रबंधन पहुंचाने के लिये।
4. श्रमिकों के विचार, लक्ष्य, धारणाएं एवं असंतोष को प्रबंधन तक पहुंचाने के लिये।
5. आकस्मिक आर्थिक जरूरतों में, जैसे, बीमारी या दुर्घटनाओं में सुरक्षा पाने के लिये।
6. अपनी सामाजिक मांगों की पूर्ति के लिये।

टिप्पणी

7. अपनी मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये।
8. अपनी संगठन का अंश या अधिकारी होने का एहसास पाने के लिये।
9. क्षमता पाने के लिये।

श्रमिक संघ में निम्नलिखित विशेषताएं मिलती हैं–

1. श्रमिक संघ नियोजक एंव कर्मचारियों की या स्वतंत्रा श्रमिकों का एक समिति हो सकता है।
2. श्रमिक संघ आपेक्षिक रूप से श्रमिकों का स्थायी मेल है।
3. श्रमिक संघ श्रमिकों का समिति है जो अपने सदस्यों के आर्थिक सुविधाओं की सुरक्षा के लिये स्थापित किया जाता है।
4. श्रमिक संघ की क्षमता हमेशा परिवर्तित होती रहती है।
5. श्रमिक संघ की उत्पत्ति एवं विकास कई विचारधाराओं द्वारा प्रभावित होता है।

श्रमिक संघ किसी भी देश की उद्योग का एक अनिवार्य वैशिष्ट होता है। श्रमिक संगों की उत्पत्ति संगठन व्यवस्था एवं पूंजीवादी समाज के प्रतिक्रिया के रूप में हुई है। औद्योगीकरण के प्राथमिक स्तर पर श्रमिक वर्ग किसी भी प्रकार के कानूनी सुरक्षा के बिना नियोजकों के हाथों शोषित होते थे। धीरे–धीरे श्रमिकों ने अपने स्वार्थ की रक्षा के लिये सामूहिक कार्यवाही प्रारंभ किया। इस तरह श्रमिक संघ की स्थापना हुई। अतः श्रमिक संघ श्रमिकों की जरूरतों, आशाओं का एक सुसंगठित अभिव्यक्ति है।

श्रमिक संघ की अवधारणा

श्रमिक संघ में अवधारणात्मक पहलू से संबंधित निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

- **साहचर्य** : श्रमिक संघ कर्मचारियों की एक मेल या समिति है। इसमें एक या अधिक पेशे से आनेवाले बहुसंख्यक कर्मचारी या श्रमिक सदस्यों का साहश्रर्य देखा जाता है।
- **स्वैच्छिक** : श्रमिक संघ की सदस्यता स्वैच्छिक है। साधारणतया, श्रमिक संघ के साथ युक्त होने के लिये किसी भी प्रकार का कानूनी या अन्य दबाव नहीं होता है। कर्मचारी अपनी इच्छा से इसके साथ युक्त हो सकते या छोड़ सकते हैं।
- **स्थायी** : श्रमिक संघ एक स्थायी एवं लगातार संयोजन है। यह एक दीर्घकालिक संघ है।
- **स्वार्थ का समुदाय** : श्रमिक संघ के सदस्यों का समान स्वार्थ एवं समस्याएं होती है जो उन्हें एक होने का प्रोत्साहन देता है। यह संघ कर्मचारी एवं श्रमिकों के साथ सम्पर्क को नियन्त्रित करता है।
- **सामूहिक कार्य** : श्रमिक संघ अपने सदस्यों के आर्थिक या अन्य स्वार्थ की सुरक्षा के लिये हमेशा एक होकर कार्य करते हैं।
- **उप प्रक्रिया** : श्रमिक संग एक सामाजिक व्यवस्था का उप प्रक्रिया है। अतः देश के आर्थिक, सामाजिक, संवैधानिक, राजनैतिक अवस्था में परिवर्तन के साथ–साथ इसमें भी परिवर्तन आता है। एक दिये गए आर्थ सामाजिक व्यवस्था

में एक संघ अपने सदस्यों के स्वार्थ की सुरक्षा के लिये सामूहिक रूप से कार्य करती है।

उद्देश्य

टिप्पणी

श्रमिक संघ के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

- श्रमिकों को प्रचलित जीवन स्तर एवं निर्वाह व्यय के अनुसार योग्य वेतन का निर्धारण करना।
- श्रमिकों के कार्य अवधि में कमी लाना, अवकाश की सुविधाएं, पर्याप्त सामाजिक सुरक्षा, आवास एवं शिक्षा का सुबन्दोबस्त एवं अन्य कल्याणकारी सुविधाएं इत्यादि कार्य अवस्था में सुधार लाना।
- संगठन के मुनाफे में श्रमिकों को बोनस के रूप में हिस्सा देना।
- वियोजन का विरोध कर नौकरी की सुरक्षा निश्चित करना।
- पूंजीवादियों के हाथों श्रमिकों के शोषण का विरोध करना।
- प्रबंधन के निर्णय में श्रमिकों के विचारों को शामिल कर, औद्योगिक लोकतंत्र एवं एक नया सामाजिक व्यवस्था स्थापना करना।
- व्यवसाय एवं वाणिज्य में सुधार लेकर वृहद सामाजिक स्वार्थ की सुरक्षा करना।

3.12.2 श्रमिक संघ की आवश्यकता

श्रमिक निम्नलिखित कारणों के लिये एक साथ सुसंगठित होते हैं–

- **स्थायी नौकरी** : श्रमिक–श्रमिक संघ की स्थापना उनके नौकरी की सुरक्षा के लिये करते हैं। बर्खास्थगी के विरुद्ध श्रमिक संघ वैधानिक सुरक्षा पाने के लिये राजनैतिक कार्रवाई ग्रहण करते हैं। या फिर किसी भी श्रमिक के वियोजन के विरुद्ध नियोजकों का विरोध करते हैं।
- **आर्थिक सुविधा** : कोई भी श्रमिक व्यक्तिगत रूप से अच्छा वेतन या उपयुक्त कार्य अवस्था प्राप्त नहीं कर सकता। वह श्रमिक संघ से युक्त हो जाता है क्योंकि संघ को उसके सदस्यों के आर्थिक सुविधा प्राप्त करने के लिये अच्छे सौदेबाजी की क्षमता रखते हैं।
- **एकपक्षीय कार्यों पर नियंत्रण** : श्रमिकों में अगर एकता न हो ये नियोजक उनका शोषण करने के लिए एकपक्षीय नीति का प्रयोग कर सकते हैं। श्रमिक संघ बद्ध होते हैं जिससे एक समरूप एवं उचित कार्मिक नीति का संपादन कर सके एवं प्रबंधन द्वारा उसका पक्षपात रहित कार्यान्वयन हो सके।
- **आर्थिक सुरक्षा** : श्रमिक संघ अपने सदस्यों को विभिन्न आर्थिक समस्याओं, जैसे, बीमारी, दुर्घटना, बेरोजगारी से सुरक्षा प्रदान करती है। वह क्षतिपूर्ति भत्ता के लिये नियोजकों से सम्पर्क करते हैं। संघ का अपना कोष होता है जिससे वह जरूरतमंद श्रमिकों की आर्थिक सहायता करता है।
- **आत्माभिव्यक्ति** : श्रमिक संघ से संयुक्त होते हैं प्रबंधन के साथ सम्पर्क करने के लिये। संघ श्रमिकों को एक ऐसा मंच प्रदान करता है जहां से श्रमिक अपनी आवाश प्रबंधन तक पहुंचा सके।

टिप्पणी

- **संगठन का अंश होने का एहसास** : एक साधारण श्रमिक को आधुनिक संगठन का हिस्सा बनने का एहसास नहीं होता। संघ से युक्त होकर अपने सहयोगियों के साथ बात कर वह सामाजिक श्रद्धा अर्जित करता है। वह अपनी समस्याओं का संघ नेताओं के साथ आलोचना कर सकते हैं। श्रमिक संघ श्रमिकों में आत्मनिर्भरता एवं आत्मसम्मान के भाव उत्पन्न करते हैं।
- **स्वीकृति एवं सहभागिता** : संघ से युक्त होकर श्रमिक, नियोजक के साथ बराबर के हिस्सेदार बन कर, अपनी पहचान बनाते हैं। वे संगठन के प्रबंधन में भाग ले सकते हैं। वे सौदेबाजी के माध्यम से अपने निर्णय से अपने उद्देश्यों की पूर्ति कर सकते हैं।
- **औद्योगिक सम्पर्क** : श्रमिकों का संघ के साथ युक्त होने का एक और कारण यह है कि प्रबंधन एवं श्रमिकों के बीच एक यथार्थ सम्पर्क की स्थापना के लिये एक उपयुक्त साधन का होना। संघ यह साधन है जो सामूहिक रूप से कार्य करता है।
- **नेतृत्व** : कुछ श्रमिक संघ के साथ युक्त होते हैं अपना राजनैतिक आकांक्षा को पूरी करने के लिये। वो नेता बनने के लिये संघ को अपना हथियार बनाते हैं।

श्रमिक संघ के कार्य

श्रमिक संघ अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये निम्नलिखित कार्य करता है–

- **सुरक्षा** : श्रमिक संघ अपने सदस्यों को नियोजक या राजनैतिक दलों के द्वारा श्रमिकों का शोषण के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करता है। यह अन्याय श्रमिक व्यवस्था एवं प्रबंधन के मनमानी से श्रमिकों को सुरक्षा प्रदान करता है। यह संगठन एवं समाज में श्रमिकों के अवस्थान में सुधार लाते हैं।
- **उपयुक्त जीवन स्तर** : संघ श्रमिकों के लिये पर्याप्त वेतन, योग्य कार्य अवस्था, एवं हित जैसे स्वास्थ्य, आवास, मनोरंजन एवं सामाजिक सुरक्षा निश्चित करने का प्रयास करती है जिससे उन्हें मनचाहा जीवन स्तर प्रदान किया जा सके।
- **शिकायतों को सुधारना** : श्रमिक संघ श्रमिकों का व्यक्तिगत एवं सामूहिक शिकायतों को नियोजकों तक पहुंचाते है।
- **सामूहिक सौदेबाजी** : श्रमिक संघ श्रमिकों का व्यक्तिगत एवं सामूहिक शिकायतों को नियोजकों तक पहुंचाते हैं। श्रमिक संघ नियोजन के शर्तों के तहत प्रबंधन के साथ समझौता करते हैं।
- **हिस्सेदारी** : श्रमिक संघ श्रमिकों के स्वार्थ को प्रभावित करने वाली विषयों पर प्रबंधन में श्रमिकों को प्रस्ताव रखने के अधिकार के लिये प्रयास करते हैं। इस प्रकार से श्रमिक संघ संगठन में लोकतंत्रा की स्थापना करते हैं।
- **विरोध** : श्रमिक संघ श्रमिकों की मांग की पूर्ति के लिये हड़ताल, प्रदर्शन, एवं अन्य प्रकार के विरोध का आयोजन करते हैं। हड़ताल के समय जब नियोजक श्रमिकों की मजदूरी बन्द कर देते हैं तो संघ श्रमिकों को आर्थिक सहायता प्रदान करता है।

टिप्पणी

- **शिक्षा** : कई श्रमिक संघ उनके सदस्यों के परिवार एवं उनके बच्चों के लिये शिक्षा की व्यवस्था करते हैं। संघ श्रमिकों को उनके अधिकार एवं कर्तव्यों के प्रति एवं तकनीकी परिवर्तनों के आवश्यकता के प्रति जागरूक बनाते हैं।
- **कल्याण एवं मनोरंजन** : कई श्रमिक संगठन अपने सदस्यों के लिये कल्याण एवं मनोरंजन एवं खेल की व्यवस्था करते हैं।
- **कानून** : श्रमिक संघ राजनैतिक दलों को अपने पक्ष में लेते हैं जिससे सरकार से अपने सदस्यों के लिये कानूनी सुरक्षा पा सके।
- **प्रतिनिधित्व** : श्रमिक संघ विभिन्न राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर श्रमिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जैसे भारतीय श्रमिक सभा एवं अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन।
- **सलाह** : श्रमिक संघ प्रबंधन को कार्मिक नीति एवं रिवाजों के विषय में सलाह देता है। संघ श्रमिकों को भी अपने अधिकारों के प्रयोग में नियंत्रण का अभ्यास करने की आवश्यकता पर जोर दिया है। संघ श्रमिकों को अनुशासन कायम रखने एवं उत्पादकता में वृद्धि लाने में सहायता करते हैं।
- **सम्पर्क** : श्रमिक संगठन नियोजक एवं कर्मचारियों के बीच सम्पर्क एक साधन के रूप में कार्य करता है जिससे दोनों पक्षों के बीच में एक पारस्परिक तालमेल एवं सहयोगिता का काम करता है। संघ श्रमिकों में संगठन एवं समाज के प्रति जिम्मेदारी सीखाता है। यह राष्ट्रीय एकता के सम्पादन में सामाजिक बुराईयों को रोकने में प्रधन भूमिका निभाता है।

3.12.3 भारत में श्रमिक संघीकरण

भारत में श्रमिक संघ की स्थापना कुछ देर से हुई। बम्बई मिलहैन्ड एसोसिएशन की स्थापना 1890 में श्री एनएम लोखण्डे के द्वारा हुई जो एक कारखाने में श्रमिक थे। इसे भारत का पहला श्रमिक संघ कहा जाता है। इसके बाद कई संघों की स्थापना हुई। वे सभी सांप्रदायिक संस्थाएं हैं जो समाज सुधारकों द्वारा निर्मित थी। 1904 से 1917 के बीच में श्रमिक क्रान्ति में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई, कई हड़तालें आयोजित की गई, पर श्रमिक संघ काम करने वाले उच्चस्तर के कार्मिक एवं शिक्षित वर्ग के कर्मचारियों तक ही सीमित थी। राजनैतिक आन्दोलन से भी श्रमिक संघों को सहायता मिली। पहले विश्वयुद्ध के अंत में आर्थिक संकट की वृद्धि, रूसी क्रान्ति इत्यादि के श्रमिक संघ का जन्म हुआ। कई ऐसे संघों का गठन हुआ जैसे सर्वभारतीय श्रमिक संघ कांग्रेस, टेक्सटाईल लेबर एसोसिएशन इत्यादि। इनमें से कुछ संघ अलग–अलग थे, इनमें एकता नहीं थी। कम्युनिस्ट श्रमिक वर्ग आन्दोलन को अपने अधिकार में ले लिया एवं सर्व भारतीय श्रमिक संघ श्रमिक वर्ग का एकमात्रा प्रतिनिधि था।

तीस दशक में श्रमिक संघ आन्दोलन में एकता आई। 1933 में नेशनल फेडरेशन ऑफ लेबर की स्थापना एकता को सुगम बनाने के लिये किया गया। विभिन्न संघ सम्मिलित हुए। स्वतंत्रता के बाद श्रमिक संघों में तेजी से विकास हुआ जिसका कारण था सरकार द्वारा स्वीकृति एवं समाज का समर्थन। यद्यपि केन्द्रीय श्रमिक संगठनों में कई दरार आए। परिणाम यह हुआ कि सर्व भारतीय श्रमिक संघ कांग्रेस, इंडियन

टिप्पणी

नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस एवं हिन्दू मजदूर सभा के प्रतिनिधियों ने एक नेशनल काउन्सिल ऑफ सेन्ट्रल ट्रेड यूनियन की स्थापना की जो श्रमिक संघों के कार्यों के सम्पादन का एक सार्वजनिक मंच था। वर्तमान में 18000 पंजीकृत श्रमिक संघ एवं 10 केन्द्रीय श्रमिक संगठन हैं। इनकी कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएं इस प्रकार हैं–

- भारतीय श्रमिक संघबद्ध होते हैं व्यवसाय संघ की अपेक्षा मुख्यतः औद्योगिक संघों के आधार पर। व्यावसायिक संघों की स्थापना अ–व्यावसायिक एवं पेशेवर कर्मचारियों जैसे टैक्सी, ड्राइवर, संवाददाता, शिक्षक, बैंक कर्मचारी इत्यादि से होती है। संघ मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं– (क) प्रारंभिक संघ जो समक्षेत्र में कार्य करते हैं, (ख) क्षेत्रीय मंडल जो प्रादेशिक स्तर पर कार्य करते हैं एवं (ग) केन्द्रीय श्रमिक संगठन जो राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करते हैं।
- संघीकरण की मात्रा सभी संगठनों में समान नहीं होता। कई संगठन में श्रमिक अन्य संगठनों की अपेक्षा अधिक संघबद्ध होते हैं। साथ ही कई राज्यों में अधिक राज्यों में संगठन की संख्या अधिक होती है।
- भारत के अधिकतर संघ छोटे होते हैं एवं उनकी आर्थिक अवस्था भी कमजोर होती है।
- संघीकरण सिर्फ अधीनस्थ कर्मचारियों के लिये ही नहीं होता बल्कि उच्च स्तर के कर्मचारियों के लिये भी होता है।
- प्रारंभिक संघ कई केन्द्रीय संघों के साथ सम्बद्ध रहते हैं।
- श्रमिक संघ एवं राजनैतिक दलों में गहरा संबंध होता है। अधिकतर केन्द्रीय श्रमिक संगठन किसी न किसी राजनैतिक दल के अंतर्गत आते हैं।

पारम्परिक रूप से, भारत में श्रमिक संघ सौदेबाजी एवं प्रक्षोभक की भूमिका निभाते आए हैं। पर भविष्य में श्रमिक वर्ग के परिवर्तित आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये उनसे कई भूमिका निभाने की आशा की जाती है। जैसे, (क) सलाहकार (ख) शिक्षा एवं प्रशिक्षण (ग) संचार (घ) कर्मचारी कल्याण (घ) परिवार एवं व्यावसायिक संचालन (च) अनुसंधान एवं प्रकाशन (छ) मानव संसाधन विकास (ज) कर्मचारी स्वत्व।

श्रमिक संघों के विकास को प्रभावित करने वाले कारण

स्वतंत्रता के पश्चात श्रमिक संघों का विकास होने लगा। इसके वृद्धि को नियंत्रित करने वाले कारण हैं। अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव, श्रमिक संघों की प्रतिद्वंद्विता जो प्रायः राजनैतिक या सैद्धान्तिक विरोध के परिणाम हैं, सरकार की औद्योगिक सम्पर्क नीति जो अनिवार्य अधिनिर्णयन एवं पंजीकृत श्रमिक संघों को विशेष सुविधा प्रदान करता है एवं श्रमिकों की एकात्मकता की इच्छा जिससे उनके स्वार्थ की सुरक्षा हो विशेषतः उस समय जब प्रबंधन बर्खास्तगी लॉक आउट इत्यादि का सहारा लेते हैं।

औद्योगिक विकास के तनाव के कारण कई श्रमिक संघों का गठन हुआ है अतः ये देश के औद्योगिक अवस्था के प्रत्यक्ष शाखा हैं। इनके गठन के प्रारंभिक स्तर पर श्रमिक संघों को प्रचलित रीति रिवाजों के खिलाफ उपद्रवी माना जाता था। पर आज इन्हें औद्योगिक मंच का एक अहम् हिस्सा माना जाता है एवं देश की समाजार्थिक संस्थाओं में से है। पहले श्रमिक संघ उत्तेजक, धमकी देने वाला अविवेकपूर्ण संगठन हुआ करता था पर आज अधिकतर श्रमिक संघों का विकास हुआ है।

श्रमिक संघीकरण की विशेषताएं एवं कमजोरियां

टिप्पणी

भारत में श्रमिक संगठन आंदोलन के एक संक्षिप्त सर्वेक्षण से श्रमिक संधीकरण की विशेषताओं एवं सीमाओं की झलक मिलती है। प्रमुख बातें इस प्रकार है–

1. श्रमिकों का आर्थिक संकट श्रमिक संगठन के गठन एवं विकास का अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन था पर मुख्य राजनैतिक दलों ने इसे प्रत्यक्ष रूप से प्रेरित दिया।
2. विभिन्न ऐतिहासिक एवं सांगठनिक तत्वों से प्रभावित होकर एवं सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में विकास के कारण श्रमिक संघों ने एक भिन्न राजनैतिक स्वरूप को अपनाया है। उनके राजनैतिक संबंध, राजनैतिक नेताओं द्वारा श्रमिक संघों को शोषण एवं आन्तः संघ एवं अन्य संघों के बीच प्रतिद्वंदिता से यह तथ्य प्रमाणित होता है।
3. श्रमिक संघ के नेताओं का राजनैतिक संबंध एवं संघ प्रतिद्वंदिता ने श्रमिक संघ आंदोलन का कमजोर बना दिया है। श्रमिक संघों का प्रसरण, उनके कार्य में एकता का अभाव, उनकी अनियमिता एवं कम सदस्यता, उनके द्वारा प्रायोजित कई असफल हड़ताल एवं सीमित संख्यक कल्याणकारी कार्यक्रम भी कारण हैं।
4. राजनैतिक नेताओं का श्रमिक संगठनों पर अधिकार, उनके मन में अत्याचार का भय उन्हें संघ के कार्यों में भाग लेने से रोकता है। परिणामस्वरूप श्रमिक संघ उतने शक्तिशाली नहीं होते जितना उन्हें होना चाहिये।
5. श्रमिक संघों का कार्य अधिकतर महानगरों में ही केन्द्रित होते हैं जहां बड़े–बड़े उद्योग हैं। यहां पर भी सिर्फ कारगर ही श्रमिक संघ के कार्य के अंतर्गत आते है। श्रमिक संघ की कुल सदस्यता मजदूरी करने वाले कुल श्रमिकों का एक छोटा सा हिस्सा ही है।
6. कई श्रमिक संघ छोटे होते हैं एवं उनकी सदस्य संख्या भी होती कम है। अतः वह सलाह देने या संचालन करने के लिये विशेषज्ञों को नहीं ला सकते जो उन्हें नियोजकों के चुनौती का सामना करने की सलाह दें। उनकी आर्थिक स्थिति कमजोर है एवं उनकी सौदेबाजी की ताकत भी कम है। अतः वह अपना प्रभाव नहीं डाल सकते।

   श्रमिक संघों का प्रगति बहुत ही विलम्बित गति से हुई है। वह एक प्रभावकारी स्वैच्छिक संगठन नहीं बन पाये हैं, क्योंकि–

   (क) सरकार की अवास्तविक नीति, असंगत एवं आदर्शात्मक नैतिक धारणाएं जो उनके वास्तविक नीति के सम्पादन एवं कार्यान्वयन को रोकती हैं।

   (ख) लक्ष्य के विषय में नैतिक आदर्श एवं उन्हें पाने का आशावादी दृष्टिकोण

   (ग) कमजोर एवं निर्भरशाली श्रमिक संघ के लिये सरकार का प्रोत्साहन।
7. श्रमिक संग का अव्यवस्थित स्वरूप, श्रमिकों की संख्या में कमी, जातिवाद, प्रादेशिकता, भाषा इत्यादि ने श्रमिकों को दलों में विभाजित किया है। नियोजकों का प्रतिकूल आचरण इत्यादि भी श्रमिक संघों की कमजोरियां हैं।

टिप्पणी

श्रमिक संघ को सुदृढ़ बनाने के उपाय

निम्नलिखित प्रस्तावों को महत्व होकर श्रमिक संघ शक्तिशाली एवं प्रभावशाली बन सकते हैं–

1. वेतनभुक्त संघ अधिकारियों को नियोजित करना होगा जिससे वे अपना पूरा समय संघ के कार्य में बिताएं।
2. साधारण श्रमिकों में भी नेतृत्व के गुणों को विकसित करना होगा। इसके लिये एक पुनःस्थापन कार्यक्रम का आयोजन करना होगा जिससे श्रमिक वर्ग का नेतृत्व राजनैतिक से अलग किया जा सके। राजनैतिक प्रभाव से पूर्णरूप से मुक्त हो।
3. नीतिनिर्धारकों का यह एक लगातार प्रयास होना चाहिये कि वह श्रमिक संघों में एकता ला सके जिससे एक सामूहिक कार्यक्रम पद्धति, लक्ष्य के आधार पर उन्हें एक साथ किया जा सके। इस प्रकार से वह अपने सदस्यों के लिये शक्तिशाली सौदेबाज प्रतिनिधि बन सकते हैं।
4. एक संगठन में एक ही श्रमिक संघ होना चाहिये जिससे संघों के बीच प्रतिद्वंद्विता को रोका जा सकता है।
5. श्रमिक संघों को यथार्थ स्वीकृति देनी होगी जिससे विधिसंगत सौदेबाजी को रोका जा सकता है। श्रमिक संघों के कार्यों को विस्तृत किया जा सकता है। सदस्यों को आर्थिक स्वार्थ की सुरक्षा के साथ–साथ सामाजिक दायित्वों को उठाने के लिये प्रोत्साहित करना होगा। श्रमिक संघों को देश के विकास के कार्यक्रमों में भाग लेने के लिए भी प्रोत्साहन देना चाहिये।

संघों के आकार–प्रकार

श्रमिक संघों को मूलतः गठन के उद्देश्य के आधार पर एवं सदस्यता के स्वरूप के आधार पर विभाजित किया जा सकता है।

उद्देश्य के आधार पर विभाजन

उद्देश्य के आधार पर श्रमिक संघों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है– (क) सुधारक (ख) क्रान्तिकारी।

(क) सुधारक संघ : सुधारक संघ का उद्देश्य होता है पूंजीवादी अर्थनीति की संरक्षा करना एवं औद्योगिक सम्पर्क के आधार पर प्रतिस्पर्धी उत्पादन को कायम रखना। वो प्रचलित सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक आकार को कायम रखना चाहते हैं। श्रमिक संघ वेतन स्तर, कार्य करने की अवस्था एवं कार्य जीवन में सुधार, उत्पादन स्तर में वृद्धि लाकर उसमें अंश पाने के लिए सौदेबाजी करना चाहता है। सुधारक संघों को विभाजित किया जा सकता है– 1. व्यावसायिक संघ में एवं 2. मैत्रीपूर्ण या उत्थान संघ में।

1. **व्यावसायिक संघ** : इस प्रकार के संघों का गठन नियोजक एवं कर्मचारी के बीच सौहार्दपूर्ण सम्पर्क के आधार पर होता है। व्यावसायिक संघ श्रमिकों के स्वार्थ की रक्षा, नियोजकों के साथ सामूहिक सौदेबाजी में भाग लेकर करते हैं। यह संघ अधिकतर श्रेणी सचेतन की अपेक्षा व्यवसाय सचेतन होते हैं। ये संघ स्वैच्छिक मध्यस्थता या शर्त को प्राथमिकता देते हैं।

2. **मैत्रीपूर्ण या उत्थान संघ :** ये संघ श्रमिकों के नैतिक, बौद्धिक एवं सामाजिक जीवन को उन्नत करते हैं। यह संघ व्यवसाय सचेतन की अपेक्षा श्रमिकों के स्वार्थ सचेतन होते हैं। यद्यपि यह संघ सामूहिक सौदेबाजी एवं पारस्परिक बीमा को अधिक महत्व देते हैं पर ये सहकारी उद्यम एवं लाभ सहभागिता को समर्थन करते हैं।

टिप्पणी

(ख) क्रान्तिकारी संघ : इन संघों का उद्देश्य है वर्तमान व्यवस्था में बदलाव लाना होता है, जिसका आधार वह आदर्श होगा जो बेहतर होगा। यह संघ पूंजीवादी व्यवस्था को रद्द करना एवं व्यक्तिगत सम्पत्ति का अंत कर समाजतंत्रवादी एवं साम्यवादी व्यवस्था को अपनाना चाहते हैं। यह संघ दो प्रकार के होते हैं– (1) राजनैतिक एवं (2) राष्ट्रविप्लवकारी।

(1) **राजनैतिक संघ** : यह संघ राजनैतिक कार्यों के माध्यम से ताकत अर्जित करता है। ऐसे संघ श्रमिकों का स्वार्थ रक्षा करने के लिये राजनैतिक प्रक्रिया की सहायता लेते हैं। ये संघ वेतन में अंतर की कमी चाहते हैं।

(2) **राष्ट्रविल्पवकारी संघ** : ये संघ प्रचलित अर्थ केन्द्रित व्यवस्था को क्रान्तिकारी प्रक्रियाओं द्वारा नष्ट करना चाहते हैं।

व्यावसायिक संघ– यह उन कामगारों का संगठन भी है जो किसी विशेष शिल्प, व्यवसाय या पेशे में नियुक्त हैं। अतः ये संघ सुगठित एवं सामंजस्यपूर्ण होते हैं। उनके समरूप प्रशिक्षण एवं योग्यता के कारण व्यावसायिक संघ के सदस्यों में समरूप दृष्टिकोण पाया जा सकता है एवं उनमें एकत्व सहजरूप से हो जाता है। इनके सदस्य मुख्यतः व्यावसायिक सचेतन होते हैं इनमें सौदेबाजी की ताकत अधिक होती है क्योंकि ये विशेष क्षमता के अधिकारी होते हैं। पर एक व्यावसायिक संघ में पूरे श्रमिक वर्ग के विषय में स्पष्ट दृष्टिकोण का अभाव होता है। विभिन्न व्यवसायों में विभिन्न तालमेल रहने के कारण विभिन्न व्यवसायों से आनेवाले कामगारों के बीच तालमेल होना सहज नहीं है।

इस संघ के सदस्य एक ही प्रक्रिया या समूह प्रक्रिया के अंतर्गत आते हैं। भारत में व्यावसायिक संघ सरकारी कर्मचारी, बैंक के कर्मचारी, डॉक्टर, वकील, शिक्षक इत्यादि के बीच पाये जाते हैं।

3.12.4 व्यावसायिक संघ की उपयोगिता एवं त्रुटियां

उपयोगिता

1. व्यावसायिक संघ में सबसे स्थिर सम्पर्क पाया जाता है।
2. ये संघ आवश्यक प्रशिक्षण प्रशिक्षुता के माध्यम से प्रदान करता है।
3. इनमें सौदेबाजी की ताकत अधिक होती है।
4. ये संघ अपने सदस्यों के लिये उच्च वेतन एवं उन्नत सुविधाएं निश्चित करते हैं।

त्रुटियां

1. नियोजक एक संघ को एक–दूसरे के विरुद्ध कर इन्हें तोड़ सकते हैं।
2. व्यावसायिक संघ आधुनिक युग में अप्रासंगिक हो गए हैं, सभी वर्ग के कर्मचारियों के कार्य एवं अवस्था के कारण।

टिप्पणी

3. ये संघ अधिकतर कर्मचारियों को संघ से बाहर रखते हैं।

औद्योगिक संघ : यह उद्योगों पर आधारित किया गया है। इनके सदस्य एक ही संगठन के विभिन्न व्यवसायों में नियुक्त होते हैं। इन संघों में एक संगठन के सभी प्रकार के कर्मचारी रहते हैं। ये संघ अधिक शक्तिशाली होते है क्योंकि इसमें दक्ष एवं अदक्ष दोनों प्रकार के कर्मचारी रहते हैं। इन संघों में दक्षता एवं व्यवसाय के अंतर को दूर कर दिया जाता है। नियोजकों के लिए एक ऐसे संघ से सौदा करना अधिक सहज होता है क्योंकि इसके अंतर्गत पूरा संगठन आ जाता है। पर इन संघों में दक्ष एवं अदक्ष कर्मचारियों की मांगें भिन्न–भिन्न हो सकती हैं।

गुण : नैशनल कमिशन ऑन लेबर 1969 के अनुसार औद्योगिक संघों के निम्नलिखित गुण हैं–

1. इसमें सामूहिक सौदेबाजी का सम्मिलित अवसर मिलता है।
2. यह संघ कार्य एवं कार्य–अवस्था के सभी पहलूओं को नियन्त्रित करने के लिये एक समान आदर्शों को अपनाता है।
3. यह संघ किसी संगठन के विभिन्न स्तरों एवं प्रकृति के कर्मचारियों की विभागीय आवश्यकताओं का समन्वय करता है।
4. साधारण स्तरीय संघों में एक विशेष शहर या क्षेत्र के विभिन्न संगठन के श्रमिक या कामगार आते हैं। कई संगठनों के किसी क्षेत्र में केन्द्रीकरण के कारण भारत में कई ओद्योगिक क्षेत्रीय संघ पाये जाते हैं।
5. फेडरेशन रूपी राष्ट्रीय स्तर के संस्थान के साथ संगठन स्तर के कर्मचारी संघ, व्यवसाय संघ, औद्योगिक संघ एवं साधारण संघों का संबंध होता है। फेडरेशन श्रमिकों के लिये शीर्ष संगठन होता है। इन्हें केन्द्रीय श्रमिक संघ भी कहा जाता है।

श्रमिक संघों का पंजीकरण

1926 के श्रमिक संघ विधि के अनुसार सिर्फ सात या अधिक श्रमिक संघ सदस्य पंजीकरण के लिये आवेदन कर सकते हैं। यह आवेदन पत्र रजिस्ट्रार पंजीयक को भेजना होगा। इसके साथ श्रमिक संघ के नियम एवं निम्नलिखित को भेजना होगा–

- आवेदनकारी का नाम, पता एवं पेशा।
- श्रमिक संघ का नाम एवं उसके मुख्य कार्यालय का पता
- श्रमिक संघ के अन्य पदाधिकारियों के पद, नाम, पता, उम्र एवं पेशा।

अगर श्रमिक संघ का अस्तित्व एक से अधिक वर्ष तक रहा हो तो उसकी परिसम्पत्ति एवं ऋण का एक साधारण ब्यौरा रजिस्ट्रार पंजीयक के पास अन्य प्रमाणों के साथ देना होगा। यह पंजीकरण नहीं होगा अगर आवेदन पत्र इस विधि के प्रस्तावनाओं के अनुसार नहीं किया गया हो एवं संघ के नियम में निम्नलिखित बातों का विवरण नहीं दिया गया हो–

- o श्रमिक संघ का नाम
- o श्रमिक संघ का उद्देश्य, जिसके लिये इसका गठन हुआ था।

टिप्पणी

- o श्रमिक संघ के जिस उद्देश्य के लिए साधारण कोष का प्रयोग किया जायेगा।
- o श्रमिक संघ के सदस्यों की सूची बनाना एवं उनके पदाधिकारी एवं सदस्यों के निरीक्षण के लिये पर्याप्त सुविधाएं प्रदान करना।
- o साधारण सदस्यों का दाखिला जो कि उस उद्योग के साथ संबंधित हैं जो श्रमिक संघ से जुड़ा है।
- o वह शर्तें, जिसके अंतर्गत अगर किसी भी सदस्य को किसी भी प्रकार की सुविधा का आश्वासन दिया गया हो या किसी भी सदस्य पर किसी भी प्रकार का जुर्माना थोपा दिया गया हो, उनका जिक्र करना आवश्यक है।
- o वह रीति जिसके अनुसार नियमों को संशोधित, परिवर्तित या रद्द किया जाये।
- o वह रीति जिसके अनुसार श्रमिक संघ के सदस्य एवं अन्य पदाधिकारियों का नियुक्ति एवं वियोजन होगा।
- o प्रस्तावित नियमों के अनुसार श्रमिक संघ के कोष की सुरक्षा एवं हिसाब का वार्षिक लेखापरीक्षण एवं पदाधिकारी एवं सदस्यों का लेखावही के निरीक्षण के लिये पर्याप्त सुविधाएं देनी होगी।

पंजीकरण करते समय रजिस्ट्रार पंजीयक प्रस्तावित नियम के अनुसार एक सर्टिफिकेट प्रदान करेंगे जो इस बात का प्रमाण होगा कि कथित श्रमिक संघ पंजीकृत है।

पंजीकृत श्रमिक संघ के अधिकार

1. पंजीकृत श्रमिक संघ एक कंपनी निकाय है जिसका एक चिरस्थायी अनुक्रम है एवं एक सामूहिक सील है। यह सदस्यों से भिन्न एक कानूनी अस्तित्व अर्जन करता है। इसे अपने नाम पर सम्पत्ति रखने का एवं किसी भी प्रकार का समझौता करने का अधिकार है।
2. पंजीकृत श्रमिक संघ को साधारण कोष बनाने एवं कायम रखने का एवं किसी विशेष उद्देश्य के लिये खर्च करने का अधिकार है।
3. एक पंजीकृत श्रमिक संघ को राजनैतिक कार्य के लिये एक पृथक कोष को संभालने का अधिकार है।
4. इस विधि से पंजीकृत श्रमिक संघ के पदाधिकारी एवं उसके सदस्यों को जुर्माना या सजा से मुक्ति देता है जब अनुच्छेद 15 में प्रस्तावित किसी उद्देश्य को अतिरिक्त विस्तार करने के लिये सदस्यों के बीच कोई समझौता हुआ हो। पर यह छुटकारा तभी मिल सकता है जब इस समझौते से कोई जुर्म न हो।
5. जब कोई भी कार्य किसी व्यावसायिक विवाद को विस्तृत करने के लिये किया जाय जिसमें श्रमिक संघ का सदस्य एक पक्ष हो एवं वह या तो किसी व्यक्ति को नौकरी का कन्ट्रेक्ट तोड़ने के लिये या फिर उसके हस्तक्षेप से किसी अन्य व्यक्ति के व्यवसाय या नौकरी से उसके पूंजी या श्रम को उसके इच्छानुसार

बेचने या छोड़ने के लिये प्रेरित करे, इन परिस्थितियों में एक पंजीकृत श्रमिक संघ को किसी मुकदमें से छुटकारा मिल सकता है।

6. एक पंजीकृत श्रमिक संघ वर्क कमिटि में कामगार का प्रतिनिधित्व कर सकता है।

टिप्पणी

एक पंजीकृत श्रमिक संघ के निम्नलिखित उत्तरदायित्व हैं–

1. उन्हीं व्यक्तियों को पदाधिकारी के पद पर नियुक्त कर सकते हैं जो विधि में दिये गए किसी भी अयोग्यता से प्रभावित न हो।
2. लेखा पुस्तक एवं सदस्यों की सूची रखना।
3. पुस्तकें एवं सूची को सदस्यों द्वारा निरीक्षण के लिये सुलभ रखना।
4. श्रमिक संघ के रजिस्ट्रार के समक्ष लेखा परीक्षक द्वारा परीक्षण किया गया वितरण एवं परिसम्पत्ति, ऋण एवं व्यय का ब्यौरा प्रस्तुत करना होगा।
5. सदस्य बनने के लिये इच्छुक व्यक्तियों को यथार्थ सूचनाएं देना।

श्रमिक संघ की स्वीकृति

सामूहिक सौदेबाजी के लिये श्रमिक संघ की स्वीकृति के विषय में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं किया गया है। कोड डिसीप्लीन के अनुलग्नक 'ए' में यह प्रावधान दिया गया है जो कि एक स्वैच्छिक साधन है। इस अनुलग्नक में श्रमिक संघ की स्वीकृति के लिये निम्नलिखित कारक दिये गए हैं–

1. जब एक से अधिक संघ हो तो संघ को स्वीकृति मिलने के लिये पंजीकृत होने के पश्चात कम से कम एक वर्ष कार्यशील होना होगा। जब एक ही संघ हो तो यह शर्त नहीं रखी जाती।
2. संग की सदस्यता के अंतर्गत संगठन के कम से कम 15 प्रतिशत श्रमिकों का होना आवश्यक है। उन्हीं श्रमिकों को सदस्यता प्राप्त होगी जो अगले छह महीनों की कुल देय में से तीन महीनों तक का चंदा दे चुके हैं।
3. कोई भी संघ स्थानीय क्षेत्र के अन्य सभी संगठनों में श्रमिक संघ का प्रतिनिधित्व करने की स्वीकृति प्राप्त कर सकता है अगर उसे उस क्षेत्र के उद्योगों का 25 प्रतिशत श्रमिकों की सदस्यता प्राप्त हो।
4. जब किसी संघ को स्वीकृति प्राप्त हुई हो तो उसकी अवस्था में अगले दो वर्षों तक कोई परिवर्तन नहीं होगा।
5. जब किसी संगठन में कई संघ है तो सबसे अधिक सदस्यतायुक्त संघ को स्वीकृति मिलेगी।
6. किसी क्षेत्र के संगठन के प्रतिनिधि संघ को उस क्षेत्र के किसी भी संगठन के श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार है। पर अगर किसी संगठन के श्रमिक संघ को उस संगठन के 50 प्रतिशत या अधिक श्रमिकों की सदस्यता प्राप्त हो तो वह किसी भी प्रकार का स्थानीय विषयों के संबंध में व्यवस्था ले सकता है जैसे– उसके अपने सदस्यों के संबंध में शिकायतों को संभालना।

7. सिर्फ उन्हीं संघों को स्वीकृति मिल सकती है जो कोड ऑफ डिसीप्लीन का पालन करते हैं।

टिप्पणी

महत्वपूर्ण मानक

नियोजकों को सामूहिक सौदेबाजी या अन्य किसी कार्य के लिये किसी भी श्रमिक संघ को स्वीकार करने में कोई भी आपत्ति नहीं होती। 1946 से पूर्व किसी भी राज्य में श्रमिक संघ की स्वीकृति के विषय में कोई प्रावधान नहीं थे। 1946 के बॉम्बे औद्योगिक सम्पर्क विधि ने स्थानीय क्षेत्र में प्रतिनिधि संघ की स्वीकृति प्रदान किया। 15 वी त्रिपक्षीय श्रमिक सभा द्वारा 1958 में स्वीकार किये गए मानक को सारे देश में माना जाता है, जो कि निम्नलिखित हैं–

1. केन्द्रीय कानून के अंतर्गत उन सभी उद्यमों में स्वीकृति को अनिवार्य किया गया है जहां 100 या अधिक कर्मचारी नियुक्त हो या एक तय किये गये रकम का निवेश किया गया हो। श्रमिक संघ जो सौदेबाजी के लिये नियोजक से स्वीकृति चाहती है उसे संगठन के कम से कम 30 प्रतिशत श्रमिकों की सदस्यता प्राप्त होना आवश्यक है। स्थानीय क्षेत्र के लिये स्वीकृति पाने के लिये सदस्यता 25 प्रतिशत होना आवश्यक है।
2. प्रस्तावित राष्ट्रीय/राज्य औद्योगिक सम्पर्क कमिशन को संघ के प्रतिनिधित्व करने का निर्णय लेने की क्षमता है। इसके लिये यह कमीशन या तो इस संघ के सदस्यता का रेकॉर्ड की जांच करता है या फिर संगठन के कर्मचारियों का मत मतदान के द्वारा लेकर निर्णय करता है। कमीशन को संघ की स्वीकृति के लिये विभिन्न पहलूओं को ध्यान में रखना पड़ता है जैसे : (क) स्वीकृति का स्तर निर्धारण करना, (ख) सामूहिक सौदेबाजी के लिये संघ को स्वीकृति देना, (ग) संबंधित विषयों की व्यवस्था करना।
3. स्वीकृत संघ को कानूनी रूप से कई अधिकार एवं सुविधाएं प्रदान करनी होती है, जैसे प्रतिनिधित्व करने का अधिकार, चंदा संग्रह करने का अधिकार, नियोजन एवं उसके शर्तों के अनुसार सामूहिक समझौता करना इत्यादि।
4. अल्पमत संघ को उनके सदस्यों की बर्खास्तगी एवं रिहाई के मामलों का श्रम न्यायालय में प्रतिनिधित्व करने का अधिकार दिया जाता है।

1972 के महाराष्ट्र विधि 1 के अंतर्गत स्वीकृत तथ्य

यह विधि 1971 के अंत में पास हुई। इसके अनुसार–

1. श्रमिक संघ को 1926 के श्रमिक संघ विधि के अंतर्गत पंजीकृत होना आवश्यक है।
2. सिर्फ पंजीकृत संघ ही स्वीकृत हो सकती है।
3. एक उद्यम या संगठन में या किसी स्थानीय क्षेत्र के एक से अधि उद्यमों में एक ही संघ होगा।
4. स्वीकृत संघ अकेला सौदेबाजी का प्रतिनिधि होता है एवं स्वीकृत संघ के रूप में उसकी पंजीकरण के दो वर्षों में उसकी स्वीकृति को किसी भी प्रकार का चुनौती नहीं दिया जायेगा।

टिप्पणी

5. अस्वीकृत अल्पमत संघों को दो अधिकार दिये जाते हैं : (क) उसके सदस्य की बर्खास्तगी, रिहाई इत्यादि के विषय में नियोजक से आलोचना करने का एवं (ख) नियोजक द्वारा किये गए किसी भी प्रकार का आन्तरिक या विभागीय जांच के दौरान संगठन में नियुक्त अपने सदस्यों का प्रतिनिधित्व करने का।
6. किसी भी संगठन का स्वीकृत संघ के रूप में पंजीकरण के लिये कोई भी संघ औद्योगिक न्यायालय में आवेदन कर सकता है अगर पिछले छह महीनों में संगठन के कर्मचारियों का उसमें सदस्यता 30 प्रतिशत से कम न हुआ हो।
7. औद्योगिक न्यायालय का अपना मत विचार करने के लिये संगठन के नोटिस बोर्ड पर लगा देंगे एवं प्रस्तावित समय के अन्दर कर्मचारी या नियोजक इसका कारण दिखा सकते हैं कि संघ को स्वीकृति क्यों नहीं दी जा सकती। औद्योगिक न्यायालय स्वीकृति खण्डन करने के कारणों को अगर यथार्थ नहीं समझे तो वो आवेदनकारी संघ को स्वीकृति का सर्टिफिकेट दे देंगे।
8. किसी भी संगठन में एक से अधिक संघ नहीं होगा।
9. औद्योगिक न्यायालय उस संघ को स्वीकृति नहीं देगा अगर उसे यह विश्वास हो जाय कि संघ का गठन कर्मचारियों के स्वार्थ के लिये नहीं बल्कि नियोजक के स्वार्थ के लिये किया गया है।
10. औद्योगिक न्यायालय उस संघ को स्वीकृति नहीं देंगे अगर आवेदन के छह महीने पूर्व संघ द्वारा किसी भी हड़ताल को, जो विधि के अनुसार विधि के अनुसार अवैध है, उसके प्रारंभ करने या कायम रखने में प्रेरित किया हो।

किसी भी संघ की स्वीकृति को औद्योगिक न्यायालय निम्नलिखित स्थिति में खारीज कर सकती है–

1. अगर किसी भी प्रकार के गलतफहमी की वजह से या धोखेबाजी का शिकार होकर स्वीकृति दी गई हो।
2. अगर संघ की सदस्य संख्या लगातार छः महीनों में प्रस्तावित संख्या से कम हो गई हो।
3. अगर स्वीकृति के पश्चात् संघ अनुच्छेद 19 में दिये गए शर्तों का पालन न करें।
4. अगर स्वीकृति संघ श्रमिकों के स्वार्थ के लिये नहीं बल्कि नियोजकों के स्वार्थ के लिये काम करें।
5. अगर संघ द्वारा किसी भी हड़ताल को, जो विधि के अनुसार अवैध है, उसके प्रारंभ करने या कायम रखने में प्रेरित किया हो।
6. अगर श्रमिक संघ विधि के अंतर्गत पंजीकरण खारिज की जाये।
7. अगर उसके स्थान पर अन्य किसी संघ को स्वीकृति मिल जाये।

स्वीकृत संघ के अधिकार

कोड ऑफ डिसीप्लीन के अनुलग्नक 'बी' में दिये गए स्वीकृत संघ के अधिकार–

1. यह नियोजन एवं संगठन में कर्मचारियों के कार्य करने के शर्तों के विषय में नियोजकों के साथ आलोचना कर सकते हैं या सामूहिक समझौते कर सकते हैं।

2. यह सदस्यों से चंदा संग्रह कर सकते हैं।
3. यह संगठन के अन्दर नोटिस बोर्ड लगाकर उसमें सभा इत्यादि के घोषणा के काम में लगा सकते हैं।
4. औद्योगिक विवाद को रोकने या उसका समाधान करने के लिये–
   - यह संगठन के क्षेत्र में सदस्य कर्मचारियों के साथ आलोचना कर सकते है।
   - यह नियोजक या उसके द्वारा नियुक्त किये गए किसी भी व्यक्ति से संगठन में कर्मचारियों के शिकायतों को लेकर आलोचना कर सकते हैं।
   - यह संगठन के किसी भी स्थान या नीरीक्षण कर सकते हैं जहां संघ के सदस्य नियुक्त हैं।
5. यह मनोनीत व्यक्ति को नियुक्त कर सकते हैं– (क) संयुक्त प्रबंध काउन्सिल पर, (ख) शिकायत कमिटि, (ग) प्रबंधन द्वारा गठन किये गए अन्य गैर कानूनी द्विपाक्षिक कमिटि।

टिप्पणी

यह सदस्यता एवं आर्थिक पहलू से मजबूत होना चाहिये एवं अपने सदस्यों को आर्थिक स्वार्थ में सहायता करना चाहिये। श्रमिक संघ को उसके सदस्यों की समस्याओं का समाधान करने में सहायता करना चाहिये। श्रमिक संघ को आन्तरिक रूप से लोकतांत्रिक होना चाहिये जिससे वह श्रमिकों के स्वशासन के अधिकार की रक्षा कर सके।

श्रमिक संघ के लोकतांत्रिक होने के मानदण्ड

(क) निर्णय ग्रहण प्रक्रिया में सभी सदस्यों का नियमित अंशग्रहण

(ख) विशेष विषयों पर सभी सदस्यों का प्रत्यक्ष या परोक्ष नियंत्रण

(ग) नियमित प्रशासन संचालन में अधिकारियों पर भरोसा साथ ही पर्याप्त सदस्यता पर नियंत्रण।

(घ) श्रमिक संघ के नेता को उसके सदस्यों की मांग की पूर्ति करनी होगी।

(घ) संघ के नेतृत्व का नियंत्रण उसके सदस्यों की इच्छा–पद पर आधारित है।

भारत में श्रमिक संघों की कठिनाइयां एवं दोष

1. **अनियमित विकास** : श्रमिक संघ बड़े उद्योगों में पाये जाते हैं। लघु उद्योगों में, कृषि में श्रमिक संघ नहीं पाये जाते। कर्मचारियों में जाति, लिंग, धर्म इत्यादि के आधार पर अंतर श्रमिक संघ को कमजोर बना देती है।
2. **छोटा आकार** : अधिकतर संघों की सदस्यता कमजोर है। यद्यपि यह संख्या अभी बढ़ रहती है पर फिर भी औसत संख्या कम है।
3. **कमजोर आर्थिक स्थिति** : संघ का औसत वार्षिक आय अपर्याप्त है। चंदा का दर बहुत ही कम है एवं बहुत सदस्य विनियम रूप से चंदा नहीं देते हैं। कर्मचारी संघ के प्रति उदासीन हैं एवं अधिकतर कर्मचारी गरीब हैं। आर्थिक कमजोरी के कारण संघ कल्याणकारी कार्यक्रम का आयोजन नहीं कर पाते।
4. **राजनैतिक नेतृत्व** : श्रमिक संघ राजनैतिक दलों के नेतृत्व के अधीन होते हैं। राजनीतिज्ञ संघ एवं कर्मचारियों का शोषण अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण एवं राजनैतिक लाभ के कारण करते हैं।

टिप्पणी

5. **संघ की संख्या में वृद्धि** : श्रमिक संगठन की अस्वस्थ्य विकास का एक और कारण है विरोधी आदर्शों के आधार पर प्रतिस्पर्धी संघों का गठन।

6. **संघों के बीच प्रतिद्वंद्विता** : संघों के बीच प्रतिद्वंद्विता होती है एवं वे कर्मचारियों को प्रभावित करने की कोशिश करते हैं। इस प्रतिद्वंद्विता में नियोजकों को सुविधा मिलती है। सामूहिक सौदेबाजी के समय नियोजक यह प्रतिनिधि का अभाव का कारण दिखाकर सौदेबाजी को इन्कार कर सकते हैं।

7. **स्वीकृति की समस्या** : किसी भी संगठन को नियोजक स्वीकृति देने के विषय में बाध्य नहीं है। अधिकतर समय नियोजक यह कहकर श्रमिक संघ की स्वीकृति रद्द कर देते हैं कि लघुसंख्यक कर्मचारी संघ के सदस्य हैं या एक से अधिक संगठन का अस्तित्व है।

8. **वेतनमुक्त पदाधिकारी का अभाव** : अधिकतर श्रमिक संघ में वेतनमुक्त पदाधिकारी का अभाव है। संघ में काम करने वाले स्वैच्छिक रूप से काम करते हैं अतः वह संघ के कार्यों में सीमित समय दे पाते हैं। संघ के पदाधिकारियों को पर्याप्त प्रशिक्षण एवं योग्यता का अभाव है। इस अवस्था के लिये कमजोर आर्थिक अवस्था एवं राजनैतिक नेतृत्व है।

9. **सदस्यों की उदासीनता** : अधिकांश सदस्य संघ के कार्यों में रुचि नहीं लेते। संघ के वार्षिक सभा में भी सदस्यों की उपस्थिति कम रहती है। श्रमिक संघ की सफलता तभी हो सकती है जब सदस्यों को उसकी जरूरत महसूस होगी एवं वह संघ के कार्यों में हिस्सा लेंगे।

10. **नियोजकों का विरोध** : कई श्रमिक संघों को नियोजकों का प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है। नियोजक प्रतिस्पर्धी संघों का गठन करते हैं, श्रमिक नेताओं को धमकाते हैं एवं अत्याचार करते हैं, प्रतिस्पर्धी संघ गठन करते हैं एवं संघ के अधिकारियों के प्रलोभन देते हैं।

श्रमिक संघ को मजबूत करने के तरीके

1. **मजबूत आधार** : श्रमिक संघ के विकास के लिये संघीकरण प्रक्रिया को अव्यवस्थित संस्था एवं छोटे शहरों में विस्तृत करना होगा। घर पर काम करनेवाले, लघु उद्योग से संबंधित लोग एवं घरेलू संस्थाओं में काम करने वाले लोगों को भी श्रमिक संघ का गठन करना होगा। संघ की सदस्यता को बढ़ानी होगी।

2. एक संगठन में एक ही श्रमिक संघ होगा, संघों के बीच प्रतिद्वंद्विता को रोकने के लिये।

3. **आन्तरिक नेतृत्व** : साधारण कर्मचारियों में से ही नेता का चुनाव करना होगा। इससे बाहरी लोग या राजनैतिक दलों को संघ के मामले में हस्तक्षेप करने से रोका जा सकता है। संघ में बाहरी लोग अधिकारिक के पद पर नियुक्त हो सकते हैं पर उनकी संख्या 25 प्रतिशत होना आवश्यक है।

टिप्पणी

4. **संघों की स्वीकृति** : नियोजकों के लिये यह अनिवार्य कर देना चाहिये कि वह संघों को सभी उद्यमों के लिये स्वीकृत संघों को श्रमिकों का वियोजन के विषय में प्रतिनिधित्व करने का कानूनी अधिकार देना होगा।

5. **वेतनमुक्त अधिकारिक प्रबंधन** : श्रमिक संघ के कामकाज को यथार्थ रूप से संचालन करने के लिये पूर्णकालिक वेतनमुक्त अधिकारियों को सेवावद्ध करना होगा। उसे योग्य एवं ईमानदार होना होगा। उनमें कर्मचारियों के आकांक्षाओं का मूल्यांकन करने की एवं सभी कर्मचारियों को समान रूप से बात करने की क्षमता होनी होगी।

श्रमिक संघ को मजबूत करने के लिये राष्ट्रीय श्रम आयोग की प्रस्तावनाएं

1. **कार्य विस्तृति के लिये**– N.C.L. के अनुसार संघ को अपने सदस्यों की मौलिक आवश्यकताओं पर अधिक ध्यान देना चाहिये जो इस प्रकार हैं– (1) कर्मचारियों के लिये उचित वेतन निश्चित करना (2) सुरक्षा प्रदान करना एवं कार्य की अवस्था में सुधार (3) पदोन्नति एवं प्रशिक्षण के विस्तृत अवसर (4) कार्य एवं जीवन धारण की अवस्था में सुधार (5) शैक्षणिक, सांस्कृतिक एवं मनोरंजनात्मक सुविधाएं प्रदान करना। (6) श्रमिकों के साथ सहयोगिता करना एवं तकनीकी विकास को अपनाना। (7) संगठन के साथ कर्मचारियों का स्वार्थ को परिचित करना। (8) व्यक्तिगत एवं सामूहिक सहयोगिता को बढ़ावा देना।

2. **नेतृत्व के विषय में**– (क) N.C.L. ने प्रस्ताव दिया है कि संगठन के बाहर के लोगों का संघ के अधिकारिक पद पर नियुक्त होने में किसी भी प्रकार का निषेध नहीं होना चाहिये (ख) संगठन में से संघ के अधिकारिक पद पर नियोग के लिए प्रयास करना होगा एवं उन्हें एक जिम्मेदार भूमिका देनी होगी। (ग) बाहरी लोगों को आधिकारिक पद में नियोजन को 25 प्रतिशत तक सीमित करना होगा। (घ) भूतपूर्व कर्मचारियों को बाहरी लोगों जैसा नहीं देखना चाहिए।

3. **आन्तःसंघ प्रतिस्पर्धी समाधान**– इस विषय में आयोग का विचार था कि संघ के स्वीकृति के लिये उनके प्रस्ताव, आन्तःनेतृत्व बनाना, सामूहिक सौदेबाजी के तरफ झुकाव एवं एक स्वतंत्र अधिकार युक्त संस्था संघ प्रतिस्पर्धी के प्रभाव को कम कर देना। आन्तःसंघ प्रतिस्पर्धी के समाधान के लिये इस विषय को केन्द्रिय संस्था पर छेड़ना होगा और अगर वे इस समस्या का समाधान नहीं कर सके तो इस विवाद को किसी भी पक्ष के अनुरोध से श्रम न्यायालय में ले जाना होगा।

4. **पंजीकरण के विषय में**– आयोग के प्रस्तावों के अनुसार पंजीकरण को रद्द कर दिया जायेगा अगर (क) पंजीकरण के लिये प्रस्तावित सदस्य संख्या अगर उससे कम हो तो (ख) अगर संघ अपना वार्षिक विवरण देने में असफल हो (ग) अगर वह गलत विवरण दे एवं यह गलतियां प्रस्तावित समय के अन्दर नहीं सुधारे।

5. **आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के विषय में**– आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के लिए आयोग का प्रस्ताव है कि कर्मचारियों का प्रति महीने का चंदा बढ़ाना होगा।

टिप्पणी

6. **सदस्यता का प्रमाण**– औद्योगिक सम्पर्क आयोग संघ के प्रतिनिधि होने के कर्तव्य पर विचार करे, सदस्यता के रेकॉर्ड की जांच करे या अगर जरूरत पड़े तो निर्वाचन के माध्यम से करे।

7. **संघों की स्वीकृति**– श्रमिक संघ, जो नियोजक से एक सौदेबाज एजेन्ट होने की स्वीकृति चाहता हो उसमें संगठन का 30 प्रतिशत कर्मचारियों की सदस्यता होना आवश्यक है। अगर स्थानीय क्षेत्र के संगठन के लिये स्वीकृति लेना हो तो 25 प्रतिशत सदस्यता होना आवश्यक है।

श्रमिक संघ का काम अपने सदस्यों की सुरक्षा एवं उनके वेतन में एवं कार्य अवस्था में सुधार लाना ही नहीं पर उनको प्रभावित करनेवाली हर बात से सम्बन्धित है। उन्हें सदस्य कर्मचारियों के सभी समस्याओं का समाधान करना होगा, जैसे, उनकी संवेदनात्मक कठिनाइयां, उनकी व्यक्तिगत समस्याएं इत्यादि।

संघ को कर्मचारियों के जीवन स्तर को उन्नत बनाने में सहायता करना चाहिए साथ ही कर्मचारियों के व्यक्तिगत का विकास के लिये बच्चों एवं वयस्कों के लिये शिक्षा की व्यवस्था करना होगा। संघ को त्रिपक्षीय मण्डल के निर्णय के साथ चलना होगा। उन्हें औद्योगिक शान्ति कायम रखनी होगी जिससे औद्योगिक सम्पर्क अच्छा रहे एवं उत्पादकता की वृद्धि हो। संघ को अपने सदस्यों को परिवार नियोजन कार्यक्रम में भाग लेने के लिये एवं देश के आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन में शामिल होने के लिये प्रोत्साहित करना होगा। संघ को अपने सदस्यों के लिए ही नहीं बल्कि उनके परिवार वालों के हितार्थ भी प्रयास करना होगा क्योंकि एक खुशहाल परिवार से ही अच्छा कर्मचारी बनता है एवं अच्छा कर्मचारी राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि कर सकता है।

अपनी प्रगति जांचिए

22. बम्बई मिलहैंड एसोसिएशन की स्थापना श्री एन.एम. लोखंडे के द्वारा कब हुई?

(क) सन् 1790 (ख) सन् 1890

(ग) सन् 1990 (घ) सन् 2010

23. नेशनल फेडरेशन ऑफ लेबर की स्थापना कब हुई।

(क) सन् 1922 (ख) सन् 1930

(ग) सन् 1933 (घ) सन् 1935

3.13 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ग)
2. (ग)
3. (घ)
4. (ख)

5. (घ)
6. (घ)
7. (ख)
8. (ग)
9. (घ)
10. (ख)
11. (ग)
12. (ख)
13. (क)
14. (ग)
15. (ख)
16. (ख)
17. (ग)
18. (क)
19. (ख)
20. (ग)
21. (ग)
22. (ख)
23. (ग)

टिप्पणी

3.14 सारांश

प्रबंध की विचारधारा एक व्यापक और जटिल विषय है। विभिन्न प्रबंध विशेषज्ञों ने प्रबंध को अपने–अपने दृष्टिकोण से परिभाषित किया है। ऐसी स्थिति में प्रबंध की एक सर्वमान्य परिभाषा देना असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है।

प्रत्येक कार्य की पूर्ति हेतु नीतियों की आवश्यकता होती है। प्रत्येक प्राशासनिक प्रबंध की पूर्व शर्त नीति है। किसी भी राष्ट्र के निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति की दिशा में लोक नीतियों की महत्वपूर्ण आवश्यकता है। प्रत्येक संगठन चाहे वह निजी है या सरकारी, अपने लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु नीति–निर्धारण का कार्य करता है।

अधिकार से आशय किसी व्यक्ति को प्राप्त उस शक्ति से होता है जिसके आधार पर वह अधीनस्थों को कार्य के निष्पादन के संबंध में आदेश देता है तथा उनसे कार्य लेता है। संगठन के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए संगठन के अंतर्गत कार्य करने की गतिविधियों का मार्गदर्शन करने तथा उससे कार्य लेने के आदेश देने हेतु प्राप्त शक्ति अधिकार होती है।

टिप्पणी

प्रशासकीय संगठन में प्रत्यायोजन अथवा प्रत्याधिकरण का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है। पदसोपान की पद्धति का सार इसी में निहित है। प्रशासन को ठीक ढंग से चलाने के लिए इसकी अत्यधिक आवश्यकता है। वास्तव में कोई प्रशासकीय अधिकारी अकेले ही सभी कार्यों को पूरा नहीं कर सकता है, उसे अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के बीच कार्यों का बंटवारा करना पड़ता है।

संप्रेषण विचारों का संवहन होता है। इसमें दो मस्तिष्कों का होना आवश्यक है। संप्रेषण का अर्थ है–विचारों को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक पहुंचाना जिससे कि वह उन्हें समझ सके तथा अमल कर सके।

'अभिप्रेरणा' व्यवसाय की सभी गतिविधियों में सबसे महत्वपूर्ण मानवीय गतिविधि है। अभिप्रेरणा की प्रक्रिया, सतत चलने वाली एक चक्रीय प्रक्रिया है जिसका मूल उद्देश्य कर्मचारियों के व्यवहार को सक्रिय करना या प्रेरित करना है ताकि वे कार्यक्षमता का उचित प्रयोग कर संगठन को सफल बना सकें।

मानव संबंधात्मक उपागम को मानवीय या सामाजिक मनोवैज्ञानिक उपागम भी कहा जाता है। अमेरिकी समाजशास्त्री एल्टन मेयो ने इसके आधारभूत नियमों का प्रतिपादन किया। मेयो ने जो प्रयोग किए वे हॉथोर्न प्रयोग के नाम से प्रसिद्ध हुए। मेयो ने इस उपागम को एक डॉक्टरी विधि कहा है।

लोक सेवा देश के सामाजिक–आर्थिक विकास के लिए उत्तरदायी एक अभिकरण बन गयी है। लोक सेवकों को, लोक सेवा के आदर्शों तथा विकास के हमारे लक्ष्य सामंजस्यपूर्ण नई प्रबन्धन तकनीकों को समझना होता है, नवीनतम कौशल को सीखना होता है तथा नई अवस्थाओं को समझना होता है।

''कार्मिक प्रशासन प्रबंधन कार्य का वह भाग है जिसका संबंध प्रमुखतया संगठन के भीतर मानवीय रिश्तों से होता है। इसका उद्देश्य इन रिश्तों को ऐसे आधार पर बनाए रखना है, जो व्यक्ति की भलाई को ध्यान में रखते हुए उन सभी को जो उस संगठन में कार्य करते हैं; इस योग्य बनाता है कि वे संगठन को प्रभावशाली ढंग से चला सकें।''

लोक प्रशासन के व्यापक अर्थों में भर्ती से अभिप्राय स्पर्धात्मक परीक्षाओं, रिक्त स्थानों एवं पदों के लिए योग्य व्यक्तियों को आकर्षित करना ही भर्ती है। प्रशासन की प्राविधिक शब्दावली में भर्ती का अर्थ है किसी पद के लिए योग्य प्रत्याशियों को आकर्षित करना। भर्ती एक व्यापक प्रक्रिया है जिसके द्वारा लोक प्रशासन में योग्य कर्मचारियों के संगठन, उनका चुनाव किया जाता है और उन्हें अपने पदों पर नियुक्त कर प्रशासन में निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति की जाती है।

प्रशिक्षण का अर्थ है लोक सेवकों को अपने कार्य के लिए तैयार करना। जब एक अधिकारी की कुशलता, शक्ति, बुद्धि एवं दृष्टिकोण को एक निश्चित दिशा में सशक्त करने का प्रयास किया जाता है तो वह प्रशिक्षण कहलाता है। प्रशिक्षण कर्मचारियों की कुशलता, आदतें, ज्ञान तथा दृष्टिकोण विकसित करने की प्रक्रिया है, जिससे कर्मचारियों की उनकी वर्तमान स्थितियों में प्रभावशीलता बढ़ाई जा सके और साथ, उन्हें भावी सरकारी स्थितियों के लिए तैयार किया जा सके।

पदोन्नति से तात्पर्य कर्मचारी के वेतन की वार्षिक वृद्धि से नहीं है, प्रत्येक कर्मचारी सरकारी नौकरी में निश्चित वेतनक्रम में रहता है। उसमें कर्मचारी के वेतन में वार्षिक वृद्धि होती रहती है। इस वेतन वृद्धि को ही पद वृद्धि अथवा पदोन्नति नहीं माना जायेगा।

श्रमिक संघ किसी भी देश की उद्योग का एक अनिवार्य वैशिष्ट होता है। श्रमिक संगों की उत्पत्ति संगठन व्यवस्था एवं पूंजीवादी समाज के प्रतिक्रिया के रूप में हुई है। औद्योगीकरण के प्राथमिक स्तर पर श्रमिक वर्ग किसी भी प्रकार के कानूनी सुरक्षा के बिना नियोजकों के हाथों शोषित होते थे। धीरे–धीरे श्रमिकों ने अपने स्वार्थ की रक्षा के लिये सामूहिक कार्यवाही प्रारंभ किया। इस तरह श्रमिक संघ की स्थापना हुई। अतः श्रमिक संघ श्रमिकों की जरूरतों, आशाओं का एक सुसंगठित अभिव्यक्ति है।

टिप्पणी

3.15 मुख्य शब्दावली

- **प्रबंध** : उपक्रम के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मानवीय एवं भौतिक साधनों का प्रभावी उपयोग।
- **नेतृत्व** : नेतृत्व वह मानवीय गुण है जो किसी समूह को निर्धारित उद्देश्यों की ओर उत्साहपूर्वक बढ़ने के लिए प्रेति करता है,?
- **अधिकार** : व्यक्ति को प्राप्त वह शक्ति जिसके आधार पर वह अधीनस्थों को कार्य के निष्पादन के संबंध में आदेश देता है।
- **संप्रेषण** : संप्रेषण का अर्थ उस व्यापक क्षेत्र से है जिसके माध्यम से मानव तथ्यों एवं संपत्तियों का आदान–प्रदान करते हैं।
- **नियंत्रण** : वह प्रक्रिया जिसके द्वारा वास्तविक परिणामों को अपेक्षित परिणामों के अधिकाधिक समीप लाने के प्रयास किए जाते हैं।

3.16 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. प्रबंध से क्या अभिप्राय है?
2. एफ. डब्ल्यू टेलर को वैज्ञानिक प्रबंध का जनक क्यों कहा जाता है?
3. समय अध्ययन और गति अध्ययन में क्या अंतर है?
4. लोक नीति की विशेषताएं बताइए।
5. अधिकार सत्ता क्या है?
6. प्रत्यायोजन से क्या अभिप्राय है?
7. संप्रेषण से आप क्या समझते है?
8. ब्रूम का प्रत्याशा अभिप्रेरणा सिद्धांत स्पष्ट कीजिए।
9. कार्मिक प्रशासन के विशिष्ट उद्देश्य कौन–से हैं?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. प्रबंधन को समझाते हुए इसके कार्यों का उल्लेख कीजिए।
2. लोक नीति निर्धारण के स्वरूप का परिचय दीजिए।
3. लोक नीति निर्माण प्रक्रिया को स्पष्ट कीजिए।

टिप्पणी

4. अधिकार को परिभाषित करते हुए इसके मुख्य स्रोतों का वर्णन कीजिए।
5. प्रत्योजन को समझाते हुए इसके लाभ व सीमाओं का उल्लेख कीजिए।
6. नीति आयोग की आवश्यकता एवं महत्ता पर प्रकाश डालिए।
7. संप्रेषण प्रक्रिया की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन कीजिए
8. अभिप्रेरणा प्रक्रिया के विभिन्न चरणों की विवेचना कीजिए।
9. नियंत्रण से क्या अभिप्राय है? नियंत्रण की प्रक्रिया में किन तत्वों को शामिल किया जाता है?
10. लोक सेवकों के कार्यों का विश्लेषण कीजिए।
11. कार्मिक प्रशासन की अवधारणा, प्रकृति एवं कार्यक्षेत्र पर प्रकाश डालिए।
12. कर्मचारी संघ से आप क्या समझते है? इसकी आवश्यकता एवं इसके कार्यों की विवेचना कीजिए।

3.17 सहायक पाठ्य सामग्री

Pfiffner, J.M. *PublicAdministration*, New York: The Ronald Company, 1946.

Waldo, D. *The Study of PublicAdministration*, New York: Random House, 1967.

Riggs, F.W. *The Ecology of PublicAdministration*, New York:Asia Publishing House, 1961.

Maheshwari, S.R. *Theories and Concepts in PublicAdministration*, New Delhi:Allied Publishers Ltd., 1991.

इकाई 4 वित्त प्रशासन

संरचना

टिप्पणी

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 वित्तीय प्रशासन
  4.2.1 वित्त प्रशासन का अर्थ, प्रकृति एवं क्षेत्र
  4.2.2 वित्तीय प्रशासन की समस्याएं
4.3 बजट
  4.3.1 संयुक्त राज्य अमेरिका में वित्तीय प्रशासन
  4.3.2 भारत में बजट प्रक्रिया
  4.3.3 निष्पादन बजट
4.4 वित्त मंत्रालय
  4.4.1 भारत में संसदीय वित्तीय समितियां
  4.4.2 लेखांकन और लेखा परीक्षक
4.5 प्रशासनिक विधि
  4.5.1 प्रशासनिक विधि का उद्‌गम व विकास
  4.5.2 इंग्लैण्ड की स्थिति
  4.5.3 अमेरिका की स्थिति
  4.5.4 प्रशासनिक विधि की संकल्पना
  4.5.5 प्रशासनिक विधि की प्रकृति एवं विस्तार–क्षेत्र
  4.5.6 प्रशासनिक विधि का बढ़ता महत्व
4.6 प्रशासनिक न्याय निर्णयन
  4.6.1 प्रशासनिक न्याय निर्णयन : अर्थ एवं अवधारणा
  4.6.2 प्रशासनिक न्यायिक निर्णयण के प्रकार
  4.6.3 प्रशासनिक न्यायिक निर्णयन की संवृद्धि के कारण
  4.6.4 प्रशासनिक न्याय निर्णयन के गुण एवं दोष
4.7 प्रत्यायोजित विधायन
  4.7.1 प्रत्यायोजित विधायन का अर्थ
  4.7.2 भारत में प्रत्यायोजित विधि का ऐतिहासिक विकास
4.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.9 सारांश
4.10 मुख्य शब्दावली
4.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.12 सहायक पाठ्य सामग्री

4.0 परिचय

वित्तीय प्रशासन एक ऐसी व्यवस्था है जो उन नीतियों का निर्माण करता है जिनके द्वारा लोकसेवाओं के संचालन के लिए धन प्राप्त किया जाता है, व्यय किया जाता है और उसका लेखा–जोखा रखा जाता है। वित्तीय प्रशासन में वे क्रियाएं आती हैं जो लोक सेवाओं पर व्यय किए जाने के लिए आवश्यक हैं तथा नीतियों को प्राप्त करने, व्यय करने तथा लेखा रखने से संबंध रखती हैं। इसका संबंध उन साधनों से होता है, जिसके द्वारा प्रशासन हेतु धन की व्यवस्था की जाती है। वित्तीय प्रशासन की क्रियाओं का अर्थ धन एकत्र करना और प्रशासन के लिए प्रस्तुत करना है। इसके अंतर्गत यह भी ध्यान दिया

टिप्पणी

जाता है कि धन का सदुपयोग हो रहा है या नहीं तथा धन का व्यय कानून के अनुसार है अथवा नहीं। वित्तीय प्रशासन यह देखता है कि जनता पर अनुचित कर भार तो नहीं है, व्यय की राशि सही रूप से खर्च की जा रही है या नहीं, तथा लेखांकन ठीक है या नहीं।

वित्तीय प्रशासन में दक्षता, मितव्ययिता और सार्वजनिक कल्याण को एक साथ मिलाना पड़ता है। बजट, बजट की विधायी अनुमति, बजट का पालन, राजकोष का प्रबंध, वित्तीय उत्तरदायित्व तथा लेखांकन एवं लेखा परीक्षण वित्तीय प्रशासन के विषय हैं। वित्तीय प्रशासन के अंतर्गत राजकीय आय का एकीकरण संरक्षण और वितरण, आय–व्यय का समायोजन, राजकीय ऋणों की व्यवस्था, वित्त पर राजकीय नियंत्रण आदि का समावेश होता है।

इस इकाई में वित्त प्रशासन का अर्थ, प्रकृति व समस्याएं, बजट, वित्त मंत्रालय, प्रशासनिक विधि प्रशासनिक न्याय निर्णयन तथा प्रत्यायोजित विधायन को समझाया गया है।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- वित्त प्रशासन का अर्थ, प्रकृति, क्षेत्र और समस्याओं को समझ पाएंगे;
- बजट, संयुक्त राज्य अमेरिका में वित्तीय प्रशासन, भारत में बजट प्रक्रिया तथा निष्पादन बजट का विश्लेषण कर पाएंगे;
- वित्त मंत्रालय, भारत में संसदीय वित्तीय समितियां तथा लेखांकन आदि का विश्लेषण कर पाएंगे;
- प्रशासनिक न्याय निर्णयन का अवलोकन कर पाएंगे;
- प्रत्यायोजित विधायन की विवेचना कर पाएंगे।

4.2 वित्तीय प्रशासन

प्रत्येक देश अपनी शासन व्यवस्था को सुदृढ़ रूप से चलाने के लिए एक व्यवस्था को अपनाता है। वित्तीय प्रशासन से अभिप्राय किसी भी सरकार के वित्त प्रबंध से होता है। अर्थात सरकार के वित्तीय मामलों का नियमन, नियंत्रण तथा उनकी सुचारू रूप से व्यवस्था करना है। इस प्रकार वित्तीय प्रशासन शासन–प्रबंध का एक अभिन्न अंग है। गस्जन गेजी के अनुसार– "वित्तीय प्रशासन सरकारी संगठन का वह भाग है जो कि सार्वजनिक कोषों के संग्रहण, संरक्षण एवं आवंटन से, सार्वजनिक आय–व्यय के समन्वय से राज्य की ओर से की जाने वाली खाद्य व्ययस्था तथा राजकोषीय परिवार के वित्तीय मामलों के सामन्य नियंत्र से संबंधित है।" वित्तीय प्रशासन की व्यवस्था भारत में प्राचीन काल से चली आ रही है। किसी भी देश का वित्तीय ढांचा जितना मजबूत होगा उसकी शासन व्यवस्था व उसकी स्थिति भी संपूर्ण विश्व में उतनी ही सुदृढ़ होगी।

टिप्पणी

वित्तीय प्रशासन की योजनाओं का क्रियान्वयन तब तक कुशल और सही तरीके से नहीं किया जा सकता जब तक उसे स्थायी और व्यवस्थित नहीं रखा जाएगा। वित्त से संबंधित सभी क्रियाओं का अध्ययन वित्तीय प्रशासन में किया जाता है। यह ऐसी व्यवस्था व रीतियों का निर्माण करता है जिससे लोक सेवाओं के संचालन के लिए धन प्राप्त हो सके। वित्तीय प्रशासन की व्यवस्था भारत के लिए कोई नवीन विषय नहीं है। वित्तीय प्रशासन व्यवस्था भारत के लिए उतना ही पुराना है जितना अन्य देशों के लिए। भारत के लिए वित्तीय प्रशासन की व्यवस्था अति आवश्यक अंग है। यह एक संतुलित बजट की रूपरेखा तैयार की जाती है। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी तक तो वित्तीय प्रशासन व्यवस्था उच्च कोटि की चरम सीमा तक पहुंच गयी। अर्थात उस समय वित्तीय प्रशासन को राज्य का एक आवश्यक अंग माना जाने लगा था।

4.2.1 वित्त प्रशासन का अर्थ, प्रकृति एवं क्षेत्र

वित्तीय प्रशासन शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जाता है। इसमें वे सब प्रक्रियाएं सम्मिलित की जाती हैं, जो कि निम्न कार्यों को सम्पन्न करने में उत्पन्न होती हैं : सरकारी धन के संग्रह, बजट–निर्माण, विनियोजन तथा व्यय करने में, आय तथा व्यय, और प्राप्तियों एवं संवितरणों का लेखा–परीक्षण करने में, परिसम्पत्तियों तथा देयताओं और सरकार के वित्तीय सौदों का हिसाब–किताब रखने में और आमदनियों व खर्चों, प्राप्तियों व संवितरणों तथा निधियों व विनियोजनों की दशा के संबंध में प्रतिवेदन–लेखन में।

वित्त के बिना सरकार अपने उद्देश्य में पूर्णतः सफल नहीं हो सकती। प्रशासन के लिये वित्त की इतनी अधिक महत्ता होने के कारण वित्त के प्रशासन का अध्ययन भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गया है। जो सरकार वित्तीय प्रशासन की एक सन्तोषजनक व्यवस्था का निर्माण कर लेती है, वह अपने कार्यों का प्रबन्ध कुशलता के साथ करने की दिशा में काफी आगे बढ़ जाती है।

परपंरागत दृष्टिकोण को मानने वालों का विचार है कि वित्तीय प्रशासन उत्पत्ति, विनियोजन तथा वित्तीय संसाधनों की खोज से सम्पादित क्रियाओं का योग है, जो लोक संगठनों को जीवित रखने तथा उनके विकास के लिए आवश्यक होता है। वे इस बात पर बल देते हैं कि किसी भी लोक प्रशासन में एक प्रशासनिक ढांचा होता है, जो धन की आवाजाही को व्यवस्थित करने के साथ–साथ इसे नियंत्रित और व्यवस्थित भी करता है।

आधुनिक दृष्टिकोण वित्तीय प्रशासन को सार्वजनिक निधि बढ़ाने तथा व्यय करने के साधन के बजाय लोक संगठनों की सम्पूर्ण प्रबन्धकीय प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग मानता है। इसके अन्तर्गत लोक प्रशासन में सम्मिलित समस्त व्यक्तियों की समस्त क्रियाएं आती हैं। इसका कारण है कि लगभग प्रत्येक लोक अधिकारी निर्णय लेता है, जिसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिणाम वित्तीय पहलू से भी सम्बद्ध होता है। यह परम्परागत सिद्धांत के मूल्य तटस्थता के दृष्टिकोण को नकारता है। यह इसम सार्वजनिक वित्त के तीन महत्वपूर्ण सिद्धांतों को शामिल करता है जैसे– सामाजिक आर्थिक सिद्धांत, जिसके अग्रदूत वैगनर, एजर्थ तथा पिगोड हैं। केनेसियन परिप्रेक्ष्य के प्रकार्यात्मक सिद्धांत तथा आधुनिक वित्त विशेषज्ञों के कार्यात्मक दृष्टिकेण।

टिप्पणी

वित्तीय प्रशासन में वे सभी क्रियाएं सम्मिलित हैं जो वित्त से संबंधित होती हैं। प्रशासन के लिए जो भी वित्त के साधन उपलब्ध होते हैं उन साधनों का इस प्रकार से उपयोग किया जाता है। जिससे सभी योजनाओं पर उचित रूप से व्यय किया जा सके। वित्तीय प्रशासन ऐसी व्यवस्था व रीतियों का निर्माण करता है जिससे लोक सेवाओं के संचालन के लिए धन प्राप्त हो सके।

वित्तीय प्रशासन द्वारा निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है–

1. बजट तैयार करना जिसमें आय–व्यय की आवश्यकताओं का अनुमान लगाना चाहिए।
2. शासन को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए विधायी प्रक्रिया से अनुमति प्राप्त करना।
3. बजट को इस प्रकार से क्रियान्वित किया जाए जिससे आय–व्यय का पर्याप्त स्रोत प्रदान किया जाए।
4. वित्तीय व्यवस्थाओं को शासन की नीतियों के अंतर्गत रखा जाए तथा हिसाब–किताब का समय–समय पर परीक्षण किया जाए।
5. राजकोष का प्रबंध अर्थात जमा की धनराशी सुरक्षा तथा व्यय के लिए धन निकालने की व्यवस्था करना।

उपर्युक्त सभी बातों के लिए आवश्यक है कि निम्नलिखित एजेंसियों से संपर्क किया जाए–

(क) विधान मंडल

(ख) कार्यपालिका

(ग) वित्त विभाग

(घ) लेखा परीक्षण विभाग

वित्तीय प्रशासन की प्रकृति

सरकार बजट के माध्यम से वित्तीय प्रशासन की व्यवस्था करती है। वित्तीय प्रशासन विज्ञान व कला दोनों हैं। विज्ञान के रूप में वित्तीय प्रशासन में कुछ नियम व सिद्धांतों का निर्माण होता है जिनके अनुसार वित्तीय व्यवस्था का संचालन किया जाता है। कला के रूप में इसमें उन विधियों का अध्ययन किया जाता है जिनके द्वारा सार्वजनिक आय व्यय का प्रबंध किया जाता है तथा शासन के वित्तीय मामलों पर सामान्य नियंत्रण होता है।

वित्तीय प्रशासन की प्रकृति को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–

1. पुराना दृष्टिकोण अथवा परंपरागत दृष्टिकोण
2. नया दृष्टिकोण अथवा आधुनिक दृष्टिकोण

1. पुराना (परंपरागत) दृष्टिकोण – इस दृष्टिकोण को मानने वालों का विचार है कि वित्तीय प्रशासन उत्पत्ति, विनियोजन तथा वित्तीय संसाधनों की खोज से सम्पादित क्रियाओं का योग है जो लोक संगठनों को जीवित रखने तथा उनके विकास के लिए आवश्यक होता है। वे इस बात पर बल देते हैं कि किसी भी लोक प्रशासन में एक प्रशासनिक ढांचा होता है, जो धन की आवाजाही को व्यवस्थित करने के साथ–साथ

टिप्पणी

इसे नियंत्रित और व्यवस्थित भी करता है। इस व्यवस्था के कारण इन कोषों का सही और उत्पादक उपयोग हो पाता है। व्यवस्थाओं के परिप्रेक्ष्य में इस दृष्टिकोण पर नजर डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सहभागिता व्यवस्था का ही एक रूप है। लोक वित्तीय संगठनों को कुशल ढंग से चलाने के लिए वित्तीय सहायता देना वित्तीय प्रशासन का उत्तरदायित्व है।

इसका कार्य है लोक संगठनों में समस्त वित्तीय क्रियाओं को नियोजित करना, कार्यक्रम बनाना, संगठन एवं निर्देश देना ताकि लोकनीति का उचित अनुपालन हो सके। इस व्यवस्था के भागीदारों को वित्तीय प्रबंधक समझा जाता है तथा वे वित्तीय प्रकृति के प्रबंन्धात्मक कार्यों को सम्पादित करते हैं। यह दृष्टिकोण लोक वित्त के विशेषज्ञ सेलिगमैन के दृष्टिकोण को दर्शाता है। सार्वजनिक वित्त के शुद्ध सिद्धांत की केन्द्रीय धारणा यह है कि सार्वजनिक वित्त को सार्वजनिक आय, सार्वजनिक व्यय एवं सार्वजनिक ऋण की समस्याओं को वस्तुनिष्ठ ढंग से सम्पादित करना एवं सत्तारूढ़ राजनैतिक दलों के दृष्टिकोण के संबंध में बताना चाहिए। वित्तीय प्रशासन के विशेषज्ञ जो इस दृष्टिकोण को मानते हैं वे मूल्य की तटस्थता में विश्वास रखते है। उदाहरण के लिए जेज गैस्टन कहते हैं कि वित्तीय प्रशासन सरकारी संगठनों का वह भाग है जो लोक निधि का संग्रह, सुरक्षा तथा आबंटन को दर्शाता है तो उसके विचार में यही दृष्टिकोण दृष्टिगोचर प्रतीत होता है।

2. नया (आधुनिक) दृष्टिकोण – इस दृष्टिकोण के अंतर्गत वित्तीय साधनों को बढ़ाने का उत्तरदायित्व सरकारी संगठन पर रहता है जिससे लोक प्रशासन की समस्त ऐसी क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है जो वित्तीय समस्याओं को दूर करने में सहयोग करें। इसके अंतर्गत भूमिकाओं पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है–

1. समानता लाने वाली भूमिका
2. क्रियात्मक भूमिका
3. कार्यात्मक भूमिका
4. स्थायित्व संबंधी भूमिका
5. सहभागी भूमिका।

1. **समानता लाने वाली भूमिका** – वित्त प्रशासन ऐसी समस्याओं को दूर करने का प्रयास करता है जिसमें असमानता हो और राजकोषीय नीतियों से होने वाली आय को सम्पन्न व्यक्ति से निर्धन व्यक्ति को देने का प्रयास करता है।
2. **क्रियात्मक भूमिका** – इस प्रक्रिया के अंतर्गत अर्थव्यवस्था को सरकारी योजना के अंतर्गत माना जाता है जिसमें वित्त को स्थायुक्त रखना, वित्त के व्यय के साधनों को वित्त प्रशासन में उचित स्थान दिया जाता है और अर्थ व्यवस्था को उचित क्रियान्वयन किए जाने का प्रयास किया जाता है।
3. **कार्यात्मक भूमिका** – इस प्रक्रिया में वित्तीय नीतियों का अध्ययन किया जाता है जिससे वित्त के उचित निवेश एवं उसकी वृद्धि करने के लिए परामर्श दिया जाता है, जिससे राष्ट्रीय आय में बढ़ोत्तरी होती है।

टिप्पणी

4. **स्थायित्व संबंधी भूमिका** – इस प्रक्रिया में प्रशासन का मुख्य उद्देश्य यह होता है कि शासकीय नीतियों वित्त में पर्याप्त जगह रखी जाए जिससे मूल स्तर एवं मुद्रा स्फीति सही रूप से बनी रहे।
5. **सहभागी भूमिका** – इस प्रक्रिया का उद्देश्य वित्तीय प्रशासन द्वारा सामाजिक कल्याण में राज्य की सहायता की करना तथा नीतियों का निर्धारण एवं आर्थिक विकास को बढ़ाने का उचित तरीके से प्रयास करना होता है।

वित्त प्रशासन को एक रूप रेखा में रखना आवश्यक है जो राज्य की प्रगति और उसके मूल्यों को सही स्थान दे क्योंकि जैसी सामाजिक परिस्थितियां होंगी उसी प्रकार की वित्तीय व्यवस्था को बनाए रखना वित्तीय प्रशासन का दायित्व होगा।

वित्तीय प्रशासन का कार्यक्षेत्र

वित्तीय प्रशासन के कार्यक्षेत्र में उन सभी गतिविधियों पर ध्यान दिया जाता है जिसमें वित्त प्रणाली पर नियंत्रण, राजस्व एकत्रित करना, बजट को तैयार करना एवं बजट की जांच करना होता है। इन सभी कार्यों का निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत अध्ययन किया जाता है–

1. बजट बनाना
2. अधिनियम के अंतर्गत बजट की जांच करना और उसका कार्यान्वयन करना
3. कर प्रशासन
4. लेखों का रख–रखाव करना
5. लेखों की जांच करना।

1. **बजट बनाना** – वित्त प्रशासन का यह मुख्य उद्देश्य है कि बजट प्रणाली को इस प्रकार रखा जाए जिससे किन–किन मुद्दों पर किस प्रकार से व्यय करना है, इसका स्पष्ट रूप से अध्ययन किया जाए। किसी देश की अर्थव्यवस्था में सरकार की बजट नीतियों का प्रमुख स्थान होता है। सरकारी बजट बनाना एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें उन सभी साधनों को तैयार किया जाता है जिस पर शासन का नियंत्रण होता है। बजट के माध्यम से ही यह ज्ञात किया जाता है कि शासन की नीतियां किस स्तर की हैं और सरकार उन नीतियों पर किस प्रकार से खर्च करने में कितनी प्रमुखता से कार्य कर रही है। सरकार का कार्य बजट की सहायता से तथा बजट द्वारा सरकारी सीमाओं में रहकर कार्य करना है। बजट में राजस्व को बनाने वाली प्रक्रिया एवं राजस्व पर नियंत्रण करने वाली ये दोनों ही चीजें रखी जाती हैं जिससे बजट का संतुलन बना रहे और इस बात का प्रयास किया जाए कि आय तथा व्यय दोनों समान रहें। वित्तीय मामलों में सरकार की नीतियों को स्पष्ट करने के लिए बजट को लागू किया जाना आवश्यक है। जिसमें आय राजस्व एवं व्यय की आवश्यकताओं का अनुमान और ऐसी अवधि जिसके लिए बजट बनाया जाता है उसे स्पष्ट रूप से ध्यान में रखा जाए, क्योंकि कुछ बजट एक वर्ष के लिए होते हैं और कुछ बजटों को कई भागों में प्रयोग में लाया जाता है। इस प्रकार से बजट में यह व्यवस्था की जाती है कि समय–समय पर सही रूप से योजनाओं के लिए धन प्राप्त किया जा सके।

टिप्पणी

2. **अधिनियम के अंतर्गत बजट की जांच करना और उसका कार्यान्वयन करना** – देश की सभी नीतियां किसी न किसी अधिनियम के अंतर्गत तैयार की जाती हैं। जितने भी आय प्राप्ति के स्रोत हैं उनमें ऐसे अधिनियम जो सामाजिक रूप से कार्य कर रहे हैं वे पर्याप्त भूमिका निभा रहे हैं अथवा नहीं, वित्त प्रशासन को इस पर ध्यान देना होता है। क्योंकि वार्षिक योजनाओं के लिए सभी कार्यों को वैधानिक रूप से स्वीकृति प्राप्त करनी होती है। लोकतंत्र में प्रायः वित्तीय साधनों को अधिनियम के माध्यम से ही प्रयोग में लाया जाता है जिसमें केन्द्र सरकार और राज्य सरकार का महत्वपूर्ण योगदान होता है। बजट को विधानसभा में प्रस्तुत करने से पहले वित्त मंत्री उन नीतियों का अध्ययन करता है तथा उन नीतियों को अधिनियम के माध्यम से एक प्रक्रिया के अंतर्गत तैयार करता है जिसे समाज में इस प्रकार प्रस्तुत किया जाए जिससे सभी व्यक्तियों को विकास का अवसर प्राप्त हो। ऐसी नीतियों का किस प्रकार से क्रियान्वयन किया जाए इसका भी दायित्व सरकार पर होता है और शासन की नीतियों को बजट की सीमा में तैयार किया जाए तथा आय–व्यय दोनों ही साधनों को सही मात्रा में रखा जाए जिससे बजट को सरकारी नीतियों के अनुरूप बनाया जा सके। बजट के क्रियान्वयन में तीन बातों का ध्यान दिया जाता है–

   1. वित्त को उचित ढंग से प्राप्त करना।
   2. वित्त का रख रखाव करना।
   3. वित्त का उचित बंटवारा करना।

   सरकार का यह दायित्व है कि वह राजस्व/कर तथा बिना कर आय एकत्रित करने के लिए ऐसी नीतियों का निर्धारण करे जिससे सामाजिक असंतोश पैदा न हो और शासन के वित्त पर्याप्त मात्रा में जनता से उपलब्ध रहे जिसमें बैंकों से बड़ा महत्वपूर्ण सहयोग प्राप्त होता है, क्योंकि बैंकों के माध्यम से ही नीतियां सामान्य व्यक्तियों तक पहुंचाई जाती हैं। कोष के वितरण में प्रशासन को अनेक अधिकारियों से संपर्क करना पड़ता है जिससे सामान्य व्यक्ति से प्राप्त धन को राजकोष तक पहुंचाया जा सके। ऐसी स्थिति में कभी–कभी सामान्य व्यक्तियों में असंतोष पैदा हो जाता है जिससे शासकीय नीतियां प्रायः असफल हो जाती हैं। इस स्थिति से बचने के लिए राज्य कोशीय प्रबंधक का दायित्व है कि उन्हीं व्यक्तियों से वित्त एकत्रित कराया जाए जो अधिकृत हों और उन्हें अधिनियम की पूर्ण जानकारी हो तथा वित्त को पूर्ण रूप से लेखा के साथ रख सकें।

3. **कर प्रशासन** – सामाजिक परिस्थितियों में कर जमा करना प्रत्येक नागरिक का वैधानिक कर्तव्य है। वित्तीय अधिकारों के अंतर्गत कर जमा करना संपत्ति के अधिकार में सम्मिलित किया गया है। वैधानिक संपत्ति ही व्यक्ति की वास्तविक संपत्ति मानी जाती है, इसलिए व्यक्तियों के लिए आवश्यक है कि अधिक से अधिक कर जमा करके अपनी संपत्ति को वैधानिक घोषित किया जाए। वर्तमान परिस्थितियों में राज्य को कल्याणकारी राज्य के रूप में अवतरित किया गया है जिसमें राजकीय आवश्यकताएं काफी बढ़ गई हैं जिनको पूरा करने के लिए शासन के पास अन्य कोई विकल्प नहीं है जिसमें कर को इस स्थिति में लागू करना जिससे सामाजिक आपदाओं में वित्त की स्थिति सही रखने के लिए कर

टिप्पणी

प्रशासन को अत्यधिक प्रभावी बनाया जाए। कर प्रशासन के अभाव में समाज में कर चोरी तथा कर न देने की समस्या भी बनी रहती है। कर प्रणाली को सुचारू रूप से अप्रत्यक्ष कर के माध्यम से एकत्रित किया जाए जिससे सामाजिक समस्याएं आसानी से निपटती रहें। इसके अलावा प्रशासन को ऐसे कर्मचारियों को प्रोत्साहन देना चाहिए जो अपना कार्य ईमानदारी एवं दक्षता से निभा रहे हैं। कर प्रशासन राजस्व की नीतियों एवं बजट को पूरा करने में सहयोग करता है।

4. **लेखों का रख–रखाव करना** – करों का एक ढांचा तैयार करना चाहिए जिसमें वित्तीय प्रशासन को मजबूत बनाया जाए, जिसका पूरा किया जाना लेखा विभाग का कार्य है। कर दाता कर जमा करने के बाद इस बात की अपेक्षा करता है कि उसके द्वारा जमा की गई कर की राशि को जनता के उपयोग में लाया जाए तथा किसी भी प्रकार से राजनीतिक रूप में प्रयोग न किया जाए। जब कर दाता को इस बात की जानकारी पूर्ण रूप से मिलती है कि करों का सही रूप से उपयोग हो रहा है एवं उसके द्वारा जमा की गई राशि सामाजिक कल्याण के रूप में प्रयोग हो रही है तब कर चोरी की समस्या काफी सीमा तक हल हो जाती है। इसके लिए लेखों को इस रूप में तैयार किया जाए जिसमें कर जमा करना और उस कर का प्रयोग किया जाना दर्षाया गया हो। यह कार्य वित्तीय प्रशासन के अंतर्गत आता है। निम्नलिखित तथ्यों को ध्यान में रखते हुए सरकार को लेखा तैयार कराना पड़ता है जो तीन प्रकार के होते हैं –

   (क) नियंत्रण लेखा

   ख) मर्यादा लेखा

   (ग) पूरक लेखा।

   (क) **नियंत्रण लेखा**– नियंत्रण लेखा प्रशासन की सुविधा के लिए होता है जिसको आंतरिक प्रशासन कहा जाता है तथा इसमें कर एकत्रित करना, सुरक्षित अभिरक्षा में रखना और वितरण का कार्य सौंपा जाता है। कर लगाते समय एवं एकत्रित करते समय नियमों का कठोरता से पालन करना चाहिए। क्योंकि कोई व्यक्ति स्वेच्छा से कर जमा करने के पक्ष में नहीं रहता।

   (ख) **मर्यादा लेखा**– दूसरे दृष्टि में मर्यादा लेखे भी तैयार किए जाते हैं, जिसमें जमा लेखा और खर्च लेखा का ही वाउचर बनाया जाता है तथा उसमें यह दर्षाया जाता है कि जो भी व्यय किया गया है वह शासन की इच्छा के अनुसार हुआ है। इसमें किसी भी अधिकारी का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से अपना हित नहीं है तथा इसको विस्तष्त रूप से आवश्यक निर्देशों के अंतर्गत आय–व्यय के रूप में तैयार किया जाता है।

   (ग) **पूरक लेखा**– तीसरे समपूरक लेखों में ऐसे महत्वपूर्ण विषय रहते हैं जो किसी कार्यक्रम को नियंत्रित, स्थापित व स्पष्ट करने के लिए रखे गए हों और सरकार के आर्थिक कार्यक्रम का निर्माण करने तथा उसकी वस्तु स्थिति जानने के लिए सहयोग करते हो।

(5) **लेखों की जांच करना**– वित्तीय प्रशासन में जो भी लेखे तैयार किए जाते हैं इन लेखों की सत्यता को जांचने के लिए सभी लेखों का जांच एजेंसी द्वारा

टिप्पणी

परीक्षण कराना होता है। परीक्षण के माध्यम से यह स्पष्ट किया जाता है कि सभी दस्तावेज वास्तविकता के अंतर्गत हैं और ऐसे दस्तावेजों को सामान्य जनता के लिए प्रयोग में लाया जाए। इस कार्य के लिए अंकेक्षण शब्द का प्रयोग किया जाता है। अंकेक्षण का अर्थ है कि समस्त जानकारी दस्तावेजों के माध्यम से स्थापित की गई है और प्रशासन ने धन का उपयोग वैधानिक निर्देशों के अनुसार किया है। अंकेक्षण न्यायपालिका, कार्यपालिका एवं विधानपालिका के समान लेखाओं में लोकतंत्र की स्थिति में है। इसका उद्देश्य इस बात को सुनिश्चित करना है कि सरकारी कोष का व्यय करते समय प्रत्येक प्रकार की वित्तीय परम्परा का पालन किया गया है तथा जो व्यय किए गए हैं वे उसी मद पर व्यय किए गए हैं जिसके लिए प्रशासन ने योजना निर्धारित की थी। अंकेक्षण को चार भागों में विभाजित किया गया है जो इस प्रकार हैं –

1. **विनियोजित अंकेक्षण**– इस अंकेक्षण के माध्यम से इस बात की जानकारी प्राप्त की जाती है कि सरकार के पास जो राजस्व की प्राप्ति हो रही है उसका उपयोग सीमा के अंतर्गत किया गया है अथवा नहीं तथा जो राशि व्यय की गई है वह किसी मद पर निर्धारित सीमा से अधिक तो नहीं है।
2. **नियामक अंकेक्षण**– इस अंकेक्षण में उन सभी नियमों का पालन किया जाता है जिनके अंतर्गत वित्त प्राप्त किया गया है और उस वित्त को किस प्रकार से उपयोग में लाया गया है। इन दोनों बातों की जानकारी हम नियामक अंकेक्षण के माध्यम से जान सकते हैं।
3. **मर्यादा अंकेक्षण**– इस अंकेक्षण के जरिए इस बात का पता लगाया जाता है कि जो व्यय किया गया है उसको पूरा करते समय कितनी सावधानी बरती गई है और कार्य करने वाले व्यक्ति की सावधानी का निराकरण किस प्रकार से किया गया है। वास्तविक उद्देश्यों की पूर्ति की गई है अथवा नहीं, इस बात की भी जानकारी इन अंकेक्षण के माध्यम से प्राप्त की जा सकती है।
4. **कुशल अंकेक्षण**– जब किसी एजेन्सी या प्राधिकरण के लेखों की जांच की जाती है तो ऐसी स्थिति में ऐसे अंकेक्षण काफी उपयोगी सिद्ध होते हैं।

इस अंकेक्षण में प्रतिदिन की कार्यवाही और कार्यवाही के आधार पर किस प्रकार कार्य किया गया, कितने व्यक्तियों ने कार्य किया और कितने समय में उस कार्य को पूरा किया गया इसका विवरण दिया जाता है। प्रत्येक राज्य में अलग–अलग अंकेक्षण की व्यवस्था की जाती है जिसका लोक व्यय के नाम से नियंत्रण किया जाता है।

प्रत्येक राज्य में वित्तीय संबंधों संघीय सरकार के माध्यम से पूर्ण किए जाते हैं तथा जिसकी सुरक्षा का उत्तरदायित्व भी सरकार का है। राज्यों की आवश्यकताओं को देखते हुए विभिन्न विभागों में समन्वय स्थापित किया जाता है तथा राज्य के कार्यों को किस प्रकार से गतिषील बनाया जाए यह वित्तीय प्रशासन का एक महत्वपूर्ण कार्य होता है। यह कहा जा सकता है कि किसी भी देश के वित्तीय प्रशासन में वित्तीय साधनों का प्रयोग किया जाना राज्यों के लिए एक महत्वपूर्ण उद्देश्य होता है।

टिप्पणी

4.2.2 वित्तीय प्रशासन की समस्याएं

वित्तीय प्रशासन की समस्याएं इस प्रकार हैं–

1. **उचित योजना का अभाव** : किसी भी निर्माण के साथ–साथ डिजाइनिंग पर भी भारी खर्च। यह मुख्य रूप से इसलिए है क्योंकि उचित योजना की कमी है। इस योजना के अभाव में धन की भारी निकासी होती है और इस तरह से गंभीर वित्तीय समस्या पैदा होती है।
2. **प्रतिकूल इनपुट–आउटपुट अनुपात** : यदि संसथान भारी पूंजीकृत है तो इनपुट–आउटपुट अनुपात प्रतिकूल हो जाता है। अपर्याप्त योजना, निर्माण आदि में देरी, अति–पूंजीकरण के कारण हैं।
3. **पूंजी की लागत** : पूंजी की लागत में विभिन्न प्रकार की पूंजी जुटाने की लागत शामिल नहीं होती है और यह लागत बाजार मूल्य पर दोबारा नहीं लगाई जाती है। इससे पूंजी की लागत को कम करके आंका जाता है। नतीजतन, यह कीमतों के गैर–यथार्थवादी निर्धारण और बाजार के रुझान को कम करके आंकता है। यहां तक कि मुनाफे और नुकसान की सीमा का भी अनुमान लगाना मुश्किल हो जाता है।
4. **मूल्य निर्धारण की समस्या** : एक अन्य समस्या उत्पादित वस्तुओं के मूल्यों को ठीक करने की है। जैसा कि हम जानते हैं कि जब तक मूल्य निर्धारण नीति सही नहीं होती है तब तक अच्छे संसथान भी घाटे में चल सकते हैं और अन्य गंभीर वित्तीय समस्याओं का सामना कर रहे हैं क्योंकि वे समान मूल्य निर्धारण नीति का पालन नहीं कर रहे हैं।
5. **अधिशेष की समस्या** : वित्तीय प्रशासन के क्षेत्र में एक और समस्या अधिशेष घोषित करने की है। अधिशेष से हमारा मतलब है कि काम के खर्च, सामान्य प्रतिस्थापन, ब्याज भुगतान और लाभांश में कटौती के बाद अधिशेष के रूप में उपलब्ध संसाधन। लेकिन फिर से सरप्लस घोषित करने की नीति को लागू करना संभव नहीं पाया गया है। इस संबंध में कोई स्पष्ट कटौती सिद्धांत सरकार द्वारा मार्गदर्शन के लिए निर्धारित नहीं किए गए हैं।
6. **ऋण उठाने की समस्या** : संस्थाएं सरकार के वित्त से चलती हैं। और इसने कई समस्याओं को बढ़ा दिया है। कभी–कभी सरकार को ऐसे मामलों को वित्त प्रदान करने में कठिनाई महसूस हो सकती है, अगर ये उपक्रम पूंजी बाजार पर निर्भर करते हैं, तो वे बाजार की वित्तीय संरचना को अस्त–व्यस्त करते हैं।
7. **बजट की समस्या** : अभी भी एक और समस्या बजट की है। यह देखा गया है कि अधिकांश संस्थानों में बजट की कोई गंभीर व्यवस्था नहीं है। बजट निश्चित रूप से तैयार हैं, लेकिन ये मुख्य रूप से सरकार से धन प्राप्त करने के लिए हैं। बजट अनुमान में कटौती के लिए बहुत अधिक मार्जिन रखा जाता है और जब कटौती इस हद तक नहीं की जाती है कि इन अनुमानित बजट को शामिल किया गया है तो पूरा अभ्यास बेमानी हो जाता है। इसीलिए आमतौर पर अनुमानित बजट और वास्तविक व्यय के बीच व्यापक अंतर होता है। इतना ही नहीं, एक और समस्या यह है कि भारत में एक संस्थान के व्यय को प्रदर्शन और प्राप्त लक्ष्यों से नहीं जोड़ा जाता है।

टिप्पणी

8. **प्राधिकरण के प्रतिनिधिमंडल की समस्या** : यह देखा जाता है कि आमतौर पर एक संगठन में प्राधिकरण का कोई प्रतिनिधिमंडल नहीं होता है, जिसके परिणामस्वरूप कुछ व्यय/खर्च प्राप्त करने के लिए सक्षम अधिकारी की पूर्व सहमति प्राप्त की जानी होती है। इसका परिणाम किसी व्यक्ति को काम से ओवरलोड करने में होता है और इसके साथ ही वह कई गलतियां भी कर सकता है।

9. **आंतरिक लेखापरीक्षा** : हर संस्थान के खातों का नियमित ऑडिट किया जाता है। इस तरह के ऑडिट का मुख्य उद्देश्य यह है कि मुख्य वित्तीय अनियमितताओं को प्रकाश में लाया जाता है ताकि ये बार–बार न हों। लेकिन वित्त के क्षेत्र में, आंतरिक लेखा परीक्षक कई समस्याएं पैदा करते हैं।

   सब कुछ सुचारू करने के बजाय, वे जटिलताओं और भूलों को पैदा करने की कोशिश करते हैं और कई मामलों में आंतरिक ऑडिट बाहरी ऑडिट की तुलना में अधिक कठिन काम साबित होता है जो वैधानिक अधिकारियों द्वारा किया जाता है।

10. **वित्तीय सलाहकार की भूमिका और जिम्मेदारियां** : चाहे वह सार्वजनिक या निजी क्षेत्र का उपक्रम हो, यह सबसे अधिक वांछनीय है कि वित्त की उचित रूप से जाँच और नियंत्रण किया जाना चाहिए। सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम में ऐसे अधिकारी को कई समस्याएं पैदा करने के लिए जिम्मेदार माना जाता है। वह खुद को पूरी प्रबंधन प्रणाली का हिस्सा नहीं मानता है। उसे लगता है कि उसकी एकमात्र जिम्मेदारी वित्तीय नियमों का पालन करना है, बिना कठिनाइयों की परवाह किए जिनका उनके अधीनस्थ कर्मचारी सामना करते हैं। वह खुद को पूरे सिस्टम का हिस्सा महसूस नहीं करता है, बल्कि खुद को सिस्टम के बाहर सोचता है, जिसके परिणामस्वरूप कई गंभीर समस्याएं और जटिलताएं होती हैं।

11. **इन्वेंट्री होल्डिंग्स की समस्या** : उदाहरण के लिए, सभी सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में इन्वेंट्री होल्डिंग बहुत अधिक है। पूरे सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के बारे में अनुमान लगाया गया है कि इन्वेंट्री होल्डिंग्स कार्यशील पूंजी की तुलना में कहीं अधिक है। कुछ उपक्रमों में इन्वेंट्री 2 वर्ष से अधिक उत्पादन के परिणाम के साथ होती है, जिसमें करोड़ों रुपये बिना उपयोग के पड़े रहते हैं। इस तरह की इन्वेंट्री होल्डिंग स्पष्ट रूप से पूंजी उत्पादन अनुपात को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करती है।

12. **कॉलिंग रिपोर्ट की समस्या** : एक और समस्या जिसका सामना सरकार अक्सर करती है, वह है प्रशासनिक मंत्रालय को रिपोर्ट सौंपना। प्रत्येक मंत्रालय वित्तीय, साथ ही प्रशासनिक प्रबंधन दोनों से बहुत अधिक रिपोर्टों के लिए कहता है। वित्तीय प्रबंधन का ध्यान इन रिपोर्ट्स पर ही रहता है। इससे बहुत परेशानी होती है क्योंकि प्रशासनिक मशीनरी इन रिपोर्टों का वैसा उपयोग नहीं करती है जिनके लिए इन्हें बनाया जाता है।

13. **प्रदर्शन की समस्या** : एक वित्तीय प्रशासन सफलतापूर्वक काम कर रहा है या नहीं, यह इसके प्रदर्शन के साथ जोड़ा जाना चाहिए। इसी तरह वित्तीय प्रबंधन

टिप्पणी

को उन अर्थव्यवस्थाओं से भी आंका जाना चाहिए जो (श्रमिकों की दक्षता या शत्रुता के पूर्वाग्रह का विचार किये बिना) प्रभावित हुई हैं। लेकिन फिर से वित्तीय प्रबंधन को कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है, इसकी निश्चित रूप से हर जगह आलोचना की जाती है, लेकिन अभी तक ऐसे कोई साधन और तरीके नहीं हैं जिन से इनके प्रदर्शन का परीक्षण किया जा सकता है।

14. **सरकार की विनिवेश नीति** : निजीकरण की प्रक्रिया के अंतर्गत, सरकार विनिवेश की नीति का अनुसरण कर रही है, जहां सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम धीरे–धीरे निजी होते जा रहे हैं। सार्वजनिक क्षेत्र में विनिवेश के लिए तो बाकायदा एक विनिवेश मंत्रालय भी है। यदि यह प्रवृत्ति जारी रहती है, तो कुछ को छोड़कर, सार्वजनिक क्षेत्र के कई उपक्रम निजी हो सकते हैं, आने वाले दिनों में ऐसे संगठनों में और नई समस्याएं आ सकती हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

1. वित्तीय क्रियाएं किस अभिकरण द्वारा संपन्न नहीं की जाती है?
   (क) विधान मंडल (ख) न्यायपालिका
   (ग) वित्त विभाग (घ) कार्यपालिका
2. निम्न में से कौन–सा कार्यक्षेत्र वित्तीय प्रशासन के अंतर्गत आता है?
   (क) बजट बनाना (ख) कर प्रशासन
   (ग) लेखों की जांच करना (घ) उपर्युक्त सभी

4.3 बजट

बजट वित्तीय प्रशासन का मुख्य उपकरण है। बजट शब्द की उत्पत्ति फ्रांसीसी भाषा के शब्द 'बूजट' से हुई है, जिसका अर्थ है 'चमड़े का थैला'। पहले फ्रांस में वित्त मंत्री वार्षिक आय–व्यय के आकलन के कागजात इस थैले में रखकर संसद में लाता था। सन् 1773 में ब्रिटिश कॉमंस सभा में किसी ने व्यंग में कह दिया कि ''वित्त मंत्री (सर रॉबर्ट वालपोल) ने अपना बजट खोला है।'' तब से सरकार के आय–व्यय के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। जी. जेज़े के अनुसार सह संपूर्ण सरकारी प्राप्तियों एवं खर्चों का एक आकलन है। यह कुछ प्राप्तियों का संग्रह करने तथा कुछ का व्यय करने का एक आदेश है। प्रो. विलोबी के शब्दों में बजट सरकारी आय–व्यय का मात्र अनुमान ही नहीं है, बल्कि इससे अधिक है। यह एक ही साथ एक प्रतिवेदन, एक आकलन तथा एक प्रस्ताव है। यह एक ऐसा लेखयंत्र है, जिसके माध्यम से कार्यपालिका विधायिका के सम्मुख आती है और विस्तार के साथ अतीत, वर्तमान तथा भविष्य की वित्तीय स्थिति का प्रतिवेदन प्रस्तुत करती है। बजट का वार्षिक होना आवश्यक नहीं है। कई वर्षों के लिए एक दीर्घकालीन बजट हो सकता है, तो वहीं एक सप्ताह के लिए एक अल्पकालीन बजट भी हो सकता है। लोक प्रशासन में बजट का अर्थ सरकारी सत्ता के बजट से है और यह प्रायः वार्षिक आधार पर तैयार किया जाता है।

टिप्पणी

बजट शब्द के अर्थ में अलग–अलग देशों में थोड़ा अंतर होता है। जो वित्तीय योजना अनुमोदन के लिए विधायिका में प्रस्तुत की जाती है, उसे भी बजट ही कहा जाता है और अनुमोदित तथा विधायिका द्वारा पारित योजना को भी बजट का नाम देते हैं। भारत में इस शब्द का प्रयोग कभी–कभी व्यय के आकलन के रूप में किया जाता है, जबकि ब्रिटेन में यह शब्द प्रायः वित्तीय योजना के राजस्व या कर आय से संबंध रखता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में इस शब्द का प्रयोग संपूर्ण वित्तीय प्रक्रिया के लिए किया जाता है, जिसमें बजट की तैयारी, उसका क्रियान्वयन, लेखांकन, लेखापरीक्षा आदि को शामिल किया जाता है। जोसेफ पोइस ने लिखा है कि ''बजट एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी सरकारी अभिकरण की वित्तीय नीति निर्धारित और संचालित की जाती है।'' संक्षेप में बजट अतीत और वर्तमान की सूचनाएं एकत्र कर उनके आधार पर भविष्य के लिए वित्तीय योजनाओं का निर्माण करता है। इसी के आधार पर यह प्रतिवेदन दिया जाता है कि योजनाओं का क्रियान्वयन कहां तक किया गया। बजट कार्यवाही की एक योजना है, जिसमें आने वाले वित्तीय वर्ष के लिए मुख्य कार्यपालिका के कार्यक्रम उल्लेख होता है।

बजट के अर्थ एवं विभिन्न परिभाषाओं के अध्ययन से इसकी निम्न विशेषताएं प्रकट होती हैं–

1. यह पिछले वर्ष के दौरान कार्यपालिका द्वारा संपादित प्रशासनिक एवं आर्थिक कार्यों का एक संतुलित ब्यौरा होता है।
2. सरकारी कार्यों के संचालन के लिए आवश्यक धन राशि जुटाने तथा उसके उचित व्यय का एक व्यवस्थित मसौदा है।
3. व्यवस्थापिका के समक्ष अनुमोदन के लिए पेश किए जाने के कारण बजट नियमित रूप से कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के प्रति अपने उत्तरदायित्व का बोध कराते रहने का एक प्रभारी माध्यम है।

इस प्रकार बजट एक ऐसा महत्वपूर्ण दस्तावेज है, जिसे समस्त वित्तीय प्रशासन तंत्र का प्राण तथा लोकप्रिय शासन व्यवस्था के अस्तित्व का आधार माना जाता है।

बजट की तैयारी का आधार वित्तीय वर्ष होता है। बजट के प्रारंभ होने की तिथि प्रत्येक देश में अलग–अलग होती है। भारत, ब्रिटेन और अन्य कई राष्ट्रमंडलीय देशों में वित्तीय वर्ष 1 अप्रैल से 31 मार्च तक चलता है। संयुक्त राज्य अमेरिका, इटली, स्वीडन आदि देशों में यह 1 जुलाई से 30 जून तक जबकि फ्रांस आदि देशों में 1 जनवरी से 31 दिसंबर तक चलता है। वित्तीय वर्ष का निर्धारण अपने आप में महत्वपूर्ण है।

बजट का समय एक वर्ष से कम या अधिक हो सकता है। अधिक समय वाले बजट को दीर्घकालीन बजट कहा जाता है।

सरकारी बजट प्रायः एक वर्ष के लिए बनाए जाते हैं। ऐसा करने से व्यवस्थापिका सरकार की क्रियाओं पर निकट से नियंत्रण रख सकती है। यह नियंत्रण दीर्घकालीन बजट पर नहीं रखा जा सकता। कहा जाता है कि जब तक दीर्घकालीन आवश्यकताओं पर विचार न किया जाए तब तक एक वर्ष की आवश्यकता का सही–सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

टिप्पणी

बजट की महत्ता एवं सार्थकता

शासन का कोई भी कार्य वित्त के अभाव में पूरा नहीं हो सकता है। शासन की नीतियां और योजनाएं तब तक निरर्थक हैं, जब तक उन्हें कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक वित्त उपलब्ध न हो। अतः वित्त को लोक प्रशासन की 'चालक शक्ति' कहा जा सकता है। जिस प्रकार मोटर कार बिना पेट्रोल एवं डीजल के नहीं चल सकती, उसी प्रकार सरकार भी बिना वित्त के कोई कार्य नहीं कर सकती। कौटिल्य ने ठीक ही कहा था, ''सभी संगठन वित्त पर निर्भर करते हैं। इस प्रकार सर्वाधिक ध्यान कोष पर दिया जाना चाहिए।'' विलोबी के अनुसार, ''कुशल शासन की समस्या में अंतर्निहित विविध तत्वों में वित्तीय प्रशासन से अधिक महत्वपूर्ण कोई दूसरा नहीं है।''

बजट आधुनिक राज्यों में राष्ट्र की आर्थिक नीति को संचालित और नियंत्रित करने के विभिन्न साधनों में विशिष्ट स्थान रखता है। यदि यह कहा जाए कि वर्तमान राज्यों का संचालन बजट के माध्यम से होता है, तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी। ब्रिटिश प्रधानमंत्री ग्लैडस्टोन के अनुसार, ''बजट गणित के आंकड़े मात्र नहीं है, बल्कि यह हजारों व्यक्तियों की संपत्ति, विभिन्न वर्गों के पारस्परिक संबंधों तथा राज्यों की शक्ति का मूल है।'' एलन विलियम्स ने बजट के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि आजकल बजट सरकार की आर्थिक नीति प्रस्तुत करने और क्रियान्वित करने का प्रमुख कारक है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद यह अवधारणा विकसित हुई कि बजट अर्थव्यवस्था के विकास का साधन है। इसमें सरकार की नीति और देश की आर्थिक परिस्थितियां प्रतिबिंबित होती हैं। वास्तव में बजट सार्वजनिक वित्तीय प्रशासन का हृदय है।

बजट किसी राष्ट्र की वित्तीय स्थिति के लिए दर्पण, दीपक और दिशा सूचक यंत्र के तीन प्रकार के कार्य करता है। जिस प्रकार दर्पण व्यक्ति की मुखाकृति को वास्तविक रूप में प्रतिबिंबित करता है, उसी प्रकार देश का बजट अनुसरण किए जाने वाले वित्तीय पथ को आलोकित करता है। किंतु बजट का इससे भी बड़ा कार्य उस दिशा का निर्धारण करना है, जिस दिशा की ओर राष्ट्र को अग्रसर होना है। नेहरू के शब्दों में, ''बजट को इस दृष्टिकोण से देखा जाना चाहिए कि देश में क्या करना है और किन लक्ष्यों को प्राप्त करना है।' डॉ. बर्क हेड के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस और ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रांस के आर्थिक उत्कर्ष में बजट पद्धति ने बड़ा सहयोग दिया है और इससे उनकी राजनीतिक शक्ति में वृद्धि हुई है।

बजट का प्रयोजन

बजट के माध्यम से ही सरकार अपनी योजनाओं का क्रियान्वयन करती है तथा मुख्य रूप से निम्नलिखित कार्य पूरे करती है–

1. राष्ट्रीय वित्त का सुव्यवस्थित रूप से सदुपयोग।
2. कार्यपालिका द्वारा वैज्ञानिक और सुव्यवस्थित ढंग से सार्वजनिक आय–व्यय के विभिन्न मदों का निर्धारण।
3. अनुमोदित बजट के अनुसार कार्यपालिका को कर एकत्र करने और आवश्यक व्यय के लिए बजट के आधार पर अनुमति देना है।
4. सरकार की आर्थिक नीति को कार्यान्वित करने के लिए बजट का एक साधन के रूप में उपयोग किया जाना है। एक अनुमोदित बजट प्रशासक को यह बताता

है कि उसे किन योजनाओं और उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयास करना है।

5. बजट में पिछले वित्तीय वर्ष में किए गए कार्यों का अवलोकन के साथ–साथ त्रुटियों की समीक्षा की जाती है।
6. बजट के माध्यम से विभिन्न विभागों को दिशा निर्देश दिया जाता है कि उन्हें कौन से कार्य कितनी धनराशि की सीमा के भीतर रहते हुए करने हैं।
7. बजट को साध्य नहीं बल्कि साधन माना गया है। यह देश की जनता की इच्छाओं और हितों की पूर्ति और सरकार की आर्थिक प्रगति एवं दिशा का निर्धारण करने वाला एक महत्वपूर्ण साधन है।

टिप्पणी

बजट के महत्वपूर्ण सिद्धांत

बजट को यथासंभव सार्थक और उपयोगी बनाने के लिए कुछ सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है। इन में से कुछ प्रमुख सिद्धांतों का विश्लेषण समीचीन है।

1. **कार्यपालिका के उत्तरदायित्व का सिद्धांत** – बजट कार्यपालिका के विभागों के बीच समन्वय का एक मुख्य स्रोत है। इसके माध्यम से अपव्यय को कम किया जा सकता है। बजट बनाते समय सरकार की नीतियों एवं कार्यक्रमों का मूल्यांकन हो जाता है। इसके विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठन के सभी तत्व मिलकर कार्य करते हैं।

   बजट एक प्रकार से मुख्य कार्यपालिका के कार्यक्रम की रूपरेखा है। इसकी प्रक्रिया में सभी विभागों तथा उपविभागों का सक्रिय सहयोग भी होना चाहिए। बजट का निर्माण या वित्तीयन केवल एक केंद्रीय कार्यालय का ही नहीं बल्कि संपूर्ण प्रशासकीय संरचना का एक महत्वपूर्ण कार्य है। बजट ऐसा होना चाहिए जो विधायिका के उद्देश्य को पूरा करे और मितव्ययिता पर ध्यान रखे।
2. **लोच** – बजट में इतनी लोच होनी चाहिए कि बदलती हुई आवश्यकताओं के साथ उसमें परिवर्तन किया जा सके।
3. **विधायिका का कार्यपालिका पर नियंत्रण** – बजट के माध्यम से विधायिका को कार्यपालिका पर नियंत्रण करने का अवसर प्राप्त होता है। पहले यह नियंत्रण केवल राजस्व के स्रोतों एवं मात्रा को बढ़ाने की दृष्टि से किया जाता था, किंतु बाद में इसमें व्यय को भी समाविष्ट किया गया। विधायिका का नियंत्रण यह स्पष्ट करता है कि उसकी स्वीकृति के बिना कोई कर एकत्र नहीं किया जा सकता और न ही कोई व्यय किया जा सकता है। बजट कार्यपालिका पर विधायिका के समुचित नियंत्रण का एक महत्वपूर्ण साधन है।
4. **प्रचार** – सरकारी बजट विभिन्न सोपानों से होकर गुजरता है। इन सोपानों का प्रचार और प्रकाशन कर बजट को सार्वजनिक जानकारी का विषय बना लेना चाहिए। बजट पर विमर्श करते समय विधायिका के गुप्त अधिवेशनों की आवश्यकता नहीं है। बजट का पर्याप्त प्रचार और प्रकाशन होने पर ही देश की जनता और पत्र–पत्रिकाएं उसके प्रति अपनी राय दे सकते हैं।
5. **स्पष्टता** – बजट यदि जटिल और उलझनपूर्ण हो, तो निश्चय ही सामान्य जनता की समझ से बाहर होगा। बजट की सार्थकता और सफलता के लिए उसे इतना स्पष्ट होना चाहिए कि जनता उसे आसानी से समझ सके।

टिप्पणी

6. **व्यापकता** – बजट के अंतर्गत समस्त सरकारी कार्यक्रमों पर प्रकाश डालते हुए व्यय और राजस्व को पूर्ण रूप से स्पष्ट किया जाना चाहिए। बजट को देखने से यह स्पष्ट रूप ज्ञात होना चाहिए कि सरकार द्वारा कौन–कौन से नए कर लगाए जा रहे हैं और किन–किन मदों पर व्यय किया जाएगा। बजट देखने से सरकार की संपूर्ण आर्थिक स्थिति का बोध हो सकता है।
7. **एकता** – बजट में जो व्यय दिखाए जा रहे हों, उन सभी की वित्तीय व्यवस्था करने के लिए सरकार को सभी प्राप्तियां एक सामान्य निधि में एकत्र करनी चाहिए। राजस्व को पृथक करना एक अच्छे बजट का गुण नहीं है।
8. **निर्धारित समय सीमा** – बजट के माध्यम से सरकार को विनियोजन तथा व्यय करने का जो अधिकार दिया जाए, वह एक निश्चित समय के लिए होना चाहिए। यदि धन का उपयोग इस निर्धारित समय–सीमा के अंतर्गत नहीं किया जाए, तो उसका उपयोग करने का अधिकार समाप्त हो जाएगा और केवल पुनर्वियोजन करने पर ही उसे व्यय किया जा सकेगा।
9. **शुद्धता** – बजट की विभिन्न मदें तथा आकलन यथासंभव निश्चित एवं परिशुद्ध होने चाहिए। व्ययों के आकलनों में व्यर्थ के आंकड़े नही होने चाहिए तथा राजस्व का अवमूल्यन करके धन की व्यवस्था करने का प्रयत्न नही करना चाहिए।
10. **सत्यनिष्ठा** – विभिन्न कार्यक्रमों का क्रियान्वयन उसी रूप में किया जाए, जिस रूप में उन्हें बजट में प्रस्तुत किया गया हो, अन्यथा बजट निरर्थक हो जाएगा। बजट के निर्माण के समय जो उद्देश्य निर्धारित किए गए हों, उनकी पूर्ति के लिए सत्यनिष्ठ एवं कार्यकुशल प्रशासन का होना आवश्यक है।

अन्य सिद्धांत

एक स्वस्थ और अच्छे बजट के निर्माण में उपर्युक्त सिद्धांतों के अतिरिक्त निम्नलिखित कुछ अन्य सिद्धांत भी अपनाए जाने चाहिए–

1. **संतुलित बजट** – बजट का संतुलित होना है। उसे अनुमानित व्यय और आय तथा राजस्व से अधिक नहीं होना चाहिए। यद्यपि सरकारी वित्त में अधिक लोचशीलता होती है, क्योंकि अतिरिक्त व्यय को पूरा करने के लिए आवश्यक धन का प्रबंध किया जा सकता है।

   जब बजट में व्यय और राजस्व बराबर होते हैं, तो उसे संतुलित बजट कहते हैं। किंतु जब व्यय राजस्व की अपेक्षा कम होता है, तो उसे बचत बजट कहा जाता है। इसके विपरीत यदि व्यय अनुमानित राजस्व की अपेक्षा अधिक हो, तो उसे घाटे का बजट कहा जाता है।

   आधुनिक अर्थशास्त्री घाटे की अर्थव्यवस्था को कुछ परिस्थितियों में सहनीय और आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार घाटे का मुकाबला करने हेतु जनता के लिए अधिक काम तथा आय की व्यवस्था करना आवश्यक है। राज्य ऐसा तभी कर सकता है, जब वह सार्वजनिक कार्यों पर सरकारी व्यय की वृद्धि करे। इस व्यय की वित्तीय व्यवस्था घाटे के बजट द्वारा की जा सकती है। इन विचारकों का मत है कि एक संतुलित बजट अपनी जनता को वह सब वापिस कर देता है, जो उसने ऋण अथवा करों के रूप में जनता से लिया

टिप्पणी

है। इसके विपरीत घाटे का बजट जब आय से अधिक व्यय का प्रावधान करता है, तो उसे पूरा करने के लिए वह कागजी मुद्रा का सहारा लेता है। व्यापारिक मंदी का मुकाबला करने के लिए घाटे की व्यवस्था एक लोकप्रिय साधन बन चुकी है। युद्ध और विकास योजनाओं के बड़े व्यय का मुकाबला करने के लिए भी इसे उपयोगी माना जाता है।

2. **बजट के दो भाग** – बजट के दो भाग किए जाने चाहिए। एक भाग में चालू व्यय और आय होनी चाहिए तथा दूसरे में पूंजीगत भुगतान और प्राप्तियां। पहला भाग राजस्व बजट कहलाता है और दूसरा पूंजीगत बजट। ऐसा नहीं करने पर समस्त आर्थिक चित्र धुंधला रह जाएगा। इसलिए दोनों भागों को अलग–अलग रखा जाता है और अलग–अलग संतुलित किया जाता है।
3. **बजट का नकदी आधार** – बजट में आय और व्यय का आकलन वर्ष की वास्तविक प्राप्ति या व्यय से संबंधित होना चाहिए। अगले वर्ष की संभावित आय अथवा व्यय को वर्तमान वित्तीय वर्ष के बजट में शामिल नहीं किया जाना चाहिए।
4. **बजट तथा लेखों की समानता** – बजट का एक अन्य सिद्धांत यह है कि इसका रूप लेखों के रूप से मिलता हुआ होना चाहिए। ऐसा करने से बजट के निर्माण में सुविधा होगी, बजट पर नियंत्रण रखा जा सकेगा और लेखों का भी उचित रखरखाव हो सकेगा।

4.3.1 संयुक्त राज्य अमेरिका में वित्तीय प्रशासन

कार्यक्रम बजट प्रक्रिया को सर्वप्रथम संयुक्त राज्य अमेरिका के कई संघीय उपक्रमों में सन् 1960 के दशक में अपनाया गया। मूल रूप में इसका विकास अमेरिका के प्रतिरक्षा विभाग में किया गया। इसका उद्देश्य प्रबंधकों की इस बात में सहायता करना था कि वे आबंटित संसाधनों का इस्तेमाल पारदर्शी एवं प्रभावी निर्णय लेने के लिए कर सकें।

कार्यक्रम बजट प्रक्रिया अन्य बजट प्रक्रियाओं से इसलिए भिन्न है कि इसका केंद्रबिंदु प्रभावकारिता है। कार्यक्रम बजट के समर्थकों का विचार है कि सरकार को कुशलता की अपेक्षा प्रभावकारिता को प्राथमिकता देनी चाहिए। लर्नर तथा जॉन वानत के अनुसार–

1. कार्यक्रम बजट से जुड़ा मूल तथ्य यह है कि संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए धन खर्च करने का सर्वोत्तम तरीका क्या है?
2. बजट तैयार करते समय विभिन्न कार्यों का निर्धारण किया जाता है। संगठन को अपने लक्ष्यों का निर्धारण करना होता है। यह देखना होता है कि उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के क्या क्या विकल्प हो सकते हैं। प्रत्येक विकल्प की लाभ और लागत की संख्यात्मक तुलना की जानी चाहिए। जिस विकल्प पर कम से कम लागत लगाकर अधिक से अधिक लाभ प्राप्त हो, उसे बजट में शामिल कर लिया जाता है।

बजट मसौदे में कार्यक्रम मूल लेखाकरण इकाई होता है। इसमें प्रत्येक विकल्प पर विचार किया जाता है और तब निश्चित कार्यक्रमों तथा उनके विकल्पों पर धन आबंटित किया जाता है। तत्पश्चात विचार किया जाता है कि उनमें से कौन–सा विकल्प

बजट में शामिल किया जाए। कार्यक्रमों के विकल्पों की संख्यात्मक तुलना कार्यक्रम बजट की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। लागत लाभ विश्लेषण तथा व्यवस्था विश्लेषण कार्यक्रम बजट प्रक्रिया में अधिक महत्वपूर्ण होते हैं।

टिप्पणी

व्यवस्था संबंधी धारणा कार्यक्रम बजट प्रक्रिया का आधार होती है। यह इस कल्पना को लेकर चलती है कि सरकार के सभी तत्व अंतर्ग्रथित होते हैं, जिससे एक नीति के एक पक्ष में परिवर्तन के शेष सभी आयामों पर प्रभाव पड़ता है।

विशेषताएं – कार्यक्रम बजट प्रक्रिया की विशेषताएं इस प्रकार हैं–

1. परम्परागत बजट के विपरीत कार्यक्रम बजट प्रक्रिया सरकार के मुख्य लक्ष्यों तथा प्राथमिकताओं से आरंभ होती है।
2. निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अनुकूल कार्यक्रमों का विकास किया जाता है।
3. निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए बजट में समूची लागत का ब्यौरा देना आवश्यक है, ताकि लागत लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उचित तथा प्रभावकारी साधन उपलब्ध हो। कार्यक्रमों में धन का आबंटन अनिवार्य है।
4. कार्यक्रम बजट प्रक्रिया में संगठनों का अधिक महत्व नहीं है।
5. परम्परागत बजट की सामान्य अवधि एक वर्ष मानी जाती है, जबकि कार्यक्रम बजट प्रक्रिया की अवधि एक वर्ष से आगे चली जाती है।
6. बजट बनाते समय कार्यक्रमों के दूरगामी एवं मध्यवर्ती परिणामों पर ध्यान देना आवश्यक है।
7. इस बजट में कार्यक्रमों के विकाल्पों का विश्लेषण किया जाता है, तथा सबसे अधिक प्रभावकारी और कुशल विकल्प का चयन किया जाता है।

कार्यक्रम बजट प्रक्रिया के दोष – अमेरिका ने इस प्रक्रिया को साठ के दशक में अपनाया गया परंतु वांछित परिणाम न मिलने के कारण सत्तर के दशक में छोड़ दिया। अमेरिका ने ऐसा इस प्रक्रिया के दोषों के कारण किया जिनका उल्लेख यहां प्रस्तुत है।

1. कार्यक्रम बजट प्रक्रिया बहुत महंगी है तथा इसमें प्रयास और समय की ज्यादा जरूरत होती है।
2. कभी–कभी कार्यक्रमों से होने वाले लाभों का संख्यात्मक मापन संभव नहीं होता।
3. यह बजट प्रक्रिया सरकारी पदसोपान में उच्च स्तर पर निर्णय लिए जाने को प्रोत्साहित करती है, जिससे केंद्रीकरण की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है।
4. विकल्पित नीतियों के कारण संबंधित विभाग अथवा अभिकरण की सार्थकता कम हो जाती है।

उक्त दोषों के बावजूद कुछ संगठनों में कार्यक्रम बजट प्रक्रिया की कुछ तकनीकें अब भी पाई जाती हैं। यदि संगठन में कुशल कर्मचारी हों, तो इसकी तकनीकें बजट के नये प्रस्तावों और सुझावों के मूल्याकंन के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं।

4.3.2 भारत में बजट प्रक्रिया

टिप्पणी

भारत की बजट संबंधी प्रक्रिया का विवेचन करते समय यह उल्लेख आवश्यक है कि भारत एक संघीय राज्य है। इसका देश के लिए एक बजट न हो कर अनेक बजट होते हैं। पूरे देश के लिए केंद्र सरकार एक बजट बनाती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक राज्य अपने–अपने अलग बजट बनाते हैं। संघीय स्तर पर दो बजट होते हैं – सामान्य बजट और रेल बजट। रेल बजट को सन् 1921 में सामान्य बजट से अलग कर दिया गया।

देश में बजट का निर्माण करने का उत्तरदायित्व वित्त मंत्रालय को सौंपा गया है। वित्तमंत्री को, जो मंत्रिपरिषद में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है, राष्ट्र के कोष का संरक्षक तथा देश की वित्तीय नीति का कर्णधार माना जाता है। वह लोक वित्त के उचित प्रयोग के प्रति उत्तरदायी होता है।

बजट के निर्माण की प्रक्रिया के पांच चरण होते हैं – 1. तैयारी, 2. विधायिका की स्वीकृति, 3. बजट का क्रियान्वयन, 4. वित्तीय कोषों का लेखांकन, 5. लेखा परीक्षा।

भारत में बजट की तैयारी वित्तीय वर्ष 1 अप्रैल से प्रारंभ हो जाती है और 31 मार्च को को बजट पेश कर दिया जाता है। बजट का आकलन करने का कार्य आगामी वित्तीय वर्ष के आरंभ होने के 7–8 माह पूर्व प्रारंभ हो जाता है। बजट की रूपरेखा तैयार करने का सारा उत्तरदायित्व वित्त मंत्रालय का होता है, किंतु इस कार्य में प्रशासकीय मंत्रालय, योजना आयोग तथा नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक का सहयोग भी रहता है। वित्त मंत्रालय को प्रशासकीय मंत्रालय और उसके अधीनस्थ कार्यालयों से प्रशासकीय आवश्यकताओं की विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। योजना आयोग योजनाओं की प्राथमिकता के संबंध में मंत्रणा देता है और नियंत्रण एवं महालेखा परीक्षक प्राक्कलन तैयार करने हेतु लेखा कौशल उपलब्ध कराता है।

बजट के आकलन के कार्य का आरंभ वित्त मंत्रालय द्वारा जुलाई अथवा अगस्त से ही प्रारंभ कर दिया जाता है जब वह विभिन्न प्रशासकीय मंत्रालयों तथा विभागाध्यक्षों के छपे हुए निर्धारित प्रपत्रों को स्थानीय कार्यालयों को भेज देता है। प्रपत्र में निम्नलिखित सूचनाएं रहती हैं–

1. विनियोगों के शीर्ष तथा उपशीर्ष
2. गत वर्ष की वास्तविक आय तथा व्यय
3. वर्तमान वर्ष का स्वीकृत आकलन
4. वर्तमान वर्ष का संशोधित आकलन
5. आगामी वर्ष का बजट प्राक्कलन
6. घटा–बढ़ी का विस्तार।

स्थानीय कार्यालयों द्वारा तैयार कर ये प्रपत्र प्रशासकीय मंत्रालयों के संबंधित विभागों को भेज दिए जाते हैं। विभागों के अध्यक्ष आकलनों का सूक्ष्म निरीक्षण करते हैं और आवश्यतानुसार संशोधन करके अपने–अपने विभागों के लिए उन्हें समेकित करते हैं। इसके बाद प्रशासकीय मंत्रालय इन प्राक्कलनों को नवंबर के मध्य में वित्त मंत्रालय को प्रेषित कर देता है। प्रत्येक विभाग अपने प्राक्कलनों की एक प्रतिलिपि भारत के नियंत्रक महालेखा परीक्षक को प्रेषित कर देता है। इस कार्यालय में विभिन्न मदों की

जांच की जाती है। उसके पश्चात् नियंत्रक महालेखा परीक्षक अपनी टिप्पणियां वित्त मंत्रालय को भेज देता है।

टिप्पणी

वित्त मंत्रालय द्वारा बजट आकलनों का सूक्ष्म परीक्षण किया जाता है। यह परीक्षण मुख्यतः मितव्ययिता से संबंध रखता है, नीति से नहीं। व्ययों से संबंधित नीति को देखना मुख्य रूप से प्रशासकीय मंत्रालय का काम है। प्रशासकीय मंत्रालय द्वारा प्रेषित बजट आकलनों को मोटे तौर पर तीन भागों में बांटा जाता है –

(क) **स्थायी प्रचार** – इनमें स्थायी संस्थानों के वेतन, भत्ते तथा अन्य व्यय निहित होते हैं। इनसे संबंधित आकलन सूक्ष्म पुनरावलोकन हेतु वित्त मंत्रालय के बजट संभाग को भेजे जाते हैं।

(ख) **प्रचलित योजनाएं** – दूसरे विभाग में वे विषय रहते हैं जो वर्ष–प्रतिवर्ष निरंतर चलते रहते हैं। इन प्रचलित योजनाओं के प्राक्कलनों की जांच व्यय विभाग द्वारा की जाती है। इसमें यह देखा जाता है कि जारी योजनाओं में कहां तक प्रगति हुई है, उनके प्रति की गयी वचनबद्धताएं किस सीमा तक पूरी की गई हैं। यह परीक्षण अनवरत चलता रहता है।

(ग) **नवीन योजनाएं** – वित्त मंत्रालय द्वारा प्राक्कलनों की वास्तविक जांच इसी क्षेत्र में की जाती है। नवीन योजनाओं के मामले में संसाधन के आधार पर विभिन्न मदों की प्राथमिकता के प्रति विचार किया जाता है। इस विषय में योजना आयोग तथा वित्त मंत्रालय के आर्थिक विषयों के विभाग से भी परामर्श लिया जाता है।

उसके बाद वित्त मंत्रालय द्वारा बजट जांच प्रक्रिया की समीक्षा प्रारंभ हो जाती है। सरकारी नीतियों के संदर्भ में प्रशासकीय मंत्रालय अथवा विभागों द्वारा बजट आकलनों की जांच की जाती है, जबकि वित्त मंत्रालय के बजट विभाग की सूक्ष्म जांच का उद्देश्य व्यय में मितव्ययिता का पालन करना होता है। वित्त मंत्रालय सूक्ष्म जांच के समय पूंजीगत आकलन के लिए योजना आयोग से परामर्श भी करता है। बजट प्रस्तावों को अंतिम रूप देने के पूर्व उपलब्ध साधनों की सीमितता तथा प्रस्तावित बजट आकलनों के प्रति वित्त मंत्रालय द्वारा संबंधित विभाग से निम्नलिखित कतिपय प्रश्न पूछे जाते हैं–

1. क्या प्रस्तावित व्यय परिहार्य हैं ?
2. अब तक इस प्रकार के व्यय के अभाव में कार्य कैसे चल रहा था?
3. इस व्यय मद की आवश्यकता क्यों महसूस हुई?
4. अन्यत्र स्थानों पर इसके बिना काम कैसे चलता है?
5. प्रस्तावित व्यय पर कुल कितना खर्च आएगा और इसके लिए धन कहां से प्राप्त होगा?

इस प्रकार के प्रश्नों के द्वारा वित्त मंत्रालय नये व्यय मदों के विषय में स्वयं को आश्वस्त करने का यथासंभव प्रयास करता है। यदि व्यय मद पर वित्त मंत्रालय आश्वस्त नहीं होता, तो संबंधित विभाग का मंत्री उसे आश्वस्त करने का प्रयास करता है। अपने प्रयास में असफल रहने पर संबंधित विभाग का मंत्री प्रस्तावित योजना मद पर पूरे मंत्रिमंडल में विमर्श की मांग कर सकता है। मंत्रिमंडल द्वारा

टिप्पणी

जो भी निर्णय लिए जाते हैं, उन्हें सभी को मानना होता है। वित्त मंत्रालय की सूक्ष्म निरीक्षण की उपयोगिता बतलाते हुए सर हर्बर्ट कहते हैं, ''वित्त मंत्रालय को समीक्षा तथा प्रति परीक्षण करने की एक विशेष दक्षता प्राप्त होती है, जो लंबे अनुभव का परिणाम है, लेकिन इसमें समयानुसार परिवर्तन होते रहना आवश्यक है ताकि उसका दृष्टिकोण कुछ बुद्धिमान व्यक्ति जैसा बने।'' वित्त मंत्रालय से सूक्ष्म जांच का अधिकार दिए जाने के दो कारण होते हैं –

1. स्वंय व्यय करने वाला विभाग नहीं होने के कारण वित्त विभाग लोगों द्वारा चुकाई गई कर राशियों का अधिक विवेकपूर्ण उपयोग करने हेतु अधिक निष्पक्षता से काम लेता है।
2. वित्त मंत्रालय ही अन्य मंत्रालयों के लिए वित्तीय साधनों की व्यवस्था करता है। इसलिए उसे प्रत्येक मंत्रालय के व्यय के औचित्य की जांच का पूर्ण अधिकार होना चाहिए।

इन्हीं आधारों पर वित्त मंत्री और उसके मंत्रालय के महत्व को इंगित करते हुए ब्रिटेन की हाल्डेन समिति ने कहा था कि ''यदि वित्त मंत्री को जलाशय में पानी एकत्र करने तथा पानी के निश्चित स्तर को बनाए रखने के लिए उत्तरदायी ठहराया जाए, तो उसे पानी की निकासी पर नियंत्रण रखने का भी अधिकार होना चाहिए।''

इतना सब कुछ होते हुए भी वित्त मंत्रालय द्वारा बजट पूर्व का सूक्ष्म परीक्षण दोषपूर्ण माना जाता है। बड़ी योजनाओं के संदर्भ में सूक्ष्म निरीक्षण पर्याप्त नहीं होता, इसलिए बजट में इनके लिए एकमुश्त राशि रख दी जाती है, जो प्रस्तावित योजनाओं के लिए कम या ज्यादा हो सकती है। इसीलिए बजट प्रस्तुतीकरण के बाद भी ऐसी योजनाओं के पुनर्निरीक्षण की आवश्यकता पड़ती है।

दूसरे, बदले हुए परिप्रेक्ष्य में वित्त मंत्रालय का बड़े भाई जैसा व्यवहार अधिकांश मंत्रालयों के लिए सिर दर्द बन जाता है। हर प्रस्तावित व्यय पर असहमति व्यक्त करने के कारण वित्त मंत्रालय तथा अन्य प्रशासनिक मन्त्रालयों में असहयोग की स्थिति उत्पन्न होने का खतरा निरंतर बना रहता है।

तीसरे, कतिपय योजनाएं बहुत विलंब से वित्त मंत्रालयों के निरीक्षण के लिए प्रस्तुत की जाती हैं। परिणामस्वरूप बिना पूरी छानबीन के उन्हें राजनीतिक दबावों में आकर बजट में सम्मिलित कर लिया जाता है, जिससे पूरे बजट की तस्वीर बिगड़ने का खतरा उत्पन्न हो जाता है।

चौथे, वित्त मंत्रालय बड़ी–बड़ी योजनाओं के लिए सरलतापूर्वक स्वीकृति दे देता है जबकि छोटी–छोटी मदों का अनुमोदन करने में बहुत आनाकानी करता है। कई बार एक पैसे की बचत के लिए एक रुपया खर्च करने की स्थिति भी वित्त मंत्रालय द्वारा पैदा कर दी जाती है। वित्त मंत्रालय के ऐसे व्यवहार के कारण दूसरे मंत्रालयों में अपने बजट आकलनों को बढ़ा–चढ़ा कर प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। एपलबी ने इस ओर ध्यान आकर्षित करते हुए कहा है, ''सभी मंत्रालय यह जानते हैं कि वित्त मंत्रालय उनके द्वारा मांगी जाने वाली राशि में कमी कर देगा। इसलिए वे व्यय का आकलन प्रारंभ से ही बढ़ा–चढ़ा कर करते हैं। ऐसा करने के लिए उन्हें प्रोत्साहन भी दिया जाता है।''

टिप्पणी

इन खतरों के होते हुए भी वित्त मंत्रालय की बजट आकलनों की जांच से संबंधित भूमिका के महत्व को नकारा नहीं जा सकता। मंत्रिमंडल के समक्ष कोई मामला निर्णय के लिए जाए और वहां भी मतभेद की स्थिति पैदा हो, उसके निपटारे में वित्त मंत्रालय महती भूमिका का निर्वाह करता है।

आय का आकलन – जब व्यय के आकलनों का कार्य पूरा हो जाता है, तो सरकारी आय पर राजस्व का आकलन करने का कार्य प्रारंभ किया जाता है। बजट के व्ययों को पूरा करने के लिए साधन जुटाना भी वित्त मंत्रालय का कार्य है। कुछ कर स्थायी होते हैं और उनकी दरें उससे संबंधित कानूनों में ही निहित रहती हैं। परंतु अन्य कर, जैसे आयकर, सीमा शुल्क आदि, विधान मंडल द्वारा प्रतिवर्ष निर्धारित किए जाते हैं। वित्त मंत्रालय आयकर विभाग, सीमा शुल्क विभाग तथा केंद्रीय उत्पाद कर विभाग से पिछले वर्ष के दौरान संग्रह की गई सरकारी आय के आंकड़ों के आधार पर आगामी वित्तीय वर्ष के लिए संभावित सरकारी आय का आकलन करने को कहता है और इसके आधार पर नये कर लगाए जा सकते हैं, पुराने करों को समाप्त किया अथवा घटा या बढ़ाया जा सकता है।

वित्त मंत्रालय सभी विभागों की अभियाचिकाओं को एकत्र कर तथा वित्तीय नीति संबंधी मामलों में संपूर्ण मंत्रिपरिषद में निर्णय लेकर आय–व्यय का प्रलेख अथवा दस्तावेज तैयार करता है। इसे ही बजट कहते हैं। बजट के दो भाग होते हैं – आय संबंधी और व्यय संबंधी। वित्त मंत्रालय संसद में प्रस्तुत करने के लिए दो विवरण पत्र तैयार करता है – आर्थिक विवरण पत्र और अनुदानों की मांगों से संबंधित विवरण पत्र।

संसद की स्वीकृति : सभी लोकतांत्रिक देशों में कार्यपालिका द्वारा तैयार किए जाने के पश्चात बजट पर विचार और उसके अनुमोदन के लिए उसे संसद में प्रस्तुत किया जाता है। संसद में बजट प्रस्तुत करने का उत्तरदायित्व कार्यपालिका और मंत्रिमंडल का होता है। भारत में सामान्य बजट वित्त मंत्री द्वारा और रेल बजट रेल मंत्री द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। यहां यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि सामान्य विधेयक तथा वित्त विधेयक में आधारभूत अंतर होता है। सामान्य विधेयक में सरकार के लिए कुछ कार्यक्रम प्रस्तावित होते हैं, जबकि वित्त विधेयक में ऐसे कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए सरकार को धनराशि कम करने का अधिकार दिया जाता है। इस कारण भारतीय संविधान के अनुच्छेद 112 से 117 तक वित्त विधेयक के विषय में निम्नलिखित प्रावधान किए गए हैं–

(क) बजट अनुदानों से संबंधित प्रत्येक मांग मुख्य कार्यपालिका अध्यक्ष (राष्ट्रपति) की अनुशंसा पर ही की जाए।

(ख) कोई भी व्यय प्रस्ताव राष्ट्रपति की संस्तुति के बिना संसद के समक्ष नहीं रखा जा सकता।

(ग) संसद को किसी कर में कमी करने या उसे समाप्त करने का अधिकार तो है, किंतु वह नया कर लगाने या कर की दर में वृद्धि करने का अधिकार नहीं रखती।

(घ) भारत की संचित निधि में संबंधित व्यय पर संसद में बहस हो सकती है, किंतु उस पर मतदान नहीं किया जा सकता।

(ङ) विनियोजन विधेयक में संसद की ओर से कोई ऐसा संशोधन नहीं किया जा सकता, जिसमें किसी अनुदान के उद्देश्य या किसी प्रभारित व्यय राशि में परिवर्तन हो जाए।

टिप्पणी

(च) वित्त विधेयक के प्रति लोक सभा के अधिकार राज्य सभा की अपेक्षा बहुत अधिक हैं। अनुदान मांगों के लिए मत देने का अधिकार केवल लोक सभा को ही प्राप्त है। वित्त विधेयक पर लोक सभा की स्वीकृति मिलने के पश्चात् 14 दिनों के भीतर राज्य सभा द्वारा पारित कर अपनी संस्तुतियों के साथ लोक सभा को लौटा देना होता है। लोक सभा यदि उचित समझे तो राज्य सभा के किसी सुझाव पर पुनः विचार कर सकती है अथवा वित्त विधेयक को अपने मूल रूप में पारित कर सकती है जिसे संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित मान लिया जाता है। यदि राज्य सभा 14 दिनों के अंदर–अंदर वित्त विधेयक को नहीं लौटाती है तो उस स्थिति में भी संविधान के अनुच्छेद 109 के अनुसार उसे दोनों सदनों द्वारा पारित मान लिया जाता है।

यहां यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि संविधान के अनुच्छेद 10 के अंतर्गत लोक सभा के अध्यक्ष को इस बात का निर्णय करने का अधिकार है कि कोई विधेयक वित्त विधेयक है या नहीं।

बजट पर सामान्य चर्चा–लोक सभा के कार्य संचालन नियम संख्या 201(1)(2) में बजट प्रस्तुतीकरण के कुछ दिन पश्चात् सामान्य चर्चा का दिशा–निर्देश करते हुए कहा गया है कि सदन को इस बात की अनुमति होगी कि वह संपूर्ण बजट अथवा उसमें प्रस्तावित सिद्धांत के किसी प्रश्न पर चर्चा कर सके, परंतु उस समय न तो कोई प्रस्ताव प्रस्तुत किया जा सकेगा न ही सदन में बजट पर मतदान ही किया जा सकेगा। इस आम चर्चा के दौरान व्यय के किसी भी मद को चर्चा से बाहर नहीं रखा जा सकता। इसमें प्रत्येक मुद्दे पर प्रशासनिक नीतियों की संक्षिप्त आलोचना तथा टीका–टिप्पणी की जा सकती है। सामान्य स्थिति में बजट पर सामान्य चर्चा एक सप्ताह के अंदर समाप्त हो जाती है तथा अंतिम दिन वित्त मंत्री चर्चा से संबंधित एक संक्षिप्त उत्तर भी देता है।

अनुदान मांगों पर ब्यौरेवार चर्चा तथा मतदान–बजट के तीसरे चरण में अलग–अलग मंत्रालयों के लिए क्रमवार अनुदान मांगें एक प्रस्ताव के रूप में लोकसभा में प्रस्तुत की जाती हैं।

यदि किसी अनुदान राशि को अलग–अलग मंत्रालयों में बांटना संभव न हो, तो उस स्थिति में इस प्रकार की अनुदान मांगों का प्रस्ताव अलग–अलग मंत्रालयों के लिए अलग–अलग रूप से किया जाना चाहिए। लोक सभा कार्यवाही नियम 131 के अंतर्गत प्रत्येक अनुदान मांग को समग्र रूप में तथा ब्यौरे के रूप में बार–बार प्रस्तुत किया जाना चाहिए। भारत सरकार के आम बजट में 109 अनुदान मांगें होती हैं, जिनमें से 103 मांगें लोक–व्यय से तथा 6 मांगें सुरक्षा व्यय से संबंधित होती हैं।

विभिन्न मांगों पर चर्चा तथा मतदान – संसदीय कार्यवाही नियम 132 तथा 133 के अंतर्गत लोकसभा का अध्यक्ष सदन के नेता के विमर्श के पश्चात् एक निश्चित अवधि निर्धारित करता है, जिसके दौरान अनुदान मांगों पर चर्चा होती है। चर्चा का इस दौरान पूरा होना आवश्यक है। सामान्यतः यह अवधि 1 माह से अधिक नहीं होती। अनुदान

टिप्पणी

मांगों पर चर्चा के समय विपक्षी सदस्यों द्वारा बजट की तीखी आलोचना की जाती है तथा अनेक प्रकार के कटौती प्रस्ताव सदन के समक्ष प्रस्तुत किए जाते हैं। ये कटौती प्रस्ताव तीन प्रकार के होते हैं –

1. **नीति संबंधी कटौती प्रस्ताव** – इसका उद्देश्य प्रस्तावित व्यय में अंतर्निहित नीति का विरोध करना होता है। इसमें यह मांग की जाती है कि ''मांग की धनराशि घटाकर एक रुपया कर दी जानी चाहिए।'' इस अवधि में प्रशासन की कमियों को उजागर करते हुए सरकार की तीखी आलोचना की जाती है।
2. **मितव्ययिता संबंधी कटौती प्रस्ताव** – सरकारी व्यय में होने वाले अपव्यय की ओर सदन का ध्यान आकर्षित करने के उद्देश्य से सदन का कोई सदस्य मांग कर सकता है कि ''अनुदान मांग की राशि में से विशिष्ट धनराशि कम कर दी जानी चाहिए।''
3. **प्रतीकात्मक कटौती प्रस्ताव** – संसदीय नियम 209 के अंतर्गत कोई भी सदस्य सरकार के किसी विशेष कार्य के प्रति शिकायत करते हुए यह प्रस्ताव ला सकता है कि संबंधित अनुदान मांग की धनराशि में 100 रुपये की कटौती की जानी चाहिए। यह प्रस्ताव प्रतीकात्मक ही होता है जिसका उद्देश्य सरकार का ध्यान किसी विशेष समस्या की ओर आकर्षित करना होता है।

इस प्रकार के कटौती प्रस्ताव संसदीय औपचारिकता का मात्र एक प्रतीक बनकर रह जाते हैं, क्योंकि संसद किसी अनुदान मांग में वृद्धि करने का अधिकार नहीं रखती। इसके अतिरिक्त संसदीय प्रणाली में सरकार अपने दल के बहुमत के आधार पर प्रस्तावित अनुदान मांगों को पारित करवा लेती है। हमारी संसदीय प्रणाली में प्रायः प्रतीकात्मक कटौती प्रस्ताव ही लाए जाते हैं तथा अध्यक्ष द्वारा इन पर बहस की अनुमति देने के पश्चात् वाद–विवाद होता है। इन प्रस्तावों का व्यावहारिक महत्व यही है कि विरोधियों को सरकार की आलोचना करने का अवसर मिल जाता है।

मतदान प्रक्रिया – भारतीय संसद में 26 दिनों के भीतर अनुदान मांगों को पारित करने की परम्परा है। अध्यक्ष द्वारा किसी अनुदान मांग पर बहस के लिए निर्धारित समय के अंतिम दिन 5 बजे सायं मतदान का कार्य आरंभ हो जाता है। सभी विभागों की अनुदान मांगें इस प्रक्रिया से गुजरती हैं। किंतु पूरी बहस के लिए निर्धारित दिनों के अंतिम दिन शेष बची सभी मागों पर भी मतदान हो जाता है, चाहे उन पर ब्यौरेवार बहस हुई हो या नहीं। इस प्रकार अंतिम दिन करोड़ों रुपयों की अनुदान मांगें बिना बहस के ही पारित कर दी जाती हैं। यह दोष भारतीय वित्तीय प्रशासन व्यवस्था में ही नहीं अपितु ब्रिटिश व्यवस्था में भी पाया जाता है। हिल्टन यंग ने इस प्रक्रिया के दोषपूर्ण रूप की ओर संकेत करते हुए कहा था कि वर्ष के कुल व्यय के एक तिहाई से आधे भाग पर किसी आलोचना अथवा वाद–विवाद के बिना घंटे भर में मतदान हो जाता है। इससे अधिक असंतोषजनक स्थिति की कल्पना कदाचित ही की जा सकती है। इससे सदन द्वारा व्यय पर नियंत्रण करने संबंधी श्रम साध्य प्रक्रिया एक ढोंग प्रतीत होती है।''

लेखानुदान : भारतीय संविधान के अनुच्छेद 116 (1) के अनुसार संसद बजट प्रक्रिया के पूर्ण होने के पूर्व ही वित्तीय वर्ष के प्रथम दो माह के लिए कार्यपालिका को अग्रिम अनुदान का अनुमोदन कर व्यय की अनुमति दे सकती है। इस परिपाटी के कारण अब

टिप्पणी

अनुदान मांगों पर 1 अप्रैल के पश्चात् भी बहस जारी रखी जाती है। इस प्रकार इस पद्धति को अपनाए जाने से संसद को बजट संबंधी प्रस्तावों पर अधिक व्यापक बहस करने का अवसर मिलता है, जिससे प्रशासकीय कमियों को उजागर कर कार्यपालिका को अधिक सचेष्ट किया जा सकता है।

विनियोग विधेयक : अनुदान मांगों पर संसद में मतदान हो जाने का अर्थ यह नहीं होता कि सरकार को सार्वजनिक कोष से पैसा निकालने का अधिकार मिल गया। संविधान की धारा 110(1)(डी) में कहा गया है कि ''भारत संचित निधि में से कोई भी धनराशि विधि द्वारा विनियोजन के बिना निकाली नहीं जा सकती।'' जब सभी अनुदान मांगों पर मतदान हो जाता है, तो उन्हें संचित निधि सहित विनियोजन अधिनियम में एकीकृत कर लिया जाता है और इस प्रकार धन के व्यय के अधिकार के लिए विनियोजन विधेयक पारित करवाया जाता है।

इस विधेयक में मतदान से पारित अनुदान मांगों तथा बिना मतदान के पास अनुदान मांगों को सम्मिलित किया जाता है। इसे पारित करते समय भी उन सार्वजनिक महत्व के मुद्दों पर बहस होती है, जो अर्थ व्यवस्था की कार्य प्रणाली को प्रभावित करते हैं। इस अवसर पर भी संशोधनों का प्रस्ताव प्रस्तुत किया जा सकता है, यदि उन मुद्दों के कारण किसी धनराशि की मात्रा अथवा दिशा में परिवर्तन न होता हो अथवा वे संचित निधि में रखी किसी धनराशि को प्रभावित न करते हों।

धन विधेयक : बजट के दो भाग होते हैं– व्यय तथा आय। विनियोजन विधेयक पारित होने पर सरकार को राजकोष से धनराशि व्यय करने का अधिकार मिल जाता है। इस व्यय की पूर्ति के लिए कर के प्रस्ताव कर के प्रस्ताव किए जाते हैं। इस प्रकार संसद के समक्ष सरकार द्वारा प्रस्तुत वित्त विधेयक में नये कर अथवा वर्तमान करों की दरों में संयोजन संबंधी प्रस्ताव होते हैं। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 265 में कहा गया है कि ''कानूनी सत्ता के बिना न तो कोई कर लगाया जा सकता है और न ही वसूल किया जा सकता है।''

वित्त विधेयक में पूर्व प्रचलित तथा नये दोनों प्रकार के कर प्रस्ताव प्रस्तुत किए जाते हैं। आयकर, उत्पादन शुल्क आदि कुछ स्थायी कर होते हैं, जिनकी दरों में सरकार आवश्यकतानुसार प्रत्येक वित्त वर्ष के दौरान परिवर्तन का प्रस्ताव करती है। संघीय वित्त व्यवस्था के अंतर्गत केंद्र सरकार को जिन करों को लगाने या उनकी दरों में परिवर्तन करने का अधिकार है, उन्हीं को वित्त विधेयक में स्थान दिया जाता है। कर प्रस्तावों को प्रस्तुत करते समय कार्यपालिका को इस बात का ध्यान रखना होता है कि अनेक अनुत्पादक करों की अपेक्षा कुछ प्रमुख उत्पादक करों को ही वित्त विधेयक में स्थान दिया जाए।

इसके अतिरिक्त यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि विनियोजन विधेयक तथा वित्त विधेयक में कुछ मौलिक अंतर होता है। विनियोजन विधेयक में प्रायः कोई परिवर्तन नहीं किया जाता जबकि वित्त विधेयक में बहस के दौरान सदस्यों द्वारा करों की दरों में परिवर्तन करने के लिए संशोधन किए जाते हैं, किंतु ये संशोधन कर बढ़ाने के लिए नहीं किए जाते। सदन की भावना को ध्यान में रखते हुए सरकार कभी–कभी कर कटौती प्रस्तावों को स्वीकार भी कर लेती है। सदस्यों की आक्रोशपूर्ण आलोचनाओं के परिप्रेक्ष्य में भारत सरकार कई बार आयकर, डाक शुल्क दर या कतिपय उपभोक्ता वस्तुओं पर

टिप्पणी

लगाए गए उत्पाद शुल्क में कमी करने को तैयार हो जाती है। लोकमत के दबाव के कारण रेलवे बजट में भी यात्री भाड़े या माल भाड़े की दरों को घटाने संबंधी संशोधन सरकार द्वारा स्वीकार किए जाने के अनेक उदाहरण भारतीय संसद के इतिहास में देखे जा सकते हैं।

वित्त विधेयक पर चर्चा तथा उसे पारित करना : सदन में वित्त मंत्री यह प्रस्ताव रखता है कि वित्त विधेयक को विचारार्थ लिया जाना चाहिए। वित्त मंत्री के इस प्रस्ताव के साथ उस पर चर्चा शुरू होती है। इसके पश्चात विधेयक सदन की प्रवर समिति को सौंप दिया जाता है। विधेयक पर समीक्षात्मक टिप्पणियों तथा सुझाव के साथ समिति उसे वापस लौटा देती है। तत्पश्चात सदन में बहस होती है और इसी समय सदस्यों द्वारा कटौती प्रस्ताव भी प्रस्तुत किए जाते हैं। बहस की समाप्ति वित्तमंत्री के प्रत्युत्तर के साथ होती है जिसमें सदन के रुख को ध्यान में रखते हुए वित्तमंत्री यथासंभव कर प्रस्तावों में कटौती की घोषणा भी कर सकता है। इसके पश्चात वित्त विधेयक को पारित करने वाला एक प्रस्ताव सदन में प्रस्तुत किया जाता है। क्योंकि सरकार बहुमत वाले दल की होती है, इसलिए वित्त विधेयक को पारित करवाने में सरकार को कोई असुविधा नहीं होती है। लोकसभा में वित्त विधेयक पारित हो जाने पर उसे राज्यसभा के पास भेज दिया जाता है, जो 14 दिन के भीतर उसे लौटाने को बाध्य होती है। विनियोजन विधेयक की भांति वित्त विधेयक के प्रति भी राज्यसभा की शक्तियां सीमित हैं। जब दोनों सदन वित्त विधेयक को पारित कर देते हैं, तो उसे राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के लिए भेज दिया जाता है। इस प्रकार राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के बाद विधेयक कानून बन जाता है तथा सरकार को कर वसूल करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

राष्ट्रपति का विशेषाधिकार

जब विधेयक राष्ट्रपति के पास जाता है, तो राष्ट्रपति उस पर हस्ताक्षर कर उसे लौटा देता है, या पुनः अपनी संस्तुतियों के साथ 5 या 10 दिन के भीतर उसे लोकसभा को लौटाना होता है। यदि संस्तुतियों के साथ विधेयक वापस होता है, तो लोकसभा को इस पर पुनर्विचार करना ही होता है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि लोकसभा राष्ट्रपति के सुझावों को स्वीकार करे। लोकसभा मूल रूप में ही विधेयक को पारित करके राष्ट्रपति को पुनः हस्ताक्षर के लिए भेज देती है। निर्धारित अवधि में यदि राष्ट्रपति हस्ताक्षर नहीं करे, तो उस स्थिति में भी वित्त विधेयक स्वतः कानून बन जाता है।

लोकतंत्रीय व्यवस्था में राष्ट्राध्यक्ष का यह विशेषाधिकार एक सैद्धांतिक महत्व का विषय है। व्यवहार में राष्ट्रपति अपने अधिकार का प्रयोग शायद ही कभी करता है, क्योंकि वित्तीय विषयों की महती जिम्मेदारी मंत्रिमंडल की होती है। इस प्रकार की समस्त प्रक्रिया पूरी होने के बाद बजट एक कानूनी दस्तावेज बन जाता है तथा उसे लागू करने की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है।

बजट का क्रियान्वयन

बजट के क्रियान्वयन के प्रारंभिक चरण के रूप में सभी मंत्रालय अपने निर्धारित कार्य संपन्न करते हैं। वे बजट के अनुरूप कर एकत्रित करते हैं तथा बजट के अनुरूप ही व्यय करना शुरू करते हैं। वित्त मंत्रालय सभी मंत्रालयों के वित्तीय पर्यवेक्षण का कार्य

टिप्पणी

करता है। बजट बनने के पूर्व एवं पश्चात् दोनों ही स्थितियों में वित्त मंत्रालय की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। संसद अन्य मंत्रालयों के लिए धन आबंटन का अनुमोदन नहीं करती, वह तो प्राविधिक दृष्टि से राष्ट्रपति को संपूर्ण राशि का अनुमोदन करती है। वित्त मंत्रालय राष्ट्रपति की शक्तियों का प्रयोग करके राष्ट्रपति के लिए नियंत्रण का कार्य करता है।

शासन की आर्थिक नीति तथा वित्तीय कार्यक्रमों को निर्धारित करने का कार्य वित्त मंत्रालय ही करता है। कर की वसूली तथा उस पर निगरानी वित्त मंत्रालय का ही कार्य है। बजट के निर्धारण के बाद विभिन्न विभागों एवं मंत्रालयों को धन के आबंटन का कार्य भी वही करता है। इस प्रकार वित्त मंत्रालय वित्तीय मामलों का निपटारा करता है। वह शासन के व्यय पर भी अंकुश रखता है। किसी भी मंत्रालय को यदि व्यय करना होता है, तो उसे इसके लिए वित्त मंत्रालय की अनुमति लेनी पड़ती है। वित्त मंत्रालय इस पर ध्यान रखता है कि किसी विभाग को उतनी ही राशि आबंटित की जाए, जितनी वह एक वित्तीय वर्ष में व्यय कर सके। तात्पर्य यह कि वित्तीय मामलों पर वित्त मंत्रालय का एकाधिकार होता है। इस प्रकार बजट का क्रियान्वयन होता है।

4.3.3 निष्पादन बजट

कार्यक्रम निष्पादन बजट नवीन लोक प्रशासन की एक मुख्य अवधारणा है। कार्य निष्पादन बजट की यह धारणा वित्तीय प्रशासन के क्षेत्र में एक नवीन प्रयोग है। वर्तमान परम्परागत बजट, जिसे 'लाइन आइटम बजट' भी कहते हैं, आंकड़ों का विस्तृत जाल मात्र बनकर रह गया है। परम्परागत बजट से इस बात का पता नहीं चल पाता कि लोकहित के लिए कौन सी सेवाएं कितने भागों में की गई हैं तथा उनके क्या परिणाम सामने आए हैं? परम्परागत बजट कर्मचारी, भवन, फर्नीचर, स्टेशनरी आदि व्यय की विभिन्न मदों को ध्यान में रखकर बनाया जाता है जबकि कार्य निष्पादन बजट विशिष्ट उद्देश्यों और कार्यों की मदों को ध्यान में रखकर बनाया जाता है।

कार्य निष्पादन बजट का अर्थ – प्रशासनिक सुधार आयोग के अनुसार ''कार्य निष्पादन बजट सरकार की गतिविधियों को कार्यों, कार्यक्रमों तथा परियोजनाओं के रूप में प्रस्तुत करने की एक प्रविधि है।

जेसी बर्कहेड के मतानुसार ''कार्य निष्पादन बजट वह बजट है, जो उन उद्देश्यों और लक्ष्यों को पेश करता है जिनके लिए धनराशि की मांग की जा रही हो।'' संक्षेप में कार्य निष्पादन बजट उस प्रक्रिया द्योतक है, जिसके अंतर्गत बजट के माध्यम से सरकार के कार्यक्रमों और कार्यों का निष्पादन किया जाता है। इस बजट का संबंध निर्धारित उद्देश्यों से होता है न कि विभिन्न कार्यों पर किए जाने वाले व्यय से।

कार्य निष्पादन बजट विभिन्न कार्यों से संबंधित कार्यक्रमों के लिए तैयार किया जाता है, जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य आदि। हर कार्यक्रम को अलग–अलग वर्गों में विभाजित कर दिया जाता है, जैसे शिक्षा का उच्च शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा एवं प्राथमिक शिक्षा के तीन वर्गों में विभाजन। इसके बाद प्रत्येक कार्यक्रम का क्रियान्वयन किया जाता है।

टिप्पणी

कार्य निष्पादन बजट की पृष्ठभूमि

कार्य निष्पादन बजट का आरंभ अमेरिका में हुआ। इस शब्दावली का सब से पहले प्रयोग 1949 में अमेरिका के हूवर आयोग ने किया। आयोग की मान्यता थी कि किसी भी बजट को कार्यों, क्रियाओं एवं परियोजनाओं की रूपरेखा के रूप में होना चाहिए, ताकि यह मालूम हो कि कौन से कार्य संपादित किए जाने हैं और किस प्रकार की सेवाएं प्रदान की जा रही हैं।

भारत में 1955 के आसपास इस बजट की चर्चा हुई। सन् 1960 में लोकसभा की आकलन समिति ने इसकी सिफारिश की। प्रशासनिक सुधार आयोग ने 1968 में वित्तीय प्रशासन पर अपनी जो रिपोर्ट प्रस्तुत की, उसमें निष्पादन बजट को अपनाने का सुझाव दिया। भारत सरकार ने यह सिफारिश मान ली और पहली बार केन्द्र सरकार के चार मंत्रालयों के कार्यों के निष्पादन बजट प्रस्तुत किए गए। वर्ष 1984–85 में 29 कार्य निष्पादन बजट प्रस्तुत किए गए। बाद के दिनों में इनकी संख्या में वृद्धि हुई। यहां यह उल्लेखनीय है कि भारत में इस बजट को अपना तो लिया गया, परंतु इससे जिन लाभों की अपेक्षा थी, वे प्राप्त नहीं हुए, क्योंकि निष्पादन बजट जिस अनुशासन की अपेक्षा करता था, भारत में उसका सर्वथा अभाव रहा।

वर्ष 1969 में भारतीय प्रशासनिक सुधार आयोग ने इसके कतिपय उद्देश्य बताए जो इस प्रकार हैं–

1. जिन उद्देश्यों और लक्ष्यों के लिए धन की मांग की जा रही हो, उन्हें अधिक सुस्पष्ट रूप में प्रस्तुत करना चाहिए।
2. कार्यक्रमों और उपलब्धियों को द्वितीय सामग्री के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए।
3. लोक कल्याणकारी बजट बनाने के लिए सरकार के सभी स्तरों पर निर्णय लेने की प्रक्रिया को सरल बनाना चाहिए।
4. उपलब्धियों के लेखा परीक्षण को अधिकाधिक उपयोगी और प्रभावशाली बनाना चाहिए।

कार्य निष्पादन बजट के चरण

निष्पादन बजट को किसी भी स्तर अर्थात शाखा, विभाग तथा राष्ट्रीय स्तर पर लागू किया जा सकता है। इसके लिए इसे निम्नलिखित चरणों से गुजरना होगा–

1. **लक्ष्य** – कार्यक्रम के लक्ष्यों हर दृष्टि से स्पष्ट होना चाहिए और उन्हें सरकार के दीर्घकालीन लक्ष्यों के संदर्भ में पेश किया जाना चाहिए।
2. **विश्लेशण** – विश्लेषण का तात्पर्य यह है कि लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए दीर्घकालीन रणनीतियों और अल्पकालीन रणकौशल दोनों पर विचार किया जाए। कार्यक्रम के विभिन्न विकल्पों की पहचान की जाए और उनके लाभ तथा उन पर आने वाले व्यय का आकलन किया जाए। साथ ही कार्यक्रमों का चयन किया जाए।
3. **बजट वर्गीकरण** – जिन कार्यक्रमों को लागू करना हो, उनका वर्गीकरण किया जाए ताकि संबद्ध कार्यक्रमों के लिए संसाधनों का बटवारा करने में सुविधा हो।

टिप्पणी

4. **संगठन** – निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न संगठनों की भूमिका सुनिश्चित की जानी चाहिए।
5. **मूल्यांकन** – कार्यक्रमों के मूल्यांकन के लिए मापदंड विकसित किए जाने चाहिए। किसी कार्यक्रम को लागू किए जाने के समय उस पर नियंत्रण रखने हेतु उससे संबद्ध वित्तीय, भौतिक तथा आर्थिक आंकड़ों की सूचना और रिपोर्टिंग की व्यवस्था की जानी चाहिए, तथा उसके पूरा हो जाने पर उसका मूल्यांकन होना चाहिए।

कार्य निष्पादन बजट के गुण – निष्पादन बजट के गुण इस प्रकार हैं–

1. यह अपने उद्देश्यों और लक्ष्यों को पूर्णतया स्पष्ट रखता है।
2. इससे विधानमंडल को बजट के पुनरावलोकन में मदद मिलती है।
3. यह प्रशासन में उत्तरदायित्व सुनिश्चित करता है।
4. यह सरकारी आय–व्यय के विकल्पों को प्रस्तुत करता है तथा लेखा परीक्षण को प्रभावी बनाता है।
5. इसमें संगठनात्मक अनुशासन एवं कार्यक्रमों के प्रति वचनबद्धता पाई जाती है।

कार्य निष्पादन बजट के दोष – बजट के इस रूप के कुछ दोष भी हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है–

1. कार्य निष्पादन बजट में कार्यात्मक वर्गीकरण पर विशेष जोर दिया जाता है, लेकिन कभी–कभी राजनीति से उपजी कुछ विशेष परिस्थितियां इसमें बाधा डालती हैं।
2. इसमें अधिक महत्व के कार्यक्रम व प्रबंधकीय विचार पीछे रह जाते हैं। साथ ही, इससे अत्यधिक विकेंद्रीकरण तथा संरचना के सरलीकरण की प्रवृत्ति में वृद्धि होती है।
3. कभी–कभी वर्गीकरण इतना विस्तृत हो जाता है कि उपक्रमों के महत्वपूर्ण कार्यक्रम अछूते रह जाते हैं।

कार्य निष्पादन बजट और कार्यक्रम बजट में अंतर

पहले दोनों को लगभग समान माना जाता था, परंतु दोनों में कुछ अंतर हैं, जो इस प्रकार हैं–

1. निष्पादन बजट संगठन के कार्यों पर बल देता है जबकि उत्पाद बजट विश्लेषण पर बल देता है।
2. निष्पादन बजट प्रबंध के आंतरिक कार्यों को सक्षम बनाने के लिए नई तकनीकों का प्रयोग करता है। इसके विपरीत कार्यक्रम बजट पद्धति विश्लेषण में विश्वास करता है।
3. निष्पादन बजट इस बात पर ज्यादा ध्यान देता है कि अमुक इकाई पर कितना व्यय होना चाहिए जबकि कार्यक्रम बजट का ध्यान इस पर होता है कि विभिन्न कार्यक्रमों में धनराशि का किस प्रकार वितरण किया जाए।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

3. संयुक्त राज्य अमेरिका में वित्तीय वर्ष का समय कौन सा है?

   (क) 1 जनवरी से 31 दिसंबर (ख) 1 अप्रैल से 31 मार्च

   (ग) 1 जुलाई से 30 जून (घ) 1 अग्रस्त से 31 जुलाई

4. कार्यक्रम बजट प्रक्रिया को सर्वप्रथम संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा किस दशक में अपनाया गया?

   (क) सन् 1950 (ख) सन् 1960

   (ग) सन् 1970 (घ) सन् 1980

5. भारत में वर्ष 1984–85 में कितने कार्य निष्पादन बजट प्रस्तुत किए गए?

   (क) 22 (ख) 24

   (ग) 26 (घ) 29

4.4 वित्त मंत्रालय

वित्त मंत्रालय सरकार का वित्तीय प्रशासन देखता है। यह उन सभी वित्तीय मामलों से संबंद्ध है, जिनका प्रभाव समूचे देश पर पड़ता है। इसमें विकास और अन्य कार्यों के लिए संसाधन जुटाना भी शामिल है। यह सरकार के व्यय का नियमन करता है, जिसमें राज्यों को हस्तांतरित किए जाने वाले संसाधन भी शामिल हैं। वित्त मंत्रालय का प्रादुर्भाव 1810 में वित्त विभाग के रूप में हुआ था। विभाग का मुख्य दायित्व भारत सरकार के राजस्व संबंधी मामलों के प्रशासन को संचालित करना था। इसका अध्यक्ष अलग से सचिव स्तर पर नियुक्त किया गया। कंपनी के शासनकाल में विभागों में परिवर्तन होते रहते थे। सन् 1830 में वित्त विभाग की समस्त जिम्मेंदारियां सामान्य विभाग के सचिव के हाथों में सौंप दी गईं। आगे चलकर वर्ष 1843 में वित्त विभाग के लिए अलग से एक आजाद वित्त सचिव की नियुक्ति की गई। इसी वर्ष सचिवालय को, वित्त विभाग सहित चार विभागों में संठित किया गया। आगे चलकर राजस्व शाखा, जो वित्त विभाग के अधीन थी, गृह विभाग में विलीन कर दी गई। सन् 1860 में भारत सरकार ने एक नई योजना के अंतर्गत वाणिज्य से संबंधित सभी मामले वित्त विभाग को सौंप दिये। अब इसका नाम वित्त एवं वाणिज्य विभाग कर दिया गया। 1905 में पुनः परिवर्तनों के अंतर्गत वित्त विभाग से वाणिज्य संबंधी अधिकार छीन लिये गए और उन्हें नवनिर्मित वाणिज्य और उद्योग विभाग को सौंप दिया गया। इस प्रकार यह विभाग वित्त विभाग के नाम से जाना जाने लगा। मॉर्ले –मिन्टों सुधारों के अंतर्गत जब कुछ निश्चित वित्तीय विषय प्रांतीय सरकारों को दिये गए तो वित्त विभाग का पुनगर्ठन आवश्यक हो गया। इस पुनर्गठन के फलस्वरूप वित्त विभाग में सात शाखाएं थीं। सामान्य वित्त, राजस्व, मुद्रा एंव बैंकिंग, वेतन और भत्ते, नागरीय खाते, सेना संबंधी वित्त और सेना से जुड़े खाते। आगे चलकर 1919 के अधिनियम के जरिये केंद्रीय विधान मंडल को वित्त

टिप्पणी

प्रशासन पर नियंत्रण रखने के कुछ सीमित अधिकार दिये गए। राज्य सचिव की सहायता के लिए भारतीय कार्यालय में दो सचिवों का इंतजाम किया गया। सन् 1935 के अधिनियम ने भी वित्तीय विषयों में सहायता के लिए वार्षिक वित्तीय समिति की नियुक्ति की। द्वितीय महायुद्ध के बाद भारतीय कार्यालय का वित्तीय मामलों पर नियंत्रण कुछ कम हुआ और सात शाखाओं के स्थान पर नौ शाखाओं में विभक्त किया गया। स्वतंत्रता के बाद भारत सचिव का पद समाप्त कर दिया गया और लंदन स्थित वित्त विभाग ने कार्य करना बंद कर दिया। वित्त विभाग का नाम बदलकर वित्त मंत्रालय कर दिया गया। आजादी के समय वित्त मंत्रालय में तीन विभाग थे–व्यय विभाग, आर्थिक विभाग और राजस्व विभाग। बाकी विभागों के समान यह मंत्रालय भी अनेकों परिवर्तनों से गुजरा है। सन् 1955 में वित्त मंत्रालय के अंतर्गत एक नई विभाग कंपनी लॉ विभाग ने जन्म लिया। सन् 1958 में कंपनी लॉ विभाग को वाणिज्य और उद्योग मंत्रालय को हस्तांतरित कर दिया गया। 1963 में इस मंत्रालय में समन्वय विभाग नाम का एक विभाग और खोला गया। 1966 में कंपनी लॉ और बीमा विभाग को समाप्त कर दिया गया। 1979 में मंत्रालय चार विभागों में संगठित था। व्यय विभाग, आर्थिक विभाग, राजस्व विभाग और बीमा तथा बैंकिंग विभाग। हर विभाग एक सचिव के अधीन था। मार्च 1985 में मंत्रालय का पुनः पुनर्गठन हुआ। जिसके अधीन बैंकिंग विभाग को आर्थिक मामलों से संबंधित विभाग में सम्मिलित कर दिया गया। सन् 2000 से वित्त मंत्रालय में तीन विभाग हैं–

1. आर्थिक मामलों से संबंधित विभाग,
2. व्यय विभाग, एवं
3. राजस्व विभाग।

यह केंद्र सरकार का दूसरा महत्वपूर्ण मंत्रालय है। यह मंत्रालय भारत सरकार की आमदनी और खर्च का ब्यौरा रखता है। वित्त मंत्रालय संघीय सरकार के वित्त प्रशासन और उससे संबंधित विभिन्न राज्यों के वित्तीय मामलों को निपटाने के लिए जवाबदेह है।

वित्त मंत्रालय का संगठन

इस मंत्रालय का मंत्री कैबिनेट स्तर का होता है। उसकी सहायता के लिए राज्य और उपमंत्री होते हैं। वर्तमान में दो राज्यमंत्री इस विभाग में हैं। वित्त सचिव मंत्रालय का शासकीय प्रमुख होता है। मंत्रालय का प्रत्येक विभाग अलग–अलग सचिव के अधीन है। सचिव की सहायता के लिए अतिरिक्त सचिव, संयुक्त सचिव उपसचिव तथा निदेशालय और सचिवालयीय कर्मचारी होते हैं।

वित्त मंत्रालय के कार्य

यह मंत्रालय अर्थव्यवस्था के वृहत प्रबंधन के संबंध में महत्त्वपूर्ण नीतिगत विषयों पर सरकार को आर्थिक सलाह देता है। यह मंत्रालय वित्तीय क्षेत्र में आवश्यक कार्य करता है। वित्त मंत्रालय संघीय सरकार के वित्त प्रशासन और उससे संबंधित विभिन्न राज्यों के वित्तीय मामलों को निपटाने के लिए उत्तरदायी है। वित्तीय कामों के प्रबंध और

टिप्पणी

प्रशासन में इस मंत्रालय की भूमिका केवल भारत सरकार को ही नहीं बल्कि पूरे देश की प्रशासनिक व्यवस्था को निर्णायक ढंग से प्रभावित करती है। यह मंत्रालय अपने कार्यों को आर्थिक कार्य विभाग, व्यय विभाग और राजस्व विभाग के माध्यम से करता है।

आर्थिक मामलों से जुड़े विभाग

यह विभाग समाकालीन आर्थिक प्रवृत्तियों का परिवीक्षण करता है। साथ ही, आंतरिक और बाह् आर्थिक प्रबंध को प्रभावित करने वाले सभी मामलों के संबंध में सरकार को सलाह देता है। इसमें वाणिज्य बैंकों तथा सार्वजनिक ऋणदाता संस्थाओं का कार्यचालन और पूंजी निवेश विनियमन शामिल है। भारत संघ और राज्य सरकारों जो राष्ट्रपति शासन के अंतर्गत हों, उनके बजट तैयार करने और संसद में प्रस्तुत करने का दायित्व इसी विभाग का है। आर्थिक कार्य विभाग के मुख्य काम है–विदेशी विनिमय अधिनियम का प्रशासन, वैदेशिक विनियमन बजट, विदेशी विनियोजन स्रोत का नियंत्रण, सोने–चांदी का निर्यात और आयात, आर्थिक विकास के लिए प्राविधिक और आर्थिक सहायता, मुद्रा और सिक्के, बजट का निर्माण, लेखांकन और लेखा परीक्षण पद्धतियां, वित्त आयोग आदि। बहुपक्षीय संगठनों और व्यापार से जुड़े विषयों पर अधिक ध्यान केंद्रित करने और परिणामोंमुखी रुप से कार्य करने के उद्देश्य से, विदेशी व्यापार प्रभाग और फंड बैंक प्रभाग से विशेषकर संबंधित मामलों का कार्य देखने वाले अनुभागों का विलय कर हाल ही में बहुपक्षीय संबंध प्रभाग सृजित किया गया है। संयुक्त सचिव एम आर प्रभाग के प्रमुख होते हैं। इस प्रभाग में पांच अनुभाग सम्मिलित हैं। वर्तमान योजनागत फ्रेमवर्क के अंतर्गत एम आर–I अनुभाग को सलाह देने और जी–20, जी–24, जी–8, एएसईएम, ओईसीडी और इसी से संबंधित सभी मामलों का कार्य सौंपा गया है। एम आर–II अनुभाग संयुक्त राष्ट्र से जुड़े सभी मामलों का कार्य देखता है और यूएनडीपी से संबंधित सभी नीतिगत मामले इसके कार्यक्षेत्र के अंतर्गत आते हैं। एम आर–III अनुभाग डब्ल्यूटीओ और सार्क से संबंधित मामलों पर सलाह देता है। एम आर–IV अनुभाग कोलंबो प्लान और उसके अंतर्गत र्निमित तकनीकी सहयोग से संबंधित सभी मामलों के लिए उत्तरदायी है। एम आर–V अनुभाग विदेश व्यापार नीति के कार्यान्वयन के परिणामस्वरुप उत्पन्न मामलों पर वाणिज्य मंत्रालय को सलाह प्रदान करता है।

आर्थिक कार्य विभाग देश की आर्थिक नीतियों और कार्यक्रमों, जिनका आर्थिक प्रबंधन के आंतरिक और वैदेशिक पहलुओं से संबंध होता है, को तैयार करने और उन्हें मॉनीटर करने के लिए केंद्र सरकार की नोडल एजेंसी है।

इस विभाग का एक प्रमुख उत्तरदायित्व प्रति वर्ष केंद्रीय बजट (रेलवे बजट को छोड़कर) तैयार करना है। अन्य प्रमुख कार्यों में निम्नलिखित शामिल कार्य हैं–

- राजकोषीय नीति और लोक वित्त, मुद्रास्फीति, लोक ऋण प्रबंधन और स्टॉक एक्सचेंजों सहित पूंजी बाजार के कामकाज से संबंधित मुद्दों सहित वृहत आर्थिक नीतियों का निर्माण और मॉनीटरिंग। इस संदर्भ में, यह कराधान, बाजार उधारों

और लघु बचत संग्रहण के माध्यम से आंतरिक संसाधनों को जुटाने हेतु अर्थोपाय के कार्य को देखता है।

- बहुपक्षीय और द्विपक्षीय सरकारी विकास सहायता, विदेशों से सरकारी उधारों, विदेशी निवेशों के माध्यम से विदेशी संसाधनों की मॉनीटरिंग और संग्रहण तथा भुगतान संतुलन सहित विदेशी मुद्रा संसाधनों की मॉनीटरिंग।
- विभिन्न मूल्य वर्गों के बैंक नोटों और सिक्कों, डाक लेखन समाग्री, डाक टिकटों का उत्पादन और भारतीय आर्थिक सेवा का संवर्ग प्रबंधन।
- कैरियर आयोजना और प्रशिक्षण।

टिप्पणी

4.4.1 भारत में संसदीय वित्तीय समितियां

विधान मंडल का कार्य लोक व्यय के लिए अनुदान पर मतदान के साथ ही समाप्त नहीं हो जाता। यह दी गई नीधि (धन) का उपयोग दिए गए निर्देशों के अनुसार निष्ठापूर्वक तथा किफायत से किया गया है या नहीं इसे भी देखना होता है। ससंद भी अपने संदेहों को जैसे क्या निधि को विनयुिक्त राशि के अंतर्गत अनुमोदित उद्देश्यों के लिए ही प्रयुक्त किया गया है, क्या व्यर्थ तथा बेतुके खर्चों से बचा गया है आदि। भारत के महानियंत्रक तथा लेखा महापरीक्षक इस कार्य के लिए सभी विभागीय खातों का अलग–अलग लेखा जोखा रखते हैं। उनकी रिपोर्ट का परीक्षण कोई भी संसदीय समिति कर सकती है।

भारतीय लेखा नियंत्रक तथा लेखा महापरीक्षक द्वारा लेखा परीक्षण

व्यय पर संसद का नियंत्रण तभी पूर्ण है जब यह स्वयं निश्चित कर सके कि कार्यपालिका द्वारा किए गए खर्चे जिन कार्यों पर करने की अनुमति दी गई थी उन्हीं कार्यों के लिए किए गए हैं। भारत का लेखा नियंत्रक तथा लेखा महापरीक्षक द्वारा लेखों के परीक्षण के प्रावधान द्वारा ऐसा एक स्वतंत्र प्राधिकरण निश्चित किया गया जो संघ तथा राज्यों के सभी व्ययों का परीक्षण करके पता लगाता है कि क्या खातों में दिखाया गया व्यय हुआ धन जिन कार्यों के लिए प्रयोग किया गया है, वह कानूनन उपयुक्त तथा उपलब्ध था। वह राज्यों तथा केंद्र के अन्य सभी लेखों का भी परीक्षण करता है और अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति तथा गवर्नरों को भेजता है ताकि उसे राज्य विधानमंडलों तथा राश्ट्रपति के समक्ष रखा जा सके। वह किसी भी फजूलखर्च तथा अयोग्यता की सूचना देता है। संसद को पूरी रिपोर्ट तथा सम्पूर्ण लेखा–परीक्षण की जानकारी देने के लिए संविधान द्वारा लेखा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक को स्वतंत्र पद दिया गया है।

संसद लेखा नियंत्रण तथा महालेखा परीक्षक की रिपोर्टों पर गंभीर कानूनी चर्चा करने के लिए एक अत्यधिक दुष्प्रयोजनीय निकाय है, जो रिपोर्टों को विस्तृत परीक्षण के लिए संसद की विशेष समितियों को भेजती है। इस प्रकार की कुछ महत्वपूर्ण समितियां निम्नलिखित हैं–

लोक लेखा समिति

लेखा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक की लेखा परीक्षण रिपोर्ट संसद के समक्ष प्रस्तुत की जाती है। लेखा परीक्षण रिपोर्ट का परीक्षण कार्य संसद की विशेष समिति लोक लेखा समिति को सौंपा जाता है।

टिप्पणी

लोक लेखों पर समिति के नियंत्रण संबंधी नियम 143 से पता चलता है :

1. लेखा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट तथा भारत सरकार के विनियोजन लेखों की जांच के बाद लोक लेखा समिति का कर्तव्य होगा कि अपने संदेहों को खत्म करें :
   (क) कि वितरित किया गया जो धन खाते में दिखाया गया था, सेवा अथवा कार्य जिसके लिए भी प्रयोग में लाया जाना था अथवा जिसके खर्चे में लिखा गया था, कानूनन उपलब्ध तथा उपयुक्त था।
   (ख) कि व्यय उस प्राधिकरण के अनुसार किया गया जो इस पर नियंत्रण रखता है, तथा
   (ग) कि प्रत्येक पुनर्विनियोजन विनियोजन अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार किया गया है, अथवा उक्त अधिनियम के प्रावधानों के अंतर्गत सक्षम प्राधिकरण के द्वारा नियमों को बनाया गया है।
2. लोक लेखों पर समिति का कर्तव्य होगा कि :
   (क) ऐसे लेन–देन, निर्माण और लाभ तथा हानि के खातों और बैलेंस शीट (तुलना पत्र) का परीक्षण करें। क्योंकि लेखा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक की रिपोर्टों के पश्चात राष्ट्रपति को इसकी आवश्यकता हो।
   (ख) लेखा नियंत्रक तथा लेखा महापरीक्षक की रिपोर्ट के उन मामलों पर विचार करे जिनमें राश्ट्रपति को आय (प्राप्ति) का लेखा–जोखा रखने अथवा माल तथा भंडार के लेखे–जोखे का परीक्षण करने के लिए उसकी जरूरत पड़े।

लेखा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक की लेखा परीक्षण रिपोर्ट पर लोक लेखा समिति के दिए निष्कर्ष सरकार द्वारा आवश्यकतानुसार सिफारिशों सहित कार्यवाही के लिए संसद के समक्ष रखे जाते हैं। अतः लोक लेखा समिति संसद द्वारा स्वीकृत व्यय के विषय में कार्यपालक के उत्तरदायित्व को सुदृढ़ बनाने की प्रक्रिया है।

आकलन समिति

ससंद अपने द्वारा स्वीकृत व्यय के विषय में कार्यपालक के उत्तरदायित्व को लोक लेखा समिति की प्रक्रिया के द्वारा सुदृढ़ बनाने में योग्य रही है। वित्त मंत्रालय के अनुमानों को, संसद के सामने विचारार्थ रखे जाने से पहले आकलन समिति की प्रक्रिया ही, ब्यौरेवार जांच का विषय बनाती है।

समिति के कार्य

1. संगठनात्मक कार्यक्षमता में वृद्धि अथवा अधीनस्थ नीति के अनुकूल प्रशासनिक सुधार, इन दोनों में से क्या ज्यादा लाभकारी है यह विवरण देना।
2. प्रशासन में व्यवस्था तथा कार्यदक्षता हेतु विकल्प नीतियों को सुझाना।
3. धन के व्यय का परीक्षण आकलनों में अन्तर्निहित नीति की सीमाओं के अंतर्गत ही करना।
4. ऐसे तरीके सुझाना जिनके द्वारा संसद के सामने आकलन पेश किए जा सकें।

5. समिति द्वारा प्रतिवर्ष कुछ विभागों का चयन किया जाता है, उनकी कार्यप्रणाली की विस्तृत जांच की जाती है तथा उसकी अर्थनीतियों, संगठनों, नीति संबंधी मामलों आदि पर यह समिति सुझाव देती है।

टिप्पणी

सरकारी उपक्रमों की जांच

समिति द्वारा सरकारी उपक्रमों की जांच उनके कार्य–निष्पादन का मूल्यांकन है। इन कार्यों में नीतियों का कार्यान्वयन, कार्यक्रम, व्यवस्था, वित्तीय सफलता जैसे महत्वपूर्ण पहलू आते हैं। समिति लेखा नियंत्रक तथा लेखा महापरीक्षक की सरकारी उपक्रमों की रिपोर्ट का जो भाग समिति को भेजा जाता है समिति उस भाग पर विचार करती है।

सरकारी उपक्रम समिति रिपोर्ट की जांच के बाद इसे अपने सुझावों सहित संसद में भेजती है। इस समिति की रिपोर्ट के साथ–साथ लेखा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट लोक व्यय पर संसद के नियंत्रण का उपयोगी साधन होती है।

संसद का प्रत्यक्ष नियंत्रण

आकलन समिति और लोक लेखा समिति की रिपोर्टों की जांच के द्वारा संसद लोक व्यय पर प्रत्यक्ष नियंत्रण करती है। महालेखा परीक्षक तथा समितियों द्वारा प्रस्तुत की गई। रिपोर्टों पर आम बहस करवाई जाती है। अगर कोई आरोप लगाए गए हों तो सरकार को उनका उत्तर देना होता है।

अतः यह स्पष्ट है कि संसद सरकार के व्यय के लिए धन की स्वीकृति देती है। सरकार निम्नलिखित बातों का पता लगाने के लिए समुचित कदम उठाती है–

(क) व्यय निर्धारित नियमों के अनुसार हुआ है।

(ख) व्यय में मितव्ययता का ध्यान रखा गया है।

(ग) कोई धोखाधड़ी, गबन या गलत इस्तेमाल तो नहीं किया गया।

अनुमान समिति, लोक लेखा समिति एवं लोक उपक्रम समिति

अनुमान समिति (Estimates Committee)

भारतीय लोक लेखा समिति द्वारा की जाने वाली सिफारिशों में से लगभग 90 प्रतिशत सिफारिशों को भारत सरकार स्वीकार कर लेती है, जिसके फलस्वरूप हर अगले वर्ष वित्तीय शासन के क्षेत्र में सुधार की संभावनाएं बढ़ जाती हैं।

समिति की एक आम शिकायत रही है कि सरकार उसकी सिफारिशों को गंभीरता से न लेकर इन्हें संसदीय लोकतंत्र में पूर्ण करने योग्य औपचारिक मात्र मान लेती है। जब कभी समिति द्वारा कोई अनियमितता बतलायी जाती है तो सरकार इसके लिए एक दूसरी समिति गठित कर देती है जो प्रायः न्यायिक स्वरूप की न होकर विभागीय प्रकृति की होती है। ऐसी समितियां प्रायः मंत्रालयों के कार्यों के औचित्य को सिद्ध करने का प्रयास करती हैं और कुछ नहीं।

लोक लेखा समिति लेखा परीक्षक के प्रतिवेदन के आधार पर सरकारी विभागों तथा विभिन्न निगम मंडलों के काम–काज के बारे में सिफारिशें करती है, जिससे काम–काज को अधिक सुचारू करने के अलावा भ्रष्टाचार, अपव्यय और नौकरशाही के

अनियन्त्रित तरीकों पर रोक लगाई जा सकती है। लेकिन सरकार द्वारा इस बारे में कोई ध्यान नहीं दिया जाता और न ही प्रतिवेदनों पर कार्यवाही की जाती है।

टिप्पणी

समिति के पास अपनी सिफारिशें लागू करवाने की कोई सत्ता नहीं होती। उसकी सेवाएं इसलिए महत्वपूर्ण हैं क्योंकि वह प्रशासन के दोषों को जनता के समक्ष प्रकट करती है। इसके अतिरिक्त प्रशासनिक अधिकारी तथा राजनीतिक व्यक्तित्व के धनी व्यक्ति इस समिति के मंच पर एकत्रित होकर उच्च स्तर पर विचार–विमर्श करते हैं। इससे पूरे वित्तीय प्रशासन तंत्र में निरंतर सुधार की संभावनाएं बलवती होती हैं। इस दृष्टि से लोक लेखा समिति को संसदीय वित्त नियंत्रण का एक सशक्त माध्यम माना जा सकता है।

अनुमान समिति या प्राक्कलन समिति

ब्रिटेन में 1912 से कोई 20 से 30 सदस्यों की एक अनुमान समिति कार्य करती रही है जबकि भारत में इस समिति की स्थापना स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात 10 अप्रैल, 1950 को ही करना संभव हो सका। इस समिति की स्थापना की घोषणा करते हुए तत्कालीन लोक सभा अध्यक्ष श्री मावलंकर ने कहा था कि भारतीय संविधान की धारा 116 के प्रावधान के अनुसार, "कार्यपालिका के व्यय पर सदन के बेहतर नियंत्रण के लिए अनुमान समिति की स्थापना की आवश्यकता महसूस की जाती थी। इसलिए निम्न समिति की समिति के समान एक स्वतंत्र समिति की स्थापना की जा रही है।" प्रारम्भ में लोकसभा के 25 सदस्यों की एक समिति चुनी गई किन्तु 1956 से इसकी सदस्य संख्या बढ़ाकर 30 कर दी गई।

अनुमान समिति का संगठन एवं स्वरूप

लोक लेखा की तरह अनुमान समिति भी लोकसभा की ही समिति है। इसके सदस्यों का चुनाव एकल संक्रमणीय पद्धति के आधार पर प्रतिवर्ष किया जाता है। इस समिति में लोकसभा के 30 सदस्य होते हैं। इस समिति में भी राजनीतिक दलों को आनुपातिक प्रतिनिधित्व मिलता है। लोकसभा द्वारा समिति के सदस्यों का चुनाव पूर्व के वर्ष की समिति के अध्यक्ष के प्रस्ताव के आधार पर किया जाता है। समिति का कार्यकाल प्रत्येक वर्ष मई माह में प्रारम्भ होता है और अगले वर्ष 30 अप्रैल को समाप्त हो जाता है। 1956–57 से प्रचलित परम्परा के अनुरूप प्रतिवर्ष समिति के एक–तिहाई सदस्य नये चुने जाते हैं तथा बाकी दो–तिहाई अगले वर्ष के लिए पुनः चुन लिए जाते हैं। इस परम्परा से इस समिति को अनुभवी सदस्यों के अनुभव का लाभ निरन्तर मिलता रहता है।

समिति के अध्यक्ष को लोकसभा का अध्यक्ष मानोनीत करता है किन्तु यदि लोकसभा का उपाध्यक्ष इस समिति में चुना जाता है तो फिर उसे ही समिति का अध्यक्ष चुन लिया जाता है। आमतौर पर सत्तारूढ़ दल के किसी वरिष्ठ सदस्य को इसके लिए चुना जाता है और व्यवहार में लोकसभा अध्यक्ष के स्थान पर सत्तारूढ़ दल के संसदीय बोर्ड अथवा संसदीय मामलों के मंत्री से दिशा–निर्देशित होता है।

अनुमान समिति के कार्य एवं अधिकार

अनुमान समिति सरकारी व्यय में मितव्ययिता लाने के लिए रचनात्मक सुझाव देने वाली एक सतत् संस्था के रूप में अधिक महत्वपूर्ण रही है। बजट प्रावधानों पर संसदीय

मतदान के पूर्व इस समिति के द्वारा बजट अनुमानों की जांच नहीं की जाती अर्थात् इसका कार्य सामान्य वित्तीय प्रक्रिया से बाहर है।

टिप्पणी

संसदीय कार्यवाही नियमन नियम संख्या 310 से 312 में अनुमान समिति के कार्यक्षेत्र का विवेचन किया जाता है। पूर्व में इस समिति को बतलाना होता था कि "अनुमानों को निर्धारित करने की नीति को ध्यान में रखते हुए इनमें क्या मितव्ययिताएं लागू की जा सकती हैं?" किन्तु अक्टूबर, 1956 में किए गए व्यापक संशोधनों के बाद इस समिति का कार्यक्षेत्र काफी व्यापक बना दिया गया है। नए प्रावधानों के अनुसार समिति को यह प्रतिवेदन देना होता है कि "सरकारी नीति संगतता के आधार पर तैयार किए गए अनुमानों में क्या मितव्ययिताएं संगठनात्मक सुधार, कुशलता या प्रशासनिक सुधार लागू किए जा सकते हैं, प्रशासन में मितव्ययिता तथा कुशलता लाने के लिए क्या नीति विकल्प हो सकते हैं तथा यह जांच करना कि किस हद तक नीति के अनुरूप तैयार किए गए अनुमानों के लिए मौद्रिक प्रावधान सही ढंग से किए गए हैं।"

इस संशोधित कार्य–प्रणाली नियमन के अनुसार अनुमान समिति के कार्य निम्नांकित हैं–

1. सरकारी नीति के अनुरूप तैयार किए गए अनुमानों में मितव्ययिता लाने के उपाय–प्रशासनिक तथा संगठनात्मक–सुझाव;
2. संसद के समक्ष बजट अनुमानों के प्रस्तुतीकरण को बेहतर ढंग से विकसित करने के लिए सुझाव देना;
3. कुशलता तथा मितव्ययिता के लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु वैकल्पिक नीतियों को सुझाव देना; तथा
4. अनुमानों में सन्निहित नीति के अनुरूप मौद्रिक प्रावधानों के औचित्य की जांच।

अनुमान समिति को नीति विषयक मुद्दों पर अपनी राय जाहिर करने या सुझाव देने का अधिकार नहीं है। इस स्थिति की पेचीदगी की ओर समिति का ध्यान आकर्षित करते हुए 1959 में लोकसभा अध्यक्ष ने कहा था कि, "समिति के आधारभूत उद्देश्य प्रशासन अनुमान समिति, सार्वजनिक लेखा समिति एवं सार्वजनिक उद्यम समिति में कुशलता तथा मितव्ययिता लाना तथा यह आश्वस्त करना कि मौद्रिक अनुमान ठीक से तैयार किए गए हैं, होते हैं। पर सूक्ष्म जांच के बाद यदि ऐसा लगे कि किसी एक नीति के अपनाने के कारण भारी धनराशि बेकार खर्च हो रही है, तो समिति उन दोषों को भी इंगित कर सकती है।"

डॉ. कश्यप के अनुसार "यह समिति 'स्थायी मितव्ययिता समिति' के रूप में कार्य करती है और इसकी आलोचना और सुझाव फिजूलखर्ची पर रोक लगाने का काम करते हैं।"

ब्रिटेन की अपेक्षा भारतीय अनुमान समिति का अधिकार क्षेत्र अधिक व्यापक है। भारत में सभी सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठानों के क्रियाकलाप 1964 तक अनुमान समिति के जांच क्षेत्र में आते थे। किन्तु 1964 में इनके लिए अलग समिति बनाई गई। उसके बाद इस समिति द्वारा लगभग 124 सार्वजनिक इकाइयों की जांच का कार्य किया जाता है। इस समिति द्वारा संविधान के अनुच्छेद 112(3) के अन्तर्गत विभाजित मतदेय, मदों तथा गैर मतदेय मदों की बजट अनुमानों में ठीक से पालन की गई है या नहीं, इसकी जांच भी की जाती है।

टिप्पणी

अनुमान समिति की कार्य–प्रणाली

प्रतिवर्ष समिति कुछ मंत्रालयों को अपने विशिष्ट अध्ययन के लिए चुन लेती है तथा जुलाई माह से जांच कार्यवाही प्रारम्भ कर देती है। 1958 में लोकसभा अध्यक्ष ने मंत्रालयों के चुनाव का दिशा–निर्देशन करते हुए कहा था कि, "प्रत्येक लोकसभा के जीवन–काल में, जहां तक संभव हो, हर मंत्रालय के महत्वपूर्ण बजट अनुमानों की जांच का एक दौर पूरा किया जाना चाहिए।"

समिति जांच तथा अध्ययन करने के लिए निम्नलिखित स्रोतों से सामग्री एकत्रित कर सकती है :

1. प्रशासनिक स्रोत,
2. प्रकाशित सामग्री,
3. निजी संस्थाएं,
4. अध्ययन दल भेजकर,
5. सरकारी गवाही द्वारा,
6. मौखिक गवाही द्वारा,
7. गैर–सरकारी गवाही द्वारा।

समिति उर्युक्त स्रोतों से तथ्यों का एकत्रीकरण करती है तथा इन्हीं तथ्यों के आधार पर जांच की कार्यवाही को आगे बढ़ाती है और आवश्यकता होने पर संबंधित मंत्रालयों के सचिवों अथवा ऊंचे अधिकारियों से जवाब तलब करती है। यह कार्यवाही ठीक उसी ढंग से की जाती है जिस प्रकार लोक लेखा समिति करती है।

संबंधित मंत्रालयों अथवा विभागों को समिति द्वारा तैयार कर भिजवाई गई प्रश्नावली भी भरकर भेजनी होती है। इन्हें अपने विभाग के लिए तैयार किए गए अनुमानों के संदर्भ में इस परिपत्र में मुख्यतया निम्न सूचनाएं देनी पड़ती हैं :

1. मंत्रालय तथा उससे जुड़े और नीचे के कार्यालयों का संगठन तथा कार्य;
2. जिन आधारों पर अनुमान की तैयारी निर्भर करती हो उनका विस्तृत ब्यौरा
3. मंत्रालय का कोई प्रतिवेदन जिसे अपने कार्यों के बारे में जारी किया हो;
4. मंत्रालय में कार्य की मात्रा जिसे वित्तीय अनुमानों की अवधि में पूरा किया जाना है तथा पिछले तीन वर्षों का तुलनात्मक विवरण;
5. वह योजनाएं जिन्हें मंत्रालय प्रारम्भ या क्रियान्वयन करने जा रहा हो;
6. पिछले तीन वर्षों के दौरान का वर्तमान अनुमानों में शामिल उप–शीर्षवार वास्तविक खर्च का ब्यौरा;
7. चालू वर्ष तथा पिछले वर्ष के खर्च ब्यौरे में अन्तर के कारण।

समिति के सचिवालय द्वारा इन समस्त सूचनाओं का विश्लेषण किया जाता है और विशिष्ट मुद्दे समिति के सदस्यों के पास भिजवा दिये जाते हैं ताकि समिति की पूर्ण बैठक के समय प्रत्येक सदस्य अपनी ओर से भी विशिष्ट बिन्दुओं को उठा सके। अधिकारियों के साथ विचार–विमर्श करने के पश्चात कुछ खास बिन्दुओं की एक सूची

बनाई जाती है जिन पर सचिव जरूरी सूचनाएं तथा स्पष्टीकरण लिखित रूप से समिति के पास भिजवाना सुनिश्चित करें।

टिप्पणी

अनुमान समिति का प्रतिवेदन

सर्वप्रथम समिति के उप–समूहों या अध्ययन दलों द्वारा विचार–विमर्श तथा एकत्रित सामग्री का अध्ययन किया जाता है। फिर इसके आधार पर अपनी ओर से कुछ खास बिन्दु प्रतिवेदन में शामिल करवाने के उद्देष्य से तैयार किए जाते हैं। सभी समूहों के द्वारा उठाए गए बिन्दुओं के परिप्रेक्ष्य में सचिवालय समिति की ओर से प्रतिवेदन तैयार करता है और उसे अध्यक्ष की स्वीकृति के लिए पेश करता है। अध्यक्ष की स्वीकृति के पश्चात प्रतिवेदन को तथ्यात्मक पुष्टि हेतु संबंधित विभाग या मंत्रालय को गोपनीय बनाए रखते हुए भेजा जाता है। मंत्रालय से पुष्टि होने के बाद समिति प्रतिवेदन को मुख्यतया निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित कर अन्तिम रूप से तैयार कर लिया जाता है–

1. मितव्ययिता लागू करने के लिए सुझाव;
2. संगठनात्मक तथा कार्यात्मक सुधार करने के लिए सुझाव;
3. अन्य सुझाव।

बजट अधिवेशन के समय मंत्रालय विशेष की अनुदान मांगों पर बहस के पूर्व समिति के प्रतिवेदन को संसद में प्रस्तुत किया जाता है। इसके बाद भी अनुमान समिति अपने सचिवालय की सहायता से संबंधित मंत्रालय द्वारा समिति की सिफारिशों को लागू करने के लिए की गई कार्यवाही की सूचना छः माह के भीतर मांगती है। मंत्रालय से प्राप्त होने वाले प्रतिवेदन को क्रियान्वयन प्रतिवेदन कहते हैं।

अनुमान समिति के कार्यों की समीक्षा

भारत में अनुमान समिति का कार्य बहुत विस्तृत है। उसने केंद्रीय सचिवालय विभागों के पुनर्गठन के लिए (दूसरी रिपोर्ट) अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के साथ–साथ दामोदर घाटी योजना, हीराकुण्ड योजना, भाखड़ा नांगल योजना तथा ककरापारा योजना जैसी बहु–उद्देशीय योजनाओं के कार्य संचालन में प्रशासनिक कमियों को उजागर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। समिति द्वारा प्रथम 7 वर्षों में 57 प्रतिवेदन लोकसभा के समक्ष प्रस्तुत किए गए।

समिति द्वारा अपने 26वें प्रतिवेदन में सुरक्षा मंत्रालय तथा सुरक्षा सेना के प्रमुख कार्यालय के मध्य त्वरित निर्णय प्रक्रिया लागू करने का सुझाव पेश किया गया। यह सुझाव आगे चलकर अत्यधिक उपयोगी साबित हुआ। इसके अलावा समिति ने भारतीय नियोजन में बढ़ते गैर–योजना व्यय को कम करने, नागरिक पायलटों के प्रशिक्षण तथा रोजगार, सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों की कार्मिक सेवा नीतियों जैसे अनेक छोटे–बड़े मुद्दों पर अपने विचार दिए हैं। दूसरी लोकसभा के समय समिति ने सबसे महत्वपूर्ण किन्तु विवादास्पद प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। यह 'योजना आयोग' के बारे में था। समिति ने योजना आयोग को एक सलाहकार संस्था के रूप में मानते हुए उसमें मंत्रियों की अनावश्यक रूप से नियुक्ति का विरोध किया था। इस संस्था को योजना मूल्यांकन तथा निर्माण के पूर्णकालीन कार्य में लगाए रखने के लिए यह जरूरी है कि प्रधानमंत्री

की अध्यक्षता में इसका विशिष्ट अस्तित्व बना रहे। समिति के इस प्रतिवेदन से भारतीय नियोजन को एक नयी दिशा मिली।

टिप्पणी

अनुमान समिति ने 1950–51 में भारत सरकार के सचिवालय और विभागों के पुनर्गठन के बारे में, वर्ष 1953–54 में प्रशासनिक, वित्तीय तथा अन्य सुधारों के बारे में प्रतिवेदन प्रस्तुत किए। वर्ष 1962–63 में समिति ने सुझाव दिया था कि विद्युत चालित करघा उद्योग के विकास के लिए एक अखिल भारतीय संगठन की आवश्यकता है। वर्ष 1967–68 में 'विदेशी मुद्रा' संबंधित प्रतिवेदन में समिति ने कहा कि विदेशी मुद्रा की गंभीर स्थिति के कारण योजना आयोग, वित्त मंत्रालय, वाणिज्य एवं औद्योगिक विकास मंत्रालय के बीच तालमेल की कमी है। समिति ने 1965–66 में कहा कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को उन विश्वविद्यालयों को जो आयोग की अनुमति के बिना स्थापित किए गए हैं, अनुदान देने में सख्ती बरतनी चाहिए। समिति ने 1972–73 के अपने प्रतिवेदन में सरकारी क्षेत्र के उर्वरक कारखानों द्वारा अधिष्ठापित क्षमता से कम उत्पादन करने के लिए उनकी आलोचना की और कहा कि सरकार को इसके कारणों का पता लगाना चाहिए।

लोक व्यय पर संसदीय नियंत्रण के व्यापक लक्ष्य की पूर्ति के लिए अनुमान समिति द्वारा कई महत्वपूर्ण प्रयास किए गए। दूसरी समितियों की तरह यह समिति भी कतिपय रचनात्मक आलोचनाओं से स्वयं को नहीं बचा पायी है। भारत के भूतपूर्व नियंत्रक तथा महा लेखापरीक्षक अशोक चन्दा ने समिति की निम्न आधारों पर आलोचना की है :

1. समिति द्वारा प्रायः संगठनात्मक सुधार तथा कार्यों के पुनर्वितरण के लिए सुझाव दिए जाते हैं जिनका प्रचार महत्व अधिक होता है। सरकार ऐसी अधिकांश सिफारिशों को अस्वीकृत करने को मजबूर होती है जिससे सरकार तथा समिति दोनों की इज्जत को ठेस पहुंचती है।
2. चूंकि समिति सरकारी नीतियों के मूल्यांकन तथा विभागीय पुनर्गठन के बाबत मुद्दों पर अपनी शक्ति खर्च करने लगी है, फलतः अनुमानों की जांच का उसका प्रमुख कार्य पृष्ठभूमि में रह गया लगता है।
3. समिति के कार्य करने का ढंग तथ्यों को खोजने की मंशा के अनुरूप नहीं है। समिति संयुक्त राज्य अमेरिका में स्थित कांग्रेस की समितियों के अनुरूप व्यवहार को ग्रहण करती जा रही है और तथ्यान्वेशी तंत्र के स्थान पर छिद्रान्वेशी तंत्र बनती जा रही है।
4. समिति स्वयं को उस भूमिका की ओर ले जा रही है जो वास्तव में संवैधानिक तौर पर लोकसभा को प्राप्त है।

ये आलोचनाएं काफी महत्वपूर्ण लगती हैं क्योंकि समिति सामान्य व्यक्तियों का समूह मात्र ही तो है। इसे लोक लेखा समिति जैसे विशेषज्ञों की सेवाएं भी उपलब्ध नहीं हैं। समिति की अधिकतर सिफारिशें संगठनात्मक सुधारों से जुड़ी हुई हैं, और ऐसे में समिति पर मितव्ययिता के मूल लक्ष्य से भटकाव का लांछन लगाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। मधोक कहते हैं कि, "समिति ने न केवल पूर्व तीक्ष्णता एवं जोर–शोर खो

दिया है अपितु यह सरकारी व्यय नीतियों तथा अनुमानों की जांच समिति के बजाय उसकी सलाहकार समिति का रूप धारण करती जा रही है।"

टिप्पणी

इन अलोचनाओं के बावजूद भी यह कहना उचित होगा कि समिति एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। यह अपने जांच प्रतिवेदनों के माध्यम से संसद तथा आम जनता को सरकारी क्रियाकलापों से संबद्ध महत्वपूर्ण सूचनाएं उपलब्ध कराती है। ये सूचनाएं व्यापक जनमत को जाग्रत करने का महत्वपूर्ण कार्य करती है। सरकार को भी कभी–कभी समिति की सिफारिशों के आगे झुकना पड़ता है।

एन. जोन्सन समिति की महत्ता की चर्चा करते हुए ठीक ही कहते हैं कि, "यद्यपि खुले रूप में उपेक्षित होने के बावजूद भी अनुमान समिति के कार्य सरकारी क्रियाकलापों को स्पष्ट करने तथा उन्हें आम चर्चा का विषय बनाने में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। यह वास्तव में एक स्थायी महत्व का राजनीतिक कार्य माना जा सकता है।"

लोक लेखा समिति (Public Accounts Committee)

विशिष्ट प्रयोजनों के लिए धन पर मतदान करने के संसद के अधिकार का तब तक कोई औचित्य नहीं है जब तक उसे यह निश्चित करने का अधिकार न मिले कि संसद द्वारा स्वीकृत धनराशि का कार्यपालिका द्वारा उन्हीं प्रयोजनों के लिए जिनके लिए संसद ने उन्हें स्वीकृति किया है उपयोग किया जाता है। यह तभी निश्चय हो सकता है जब सार्वजनिक लेखाओं का निरीक्षण किसी स्वतंत्र अधिकारी–लेखा–नियंत्रक तथा महालेखापरीक्षक–द्वारा किया जाये; और तदन्तर उसके प्रतिवेदन की जांच संसद की एक विशेष समिति द्वारा की जाती है जिसे लोक लेखा समिति कहते हैं। संसद की समिति का निर्माण इस दृष्टि से श्रेयस्कर है कि संसद के पास इतना समय नहीं होता कि वह प्रतिवेदन का विषद् परीक्षण कर सके। चूंकि परीक्षण एक विशिष्ट प्रकार का होता है, अतः वह एक समिति द्वारा ही किया जाना चाहिए। समिति द्वारा परीक्षण होने पर ही वह निर्दलीय होता है, जबकि सदन द्वारा निर्दलीयता अथवा निष्पक्षता संभव नहीं है।

भारत में केंद्र में लोक लेखा समिति की सर्वप्रथम स्थापना 1921 के मॉण्टफोर्ड सुधारों के फलस्वरूप 1923 में हुई थी। अपने प्रारंभ से ही केंद्रीय लोक लेखा समिति सार्वजनिक व्यय के विधायी नियंत्रण की एक व्यापक शक्ति बन गई थी। अपनी सत्ता की सीमाओं के बावजूद भी इसने सरकार पर सार्वजनिक धन के व्यय में मितव्ययिता के संबंध में दबाव डाला है। केंद्रीय सरकार के विभागों को सर्वप्रथम अपने व्यय के औचित्य को सिद्ध करने के लिए बाध्य किया गया।

1950 में संविधान लागू होने के साथ ही इस समिति में से सरकारी तत्व हटा दिए गए और यह एक सच्ची संसदीय समिति बन गई है। आरम्भ में इसमें 15 सदस्य थे। ये सभी लोकसभा के ही सदस्य होते थे। 1953 में इसके सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 22 कर दी गई। यह वृद्धि राज्यसभा को प्रतिनिधित्व देने के लिए की गई थी। संविधान के अनुच्छेद 151 के अन्तर्गत लोक लेखा तथा लेखा परीक्षा संबंधी प्रतिवेदन संसद के दोनों ही सदनों के समक्ष रखे जाते हैं। इस प्रकार, लोकसभा की तरह ही राज्यसभा को भी यह अधिकार प्राप्त है कि वह लोक लेखाओं के परीक्षण के लिए अपनी निजी लोक लेखा समिति गठित कर सकता है।

टिप्पणी

लोक लेखा समिति का प्रति वर्ष निर्वाचन किया जाता है जो एकल संक्रमणीय मत द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर होता है, ताकि समिति में मुख्य राजनीतिक दलों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सके और उसके सदस्यों की संख्या संसद में उनकी अपनी राजनीतिक दलीय शक्ति के अनुपात में हो। 1967 तक इसका सभापति शासक दल का होता था। 1969 से यह परम्परा पड़ी है कि विरोधी दल का ही कोई नेता लोक लेखा समिति का सभापति होता है। एम.आर. मसानी विरोधी दल के प्रथम नेता थे जिन्हें इस समिति का सभापति मनोनीत किया गया था। लेकिन दो अवसरों पर ही केवल विरोधी दल के सदस्य अध्यक्ष चुने गए हैं।

समिति के कार्य निम्नलिखित हैं–

(क) लेखाओं में जिन राशियों का भुगतान दिखाया गया है वे राशियां उस सेवा या प्रयोजन हेतु, जिसमें उनका प्रयोग किया गया है या जिसके लिए वे प्रभूत की गई हैं, वैध रूप से प्राप्य या प्रयुक्त की जा सकने योग्य थीं;

(ख) व्यय नियंत्रण करने वाली सत्ता के अनुरूप है;

(ग) प्रत्येक पुनर्विनियोजन (reappropriation) का अधिकार उचित सत्ता द्वारा निर्मित नियमों के अनुसार है या नहीं?

लोक लेखा समिति के निम्नलिखित कर्तव्य हैं–

(क) लोक लेखा समिति का कर्तव्य है कि वह लेखा–नियंत्रक तथा महालेखापरीक्षक के प्रतिवेदन के संदर्भ में उन सभी लेखा विवरणों का परीक्षण करे जिसमें राज्य उपक्रमों, व्यापार तथा निर्माण करने वाली योजनाओं तथा परियोजनाओं की आय तथा व्यय का उल्लेख किया गया हो। साथ ही, उनके ऐसे संतुलन–विवरणों लाभ के विवरणों तथा हानि के लेखों का भी निरीक्षण कराए जिन्हें तैयार करना राष्ट्रपति आवश्यक समझते हों या तो किसी विशेष उपक्रम, व्यापारिक संस्था या परियोजना की वित्त–व्यवस्था को विनियमित करने वाले सांविधिक नियमों के प्रावधानों के अन्तर्गत बनाये गए हों।

(ख) उन स्वायत तथा अर्द्ध–स्वायत निकायों के आय–व्यय के लेखा विवरणों की परीक्षा करे, जिनका लेखा–परीक्षण भारत के लेखा–नियंत्रक तथा महालेखापरीक्षक द्वारा या राष्ट्रपति के निर्देशों या संसद द्वारा पारित किसी नियम के अन्तर्गत करना संभव हुआ हो।

(ग) लेखा–नियंत्रक तथा महालेखापरीक्षक के प्रतिवेदन पर अवस्था में विचार करे, जब राष्ट्रपति ने किन्हीं प्राप्तियों की लेखा परीक्षा करने या भंडारों तथा स्कन्धों के लेखाओं का परीक्षण करने की आज्ञा दी हो।

समिति इन कार्यों को सम्पन्न करने के लिए लेखा–नियंत्रक तथा महालेखा–परीक्षक के प्रतिवेदन को आधार मानती है। एक मंत्रालय के पश्चात दूसरे मंत्रालय के प्रतिवेदनों की जांच की जाती है। सचिवगण बाध्य हैं कि वे लेखा परीक्षण में उठाये गए प्रश्नों को स्पष्ट करने हेतु साक्षी के रूप में उपस्थित रहें। इस प्रकार समिति स्वयं अपने निष्कर्ष तक पहुंचने तथा अपनी सिफारिशों को अन्तिम रूप देने में सक्षम है। लोक लेखा समिति को लेखा–नियंत्रक तथा महालेखापरीक्षक की सेवाएं स्थायी रूप से प्राप्त रहती

टिप्पणी

हैं। उसके तथा समिति के पारस्परिक संबंध निकटतम तथा घनिष्टतम होते हैं। यह उसका मार्गदर्शक, दार्शनिक तथा मित्र है। समिति की प्रभावशीलता उस पूर्णता पर आधारित होती है जिस पूर्णता के साथ लेखा–परीक्षक का कार्य संचालित किया गया है। इसी प्रकार, लेखा–परीक्षण की आलोचना का मूल्य उस समर्थन पर निर्भर करता है जो समिति से प्राप्त होता है। इन दोनों प्राधिकारियों के कार्य ही परस्पर संबंधित नहीं होते बल्कि उनके संबंध कुछ मात्रा में अन्योन्याश्रित भी होते हैं।

समिति लेखा–नियंत्रक तथा महालेखापरीक्षक के प्रतिवेदन की जांच यह पता लगाने के लिए करती है कि क्या संसद द्वारा स्वीकृत धन सरकार द्वारा उसी मद में उपयोग किया गया है, जिस मद के लिए वह स्वीकृत था। 'मांग के क्षेत्राधीन' वाक्यांश का अर्थ अग्रलिखित है :

(क) सार्वजनिक व्यय संसदीय पूर्वानुमोदन के अभाव में संसद द्वारा स्वीकृत विनियोजनों से अधिक नहीं होना चाहिए।

(ख) जिन वस्तुओं पर किसी मांग के अन्तर्गत व्यय किया गया है, उन्हें औचित्यपूर्ण होना चाहिए।

(ग) जिस प्रयोजन के लिए संसद द्वारा अनुदान का अनुमोदन किया गया हो अनुदान उसी प्रयोजन के लिए उपयोग में लाया जाना चाहिए।

समिति को व्यक्तियों, कागजों तथा अभिलेखों को तलब करने का अधिकार है, और इसके निष्कर्ष को वह प्रतिवेदन के रूप में संसद के समक्ष प्रस्तुत करती है। सूक्ष्म निरीक्षण हेतु समिति द्वारा अध्ययन समूहों का गठन किया जाता है जिनका संबंध प्रतिरक्षा, रेलवे आदि विशिष्ट विभागों से होता है। ये अध्ययन समूह अपना प्रतिवेदन समिति के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। लेखा–नियंत्रक तथा महालेखापरीक्षक समिति के अर्थ को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए अन्तरिम प्रतिवेदन भी देता है, जिन पर समिति विचार करती है। सदन के समक्ष प्रस्तुत अन्तिम प्रतिवेदन के संदर्भ में ही वह सरकार के समक्ष अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करती है। समिति के कार्य की यह कहकर आलोचना की जाती है कि जब तक समिति सार्वजनिक लेखाओं की पुनरीक्षा पूर्ण करती है, तब तक मामले पुराने पड़ चुके होते हैं। समिति की सिफारिशों में से यदि सरकार समझती है कि अमुक सिफारिश किन्हीं कारणों से स्वीकार नहीं है तो वह उस सिफारिश के पुनर्विचार के लिए प्रार्थना कर सकती है। इस प्रकार बहुत से मामलों को आपसी चर्चा तथा विचारों के आदान–प्रदान से तय कर लिया जाता है।

समिति के प्रतिवेदन मार्गदर्शन तथा चेतावनी के रूप में महत्व रखते हैं। लोकसभा के प्रथम अध्यक्ष के शब्दों में, "यह प्रतीत होता है कि कोई व्यक्ति ऐसा भी है जो इस बात की जांच या समीक्षा करेगा कि क्या किया गया है, तथा यह कार्यपालिका के शैथिल्य या लापरवाही पर बहुत बसे किया जाए तो प्रशासन में सामान्य क्षमता का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। समिति की जांच भावी अनुमानों तथा भावी नीतियों दोनों के लिए ही मार्गदर्शक के रूप में योग देती है।" लोक लेखा समिति को निष्पादकीय अधिकार नहीं दिये जाने के कारण यह निष्पादकीय निकाय नहीं है। इसका कार्य केवल लोक–व्यय की पुनरीक्षा तक ही सीमित है।

टिप्पणी

लोक लेखा समिति का स्वरूप तथा बनावट

भारतीय लोक लेखा समिति को एक संसदीय समिति कहा जा सकता है। लोकसभा में विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रतिनिधित्व के अनुपात में ही इस समिति में विभिन्न राजनीतिक दलों से सदस्यों का चयन किया जाता है। इस समिति के अध्यक्ष का मनोनयन लोकसभा अध्यक्ष करता है। लोक सभा सचिवालय इस समिति के कार्यालय की भूमिका अदा करता है।

4 मई, 1951 के संशोधन के अन्तर्गत लोक लेखा समिति के स्वरूप तथा बनावट को निरूपित करने के लिए निम्न प्रावधान किए गए हैं :

1. संसद द्वारा पारित विनियोजनों से संबंधित लेखों की जांच के लिए एक लोक लेखा समिति होगी जिसमें 15 सदस्य होंगे। समिति के सदस्यों का संसद द्वारा प्रति वर्ष अनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर एकल परिवर्तनीय मत प्रणाली की सहायता से चयन किया जाता है।
2. यदि समिति का अध्यक्ष किसी कारण अनुपस्थित रहे तो स्वयं समिति अपने में से किसी सदस्य को अध्यक्ष नियुक्त कर सकती है।
3. समिति का कार्यकाल एक वर्ष का होगा तथा इसमें जो रिक्त स्थान होते जाएंगे उनकी पूर्ति उपर्युक्त मतदान पद्धति से निरन्तर रूप से की जाती है। नव–निर्वाचित सदस्य तब तक अपने पद पर बना रहेगा जब तक उनका पूर्ववर्ती इस पद पर बना रहेगा।
4. कार्यवाही संचालन के लिए समिति की बैठक में कम से कम चार सदस्य उपस्थित होने चाहिए। सदस्यों में से ही लोक सभा अध्यक्ष द्वारा किसी को समिति का मुखिया मनोनीत किया जाता है, पर यदि लोक सभा का उपाध्यक्ष ही समिति का सदस्य चुना जाता है तो फिर वही लोक लेखा समिति का अध्यक्ष नियुक्त किया जायेगा।
5. किसी विषय पर मतदान हो और यदि बराबर मत पड़े तो निर्णय करने के लिए समिति के मुखिया को दुबारा मत देने का अधिकार प्राप्त होता है।

लोक लेखा समिति का पुनर्गठन

1953 में भारतीय राज्यसभा की नियम समिति ने अपने अध्यक्ष से लोक लेखा समिति में राज्य सभा के सदस्यों को भी मनोनीत करने की सिफारिश की, ताकि पी.ए.सी. एक संयुक्त समिति के रूप में कार्य कर सके। लोक सभा द्वारा 23 फरवरी, 1953 को इस प्रस्ताव को एक मत से अस्वीकार कर दिया गया। लेकिन तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने लोक सभा में स्वयं एक प्रस्ताव रखकर राज्य सभा से लोक लेखा समिति के लिए सात सदस्य मनोनीत करने का अनुरोध प्रस्ताव 12 मई, 1953 को पास करवा लिया। 1954 से लोक लेखा समिति में कुल 22 सदस्य होते हैं। इसमें से 15 सदस्य लोक सभा से तथा 7 सदस्य राज्य सभा से चुने जाते हैं।

लोकसभा में बहस के समय सदस्यों ने इस परिवर्तन को लोक सभा के वित्तीय अधिकारों पर राज्य सभा का हस्तक्षेप करार दिया। लोक सभा इसे दोनों सदनों की संयुक्त समिति मानने को तैयार नहीं थी। ऐसी स्थिति में तत्कालीन लोक सभा अध्यक्ष

टिप्पणी

मावलंकर ने अपनी व्यवस्था देते हुए कहा था कि, "यह संयुक्त समिति नहीं है। यह लोक सभा अध्यक्ष के नियंत्रण में लोक सभा समिति है। जहां पर विचार–विमर्श तथा मतदान का सवाल है उनका भी वही सम्माननीय स्थान होगा, वे भी तो आखिर सदस्य हैं। केवल यही अन्तर होगा कि वे लोक लेखा समिति के सदस्य के रूप में काम करेंगे तो वे लोक सभा अध्यक्ष के नियंत्रण में कार्य करेंगे।"

इससे यह बात स्पष्ट होती है कि लोक लेखा समिति अपने वर्तमान स्वरूप में भी एक संयुक्त समिति के रूप में कार्य नहीं करती। 1967 तक इस समिति का अध्यक्ष शासक दल का ही कोई सदस्य हुआ करता था। सन् 1969 में प्रथम बार मीनू मसानी विरोधी दल के नेता बने तो उन्हें लोक लेखा समिति का अध्यक्ष भी मनोनीत कर लिया गया और इसके साथ ही हमारे देश में एक स्वस्थ परम्परा की शुरुआत हुई। समिति के चुनाव प्रतिवर्ष होते हैं जबकि इसका कार्यकाल द्वि–वार्षिक है। यही कारण कि इस समिति में हर समय कुछ अनुभवी सदस्य बने रहते हैं।

लोक लेखा समिति के अधिकार तथा कर्तव्य

लोक लेखा समिति के कार्यों की शुरुआत भारत के महालेखापरीक्षक के प्रतिवेदन को प्राप्त करने के साथ होती है। समिति की अनौपचारिक बैठक में महालेखापरीक्षक समिति को अपने प्रतिवेदन में उठाये गए मुख्य मुद्दों की पृष्ठभूमि तथा इनमें अन्तर्निहित गंभीर अनियमितताओं के बारे में पूरी जानकारी देता है। जब समिति द्वारा विभागीय अधिकारियों से जवाब तलब किया जाता है, तब स्वयं ए.जी. अथवा उसका प्रतिनिधि समिति की बैठक के समय उपस्थित रहता है।

भारतीय संसदीय कार्यवाही नियम 143 के तहत महालेखापरीक्षक से प्राप्त जानकारी की पृष्ठभूमि में लोक लेखा समिति के कार्यों को निम्नवत निरूपित किया गया है–

1. भारत सरकार के विनियोजन लेखों का सूक्ष्म निरीक्षण करना;
2. क्या व्यय उसी अधिकारी द्वारा किया गया है जो उसके लिए अधिकृत है?
3. लेखों में दिखायी गई राशि को क्या वैध रूप से प्राप्त किया गया है तथा क्या उसे उन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए खर्च किया गया है जिनके लिए संसद ने अपने विनियोजन अधिनियम में स्वीकृति दे रखी है;

इन आधारभूत कार्यों के अलावा लोक लेखा समिति का यह भी कर्तव्य है कि वह,

1. विभिन्न सरकारी निगमों, उत्पादक संस्थानों तथा योजनाओं के आय–व्यय के ब्यौरे तथा उनसे संबंधित महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन में दर्शायी टिप्पणियों की जांच करे;
2. राष्ट्रपति के विशेष निर्देश द्वारा महालेखा परीक्षक की ओर से किसी भण्डार की जांच के लिए तैयार किए गए प्रतिवेदन पर विचार करें;
3. संसद अथवा राष्ट्रपति के आदेशों के अनुसार किसी स्वतंत्र निकाय अथवा निगम के लेखों के लिए महालेखापरीक्षक द्वारा तैयार अंकेक्षण प्रतिवेदनों की पृष्ठभूमि में इन इकाइयों के आय–व्यय लेखों की जांच करें। नियम संख्या 308(4) के

टिप्पणी

अन्तर्गत समिति को किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए संसद द्वारा स्वीकृत धनराशि से किसी वित्तीय वर्ष में अधिक राशि खर्च किए जाने की स्थिति की जांच की जिम्मेदारी भी सौंपी गई है। नियमों में यह प्रावधान है कि समिति किसी भी ऐसे लेखों की जांच कर सकती है जो संसद के समक्ष प्रस्तुत किए गए हों। इस व्यवस्था के कारण समिति का कार्य–क्षेत्र काफी व्यापक हो जाता है फलतः वह राज्य निगमों, दामोदर घाटी निगम, बन्दरगाह, न्यास, चाय बोर्ड, केंद्रीय वैज्ञानिक तथा औद्योगिक शोध संस्थान जैसी संस्थाओं के लेखों की जांच करने के बाद अपना मन्तव्य सदन के समक्ष प्रस्तुत कर सकती है।

पी.ए.सी. प्रत्येक मंत्रालय अथवा विभाग के लेखों की जांच करती है। नीति संबंधी परामर्श मुद्दों पर वह अपनी राय नहीं देती। सन् 1959 में रेलवे बोर्ड ने समिति से नीति संबंधी परामर्श चाहा था तो पी.ए.सी. के अध्यक्ष ने जवाब दिया कि,"हम नीति निर्धारक संस्था नहीं हैं। हम केवल लेखों की जांच करने वाली संस्था हैं– नीति निर्णय तो सरकारी स्तर पर ही लिए जाने चाहिए।" इससे यह स्पष्ट होता है कि लोक लेखा समिति दलीय हितों के ऊपर उठकर अपने अधिकार–क्षेत्र में रहकर कार्य करना अधिक तर्कसंगत मानती है।

लोक लेखा समिति की कार्य प्रक्रिया

समिति अपने गठन के पश्चात अपनी कार्यवाही की रूपरेखा तैयार करती है। इस रूपरेखा के बारे में वह सभी मंत्रालयों को तथा विभागों को सूचित कर देती है, ताकि उनके प्रतिनिधि नियत तिथि को पूर्ण तैयारी के साथ समिति तथा महालेखा परीक्षक के समक्ष अपना स्पष्टीकरण देने के लिए उपस्थित हो सकें। आवश्यकता पड़ने पर समिति अपने सदस्यों के एक छोटे से अध्ययन दल को किसी योजना अथवा निगम का मौके पर निरीक्षण करने के लिए भेज सकती है।

समिति को अपनी जांच से संबंधित किसी दस्तावेज अथवा परिपत्र को मंगवाने अथवा किसी व्यक्ति को बुलवाने (यदि राष्ट्रीय सुरक्षा को इससे कोई खतरा उत्पन्न न हो) का पूरा अधिकार है।

लोक लेखा समिति एक ऐसा मंच है जहां सरकारी अधिकारी तथा लोक प्रतिनिधि आमने–सामने बैठकर विचार–विमर्श करते हैं। सचिव स्तर के अधिकारियों को विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रश्नों का उत्तर देना होता है। यदि उनके स्पष्टीकरण से समिति संतुष्ट नहीं होती तो उन्हें यह आश्वासन देना पड़ता है कि भविष्य में लोक व्यय में अपव्यय अथवा ऐसी किसी भी त्रुटि को टालने का प्रयत्न किया जाएगा। इन मौखिक स्पष्टीकरणों के साथ लिखित स्पष्टीकरण भी लिए जाते हैं और समिति की पूरी कार्यवाही का ब्यौरा शब्दशः रखा जाता है।

लोक लेखा समिति द्वारा कार्य निष्पादन समीक्षा

अर्थ–व्यवस्था के महत्वपूर्ण क्षेत्रों तथा सरकार की विभिन्न योजनाओं और संगठनों के बारे में लोक लेखा समिति द्वारा सर्वांगीण कार्य निष्पादन समीक्षा की है। क्या सरकार द्वारा आरम्भ की गई विभिन्न योजनाओं और परियोजनाओं से अपेक्षित परिणाम प्राप्त हुए हैं अथवा नहीं, इसने इस बात पर भी ध्यान दिया है। लोक लेखा समिति न केवल वित्तीय अनियमितताओं को प्रकट करती है बल्कि 'समग्र सामग्री निवेश' और उससे

टिप्पणी

प्राप्त 'उत्पादन' में उचित समन्वय होने या न होने को भी उजागर करती है। वर्ष 1967–68 में समिति द्वारा रेलवे के कार्य निष्पादन का मूल्यांकन योजना लक्ष्यों के संदर्भ में किया। समिति ने यह टिप्पणी की कि सरकार द्वारा अपनायी गई नीति और तरीके दोषपूर्ण और अवास्तविक थे और उनमें आवश्यकता से अधिक पूंजी निवेश किए जाने के कारण अर्थ–व्यवस्था के अन्य आवश्यक क्षेत्रों पर दुष्प्रभाव पड़ा। इसकी समीक्षा की गई और परिणामतः चौथी पंचवर्षीय योजना में रेलवे के लिए कुल परिव्यय 1.525 करोड़ रुपए से घटाकर 1.275 करोड़ रुपए कर दिया गया।

लोक लेखा समिति के कार्यों का मूल्यांकन

लोक लेखा समिति ने अपनी सिफारिशों को लागू कराने बाबत प्रक्रिया को नियमबद्ध कर रखा है। आन्तरिक कार्य नियम 27 में कहा गया है कि, "लोक सभा सचिवालय की लोक लेखा समिति शाखा द्वारा एक पूर्ण विवरण रखा जाएगा जिसमें लोक लेखा समिति की सिफारिशों को लागू करने के लिए विभिन्न मंत्रालयों द्वारा उठाये गए अथवा संभावित कदमों का ब्यौरा हो, तथा कमेटी की अगली बैठक के कम से कम एक सप्ताह पूर्व सभी सदस्यों में वितरित करने की व्यवस्था करें।"

समिति की हर सिफारिश को मानना सरकार के लिए अनिवार्य नहीं है, फिर भी सरकार द्वारा यह प्रयास किया जाता है कि समिति की अधिकाधिक सिफारिशों को क्रियान्वित किया जाए। समिति की सिफारिशों को तीन शीर्षों में विभाजित किया जा सकता है–

1. **प्रशासनिक मामलों में लोक लेखा समिति की सिफारिशें**– लोक लेखा समिति द्वारा अपने विभिन्न प्रतिवेदनों में प्रशासकों के अधिकार तथा उन्हें उपयोग करने की स्वतंत्रता एवं नियमों की अवमानना से होने वाली आर्थिक क्षति के लिए जिम्मेदार अधिकारियों को दंडित करने से संबंधित अनेक अनुशंसाएं की गई हैं।
2. **वित्तीय प्रशासन से संबंधित मुद्दों पर सुझाव देना**– समिति समय पर लेखा और प्रतिवेदन प्रस्तुत करना, बजट तथा अति–व्यय पर नियंत्रण, बिना संसदीय स्वीकृति के वित्तीय वर्ष में नयी योजनाएं प्रारम्भ करने की परिपाटी, समय–समय पर विभिन्न विभागों तथा लेखा–अधिकारियों द्वारा तैयार किए गए लेखों में समन्वय, बिना अनुमान किए योजनाओं पर व्यय करने की प्रवृत्ति, राज्यों को दिए जाने वाले अनुदानों में अनियमितता, योजना प्रावधानों के अनुरूप विभिन्न योजनाएं पूरी न हो पाना, अंकेक्षण व्यवस्था का विस्तार कर आन्तरिक तथा प्रशासनिक अंकेक्षण प्रारम्भ करना, आदि मामलों पर समिति अपने सुझाव देती रहती है।
3. समिति अन्य सामान्य मामलों में भी सरकार का ध्यान आकर्षित करती रही है जैसे सरकार की विभिन्न ठेकेदारी शर्तों, भण्डारण, कार्यशालाओं तथा सुरक्षा कारखानों में पायी जाने वाली अनियमितताओं के विषय में।

लोक उपक्रम समिति (Public Undertaking Committee)

लोक उपक्रम समिति संसद की तीन प्रमुख समितियों में से एक है। इस समिति का गठन 1 मई, 1964 को किया गया। इसमें 22 सदस्य होते हैं जिनमें से 15 सदस्य लोकसभा से तथा 7 सदस्य राज्य सभा से होते हैं। प्रत्येक सदस्य का एक मत होता

टिप्पणी

है। इस समिति के अन्य सदस्यों का चयन आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर किया जाता है।

अवधि (Tenure)– इस समिति की अवधि पांच वर्ष होती है। प्रति वर्ष कुल सदस्यों का 1/5 भाग क्रम से अवकाश ग्रहण करता है।

कार्य (Functions)– समिति के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं :

1. ऐसे लोक उपक्रमों के खातों और प्रतिवेदनों की जांच करना जिन्हें इस उद्देश्य के लिए समिति को आबंटित किया है।
2. नियंत्रक और महालेखाकार द्वारा यदि लोक उपक्रमों पर कोई प्रतिवेदन प्रस्तुत किया गया है तो उसकी जांच करना।
3. यह जांच करना कि क्या लोक उपक्रमों का प्रबंध व्यवसायिक नियमों और वाणिज्यिक व्यवहारों के अनुरूप किया जा रहा है।
4. स्पीकर द्वारा समय–समय पर लोक लेखा समिति व अनुमान समिति की भांति लोक उपक्रमों से संबंधित अन्य पक्षों व कार्यों की जांच का कार्य सौंपना।

सीमाएं (Limitations)– लोक उपक्रम समिति को निम्नलिखित पक्षों में अपना दखल देने का अधिकार नहीं है–

(1) लोक उपक्रमों के व्यावसायिक कार्यों से अलग प्रमुख सरकारी नीतियों के संबंध में;

(2) रोजमर्रा के प्रशासनिक मामलों में;

(3) जिस विशिष्ट धारा या उपबंध के अधीन कोई विशिष्ट लोक उपक्रम स्थापित हुआ है उस उपक्रम से संबंधित मामले में।

इस समिति को यह अधिकार है कि वह किसी भी अन्य संसदीय समिति की भांति किसी भी लोक उपक्रम अथवा मंत्रालय से सूचना प्राप्त कर सकती है। यह लोक उपक्रमों से संबंधित अधिकारियों को अपने सम्मुख उपस्थित होकर लोक उपक्रमों की जांच से संबंधित प्रमाण प्रस्तुत करने का आदेश दे सकती है। यह संबंधित प्रशासनिक मंत्रालय के प्रमाणों की भी जांच कर सकती है। लोक उपक्रमों की एक समिति द्वारा सामान्यतया जो जांच की जाती है, उसमें उपक्रम के निष्पादन का मूल्यांकन किया जाता है जिसमें उपक्रम के सभी पक्षों जैसे नीतियों, कार्यक्रमों, प्रबन्ध, वित्तीय–कार्यप्रणाली आदि के क्रियान्वयन को शामिल किया जाता है।

समिति की कार्य प्रणाली

समिति ने अपना प्रथम प्रतिवेदन अप्रैल 1965 में निकाला। 5वीं व 6वीं लोकसभा के दौरान इस समिति ने क्रमशः 87 व 16 प्रतिवेदन प्रस्तुत किए। इस समिति को सत्य–अन्वेषक समिति माना जाता है। यह समिति आवश्यक रूप से लोक उपक्रमों की कार्य प्रणाली पर होने वाले वार्षिक विवादों में संसद की सहायता करती है। अतः इस समिति का संबंध लोक उपक्रमों की कार्यप्रणाली से होता है।

जहां तक अनुमान समिति और लोक उपक्रम समिति का संबंध है अध्ययन समूह का यह सुझाव है कि बजट कार्यक्रम के निष्पादन की समीक्षा का कार्य एक समिति, जिसे निष्पादन समिति कहा जा सकता है, द्वारा ज्यादा अच्छी प्रकार किया जा सकता

है। अतः अनुमान समिति और लोक उपक्रम समिति को निष्पादन समिति से प्रतिस्थापित कर देना चाहिए। निष्पादन समिति के दो खंड होने चाहिए। इस संबंध में प्रशासनिक सुधार आयोग के सुझाव को न मानते हुए स्थिति को यथावत रखा गया है।

टिप्पणी

4.4.2 लेखांकन और लेखा परीक्षक

सरकारी वाणिज्यिक प्रतिष्ठान, जिनके हिसाब–किताब नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की लेखा परीक्षा का विषय हैं, तीन श्रेणियों के अधीन होते हैं : विभागीय उपक्रम, सरकारी कंपनियां और सार्वजनिक निगम।

सरकारी कंपनियों के वार्षिक बजट संसद के मत का विषय नहीं होते; केवल शेयर पूंजी की खरीद या ऋण अनुदानों के रूप में उनके पूंजी निवेश कार्यक्रमों से संबद्ध कुल सरकारी अनुदानों के लिए संसद का मत आवश्यक होता है। यह स्पष्ट है कि इन कंपनियों के लेखों की लेखा परीक्षा लेखा परीक्षकों के दो समूह करते हैं, यानी उन कंपनियों के वैधानिक लेखा परीक्षक जो वाणिज्यिक लेखा परीक्षा के सिद्धांतों के अनुरूप लेखों की लेखा परीक्षा करते हैं, और नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक जो उन लेखों की कमोवेश सरकारी विभागों में लागू वित्तीय लेखा परीक्षा के सिद्धांतों पर लेखा परीक्षा करते हैं। भारतीय कंपनी अधिनियम के तहत, इन व्यावसायिक लेखा परीक्षकों (आमतौर पर चार्टर्ड एकाउंटेंटों (सनदी लेखापालों) की निजी कंपनियों के लेखा परीक्षकों) की नियुक्ति नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की सलाह पर केंद्र सरकार करती है, जो यह निर्देश भी दे सकते हैं कि कंपनी के लेखों की लेखा परीक्षा किस प्रणाली में की जाए। यदि वह व्यावसायिक लेखा परीक्षकों की लेखा परीक्षा से संतुष्ट न हों, तो जांच अथवा पूरक लेखा परीक्षा का संचालन भी कर सकते हैं। पूरक लेखा परीक्षा की टिप्पणियां संसद में प्रस्तुत वार्षिक लेखा परीक्षा प्रतिवेदन में शामिल की जाती हैं। अधिनियम में प्रावधान किया गया है कि कंपनी के व्यावसायिक लेखा परीक्षक अपने लेखा परीक्षा प्रतिवेदन की एक प्रति नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (सीएजी) को सौंपेंगे जो अपनी दृष्टि में उपयुक्त ढंग से लेखा परीक्षा के प्रतिवेदन पर टिप्पणी कर सकते हैं अथवा उसमें कुछ जोड़ सकते हैं।

अधिकांश सार्वजनिक निगम लोक निधियों के व्यय पर लागू विनियमन एवं निषेध कानूनों से मुक्त होते हैं और सामान्यतः मंत्रालयों, विभागों या अन्य सरकारी संस्थाओं में लागू बजट निर्धारण और लेखा परीक्षा प्रक्रियाओं के अधीन नहीं आते। इन निगमों के बजटों के लिए को संसद के मत की आवश्यकता नहीं होती; केवल सरकार से वित्तपोषित उनके पूंजी निवेश कार्यक्रमों से संबद्ध कुल अनुदानों के लिए संसद का मत आवश्यक होता है। इसलिए, इन स्वायत्त वैधानिक निगमों का दायित्व लेखों के यथा प्रस्तावित रखरखाव की व्यवस्था करने वाली उनकी संबद्ध स्थिति के अनुरूप सुनिश्चित किया जाता है और उनकी लेखा परीक्षा किसी स्वतंत्र प्राधिकारी के द्वारा कराई जाती है। लेखा परीक्षा के प्रयोजनों से ये निगम तीन कोटियों में आते हैं :

1. एयर इंडिया, दामोदर घाटी निगम और इंडियन एयरलाइंस निगम जैसे कुछ निगम हैं जिनकी लेखा परीक्षा का दायित्व पूरी तरह से नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (सी एवं एजी) को सौंपी गई है।

(2) औद्योगिक वित्त निगम और केंद्रीय भंडारण निगम जैसे कुछ निगम हैं, जिनकी लेखा परीक्षा व्यावसायिक लेखा परीक्षकों, यानी चार्टर्ड एकाउंटेंट की निजी

टिप्पणी

कंपनियों के लेखा परीक्षकों द्वारा कराई जाती है। इन लेखा परीक्षकों की नियुक्ति केंद्र सरकार नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (सी एवं एजी) के परामर्श से करती है, जिसे यह अधिकार भी होता है कि यदि उसे आवश्यक लगे तो अपने बूते अथवा सरकार के अनुरोध पर इस प्रकार की पूरक लेखा परीक्षा कर सकता है।

(3) भारतीय रिजर्व बैंक, भारतीय जीवन बीमा निगम और भारतीय खाद्य निगम जैसे कुछ अन्य निगम भी हैं, जिनकी लेखा परीक्षा विशेष रूप से चार्टर्ड एकाउंटेंटों की निजी कंपनियों के द्वारा कराई जाती है और इसमें नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की कोई भूमिका नहीं होती। इन निगमों को अपना वार्षिक प्रतिवेदन और लेखा सीधे संसद में ही प्रस्तुत करना पड़ता है।

लेखाकरण (लेखांकन)

यदि एक सामान्य व्यक्ति की दृष्टि से देखा जाए, तो लेखाकरण की कार्यप्रणाली अत्यंत जटिल है। अतः, लेखाकरण क्या है? सरल शब्दों में, यह एक ऐसी कार्यविधि है जिसके माध्यम से किसी व्यवसाय अथवा संस्था की वित्तीय जानकारी से उसके प्रबंधकों और शेयरधारकों को अवगत कराया जाता है।

अमेरिकन इंस्टिट्यूट ऑफ सर्टिफाइड पब्लिक एकाउंटेंट्स जो एआइसीपीए के रूप में भी विख्यात है, ने लेखाकरण की व्याख्या 'एक सार्थक ढंग से और मुद्रा, लेनदेन व उन घटनाओं पर, जो आंशिक रूप में भी सही, वित्तीय स्वरूप की हों, विचार करते हुए अभिलेख, वर्गीकरण, और उसके परिणामों की व्याख्या करने की कला' के रूप में की है।

लेखाकरण का इतिहास

लेखाकरण (लेखा विधि) कोई आज की अवधारणा नहीं है, जैसा कि कुछ लोग कह सकते हैं, इतना अवश्य है कि आज हम जिन विधियों का उपयोग करते हैं, वे समकालीन हैं, किंतु, लेखाकरण (लेखा विधि) की कार्यप्रणाली सहस्रों वर्ष पूर्व भी अस्तित्व में थी। कुछ खोजों से पता चला है कि लेखाकरण (लेखा विधि) की प्रणाली मध्य पूर्व में लगभग सात हजार वर्ष पूर्व चलन में थी।

(1) **वेद**– वेद, जो संस्कृत ग्रंथों में सर्वाधिक प्राचीन माने जाते हैं और जिन्हें विश्व भर में उपलब्ध प्राचीनतम ग्रंथों में से एक माना जाता है, में भी लेखाकरण प्रणाली का उल्लेख है, जिससे प्रमाणित होता है कि लेखा कार्यप्रणाली का कोई स्वरूप वैदिक काल के दौरान प्रचलित था। यहां वैदिक युग में प्रचलित लेखाकरण के कुछ शब्द प्रस्तुत हैं :

- विक्रय और निरुक्त – अथर्ववेद, कर का द्योतक
- शुल्क – ऋग्वेद और धर्मसूत्र, जो मूल्य और कर के द्योतक

(2) **मेसोपोटामिया संस्कृति में**– जैसा कि असीरिया, बेबिलोन और सुमेरिया के भग्नावशेषों से पता चला है, लेखाकरण की प्रणाली मेसोपोटामिया की संस्कृति में भी प्रचलित थी। ये लेखाकरण (लेखा विधि) की सर्वाधिक प्राचीन विधियां थीं। इनका उपयोग वे अपनी फसलों और पशुओं की वृद्धि का एक लेखा–जोखा

रखने के लिए करते थे। अपने लेखाकरण के प्रयोजनों से वे चिकनी मिट्टी के टोकनों का उपयोग करते थे।

(3) **इस्लामी संस्कृति में**– लेखाकरण का उल्लेख पवित्र कुरान में भी मिलता है किंतु बहियों (पुस्तकों) की प्रणाली में नहीं बल्कि अपेक्षाकृत एक सामान्य अर्थ में। कुरान में लेनदेन का कोई अभिलेख रखने का उल्लेख नहीं है और न ही उसमें उसे मंजूरी दी गई है।

टिप्पणी

(4) **आधुनिक लेखाकरण**– आधुनिक समय में, लेखाकरण को 'व्यवसाय की भाषा' कहा जाता है, क्योंकि यह विभिन्न लोगों और समुदायों के बीच व्यवसाय से संबद्ध वित्तीय जानकारी के संचरण के एक वाहक का कार्य करता है। यह व्यवसाय की स्थिति की ठोस जानकारी मुहैया कराता है।

वाणिज्यिक लेखाकरण/सरकारी लेखाकरण

यदि हम आर्थिक व्याख्या देखें, तो 'वाणिज्यिक लेखाकरण का संबंध किसी कंपनी से होता है, जो एक उत्पादन इकाई भी होती है।' कोई कंपनी यहां प्रस्तुत रूपों में से किसी भी रूप की हो सकती है :

- स्वामित्व
- साझा
- संयुक्त स्टॉक कंपनी

भारत में, फर्म आम तौर पर साझा होती है जबकि कोई कंपनी एक कॉर्पोरेट संस्था होती है। इन संस्थाओं का एक मात्र उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ अर्जन करना होता है। यह विकास के लिए उनका मुख्य प्रेरक कारक भी है। इसलिए निजी फर्मों, उद्यमों और कॉर्पोरेशनों में वित्तीय प्रबंधन की नज़र अधिक से अधिक लाभ अर्जन करने पर रहती है।

इसके विपरीत, सरकार का सरोकार देश के नागरिकों का कल्याण होना चाहिए। इसके अस्तित्व का मूल आधार उसके अपने नागरिकों के लिए कल्याणकारी कार्य करने में निहित है। कॉर्पोरेशनों की तरह, उसे भी धन जुटाना होता है क्योंकि धन के किसी साधन के बिना वह कार्य नहीं कर सकती। इससे सरकारी लेखा सामने आता है क्योंकि समुचित लेखाकरण प्रणाली के बिना वित्तीय प्रशासन की जटिल प्रणालियों को पूरा नहीं किया जा सकता।

सरकारी लेखाकरण प्रणाली का महत्व

भारत जैसे किसी लोकतांत्रिक देश में, सरकारी लेखाकरण प्रणाली अति महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि लोगों को यह जानने का अधिकार होता है कि सरकार के वित्तीय कार्यकलापों का संचालन प्रकार किया जा रहा है। इससे सरकार के प्रतिनिधियों के प्रति उनका विश्वास भी गहरा होता है। सरकार को नीचे प्रस्तुत वित्तीय सूचना मुहैया करानी चाहिए :

- राजस्व एवं व्यय की सूचना
- ऋणों एवं निक्षेपों की सूचना
- नक़द की उपलब्धता की सूचना।

टिप्पणी

राजस्व से संबद्ध सूचना

सरकार का राजस्व उस देश विशेष के नागरिकों से संग्रह किया जाता है। इसलिए, यह आवश्यक है कि लोगों को इसकी जानकारी हो कि उनसे लिये गए राजस्व का उपयोग देश के कल्याण के लिए किया जाता है। लेखों के विश्लेषण से इस उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है। सरकार द्वारा जुटाये गए राजस्व का वर्गीकरण इस प्रकार दो भागों में किया जा सकता है :

- कर राजस्व (आय)
- करेतर राजस्व (आय)

न केवल लोगों को, बल्कि सरकार को भी लेखों की जानकारी होनी चाहिए क्योंकि इससे, आवश्यकताओं के अनुरूप, लागू किए जाने वाले करों के प्रकारों का विष्लेशण करने में सहायता मिलती है। किंतु कर लगाने और राजस्व संग्रह करने में सरकार विश्वसनीय नहीं हो सकती। इसलिए राजस्व संग्रह से संबद्ध सही और यथार्थ सूचना मुहैया कराना सरकार के कर्तव्य का हिस्सा है।

व्यय संबंधी सूचना

राजस्व की तरह ही, व्यय संबंधी जानकारी मुहैया कराना भी सरकार का एक दायित्व है। विधायिका जैसे प्राधिकारण जो व्यय का अनुमोदन करने वाले निकाय हैं, को यह जानने का अधिकार है कि अनुमोदित निधियों का उपयोग समुचित ढंग से हो रहा है या नहीं।

ऋण एवं निक्षेप (जमा) संबंधी सूचना

निक्षेप, ऋण, कर और राजस्व सार्वजनिक में आते हैं। सरकारें जनता से राजस्व और करों के रूप में धन का संग्रह करती हैं, तो आम जनता, उद्योगों आदि को ऋण भी मुहैया कराती हैं। सरकार द्वारा मुहैया कराये जाने वाले इन ऋणों का एक विस्तृत खाता होना चाहिए, जिसका समुचित रखरखाव हो, ताकि विधायिका के समक्ष एक पारदर्शी विवरण प्रस्तुत किया जा सके।

नकदी उपलब्धता संबंधी सूचना

करों और अन्य उधार का संग्रह तथा व्यय सतत प्रक्रियाएं हैं जो वर्ष पर्यंत चलती हैं। इसलिए कोई ऐसी स्थिति हो सकती है, जब नकदी की प्राप्तियों और नकदी की वास्तविक उपलब्धता के बीच अंतर हो। इस तरह लेखाकरण की प्रणाली से इस अंतर को दूर करने में सहायता मिलती है। बैंक समाधान विवरण इस कार्यविधि का हिस्सा है।

शब्द एवं व्याख्याएं

सरकारी लेखाकरण से संबद्ध कुछ प्रचलित शब्द हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

- राजकोष (कोषागार)
- अनुदान की मांग
- अनुपूरक अनुदान
- मत सापेक्ष (अनुमोदनीय) मद
- मत निरपेक्ष (निरनुमोदनीय) मद

- भारत का नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक
- लोक लेखा समिति।

टिप्पणी

राजकोष (कोषागार)

शब्द राजकोश ब्रिटिश वित्तीय प्रणालियों से लिया गया है। सरल शब्दों में, राजकोष (कोषागार) वह स्थान है, जहां सरकार का समस्त राजस्व रखा जाता है। ब्रिटेन का प्रधान मंत्री राजकोष के लॉर्ड के रूप में कार्य करता है। भारत में, केंद्रीय राजकोष जैसी कोई चीज नहीं है। किंतु राज्यों में जिला राजकोष (कोषागार) होते हैं।

अनुदान की मांग

सरकारी वित्त का एक मूलभूत सिद्धांत है जिसके अनुसार संसद के अनुमोदन के बिना कोई भी सार्वजनिक प्राधिकरण व्यय नहीं कर सकता है। इसे अनुदान की मांग कहा जाता है। ये मांगें इस प्रकार हो सकती हैं :

- अनुदानित
- अस्वीकृत
- लघुकृत

अनुपूरक अनुदान

सरकार जब भी अतिरिक्त व्यय का भार अपने ऊपर लेना चाहती है, तो उसके अनुमोदन हेतु संसद में एक अनुपूरक आंकलन किया जाता है। यदि किसी वित्तीय वर्ष के दौरान किसी सेवा पर उस सेवा व उस वर्ष के लिए अनुदत्त राषि से कुछ अतिरिक्त धन व्यय किया गया हो, तो वित्त/रेलवे मंत्री अतिरिक्त अनुदान की एक मांग प्रस्तुत करता है।

बजट के अनुमोदनीय एवं निरनुमोदनीय मद

संसद में बजट पर चर्चा होने और वित्त मंत्री के मंतव्य दे देने के बाद बजट पर एक मतदान होता है। मत सापेक्ष (अनुमोदनीय) मदों में वे निधियां या व्यय आते हैं, जिन पर मतदान के लिए संसद में बजट पेश होने पर संसद चर्चा, उनमें कटौती अथवा संशोधन कर सके। संसद इन मदों को स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकती है। दूसरी ओर, मत निरपेक्ष (निरनुमोदनीय) मदों पर संसद में चर्चा, उनमें कटौती अथवा संशोधन नहीं किया जा सकता। ये मद बजट पर मतदान की सीमा से परे होते हैं। ये मद इस प्रकार हैं :

(क) भारत के राष्ट्रपति का वेतन और भत्ते तथा कार्यालय से संबद्ध अन्य व्यय

(इ) राज्य सभा के सभापति और लोकसभा के अध्यक्ष व उपाध्यक्ष का वेतन तथा भत्ते

(ब) भारत सरकार का ऋण प्रभार

(क) भारत के महाप्रबंधक का वेतन, पेंशन और भत्ते

लोक लेखा समिति

संसद अथवा राज्य विधायिका द्वारा गठित लोक लेखा समिति लोक–धन से संबद्ध व्ययों की जांच करती है। हमारे देश के मंत्री इस समिति में शामिल नहीं हो सकते। इसमें खास तौर पर विपक्ष के सदस्य होते हैं।

टिप्पणी

सरकारी लेखाकरण मानक सलाहकार बोर्ड (जीएएसएबी)

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 150 में उल्लेख है कि, 'संघ और राज्यों के लेखा विषयों को नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के परामर्श से राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित अभिरूप में रखा जाए।' इसी आधार पर, 12 अगस्त, 2002 को भारत सरकार की सहायता से, नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक ने संघ और राज्यों के लिए सरकारी लेखाकरण मानक सलाहकार बोर्ड (जीएएसएबी) का गठन किया।

संघटन

- उप नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक – अध्यक्ष
- लेखा महानियंत्रक, वित्त मंत्रालय, भारत सरकार
- वित्त आयुक्त, रेलवे, रेल मंत्रालय, भारत सरकार
- रक्षा लेखा महानियंत्रक, रक्षा मंत्रालय, भारत सरकार
- अतिरिक्त सचिव (बजट), वित्त मंत्रालय, भारत सरकार
- डिप्टी गवर्नर, भारतीय रिजर्व बैंक या उसका/उसकी मनोनीत
- महानिदेशक, राष्ट्रीय अनुप्रयुक्त आर्थिक अनुसंधान परिषद (एनसीएईआर), नई दिल्ली
- अध्यक्ष, भारतीय चार्टर्ड एकाउंटेंट संस्थान (भारतीय सनदी लेखाकार संस्थान) (इंस्टिट्यूट ऑफ चार्टर्ड एकाउंटेंट्स ऑफ इंडिया/आइसीएआइ), अथवा उसका/उसकी मनोनीत
- वार्षिक क्रमावर्तन (एन्युअल रोटेशन) के अनुरूप चार राज्यों के प्रधान सचिव (वित्त)/सचिव (वित्त)
- महा निदेशक (लेखा)/सदस्य सचिव के रूप में प्रधान निदेशक, भारत के नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक का कार्यालय

भारत सरकार लेखाकरण मानक (आइजीएएस)

- लेखा प्राधिकारी (लेखा प्राधिकारण) वह प्राधिकारी जो सरकार के वित्तीय विवरण तैयार करता है।
- लेखाकरण का रोकड़ आधार वह आधार है, जिसमें किसी वित्तीय वर्ष के दौरान किसी संस्था या कंपनी के लेखा लेनदेनों में उस संस्था या कंपनी को उसी वर्ष देय अथवा उसके द्वारा देय राशि से अलग की गई वास्तविक रोकड़ प्राप्तियों और संवितरणों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है।
- लेखाकरण (लेखांकन) अवधि का अर्थ वित्तीय विवरणों में समाविश्ट अवधि है।
- भारत की समेकित निधि का तात्पर्य भारत के संविधन की उपधारा (1) अनुच्छेद 266 में उल्लिखित निधि से है।
    - o ऋण उधार ली गई निधियों के निमित्त सरकार पर बकाया राशि होती है।
    - o वित्तीय विवरणों का अर्थ सरकारों का वार्षिक वित्त विवरण है।
    - o सरकार का अर्थ संघ सरकार अथवा कोई राज्य सरकार या किसी संघ शासित प्रदेश की सरकार है, जिसका अपना विधानमंडल हो।

टिप्पणी

- o व्यावसायिक क्षेत्र में 'संघ एवं राज्यों के मुख्य एवं लघु लेखाशीर्षों की सूची' के अनुरूप विशिष्ट कार्यों अथवा सेवाओं का वर्गीकरण होता है।
- o बजट का तात्पर्य संविधान के अनुच्छेद 202 के उपबंधों से संबद्ध राज्य सरकार का 'वार्षिक वित्तीय विवरण' है।
- o राज्य सरकार के लेखों का तात्पर्य लेखा प्राधिकारी द्वारा तैयार वार्षिक और आवधिक लेखों से है। इनमें मासिक सिविल (असैनिक) लेखे, वित्त लेखे आदि आते हैं।

नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor-General)

नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक का कार्यालय भारत सरकार में एक केंद्रीय कार्यालय है, जो संघ व राज्य स्तरों पर देश की संपूर्ण वित्तीय प्रणाली का संचालन करता है {अनु. 148}।

अंबेडकर के अनुसार भारत का नियंत्रक व महालेखा परीक्षक भारत के संविधान के अंतर्गत सर्वाधिक महत्वपूर्ण अधिकारी होगा, क्योंकि वह सार्वजनिक धन का संरक्षक होगा और और इस पर ध्यान रखना उनका कर्तव्य होगा कि उपयुक्त विधायिका के प्राधिकार के बिना भारत अथवा किसी राज्य की समेकित निधि का एक पैसा भी खर्च न हो। संक्षेप में, वह भारत की लेखा परीक्षा तथा लेखा प्रणाली के निष्पक्ष मुखिया होगा। इस कर्तव्य का समुचित ढंग से निर्वहन करने हेतु, यह अति आवश्यक है कि यह कार्यालय अधिशासी (कार्यपालिका) के किसी भी नियंत्रण से मुक्त हो।

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, सरकार की संसदीय प्रणाली के आधार को सुदृढ़ बनाये रखना, कार्यपालिका से विधायिका का दायित्व है और इस संचालन का सार विधायिका के अधीन वित्तीय नियंत्रण प्रणाली में निहित है। विधायिका इस कार्य का निर्वहन समुचित ढंग से कर सके इस हेतु यह आवश्यक है कि इस विधायिका की सहायता के लिए कार्यपालिका से पूरी तरह से मुक्त एक संस्था होनी चाहिए, जो सरकार के वित्तीय लेनदेन की जांच करे और इस जांच के परिणाम विधायिका के समक्ष प्रस्तुत करे। भारत सरकार अधिनियम, 1935 के तहत भी भारत का एक महालेखा परीक्षक था, और उस अधिनियम में व्यवस्था दी गई कि महालेखाकार को केवल 'संघीय न्यायालय के किसी न्यायाधीश की तरह उन्हीं आधारों पर हटाया जा सकता था, जिन पर उस न्यायाधीश को', अन्यथा उसे अचल रखते हुए उसकी स्वतंत्रता सुनिश्चित की गई। भारत में नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के कार्यालय का गठन मूलतः भारत सरकार अधिनियम, 1935 के तहत महालेखा परीक्षक के कार्यालय के अनुरूप किया गया है।

सेवा की शर्तें

नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की स्वतंत्रता संविधान के निम्नलिखित प्रावधानों के तहत सुनिश्चित की गई है–

(क) यद्यपि नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है, किंतु उसे संसद के दोनों सदनों के केवल एक संबोधन पर इन कारणों से हटाया जा सकता है– (1) 'प्रमाणित दुर्व्यवहार' अथवा (2) 'अक्षमता'। इस प्रकार, वह सामान्य नियम का एक अपवाद है कि संघ के सभी प्रशासनिक सेवक राष्ट्रपति के कृपापर्यंत सेवा में बने रहते हैं। {तुलना अनु. 310 (1)}।

टिप्पणी

(ख) उसका वेतन और सेवा की शर्तें व्यवस्था से स्थापित होगी (अर्थात् संसद द्वारा निर्धारित) और उसके कार्यकाल के दौरान इसमें किसी भी प्रकार का ऐसा कोई परिवर्तन नहीं किया जाएगा, जिससे उसे क्षति पहुंचे। इस अधिकार के तहत, संसद ने नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (सेवा की शर्तें) अधिनियम, 1971 लागू किया, जिसमें संशोधन के अनुरूप निम्नलिखित प्रावधान किये गए हैं :

(1) नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक कार्य आरंभ करेगा, उस दिन से उसका कार्यकाल 6 वर्षों का होगा। किंतु –

- यदि 6 वर्ष का कार्यकाल पूरा होने से पहले उसकी आयु 65 वर्ष की हो जाए, तो उसकी सेवा समाप्त हो जाएगी;
- राष्ट्रपति को स्वहस्ताक्षरित त्यागपत्र देकर वह कभी भी अपने पद से इस्तीफा दे सकता है।
- उसे महाभियोग से हटाया जा सकता है {अनु. 148 (1)}।

(2) उसका वेतन सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश के वेतन के बराबर होगा (जो 7वें वेतन आयोग के अनुसार 2,50,000 है)।

(3) सेवानिवृत्ति के पश्चात उसे यथानिर्धारित एक वार्षिक पेंशन दी जाएगी।

(4) अन्य मामलों में, उसकी सेवा की शर्तों का निर्धारण भारत सरकार में किसी सचिव के पद पर स्थापित किसी भारतीय प्रशासनिक सेवा (भा. प्र. से.) में कार्यरत किसी व्यक्ति पर लागू नियमों के अनुरूप किया जाएगा।

(5) सेवानिवृत्ति के बाद वह किसी भी सरकारी पद पर कार्य नहीं करेगा – ताकि संघ अथवा राज्य कार्यकारी अधिकारियों को खुश करने के प्रति उसके मन में कोई उत्प्रेरणा उत्पन्न न हो।

(6) नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षाक और उसके कर्मचारियों का वेतन तथा उसके कार्यालय के प्रशासनिक व्यय का भुगतान भारत की समेकित निधि से किया जाएगा और इसलिए इस पर कोई मतदान नहीं कराया जाएगा {अनु. 148}।

इस प्रकार, ऊपर वर्णित तथ्यों के अनुसार, नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक का पद सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश के पद के बराबर होता है।

नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक संसद द्वारा निर्धारित संघ और राज्यों के लेखों से संबद्ध कर्तव्यों का निर्वहन और शक्तियों का उपयोग करता है। इस शक्ति के उपयोग के प्रति संसद द्वारा लागू नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (कर्तव्य, शक्तियां एवं सेवा शर्तें) अधिनियम, 1971 के 1976 में किये गए संशोधन के अनुरूप उसे संघ के लेखों के संकलन के पूर्व–संविधानिक कर्तव्य से मुक्त कर दिया गया है; और राज्य स्तर पर भी राज्यों अथवा संघ के लेखों को लेखा परीक्षण से अलग रखने तथा लेखे प्रस्तुत करने के प्रति नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक को उसके दायित्व से मुक्त करने ध्येय से राज्य राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से समान कानून लागू कर सकते हैं।

नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के कर्तव्य और शक्तियां

नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के कर्तव्यों से संबद्ध इस अधिनियम के महत्वपूर्ण प्रावधान इस प्रकार हैं :

टिप्पणी

(क) व्यय कानून के अनुरूप हुआ है या नहीं इसकी पुष्टि हेतु भारत तथा प्रत्येक राज्य व विधान सभा वाले प्रत्येक संघ शासित प्रदेश की समेकित निधि से किये जाने वाले सभी व्ययों की लेखा परीक्षा करना और विवरण प्रस्तुत करना;

(ख) इसी प्रकार, संघ और राज्यों की आकस्मिकता निधियों तथा संघ व राज्यों के लोक लेखा के सभी व्ययों की लेखा परीक्षा कर विवरण प्रस्तुत करना;

(ग) संघ अथवा किसी राज्य के किसी भी विभाग में रखे सभी व्यापार, विनिर्माण, लाभ–हानि लेखों आदि की लेखा परीक्षा कर विवरण प्रस्तुत करना;

(घ) मूल्यांकन, संग्रह और राजस्व के समुचित आवंटन पर एक प्रभावशील नियंत्रण सुनिश्चित करने के ध्येय से निर्मित नियम और प्रक्रिया को लेकर आत्म संतुष्टि करने के लिए संघ और प्रत्येक राज्य की प्राप्तियों व व्ययों की लेखा परीक्षा करना;

(च) (1) संघ या राज्य के राजस्व से वित्तपोषित सभी संस्थाओं और प्राधिकरणों; (2) सरकारी कंपनियों; (3) अन्य निगमों अथवा संस्थाओं की, यथा आवश्यक, प्राप्तियों व व्यय की लेखा परीक्षा कर विवरण प्रस्तुत करना।

नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, भारत सरकार अधिनियम, 1935 में लेखे तैयार करने का एक प्रावधान किया गया था, जिसका ब्रिटिश प्रणाली में कोई दृष्टांत नहीं है। इसके तहत लेखे नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक द्वारा नहीं बल्कि संबद्ध विभाग द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं। इस प्रकार, भारत के नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक से लेखों की प्रस्तुति के कार्य को अलग करने का यह विधान इस कार्यालय को एक संदर्भ में इसके ब्रिटिश प्रतिरूप के समतुल्य बनाता है।

किंतु फिर भी अंतर का एक और मुख्य बिंदु है। यद्यपि इस कार्यालय के पद से ज्ञात होता है कि उसे नियंत्रक एवं लेखा परीक्षक दोनों रूपों में कार्य करना है, किंतु हमारा नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक अब तक केवल एक लेखा परीक्षक के अधिकारों का ही उपयोग कर रहा है। नियंत्रक के रूप में अपने अपने अधिकारों के उपयोग में, इंग्लैंड का नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक सार्वजनिक संपत्ति की प्राप्ति और निर्गम का संचालन करता है और यह देखना उसका कर्तव्य है कि समस्त सार्वजनिक राजस्व बैंक ऑफ इंग्लैंड में सरकारी राजकोष के खाते में सुरक्षित रखा जाए। तदनुसार, किसी विशिष्ट अधिकार के बिना कोषागार को नियंत्रक राजकोष से कोई भी धन नहीं दे सकता और, वह यह धन तब जारी करता है, जब उसे विश्वास हो जाए कि व्यय के लिए कोई समुचित कानूनी अधिकार है। लोक–धन के निर्गमों पर नियंत्रण की यह प्रणाली न केवल किसी अनधिकृत उद्देश्य के लिए आहरण पर बल्कि संसद द्वारा जारी अनुदानों से अधिक किसी व्यय पर भी अंकुश लगाती है।

भारत में, समेकित (संचित) निधि से धन के निर्गम पर नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक का ऐसा कोई नियंत्रण नहीं है और कतिपय विभागों को नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक, जिसका अधिकार धन के व्यय के बाद केवल लेखा परीक्षा तक सीमित है, से किसी विशिष्ट अधिकार के बिना चेक जारी कर धन आहरण करने का अधिकार है। यह प्रणाली अतीत की एक निशानी है, क्योंकि भारत सरकार अधिनियमों के अंतर्गत,

टिप्पणी

तब 'नियंत्रक' का पद भी नहीं था और महालेखा परीक्षक के कार्य प्रकटतः लेखा परीक्षा तक सीमित थे। संविधान के अस्तित्व में आने के बाद, विशेष रूप से यह सुनिश्चित करने के लिए कि 'संसद द्वारा अनुमोदित अनुदान और विनियोग तय सीमा से अधिक न हों', इसकी आवश्यकता महसूस की गई कि इंग्लैंड की तरह निर्गमों पर हमारे नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक का भी नियंत्रण हो। किंतु निर्गमों पर राजकोष की नियंत्रण प्रणाली को लागू करने की दिशा में अभी तक कोई प्रयास नहीं किया गया है क्योंकि ऐसा महसूस किया गया है कि संचालन और नियंत्रण को नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के हाथों में केंद्रीकृत करने से पहले लेखों और वित्तीय नियंत्रण की समस्त प्रणाली को पूरी तरह से जांच कर सुव्यवस्थित कर लेना आवश्यक है।

नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के कार्य (अधिकार) हाल के दिनों में नीचे प्रस्तुत दो समस्याओं को लेकर विवादों में घिरे रहे हैं :

(1) लेखा परीक्षा के अपने कार्य को अमल में लाने के लिए, नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक को किसी विशेष व्यय के प्रति विधिक अधिकार के अतिरिक्त, असंयमित व्यय पर अपना मत प्रकट करने व अर्थव्यवस्था पर सुझाव देने का अधिकार है या नहीं : इस संदर्भ में परंपरावादी मत यह है कि जब कोई कानून किसी प्राधिकारी को व्यय का अनुमोदन करने अथवा निर्णय लेने का अधिकार देता है, तो अर्थव्यवस्था की वैधता के अतिरिक्त उसके हितों से संबद्ध विशेष मामलों में, लेखा परीक्षा के कार्य में इस अधिकार के उपयोग के औचित्य की संवीक्षा भी आती है। किंतु सरकारी विभाग इसके प्रति इसलिए उदासीनता बरतते हैं कि यह हस्तक्षेप प्रशासन के प्रति उनके दायित्व के प्रतिकूल है। ऐसे में, एप्लिबाई जैसे शिक्षाविद् विभागों का समर्थन करते हैं, जिनका मानना है कि अर्थव्यवस्था की समस्या प्रशासन के कौशल से गहराई जुड़ी हुई है, और यह कि नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक या उसके कर्मचारियों, जिनका प्रशासन के प्रति कोई दायित्व नहीं था, को अर्थव्यवस्था की समस्या पर कोई अर्थव्यवस्था की कोई जानकारी नहीं थी :

लेखा परीक्षकों को उत्तम प्रशासन की जानकारी नहीं होती और न ही उनसे इसकी आशा की जा सकती है; उनकी प्रतिष्ठा उन अन्य लोगों के साथ अति उच्च है जो प्रशासन के बारे में अधिक नहीं जानते—लेखा परीक्षण एक आवश्यक किंतु अति मामूली कार्य है जिसका दृष्टिकोण संकुचित और उपयोगिता अति सीमित है।

(2) नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक प्राइवेट लिमिटेड कंपनियों, जिनका संचालन उनके संघों के अनुच्छेदों के तहत होता है, के माध्यम से सरकार द्वारा संचालित औद्योगिक एवं वाणिज्यिक उपक्रमों की, अथवा कानून के अनुरूप संचालित सांविधिक सार्वजनिक निगमों या उपक्रमों की लेखा परीक्षा कर सकता है या नहीं— यह दूसरा मुद्दा है। किसी पूर्व नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक ने सही ही कहा था क्योंकि कंपनियों एवं कॉर्पोरेशनों में निवेश हेतु धन सरकार की ओर से भारत की समेकित (संचित) निधि से जारी किया जाता है, इसलिए इन कंपनियों की लेखा परीक्षा अनिवार्यतः नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक का एक अधिकार और दायित्व होना चाहिए, जबकि वर्तमान में नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक ऐसा कोई

टिप्पणी

अधिकार तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक कि इन कंपनियों के संस्था के अंतर्नियमों अथवा संचालन विधानों में नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक द्वारा लेखा परीक्षा का प्रावधान न किया जाए। परिणाम यह है कि नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन में इन निगमों के लेखों की जांच के परिणाम नहीं होते और सार्वजनिक धन पर निर्भर इन महत्वपूर्ण संस्थाओं के संचालन के लिए लोक लेखा समिति अथवा संसद के पास सामग्री का अभाव होता है। किंतु, सरकार ने नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के कार्य के विस्तार की अनुमति इसलिए नहीं दी है कि नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक को व्यवसाय अथवा उद्योग का अनुभव का नहीं होता, जो इन उद्यमों के लेखों की परीक्षा के लिए अनिवार्य है और यह कि नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के परंपरागत तंत्र के उपयोग से उद्यम पंगु हो सकते हैं, जो राष्ट्र के विकास के लिए अपरित्याज्य हैं।

दोष का अंशतः निवारण किया गया है, जिसमें नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक को 'सरकारी कंपनियों' और अन्य संस्थाओं के आय–व्ययों की लेखा परीक्षा कर प्रतिवेन प्रस्तुत करने का निर्देश दिया गया है, जिन्हें इसके प्रति किसी विशिष्ट कानून के होते हुए भी संघ अथवा राज्य के राजस्व से पर्याप्त वित्तीय सहायता दी जाती है।

अपनी प्रगति जांचिए

6. किस सन् में कंपनी लॉ विभाग को वाणिज्य और उद्योग मंत्रालय को हस्तांतरित कर दिया गया।

   (क) सन् 1955 (ख) सन् 1958

   (ग) सन् 1960 (घ) सन् 1965

7. लोक उपक्रम समिति का गठन कब किया गया?

   (क) 1 मई 1964 (ख) 1 मई 1968

   (ग) 1 मई 1970 (घ) 1 मई 1972

4.5 प्रशासनिक विधि

प्रशासनिक विधि को राष्ट्र के बढ़ते सामाजिक आर्थिक कार्यों तथा शासन की शक्तियों की वृद्धि का उप–उत्पादन कहा जा सकता है क्योंकि पिछले कुछ दशकों में समाज का अतीव विकास हुआ है। जिसके परिणामस्वरूप देश के विकास योजना तथा जनकल्याण आदि समस्त कार्य राष्ट्र के दायित्व अधीन आ गये हैं। इससे पूर्व सामान्यतः शान्ति व्यवस्था बनाना, बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा करना तथा न्याय व्यवस्था बनाना ही राष्ट्र के मुख्य कार्यों में आते थे। इस प्रक्रिया में शासन द्वारा प्रशासन को अत्यधिक शक्तियां प्रदान की गयी, जिनमें वैज्ञानिक (discretionary) शक्तियां भी सम्मिलित हैं। इससे देश के नागरिकों के अधिकार, स्वतंत्रता तथा उनकी सम्पत्ति पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। अतः प्रशासनिक अधिकारियों तथा सामान्य नागरिकों में हितों के मतभेद उत्पन्न होने लगे तथा प्रशासनिक अधिकारियों व सामान्य नागरिकों के मध्य सम्बन्ध अत्यन्त जटिल हो गये। इस परिस्थिति से उबरने के लिए किसी ऐसी विधि

टिप्पणी

की आवश्यकता उत्पन्न हुई जाकि प्रशासनिक अधिकारियों तथा सामान्य नागरिकों के मध्य के जटिल सम्बन्धों को विनियमित कर सके तथा साथ ही साथ प्रशासनिक अधिकारियों में निहित वैवेकिक शक्तियों के दुरुपयोग की जांच कर सके व तदानुसार उन पर प्रभावी नियंत्रण बना सके। इस क्रम में प्रशासनिक विधि सार्वजनिक विधि (public law) की अत्यन्त महत्वपूर्ण शाखा के रूप में विकसित हुई है। प्रशासनिक विधि का कार्य प्रशासनिक अधिकारियों से विधि संगत नियमों के अनुसार कार्य करवाना है तथा उनको मनमानी करने से रोकना है जिससे सामान्य नागरिकों के अधिकारों में अवांछित हस्तक्षेप न किया जा सके।

प्रशासनिक विधि भारत में विधिक अनुशासन स्थापित करने में एक स्वतंत्र विधि के रूप में उभरकर आयी है। वर्तमान समय में प्रशासन सर्वव्यापी हो गया है तथा वैयाक्तिक जीवन के प्रत्येक पहलू से स्वतंत्रता तथा गम्भीरता से निपटता है। कई अवसरों पर प्रशासन अपनी वैवेकिक शक्तियों को मनमानेपन (orbitrarity) से प्रयोग करते हुए निरंकुशता की सीमा को पार कर जाते हैं तथा सामान्य नागरिकों के दीवानी अधिकारों (civil rights) का उल्लंघन करने में भी संकोच नहीं करते। ऐसी स्थिति में प्रशासन के इस प्रकार के कृत्यों पर अंकुश लगाने में प्रशासनिक विधि की सक्षमता के दृष्टिगत इसका महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है। अतः प्रशासनिक विधि अध्ययन व अनुसंधान हेतु एक प्रमुख विषय बन गयी है।

4.5.1 प्रशासनिक विधि का उद्‌गम व विकास

औपचारिक रूप से प्रशासनिक विधि का उद्‌गम बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में माना जाता है, जिस समय प्रशासनिक विधि को इंग्लैण्ड में पृथक अस्तित्व प्रदान किया गया था तथा प्रशासनिक विधि का उस शताब्दी के ''सर्वोत्तम विधि विकास'' (Best Developed Law) के रूप में प्रस्तुत किया गया था। यह वह काल था जब प्रशासनिक विधि पर सर सेसिल थॉमस कार की ''प्रत्यायुक्त विधन'' (Sir Cecil Thomas Carr's Delegated Legislation, 1921) प्रो. विलयम रॉबसन की ''जस्टिस एण्ड एडिमिनिस्ट्रेटिव लॉ'' (Prof. William Robson's Justice and Administrative Law, 1928) तथा लॉर्ड हेवर्ट की ''दी न्यू डेस्पोटिजम'' (Lord Hewart's The New Despotism, 1929) पुस्तकें प्रकाशित हुई।

जबकि वास्तविकता यह है कि प्रत्येक देश जिसमें किसी न किसी रूप में शासन व्यवस्था (ruling system) है, उसमें प्रशासनिक विधि, लोक प्रशासन (public administraton) का आवश्यक तत्व होने के कारण, विद्यमान है, क्योंकि लोक प्रशासन स्वयं शासन व्यवस्था का एक अंग है। यह भी माना जाता है कि यूरोप के कई देशों में तो प्रशासनिक विधि को बहुत पूर्व से पृथक अस्तित्व प्राप्त है तथा उसका अध्ययन भी एक अलग विषय के रूप में किया जाता रहा है। इसको उतना ही प्राचीन माना जाता है जितना कि प्रशासन को, क्योंकि यह संगठित प्रशासन (organised administration) की सहवर्ती है। प्रशासनिक विधि के ऐतिहासिक आधार की विवेचना करते हुऐ पार्कर ने अपनी पुस्तक ''दि हिस्टॉरिक बेसिक ऑफ एडिमिनिस्ट्रेटिव लॉ'' (Parker's The Historic Basis of Administrative Law, 1958) में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है–

''चूंकि प्रशासनिक विधि वह विधि है जो शासन करती है, और सरकार की कार्यपालिका शाखा द्वारा लागू की जाती है, अतः वह उतनी ही प्राचीन है जितनी वह शाखा।''

भारत की स्थिति

टिप्पणी

प्रशासनिक विधि का कार्य शासन की बढ़ती हुई शक्तियों को सक्षम एवं प्रभावी नियंत्रण मे रखना है। भारत में यह नियंत्रण स्थापित करने के लिए प्रशासनिक विधि को उसके मुख्य स्रोतों–संविधान, विधायिका तथा न्यायपालिका से शक्ति प्राप्त होती है। संविधान के अंतर्गत अनेक प्रशासनिक निकायों/अभिकरणों की स्थापना की गई है। इसके अतिरिक्त संविधान के अंतर्गत ऐसे अनेक उपबन्ध प्रदान किये गये हैं। जिनमें प्रशासनिक अधिकारियों की शक्तियों तथा अधिकारों के नियंत्रण के उपाय बताए गए हैं। उदाहरणार्थ, अनुच्छेद–32 के अंतर्गत प्रदान की गयी है। संविधान के अंतर्गत अनेक प्रशासनिक अभिकरणों की संरचना का भी उल्लेख किया गया है जैसे कि अनुच्छेद 263 के अधीन अंतर्राज्य परिषद का गठन, अनुच्छेद 280 के अंतर्गत वित्त आयोग का गठन तथा अनुच्छेद 329 के अंतर्गत निर्वाचन आयोग का गठन आदि। प्रशासनिक विधि को उपर्युक्त नियंत्रण की शक्ति विधायिका द्वारा पारित अधिनियमों के माध्यम से भी प्राप्त होती है। इन अधिनियमों के अंतर्गत प्रशासनिक निकायों का सृजन एवं उनके अधिकारों एवं दायित्वों का वर्णन होता है। वर्तमान समय में प्रशासनिक अधिकारियों को बहुत से अधिकार एवं दायित्व अधिनियमों के माध्यम से ही प्राप्त होते हैं। भारतीय परिप्रेक्ष्य के न्यायपालिका प्रशासनिक विधि को नियंत्रण स्थापित करने की शक्ति प्रदान में तृतीय माध्य के रूप में कार्य करती है। उच्चतम न्यायलय द्वारा भारतीय संविधान के विधिक उपचार (legal remendees) सम्बन्धी प्रावधानों का जो प्रगतिशील निर्वचन (Interpretation) किया जाता है उससे प्रशासनिक कृत्यों में नैसर्गिक न्याय (Natural Justice) का विस्तार, लोकस स्टैण्डाई (Locus Standi) के नियम का शिथिलीकरण जनहितकारी वाद (Public Interest litigation) की संकल्पना को जन्म देना आदि उच्चतम न्यायालय के कुछ ऐसे महत्वपूर्ण योगदान है जिनसे प्रशासनिक विधि की परिधि में उल्लेखनीय विकास हुआ है। न्यायालय ने प्रशासनिक विधि के अनेक सिद्धांतों एवं नियमों को न केवल विकसित किया वरन् उन्हें स्पष्ट भी किया। इस प्रक्रिया में सामान्य नागरिकों के प्रति प्रशासनिक दायित्वों को और अधिक सुनिश्चित करने वाले नियमों का उदय हुआ है। उक्त सभी कार्यों का उद्देश्य प्रशासन में नैसर्गिक न्याय तथा औचित्य के आधारभूत सिद्धांतों पर बल देना है।

यदि प्राचीनकाल की बात करें तो भारत में प्रशासनिक विधि का चलन कई शताब्दी ईसा पूर्व मौर्यकाल तथा गुप्तकाल से ही पाया जाता है क्योंकि उस समय में शासन व्यवस्था केन्द्रित तथा संगठित थी। उस समय भारत मे धर्म के आधार पर ही न्यायिक प्रक्रिया चलती थी तथा धर्म द्वारा स्थापित नियमों का पालन राजा तथा उसके द्वारा नियुक्त प्रशासनिक अधिकारी करते थे इस न्यायिक प्रक्रिया से किसी को भी कोई छूट प्राप्त नहीं थी। राजा तथा उसके अधिकारियों द्वारा ही नैसर्गिक न्याय तथा औचित्य के आधारभूत सिद्धांतों का पालन कर शासन चलाया जाता था। न्याय की यह व्यवस्था विधि की सम्यक प्रक्रिया (due process of law) तथा विधि शासन (Rule of law) से भी अधिक व्यापक मानी जाती है। प्रशासनिक विधि मुगल शासन प्रणाली तथा उसके उपरान्त ब्रिटिश शासन काल में भी विद्यमान थी।

भारत में इस व्यवस्था का वैधानिक सूत्रपात ब्रिटिश शासन काल में हुआ और बीसवीं सदी में प्रथम विश्वयुद्ध (सन् 1914–18) तथा द्वितीय विश्वयुद्ध (सन् 1939–45) के उपरांत इस दिशा में उत्तरोत्तर प्रगति होती गई।

टिप्पणी

भारत में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के समय भारतीय राजनीति अत्यन्त अव्यवस्था की स्थिति में थी। मुगल साम्राज्य कमजोर शासन व्यवस्था के दौर से गुजर रहा था तथा ब्रिटिश कम्पनी ने भारतीय राजनीति में अपना हस्तक्षेप बढ़ाना प्रारंभ कर दिया था। सन् 1661 में रॉयल चार्टर द्वारा कम्पनी को ब्रिटिश शासन ने प्राधिकारपूर्ण आदेश करने की शक्ति प्रदान कर दी गयी तथा 1683 के चार्टर के तहत कम्पनी को सेना रखने तथा सेना द्वारा शासित करने का अधिकार दिया गया। सन् 1726 में प्रेसीडेन्सी नगरों में न्यायालयों की स्थापना की गयी, जहां ब्रिटिश विधि अनुसार न्यरय करने का अधिकार प्रदान किया गया।

भारत में अभी तक मुगल साम्राज्य के प्रभुत्व के अधीन ईस्ट इण्डिया कम्पनी कार्य कर रही थी। सन् 1765 में कम्पनी ने शाह आलम से बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा प्रांतों के राजस्व प्राप्त करने के अधिकार प्राप्त कर लिये। इसके पश्चात् कम्पनी मुगल शासन में प्रभुत्वसम्पन्न अधिकार के रूप में कार्य करने लगी तथा कम्पनी के कर्मचारी प्रशासनिक शक्तियों का दुरुपयोग करने लगे। इस अव्यवस्था को सुधारने तथा प्रशासनिक शक्तियों को नियंत्रण में लाने के लिए ब्रिटिश संसद में रेग्यूलेटिंग एक्ट 1773 (Regulating Act, 1773) पारित किया गया जिसका मुख्य उद्देश्य भारत में अंग्रेजी प्रशासन को नियंत्रण में रखना था। इस हेतु रेग्यूलेटिंग एक्ट 1773 के अधीन कलकत्ता में सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गयी। सर्वोच्च न्यायालय में कम्पनी के किसी भी कर्मचारी पर वाद चलाया जा सकता था। गवर्नर जनरल और उसकी परिषद को न्यायालय की अधिकारिता से बाहर रखा गया था। भारत में निवास करने वाले सभी अन्य कंपनी अधिकारियों को न्यायालय की आधिकारिता स्वीकार्य नहीं थी। इस कारण न्यायालय का कम्पनी के प्रशासन पर नियंत्रण अधिक समय तक कायम नहीं रह पाया। सन् 1781 में सेटलमेन्ट ऐक्ट (Settlement Act, 1781) पारित होने के उपरान्त कम्पनी का प्रभुत्व भारत में पूर्ण रूप से स्थापित हो गया तथा सर्वोच्च न्यायालय पर कम्पनी के प्रशासनिक कार्यों में हस्तक्षेप करने पर पूर्ण रोक लगा दी गयी।

सन् 1883 के रॉयल चार्टर के उपरान्त भारत ब्रिटिश शासन के अधीन आ गया तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थिति केवल उसके न्यासी (Trustee) के रूप में रह गयी । इसके उपरान्त भी प्रशासन व्यवस्था में किसी प्रकार का सुधार नहीं हुआ। ब्रिटिश शासन का प्रयास कभी भी भारतीय लोगों का कल्याण करना नहीं रहा तथा न ही भारतीयों के प्रति अंग्रेजी प्रशासन का उत्तरदायित्व निर्धारित करना रहा। उनका एकल उद्देश्य भारतीय मामलों में अपना पूर्ण नियंत्रण सुनिश्चित करना था।

ब्रिटिश शासन में प्रशासकीय विनियमन में वृद्धि के प्रमुख कारण थे ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति, सुधारवादी विचारधारा का उदय, भारत में राजनैतिक चेतना का उदय तथा भारत में ब्रिटिश शासन को सुदृढ़ता प्रदान करना आदि।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् सन् 1919 में लीग ऑफ नेशन्स की स्थापना के पश्चात् अंर्तराष्ट्रीय श्रम संगठन ने श्रमिकों तथा उद्योगपतियों के मध्य सर्वाव्यापी

टिप्पणी

विनियमन पर जोर दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान देश में सुरक्षा–व्यवस्था का प्रश्न शासन के समक्ष उत्पन्न हुआ। इस स्थिति से उबरने के लिए शासन द्वारा अनेक शासकीय विनियमन तथा प्रशासनिक निकायों की उत्पत्ति हुई। इस सन्दर्भ में विभिन्न अधिनियम पारित किये गये जिनके माध्यम से शासन को अनेक शक्तियों की प्राप्ति हुई।

सन् 1947 में देश की स्वतंत्रता के उपरान्त एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना हेतु निश्चित कदम उठाया गया और इसके अनुसार संविधान में आवश्यक प्रावधान उल्लिखित किये गये (देखें: भारतीय संविधान की उद्देशिका व नीति निदेशक तत्व, अनुच्छेद 38 व 39) संविधान के अनुच्छेद 38 में राज्य का यह आवश्यक दायित्व बताया गया कि वह जनकल्याण को बढ़ावा देने के लिए एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था को कायम करे जिसमें सभी व्यक्तियों को आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक न्याय मिल सके। पुनः अनुच्छेद 39 के अनुसार राज्य की अपनी नीति इस प्रकार कार्यान्वित करने का निर्देश दिया गया है कि सभी नागरिकों को पर्याप्त जीविका मिल सके तथा आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन तथा वितरण की व्यवस्था इस प्रकार को जो जनसाधारण के हित में हो, धन सम्पत्ति का केन्द्रीयकरण न हो सके तथा समान श्रम के लिए समान वेतन मिल सके। यह भी उल्लेखनीय है कि भारतीय न्यायपालिका ने समय–समय पर विधि एवं संविधान के निर्वाचन में सामाजिक कल्याणकारी राज्य के आदर्श को ही ध्यान में रखकर निर्णय दिये हैं।

न्याय के सामाजिक एवं आर्थिक आदर्शों को चरितार्थ करने के लिए सामाजिक–आर्थिक विधान (socio-economic legislations) भी पारित किये गये हैं। जिनमें मुख्य हैं– (1) आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955 (Essential Commodities Act, 1955) (2) उद्योग (विकास एवं विनियम) अधिनियम, 1951 (Industries Development and Regulation) Act, 1951 तथा (3) एकाधिकार एवं अवरोधक व्यापारिक व्यवहार अधिनियम, 1969 (Monopoles and Restrictive Trade Practices Act, 1969)। भारत का समाजवादी रूप स्थापित करने के लिए भी उपाय किये गये जिनमें पंचवर्षीय योजनाएं (Five Year Plans) तथा भारत सरकार का औद्योगिक संकल्प, 1956 (Industrial Resolution of Govt. of India, 1956) मुख्य हैं।

4.5.2 इंग्लैण्ड की स्थिति

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक इंग्लैण्ड में प्रशासनिक विधि को विधि की स्वतंत्र शाखा के रूप में कोई महत्व प्राप्त नहीं था। सन् 1885 में प्रो. डायसी ने घोषणा की कि इंग्लैण्ड में प्रशासनिक विधि का कोई अस्तित्व नहीं है। उनके अनुसार ''इंग्लैण्ड में हम प्रशासनिक विधि के विषय में कुछ नहीं जानते, न ही कुछ जानना चाहते हैं।'' किंतु इस टिप्पणी में उन्होंने अपने समय में विद्यमान विवेकाधिकार तथा प्रशासनिक न्याय की भी उपेक्षा कर दी। विभिन्न विधानों द्वारा कार्यकारिणी के सदस्यों तथा प्रशासनिक अभिकरणों को प्रदान की गई वैवेकिक शक्तियों जिनको साधारण न्यायालयों में चुनौती नहीं दी जा सकती थी, की भी प्रो. डायसी ने खुलकर आलोचना की। परंतु उनके समकालीन मैटलेण्ड ने सन् 1908 में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा कि ''यदि क्वीन्स बैंच डिविजन के प्रकाशित मामलों के आधुनिक खण्ड का अवलोकन करते हैं

टिप्पणी

तो पायेंगे कि प्रकाशित किये मामलों में से लगभग आधे प्रशासनिक विधि से संबंधित हैं।''

बाद में प्रो. डायसी ने भी अपने विचारों में परिवर्तन किया। ''कान्स्टिट्यूशन'' के अंतिम संस्करण में उल्लेखित किया गया कि पिछले तीन दशकों में अधिकारियों के कर्त्तव्यों व प्राधिकार में अत्यधिक वृद्धि के कारण ड्रॉइट (droit) के कुछ अंशक अंग्रेजी विधि में भी दिखने लगे हैं। लेकिन वे इंग्लैण्ड में प्रशासनिक विधिक अस्तित्व को मानने के लिए फिर भी सहमत नहीं हुए।

प्रेफडमैन के शब्दों में, ''डायसी ने प्रशासनिक विधि के विस्तार क्षेत्र का त्रुटिपूर्ण आंकलन किया। विधि शासन के अध्ययन में उन्होंने प्रशासनिक विधि तथा प्रशासनिक न्यायालयों की विशेष कार्यप्रणाली को पृथक कर दिया।''

सन् 1932 में डोनोग्मोर समिति (Donogmore Committee) ने अपनी रिपोर्ट में प्रत्यायोजित विधान के प्रकाशन तथा नियंत्रण में सुधार के लिए सुझाव दिए, जो संसद में स्टेट्यूटरी इन्स्ट्रयूमेन्टस एक्ट, 1946 (Statutory Instruments Act, 1946) के द्वारा मान लिए गए। इसके उपरांत सन् 1947 में क्राउन प्रोसिडिंग्स एक्ट (Crown Proceedings Act, 1947) पारित हुआ जिसमें क्राउन के अपकृत्यिक तथा संविदात्मक दायित्वों द्वारा शासन को हानि पहुंचाने की स्थिति में शासन को दायित्वाधी कर दिया। इसने प्रशासनिक विधि को एक नया आयाम प्रदान किया तथा उसके विस्तार क्षेत्र को अत्यधिक बढ़ा दिया। प्रशासनिक विवेकाधिकार के बेहतर पर्यवेक्षण तथा नियंत्रण हेतु अधिकरण और जांच अधिनियम (Tribunal and Investigation Act, 1948) सन् 1948 में पारित किया गया। इसके पश्चात प्रशासनिक प्राधिकारियों तथा अभिकरणों के निर्णय साधारण न्यायालय की अपीलीय तथा पर्यवेक्षकीय अधिकारिता के अधीन आ गये।

4.5.3 अमेरिका की स्थिति

अमेरिका में प्रशासनिक विधि का सारा विकास ''विधि की सम्यक प्रक्रिया' के सिद्धांत (due process of law) के आधार पर हुआ है जिसका मुख्य तत्व मनुष्य के जीवन, स्वतंत्रता न था सम्पत्ति के अधिकार का उल्लंघन न करना है।

यह माना गया है कि 18वीं सदी में प्रशासनिक विधि अमेरिका में विद्यमान थी। किंतु जब अंतर्राज्यी वाणिज्य अधिनियम 1877 पारित किया गया तो इसका विकास अधिक तीव्रता से हुआ। सन् 1911 में अर्नस्ट प्रेफण्ड की कृति ''केसबुक ऑफ एडमिनिस्ट्रेटिव लॉ'' (Earnest Friend's Casebook of Administrative Law, 1911) प्रकाशित हुई। अमेरिकन बार एसोसिएशन के अध्यक्ष एलिह्य रुट ने सन् 1946 में बार को संबोधित करते हुए कहा कि, ''विधि का एक विशेष क्षेत्र है जिसका विकास प्रत्यक्ष रूप से आवश्यक हो गया है। हम प्रशासनिक विधि की वस्तुतः स्थापना की ओर बढ़ रहे हैं जो अपने तंत्र, उपचार और आवश्यक संरक्षण में न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय विशिष्ट पुरातन संविधि के विनियमन के तरीकों से पूर्णतः पृथक है।''

सन् 1933 में यहां एक विशेष समिति का गठन किया गया जिसने प्रशासनिक प्राधिकरणों पर न्यायिक नियंत्रण बढ़ाने के लिए सहमति का स्वागत किया। सन् 1938 रसक्यू पाउण्ड (Ruscue Pound) तथा सन् 1939 में अटार्नी जनरल समिति (Attorney General Committee) की रिपोर्ट के उपरांत प्रशासनिक प्रक्रिया अधिनियम, 1946

(Administrative Procedure Act, 1946) पारित हुआ जिसमें प्रशासनिक प्राधिकरणों पर नियंत्रण के लिए अनेक उपबन्धों का प्रावधान किया गया।

टिप्पणी

प्रशासनिक विधि इस संकल्पना पर आधारित है कि एक सभ्य समाज है तथा सभ्य समाज की इस संकल्पना से निकलने वाले वे नियम जो सरकारी शक्ति के प्रवर्तन और नियंत्रण से सम्बन्धित होते हैं उनको प्रशासनिक विधि कहा जाता है। यह विधि सामाजिक व्यवस्था (Social system) में तब भी विद्यमान थी जब ''प्रशासनिक विधि'' पद प्रयोग में नहीं आया था।

4.5.4 प्रशासनिक विधि की संकल्पना

वर्तमान समय में राज्य (राष्ट्र) ने बहुत अधिक कार्यों का भार अपने ऊपर ले लिया है, जोकि पारंपरिक रूप से उसके कार्यक्षेत्र में नहीं आते थे। विधि–व्यवस्था के रखरखाव, न्याय–प्रशासन तथा लोक रक्षा के अतिरिक्त इसने मानव जीवन के प्रत्येक पहलू पर प्रभाव डालने वाली विकास योजना तथा कल्याण की विभिन्न योजनाओं को ग्रहण कर लिया है। इस प्रक्रिया में शासन को वृहद शक्तियां प्रदान की गयी जिनके अभाव में कल्याणकारी राज्य के उद्देश्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता था। इस प्रकार की स्थिति के लिये अन्य तत्व, जैसे कि शासन द्वारा उद्योगों तथा व्यवसायों का स्वामित्व व कार्यान्वयन, निजी स्वामित्व वाले व्यवसायों में प्रशासनिक विनियमन से वृहत बढ़ोतरी आदि ही उत्तरदायी हैं। ऐसी परिस्थितियों में, सामान्य नागरिकों तथा प्रशासन के मध्य सीधे सम्पर्क तथा विरोध की स्थिति बार–बार उत्पन्न होने के अवसर स्वाभाविक हो गये हैं।

प्रशासनिक विधि व्यवस्था का तात्पर्य प्रशासन को निरंकुशता तथा पक्षपात की श्रेष्टता से बचाना है। यह उस सिद्धांत का विस्तार करता है जिसके द्वारा शासन के विभिन्न अभिकरणों को उनके अधिकारों की सीमाओं में रखा जा सके। प्रशासनिक विधि तदनुसार असंख्य शासकीय शक्तियों के लिये विस्तृत नियंत्रण–तंत्र तैयार करने की आवश्यकता पर जोर डालने वाली सबसे महत्वपूर्ण शाखा के रूप में उत्पन्न हुई है। अतः संक्षिप्त में, प्रशासनिक विधि को राज्य के बढ़ते आर्थिक–सामाजिक कार्यों तथा शासन की बढ़ी हुई शक्तियों का उप–उत्पाद कहा जा सकता है।

प्रशासन विधि, उसकी प्रकृति, विस्तार तथा विषय–वस्तु को परिभाषित करने के अनेकों प्रयास हुए हैं किंतु उनमें से कोई भी पूर्णतः संतोषजनक नहीं है। कुछ परिभाषाएं अत्यधिक विस्तृत हैं, जबकि कुछ संकुचित हैं। विभिन्न लेखकों द्वारा परिभाषा करने का प्रयास उनके अपने काल की संवैधानिक विचारधारा को दर्शाता है। विभिन्न युगों के संवैधानिक मतों ने प्रशासनिक विधि के विकास की विभिन्न अवस्थाओं को प्रभावित किया है।

19वीं सदी में प्रो. डायसी ने प्रशासनिक विधि को इस प्रकार परिभाषित किया है–

> ''राष्ट्र की विधिक व्यवस्था का वह अंश जो राज्य के पदाधिकारियों की विधिक प्रास्थिति तथा दायित्वों को निर्धारित करता है, द्वितीय लोक पदाधिकारियों से व्यवहार करने में निजी व्यक्तियों के अधिकारों तथा दायित्वों को परिभाषित करता है तथा तृतीय, उस प्रक्रिया का उल्लेख करता है जिसके द्वारा वह अधिकार तथा दायित्व प्रभाव में आएंगे।''

टिप्पणी

यह परिभाषा अपरिपूर्णता से ग्रस्त है। यह प्रशासनिक विधि के कई पहलुओं का समावेश नहीं करती। यह कई प्रशासनिक अभिकरणों के अध्ययन को अपवर्जित करती है जैसे कि लोक निगम, जोकि राज्य पदाधिकारियों की अभिव्यक्ति के अंतर्गत सम्मिलित नहीं है। यह प्रशासनिक प्राधिकारियों तथा उनके नियंत्रण में विभिन्न शक्तियों तथा कर्त्तव्यों के अध्ययन को अपवर्जित करती है। उनकी परिभाषा मुख्यतः केवल लोक प्राधिकारियों के न्यायिक नियंत्रण को दृष्टिगत करती है।

जेनिंग्स के अनुसार–

> ''प्रशासनिक विधि, प्रशासन से संबंध रखने वाली विधि है। यह प्रशासनिक प्राधिकारियों के संगठन, शक्तियों तथा कर्त्तव्यों को निर्धारित करती है।''

यह परिभाषा विभिन्न अंग्रेज विद्वानों ने स्वीकृत की है। क्वार्टज ने इस परिभाषा का अनुमोदन करते हुए कहा है–

> ''जेनिंग्स की विचारधारा इतनी अधिक विस्तृत है कि फ्रांस के विद्वानों, जैसे कि वैलिन के लेखों के अंर्तगत उल्लिखित सभी विषयों को सम्मिलित करती है। इस प्रकार इसके विस्तार के अंतर्गत प्रशासनिक संगठन तथा लोक सेवा की विधि जैसे विषय सम्मिलित हैं, जो कि पारंपरागत रूप से आंग्ला–अमेरिकी सिद्धांत पर आधारित हैं तथा लोक प्रशासन के विद्यार्थियों के लिए हैं, न कि प्रशासनिक अभिकर्ताओं के लिए।''

यह कहा जा सकता है कि के. सी. डेविस द्वारा जेनिंग्स की परिभाषा में सुधार करके उसे और व्यापक बनाया गया है। वे लिखते हैं कि–

> ''प्रशासनिक विधि प्रशासनिक अभिकरणों की शक्तियों तथा प्रक्रियाओं से संबंधित विधि है जेा विशेष रूप से प्रशासनिक कार्यों की विधि द्वारा शासित न्यायिक समीक्षा को सम्मिलित करती है। प्रशासनिक अभिकरण सरकार का, न्यायालय तथा विधान मंडल से पृथक अंग है जो निजी पक्षों के अधिकारों को न्याय–निर्णयन या नियम–निर्माण द्वारा प्रभावित करता है। प्रशासनिक विधि में संवैधानिक विधि, परिनियमित विधि, कॉमन लॉ तथा अभिकरणों द्वारा निर्मित विधि का समावेश है। इसका अधिकांश भाग न्यायालयों द्वारा संवैधानिक विधि तथा परिनियमित विधि के निर्वचन की प्रक्रिया से सृजित है। प्रशासनिक विधि, जो पद यहां प्रयोग किया गया है, वह शक्तियों तथा प्रक्रिया की विधि तक सीमित है। यह अभिकरणों द्वारा निर्मित सारभूत विधि के वृहद समूह को सम्मिलित नहीं करती।''

जेनिंग्स की परिभाषा डेविस की परिभाषा की तुलना में एक संबंध में सीमित है। यद्यपि डेविस प्रशासनिक प्राधिकरणों द्वारा अपनी शक्तियों के प्रयोग में उपयोग की जाने वाली प्रक्रिया पर जोर देते हैं किंतु जेनिंग्स प्रक्रिया का सीधो तौर पर या विशेष रूप से उल्लेख नहीं करते। उन्होंने इसको ''संगठन, शक्तियों तथा कर्त्तव्यों'' जैसे शब्दों में से विवक्षित होने के लिए छोड़ दिया। इस प्रकार, यह प्रशासनिक विधि के लिये वर्तमान समय में अमेरिकी दृष्टिकोण व अंग्रेजी विचारधारा के मध्य आधारभूत अन्तर को गठिन करना दर्शाती है। अंग्रेज प्रशासनिक विधि प्रशासनिक निकायों की प्रक्रिया पर

इतना अत्यधिक जोर नहीं देती जितना कि अमेरिकी प्रशासनिक विधि जहां विधि की इस शाखा को अकसर प्रशासनिक प्रक्रिया के रूप में चिन्हित किया जाता है।

टिप्पणी

प्रो. वेंड कहते हैं–

''प्रशासनिक विधि प्रशासनिक प्राधिकारियों की शक्तियों के कार्यान्वयन तथा नियंत्रण से संबंध रखने के साथ–साथ उनके कार्यों पर जोर देती है, अपेक्षाकृत उनके संगठन के।''

उनके अनुसार, यद्यपि प्रशासनिक विधि शासकी शक्तियों के प्रयोग से संबंध रखती है किंतु वह स्वयं भी संवैधानिक विधि का एक भाग है। प्रशासनिक विधि का सार न्यायाधीशों द्वारा बनाये गये सिद्धांतों में निहित है जो सभी स्थानों पर लागू होती है और जो, इसलिये, लोक प्राधिकारियों के लिये आचरण के विधिक मानकों को सामान्यतः निश्चित करता है।

प्रो. हार्ट कहते हैं–

''मोटे तौर पर प्रशासनिक विधि, शासन के प्रशासनिक प्राधिकारियों द्वारा बनायी गयी विधि और उनको नियंत्रित करने की विधि को सम्मिलित करती है।''

उपरोक्त दोनों परिभाषाओं में वर्तमान की प्रशासनिक विधि के विस्तार के अंतर्गत वस्तुतः आने वाले विषय के कुछ पहलुओं को अनदेखा किया गया है। किन्तु यह सत्य है कि आधुनिक युग में विधि मुख्यतः प्रशासनिक प्राधिकारियों की अत्यधिक शक्तियों के नियंत्रण के विभिन्न तंत्रों से संबंध रखती है, बजाय उसके संगठन के।

प्रशासनिक विधि प्रशासन के विभिन्न अंगों की रचना और शक्तियों, उनकी शक्तियों की सीमाओं, वह प्रक्रिया जो प्रशासनिक प्राधिकारी अपनी शक्तियों के प्रयोग में अपनाते हैं तथा विशेषकर उनके द्वारा प्रयोग की जाने वाली शक्तियों के विभिन्न प्रकारों के न्यायिक नियंत्रण सहित, नियंत्रण के विभिन्न प्रकारों से संबंधित है। संक्षिप्त में, वह उनकी कार्यकारी शक्तियों तथा उनके नियंत्रण सहित प्रशासनिक प्राधिकारियों की अर्ध–विधायी तथा न्यायिक–कल्प शक्तियों से संबंध रखती है। यह सत्य है कि वर्तमान प्रशासनिक विधि में प्रशासनिक कार्यों के न्यायिक नियंत्रण के विभिन्न प्रकारों के अध्ययन पर अत्यधिक जोर दिया गया है किंतु चूंकि प्रशासनिक कार्य का क्षेत्र, पिछले कुछ दशकों में विस्तृत रूप से बढ़ा है इसलिए यह अनुभव किया गया कि न्यायिक नियंत्रण एकल रूप से, जनसाधारण को पर्याप्त संतुष्टि प्रदान नहीं कर सकता। अतएव नियंत्रण के न्यायेत्तर तरीकों की खोज भी प्रशासनिक विधि का आवश्यक कार्य बन गया है।

4.5.5 प्रशासनिक विधि की प्रकृति एवं विस्तार–क्षेत्र

प्रेफउण्ड के अनुसार, ''प्रशासनिक विधि की समस्या अधिकाधिक शक्तियों (जैसे अनुज्ञा तथा आदेश, अनुसचिवीय तथा विवेकाधीन, मौलिक अवस्थाओं की वैधता तथा विस्तार), के प्रयोग हेतु औपचारिक प्रक्रियात्मक अवस्थाएं, अधिकाधिक तथा सामुदायिक दायित्व, प्रशासनिक कृत्यों (न्यायसंगत, साम्यपूर्ण तथा वैधानिक) के न्यायिक नियंत्रण हेतु विशिष्ट उपचार शक्तियों की अधिकारित सीमाएं तथा प्रशासनिक परिसम्पत्ति के प्रश्नों से संबंधित है।''

टिप्पणी

अतः सूक्ष्म रूप में प्रशासनिक विधि को प्रशासनिक प्राधिकारियों तथा उनके नियंत्रण की विविध प्रकार की शक्तियों का अध्ययन कहा जा सकता है। प्रशासनिक प्राधिकारियों द्वारा प्रयोग की जाने वाली शक्तियों की प्रकृति पर निम्नलिखित तीन शीर्षकों के अंतर्गत अध्ययन किया जा सकता है–

1. विधायी (Legislative)
2. न्यायिक (Judicial)
3. कार्यकारी (Executory)

प्रशासनिक विधि मुख्य रूप से प्रशासनिक प्राधिकारियों द्वारा उक्त शक्तियों के प्रयोग पर नियंत्रण रखने से संबंध रखती है। प्रो. के. सी. डेविस के अनुसार प्रशासनिक विधि, जैसा इसे अभिव्यक्त किया जाता है, विशेष रूप से प्रशासनिक कृत्यों के न्यायिक पुनर्विलोकन को शासित करने वाली विधि सहित प्रशासनिक अभिकरणों की शक्तियों तथा प्रक्रियाओं से संबंधित विधि तक सीमित है। यह अभिकरणों द्वार निर्मित सारभूत विधि के वृहत समूह को सम्मिलित नहीं करती, जिसमे से बहुत कुछ सामान्य रूप से अधिवक्ताओं की समझ से भी परे है। प्रशासनिक विधि न्याय–निर्णयन तथा नियम–निर्माण की शक्तियों वाले अभिकरणों को एवं निर्माण को अंर्तगस्त न करने वाले कार्यकारी या प्रशासनिक कृत्यों के न्यायिक–पुनर्विलोकन को सम्मिलित करती है।

भारत में प्रशासनिक विधि का विस्तार क्षेत्र किसी सीमा तक अमेरिका की प्रशासनिक विधि के जैसा ही है। प्रशासनिक अधिकारियों की शक्ति में अत्यधिक वृद्धि होने के साथ ही उन शक्तियों को नियंत्रित करने का प्रश्न उत्पन्न हो गया था क्योंकि प्रशासनिक अधिकारियों की इन अभिवृद्धि शक्तियों से न्याय व्यवस्था को उत्पन्न खतरे से तथा सामान्य नागरिकों की स्वतंत्रता को प्रशासनिक अधिकारियों के अभिक्रमण से निवारित करना एक बड़ी समस्या बनती जा रही थी। प्रशासनिक विधि प्रशासनिक अधिकारियों की विविध प्रकार की शक्तियों को नियंत्रित रखने के उपायों तथा माध्यमों के साथ व्यवहार करती है। यह लार्डहेवर्ट (Lard Hewart) द्वारा वर्णित ''नये निरंकुशवाद'' (New Despotism) के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करती है। यदि प्रशासनिक कार्यों को न्यायिक नियंत्रण का विषय नहीं बनाया जाता तो बहुत संभव है कि प्रशासनिक अधिकारी समाज में अतिचार करने लगते तथा ''नया निरंकुशवाद'' वास्तविक रूप में चरितार्थ हो जाता है।

प्रो. ग्रिफिथ तथा प्रो. स्ट्रीट ने इस विषय में कहा है कि प्रशासनिक प्राधिकारियों का संचालन एवं नियंत्रण करना प्रशासनिक विधि का प्रमुख उद्देश्य है। प्रशासनिक विधि के विस्तार–क्षेत्र में निम्न प्रश्नों से सम्बन्धित विषयों का अध्ययन किया जाता है–

1. प्रशासन किस प्रकार की शक्तियों का प्रयोग करता है?
2. प्रशासन की शक्तियों की सीमाएं क्या हैं?
3. प्रशासनिक प्राधिकारियों द्वारा अनुसरण की जाने वाली प्रक्रियाएं क्या हैं?
4. वे तरीके क्या हैं जिनसे प्रशासन को उन सीमाओं के अंतर्गत रखा गया है?
5. प्रशासन के अवैधानिक कृत्यों के विरुद्ध किसी व्यक्ति को क्या उपचार उपलब्ध हैं?

टिप्पणी

प्रशासनिक विधि निम्न प्रकार मार्गदर्शन करती है–

1. प्रशासनिक शक्तियों का दुरुपयोग रोकना तथा विधि शासन के अनुसार उनका प्रयोग सुनिश्चित करना।
2. प्रशासनिक न्यायाधिकरणों द्वारा मामलों का न्यायसंगत निपटारा कराना।
3. प्रशासनिक शक्तियों के लोकहित के विरुद्ध प्रयोग को अवरुद्ध करना।
4. प्रशासनिक प्राधिकारियों को देश के नागरिकों के प्रति उत्तरदायी बनाना।
5. नागरिकों के अधिकारों व हितों को संरक्षण प्रदान करना।
6. नागरिकों को समुचित उपचार प्रदान कराना, विशेष रूप से प्रशासनिक कृत्यों द्वारा नागरिकों के विधिक अधिकारों की अवहेलना करने की स्थिति में।

प्रशासनिक विधि के विस्तार के संदर्भ में उपर्युक्त मार्गदर्शन भारत के लिए भी लागू होता है। प्रशासनिक प्राधिकारियों की शक्तियों में अत्यधिक वृद्धि होने के कारण उनके नियंत्रण का प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण हो गया है। यदि प्रशासनिक कार्यों को न्यायिक नियंत्रण के अधीन नहीं लाया जाता तो प्रशासनिक प्राधिकारियों द्वारा समाज में अतिचार करने की पूर्ण संभावनाएं थी। ऐसी स्थिति के लॉर्ड हेवर्ट द्वारा प्रतिपादित नए निरंकुशवाद का सिद्धांत भौतिक रूप में दृष्टिगत होने लगता है।

अतएव प्रशासनिक विधि प्राथमिक रूप से प्रशासनिक शक्तियों पर न्यायिक नियंत्रण लगाने से संबंध रखती है। न्यायिक नियंत्रण के नियम सामान्यतः संवैधानिक विधि के आधारभूत सिद्धांतों, विधि शासन तथा नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों से लिए गए हैं। प्रशासनिक प्राधिकारियों से अधिनियमों तथा संविधियों द्वारा प्रदान की गयी शक्तियों के अधीन ही कार्य करना अपेक्षित है। जहां उन्हें विवेकाधिकार की शक्तियां प्राप्त है वहां उनके द्वारा निर्ण्याय लोकहित में ही लिया जाना चाहिए।

प्रशासनिक विधि के क्षेत्र के अंतर्गत निम्न बातें सम्मिलित होती हैं–

1. विभिन्न प्रशासनिक निकायों का अध्ययन, जैसे–केन्द्रीय राजस्व बोर्ड, वेज बोर्ड, जांच आयोग, सलाहकार बोर्ड आदि।
2. प्रशासनिक प्राधिकरणों की नियम–निर्मात्री शक्तियां जैसे प्रत्यायोजित शक्तियों के दुरुपयोग के विरुद्ध संरक्षण–न्यायिक नियंत्रण।
3. प्रशासनिक प्राधिकरणों के न्यायिक कार्य, प्रशासनिक न्यायाधिकरण।
4. उपचार–लेख (remedial writ), व्यादेश (injunction)।
5. प्रक्रियात्मक आश्वासन जैसे नैसर्गिक न्याय का सिद्धांत।
6. अपकृत्य एवं संविदाओं में शासन का उत्तरदायित्व।
7. लोक निगम।

4.5.6 प्रशासनिक विधि का बढ़ता महत्व

वैसे तो 20वीं शताब्दी में प्रशासनिक विधि के उद्‌गम के साथ ही, राज्य की संकल्पना में, प्रशासनिक विधि के महत्व को लेकर विष्वभर में निश्चयात्मक परिवर्तन होना प्रारंभ हो गया था। राज्यों के कृत्यों में अधिकारवादिता का महत्व कम होने के साथ–साथ

टिप्पणी

कर्त्तव्यनिष्ठा व दायित्व निर्वहन की विचारधारा ने अपना स्थान बनाना प्रारंभ कर दिया था। भारतीय दृष्टिकोण से, प्रशासनिक विधि में विकास के उक्त लक्षण सन् 1950 में संविधान लागू होने के समय से स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। राज्य का कार्यक्षेत्र निरन्तर बढ़ता जा रहा है। राज्य प्रतिदिन नयी विकास योजनाऐं एवं सामाजिक कार्य अपने हाथों में लेता जा रहा है। इन योजनाओं एवं कार्यों के कार्यान्वयन में प्रशासन की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है, फलतः प्रशासनिक प्राधिकारियों की शक्तियों में दिन–प्रतिदिन बढ़ोतरी होती जा रही है। ऐसे में प्रशासनिक प्राधिकारियों द्वारा इन शक्तियों का प्रयोग मनमानेपन की सीमा तक पहुॅचने का अन्देशा सदैव बना रहता है। अतएव राज्य को समाजवादी रूप में विकसित करने के लिये प्रशासनिक प्राधिकारियों की इन शक्तियों पर नियंत्रण किया जाना आवश्यक हो जाता है। ऐसी स्थिति में, प्रशासनिक प्राधिकारियों की शक्तियों पर नियंत्रण तथा उनकी भूमिका एवं दायित्वों का निर्धारण कर प्रशासनिक विधि, विधि के सर्वोत्कृष्ट विकास के रूप में उभरकर सामने आयी।

भारतीय संविधान की उद्देशिका में भारत को एक समाजवादी, लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने का संकल्प स्पष्ट रूप से विद्यमान है। साथ ही समाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय प्रदान कर की परिकल्पना पर भी उतना ही बल दिया गया है। इस बात में कोई संदेह नहीं किया जा सकता कि आर्थिक व सामाजिक न्याय को उपेक्षित कर वास्तविक राजनैतिक न्याय संभव नहीं है। अतः आर्थिक न्याय उपलब्ध कराना राज्य का एक मुख्य लक्ष्य रहा है। पिछले कुछ दशकों में राज्य के कार्यों की संकल्पना में महत्वपूर्ण परिवर्तन अनुभव किए गए हैं। स्वयं को रक्षा, लोक व्यवस्था, अपराधिक विधि प्रवर्तन तथा कुछ अन्य साधारण मामलों तक सीमित रखने से पृथक आधुनिक राज्यों ने सामाजिक कल्याणकारी राज्य की भूमिका ग्रहण कर ली है। सामाजिक सेवाओं तथा लोक उपयोगिताओं का विस्तृत कार्यभार भी राज्य ने अपने ऊपर ले लिया है। 18वीं शताब्दी के व्यक्तिवाद के सिद्धांत की समाप्ति के साथ ही लॉक के हस्तक्षेप रहित राज्य को सिद्धांत का महत्व भी समाप्त हो गया। जिसका स्थान अब कल्याणकारी राज्य की धारणा ने ले लिया। इस प्रकार राज्य के कार्यकलापों के क्षेत्र के विस्तार ने अब प्रशासनिक विधि के युग में प्रवेश कर लिया।

भारी औद्योगिकीकरण के कारण अत्यधिक भीड़–भाड़ वाले शहरों में जनसंख्या का बड़ा भाग केन्द्रित होने लगा। जिसके परिणामस्वरुप आवास, बीमारियों, धुएं, असुरक्षा आदि की समस्याएं उत्पन्न होने लगी, जिनकी उपेक्षा किया जाना संभव नहीं था। ऐसी परिस्थितियों में, राज्य के विविध कार्यकलाप स्वास्थ, शिक्षा, रोजगार आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन, नियंत्रण व वितरण तथा लोक उपयोगिता के कार्य जैसी मानव की सामाजिक समस्याओं तक पैफल गये। लोक सुरक्षा तथा स्वास्थ–हित में प्रशासन का हस्तक्षेप करना उनका दायित्व बन गया। इन दायित्वों की पूर्ति के लिए प्रशासन को अनेक विधायी तथा न्यायिक शक्तियां प्रत्यायोजित की गयी। वास्तविक रूप में विधि निर्माण सम्बन्धी कार्यों को विस्तार से सम्पन्न कर पाना विधायिका के लिए संभव नहीं था। वह केवल मोटे तौर पर ही नीति अधिकथित कर सकती थी। ऐसे में, कार्यकारिणी को नियम, विनियम, आदेश, अध्यादेश तथा निर्देश आवश्यकतानुसार पारित करके अधिकथित नीति का विदोहन करने की शक्तियां सौंपी गयीं थी। इसी

टिप्पणी

प्रकार, एक बहुत बड़ी संख्या में तकनीकी प्रकृति वाले विवाद आधुनिक सामाजिक विधायनों के अर्न्तगत उत्पन्न हुये जिनका निर्णय सामान्य न्यायालयों में विलम्ब से तथा खर्चीला होने की संभावना थी जिसकारण प्रशासनिक अधिकारियों को न्यायिक शक्तियॉ भी प्रदान की गयी थी।

प्रशासनिक प्राधिकारियों की अभिवृद्धि शक्तियों के प्रयोग पर एक प्रभावशाली नियंत्रण समर्पित था। इतनी अत्यधिक शक्ति में भ्रष्टाचार तथा शक्ति के दुरुपयोग के तत्व अंर्तग्रस्त होते हैं जोकि लोक अधिकार, विधिशासन तथा लोकतंत्र को अस्वीकार्यता की ओर ले जाते हैं। ऐसी स्थिति में प्रशासनिक विधि का अत्यधिक महत है जो शक्तियों के दुरुपयोग को रोकने हेतु उचित सुरक्षा प्रदान करने के लिए संभावित तरीकों पर विचार करने का प्रयास करती है।

वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास से नगरीकरण, प्रदूषण, भारी परिवहन तथा यातायात का विकास, बेरोजगारी, आधुनिकीकरण, सामाजिक व आर्थिक अपराध कर अपवचन जैसी नयी प्रकार की समस्याएं उत्पन्न हो गई हैं। इन समस्याओं ने अनेक विधान अधिनियमित करने के लिए तथ समस्याओं के समाधान के लिए प्रशासनिक प्राधिकारियों की शक्तियों में वृद्धि करने के लिए विवश कर दिया। प्रशासनिक शक्तियों के वृहत ढांचे के लिए अत्यधिक संख्या में विधि प्रदान करने की प्रक्रिया में प्रशासनिक विधि एक महत्वपूर्ण विषय के रूप में सामने आयी है। कल्याणकारी राज्य प्राप्ति का उद्देश्य, तकनीकी विवादों के मामलों में सस्ता उपचारी न्याय प्रदान कराने की आवश्यकता तथा प्रशासनिक शक्तियों के विनियमन की आवश्यकता ने आधुनिक समय में प्रशासनिक विधि के विकास का कारण माना जा सकता है। वर्तमान समय में प्रशासनिक शक्तियों की उन्नति के कारणों को रामास्वामी ने इस प्रकार वर्णित किया है, ''संवैधानिक दृष्टि से प्रशासनिक अभिकरणों का विधायी तथा न्यायिक शक्तियां बहुत बड़ा प्रतिनिधित्व है। इस प्रतिनिधित्व के अभाव में प्रशासन के कार्य चालन दक्षतापूर्ण तथा तत्पर नहीं हो सकता। प्रशासन में व्यक्तिगत कार्यवाही, शीघ्रतापूर्ण अवधारण, निर्देशन, मार्ग दर्शन तथा विशेषज्ञ की सलाह की स्पष्ट आवश्यकता है। इसलिए प्रशासनिक प्राधिकारियों को प्रशासन के विभिन्न प्रकार के कार्यों को पूर्ण करने के लिए अत्यधिक स्वतंत्रता प्रदान करनी पड़ती है। जब तक कि विधि–शासन नहीं होगा यह खतरा बना रहेगा कि प्रशासन का एकाधिकार बन जाएगा।''

प्रशासनिक विधि की उन्नति का श्रेय, प्रशासन की अत्यधिक अभिवृहद शक्तियों तथा प्रशासनिक प्रक्रिया में अनिवार्य रुप से विधि शासन को प्रभाव में लाने को, दिया जा सकता है।

भारतीय विधि आयोग (Law Commission of India) के चौदहवें समीक्षा विवरण (14th Review Report) में प्रशासनिक विधि की उन्नति को इस प्रकार चित्रित किया है–

''20वीं शताब्दी में समाज की स्थिति बहुत अधिक जटिल हो गयी है तथा शासकीय कार्य भी अत्यधिक बढ़ गए हैं। शासन के कार्यक्षेत्र एवं व्यवहार में नकारात्मक के स्थान पर सकारात्मक परिवर्तन, जैसे कि हस्तक्षेप रहित राज्य (laissez faire) के स्थान पर लोक कल्याणकारी राज्य, से प्रशासनिक विधि की कार्यकारी शाखा के अधीन बड़े पैमाने पर शक्तियों का केन्द्रीयकरण हो गया है।''

टिप्पणी

राज्य के क्रियाकलापों में फैलाव के परिणामस्वरूप कार्यकारिणी की शक्तियों में उसकी वैवेकिक शक्तियों (discretionary powers) पर अतिरिक्त बल के साथ, समरूपी वृद्धि हुई है। अनुभव के आधार पर इसमें मनमानेपन तथा भ्रष्टाचार का स्वभाव पाया जाता है। प्रशासनिक विधि का विकास वैवेकिक शक्तियों के दुष्प्रभावों को रोकने, के लिए उसके प्रयोग का विनियमन करने तथा प्रशासन के मनमानेपन तथा अवैधानिक कृत्यों के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करने के लिए किया गया है। प्रत्येक लोकतान्त्रिक राज्य में लोक अधिकारों तथा स्वाधीनता की सुरक्षा तथा प्रशासन की शक्तियों के अनिवार्य विकास का समाज के समाजीकरण के परिवेश में, सामन्जस्य स्थापित करना ही होगा। प्रशासनिक विधि ने ऐसे सामंजस्य के उत्तरदायित्व में हिस्सेदारी निभायी है। इसलिए प्रशासनिक विधि को 20वीं शताब्दी के सर्वोत्कृष्ट विधि विकास के रूप में देखा जाता है।

अपनी प्रगति जांचिए

8. प्रशासनिक विधि का उदगम किस शताब्दी के तीसरे दशक में माना जाता है?

   (क) सत्रहवीं शताब्दी (ख) अठारहवीं शताब्दी

   (ग) उन्नीसवीं शताब्दी (घ) बीसवीं शताब्दी

9. ब्रिटिश संसद में रेग्यूलेटिंग एक्ट किस वर्ष पारित किया गया?

   (क) सन् 1743 (ख) सन् 1753

   (ग) सन् 1763 (घ) सन् 1773

10. किस शताब्दी में प्रशासनिक विधि को सर्वोत्कृष्ट विधि विकास के रूप में देखा गया है?

    (क) 16वीं शताब्दी (ख) 18वीं शताब्दी

    (ग) 19वीं शताब्दी (घ) 20वीं शताब्दी

4.6 प्रशासनिक न्याय निर्णयन

"प्रशासनिक न्याय निर्णयन" अभिव्यक्ति का प्रयोग प्रशासनिक न्याय के पर्यायवाची अर्थ में होता है। जब प्रशासनिक निकाय और किसी व्यक्ति के बीच विवाद होता है तो उसका निस्तारण प्रशासन द्वारा ही किया जाता है, इस प्रक्रिया को प्रशासनिक न्याय निर्णयन कहते हैं।

प्रशासनिक न्याय निर्णयन में विधिगत मान्यताओं को महत्व दिया जाता है। प्रशासनिक न्याय निर्णयन इस धारणा पर आधारित है कि जनता को इस योग्य बनाना है कि वह इस विधि पर निर्भर करे। सरकार जितनी अधिक शक्ति ग्रहण करती है, जनमत उतना ही उसके दुरुपयोग और अनृजुता के बारे में संवेदनशील हो जाता है। न्यायपालिका ने इस विषय में विधिक मानकों को स्थापित किया है। अनेक सीमितताओं के उपरांत भी यह एक अत्यंत सशक्त प्रक्रिया है।

प्रशासन के न्याय निर्णयन कृत्यों का प्रयोग विभिन्न प्रकार से किया जाता है। ये इतने अधिक विभिन्न हैं कि इनकी संदर्भ सूची भी बनाना मुश्किल है।

4.6.1 प्रशासनिक न्याय निर्णयन : अर्थ एवं अवधारणा

टिप्पणी

न्याय निर्णय मूलतः कल्याणकारी राज्य की देन है। इसी कारणवश अधिकरणों की स्थापना का उद्देश्य राजनीति और विधि के अंतर को स्वीकार कर नागरिक के लिए ऋजु, निष्पक्ष, मितव्ययी, द्रुत गति से निर्णयन की व्यवस्था करना है। अतः सामाजिक और आर्थिक विधान में अंतर्निहित नीतियों के कार्यान्वयन का कार्य अधिकरणों को सौंपा गया।

डोनोगमोर समिति ने 1932 में अधिकरणों पर विचार किया था। इस समिति ने रिपोर्ट में कहा कि न्यायिक कृत्यों को न्यायालयों को सौंप दिया जाये। न्यायिक कल्प कृत्य विभागीय मंत्रियों को दिए जाने चाहिए। कतिपय मामलों को अधिकरणों को सौंपने की सिफारिश भी की गई थी। ऐसे अधिकरणों में स्वतंत्र व्यक्तियों की नियुक्ति, अधिकरण से प्रभावित पक्षकारों को सुनवाई का अवसर, सकारण आदेश और विधि के प्रश्न पर उच्च न्यायालय में अपील करने के अधिकार के समावेश की भी बात कही गई थी। किंतु इस समिति ने प्रशासनिक न्याय निर्णयन पर उचित विस्तार के साथ विचार नहीं किया।

ब्रिटेन में 1955 में क्रचल डाउन इन्क्वायरी केस हुआ, जिसके कारण फ्रैंक कमेटी की नियुक्ति की गई। इस समिति ने 1958 में अपनी रिपोर्ट दी, जिसके परिणामस्वरूप संसद ने 1958 में अधिकरण और जांच अधिनियम पारित किया। इसको 1971 में समेकित किया गया। इस अधिनियम के अधीन अधिकरण परिषद की स्थापना की गई। इस परिषद को विभिन्न अधिकरणों की संरचना और कार्यों पर निगरानी रखने का अधिकार दिया गया है। उक्त अधिनियम के अंतर्गत प्रशासनिक न्याय निर्णयन पर दृष्टिगत करने से यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक और आर्थिक मामले अधिकरणों के हाथ में आ गए हैं।

प्रशासनिक न्याय निर्णयन प्रणाली के गुण (Merits of Administrative Adjudication)

कल्याणकारी राज्य के कार्यकलापों के कारण ही आधुनिक युग को प्रशासनिक युग कहा गया है। प्रत्येक युग की आवश्यकताओं ओर मान्यताओं के अनुसार ही सामाजिक एवं राजनैतिक संस्थाओं का जन्म होता है। वर्तमान युग सुविज्ञता का युग है। न्यायाधीश विशेषज्ञ नहीं होते। अतः न्यायिक प्रक्रिया उपयुक्त नहीं है। प्रशासनिक प्रक्रिया तकनीकी एवं जटिल विवादों को द्रुत गति से निस्तारण करने के लिए विकसित की गई। सुविज्ञता, कम खर्च, लोचपूर्ण प्रक्रिया और व्यावहारिकता के आधार पर प्रशासनिक अधिकरणों की स्थापना की गई। इस प्रशासनिक अधिकरणों का महत्व बढ़ता जा रहा है क्योंकि ये कम खर्चीले एवं द्रुत न्याय प्रदान करने वाले हैं। अधिकरणों का प्रयोग विवादों के निपटाने के ढंग के रूप में बढ़ना स्वाभाविक हैं क्योंकि इनके पास न्यायालय में होने वाले सभी फायदे तो हैं किंतु ये न्यायालय की सीमाओं से ग्रस्त नहीं हैं।

टिप्पणी

प्रशासनिक न्याय निर्णयन की समस्याएं (Problems of Administrative Adjudication)

भारत में प्रशासनिक न्याय गंभीर वाद विवाद का विषय रहा है। भारत में लोक प्रशासक की स्वतंत्रता एवं निर्भीकता पर संदेह करते हैं। परंतु न्यायाधीश को स्वतंत्र एवं निर्भीक मानते हैं और न्यायाधीश में उनका अटूट विश्वास होता है। प्रशासनिक अधिकरणों के कार्यकरण पर भारत में कोई प्रणालीबद्ध अनुसंधान नहीं किया गया है। प्रशासनिक न्याय निर्णयन की कुछ समस्याएं निम्न रूप में समझी जा सकती हैं–

1. **संख्या और जटिलता** (Number and Complexity)– प्रशासनिक अधिकरणों की संख्या बहुत अधिक है। प्रत्येक कानूनी योजना में न्याय निर्णयन की अपनी व्यवस्था रहती है। एक ही प्रकार के विवाद पर न्याय निर्णयन हेतु समानान्तर निकायों को देखा जाता है और ये विभिन्न विनिश्चय भी देते हैं, इसका कोई अपवाद नहीं है। यह प्रशासनिक विधि के कार्य को समान रूप से सिद्धांतों को स्थापित करने और उन्हें समान रूप से लागू करने के कार्य को जटिल कर देता है। अतएव भारी संख्या में दिए गए निर्णयों को प्रणालीबद्ध किया जाना नितांत आवश्यक है।
2. **बहुल प्रक्रिया** (Multiple Process)– जिस प्रकार प्रशासनिक अधिकरणों की बहुलता है वैसे ही उनकी प्रक्रिया में भी बहुलता एवं विविधता है। कभी–कभी अभिकरण अपनी प्रक्रिया विकसित करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिए जाते हैं। अभिकरण से नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का अनुसरण करने की अपेक्षा की जाती है। क्योंकि नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत निश्चित नहीं हैं इसलिए अनिश्चितता के कारण कभी–कभी मनमानी कार्यवाही कर दी जाती है।
3. **अपील की प्रणालीबद्ध प्रक्रिया का अभाव** (Lack of a Systematic Process of Appeal)– त्रुटि के विरुद्ध अपील प्रशासनिक न्याय में निश्चित संरक्षण है। प्रशासनिक न्याय निर्णयन में अपील की कोई प्रणाली नहीं है। कभी–कभी प्रशासनिक निर्णय के विरुद्ध अपील स्वतंत्र अधिकरण को किये जाने का उपबंध है।
4. **विनिश्चयों की अदृश्यता** (Invisibility of Decisions)– न्यायालयों के निर्णय प्रकाशित किये जाते हैं, किंतु प्रशासनिक अभिकरणों के निर्णय प्रकाशित नहीं किये जाते हैं। फलस्वरूप ऐसे निर्णय, सार्वजनिक आलोचना की परिधि से बाहर रहते हैं और इस आवश्यक संरक्षण के अभाव में प्रशासनिक न्याय की गुणवत्ता में कमी रहती है।
5. **विनिश्चय का पूर्वानुमान न होना** (No Anticipation of Decisions)– विधि शासन इस बात पर जोर देता है कि न्याय ज्ञान सिद्धांतों के अनुसार किया जाना चाहिए इसलिए निर्णयों की पूर्वानुमानता विधि शासन का आवश्यक संघटक है। न्यायालय पूर्व निर्णय के सिद्धांत का अनुसरण करते हैं, अतः न्यायिक निर्णयों में कुछ मात्रा तक पूर्वानुमानता रहती है। प्रशासनिक न्यायनिर्णयन में पूर्वानुमानता का अभाव है क्योंकि यहां पूर्व निर्णय के सिद्धांत का अनुसरण नहीं होता है।
6. **अनाम निर्णय** (Anonymous Decisions)– यद्यपि हमेशा नहीं परंतु फिर भी प्रशासनिक न्याय निर्णयन अनाम दिए जाते हैं।

टिप्पणी

प्रशासनिक न्यायिक–निर्णय, किसी विधान मंडल के द्वारा किसी संस्था को प्रदत्त न्यायिक शक्तियों का किसी प्रशासनिक संस्था के द्वारा क्रियान्वयन होता है। संस्थाओं के पास अपने प्राधिकार के क्षेत्र में वैधानिक एवं न्यायिक दोनों प्रकार की शक्तियां होती हैं। वैधानिक शक्ति संस्था को अधिनियमों को जारी करने का प्राधिकार प्रदान करती है तथा न्यायिक शक्ति अपने क्षेत्राधिकार के भीतर संघर्षमय मामलों का निर्णय करने का प्राधिकार संस्था को प्रदान करती है।

ऐतिहासिक रूप से, प्रशासनिक संस्थाओं के भीतर न्यायिक निर्णय और न्यायालयों में न्यायिक निर्णय के मध्य विद्यमान भेद नहीं किया गया था। उदाहरण के लिए, राजकोष का अंग्रेज़ी न्यायालय, एक कर निर्धारक एवं संग्रहणकर्ता संस्था, प्रशासनिक राजकोष से विकसित हुआ था। अमेरिका में इसे अमेरिकी संविधान में शक्तियों के विभाजन और इसकी "किन्हीं प्रकार के मामलों एवं विवादों" के प्रति "संयुक्त राष्ट्र की न्यायिक शक्ति" की सीमा के रूप में प्रयुक्त किया जाता है।

प्रशासनिक न्यायिक निर्णय की किसी समय संविधान के तीसरे अनुच्छेद में निश्चित की गई न्यायालय की न्यायिक शक्तियों के आरक्षण के विरुद्ध होने के लिए आलोचना की जाती थी। यद्यपि, सर्वोच्च न्यायालय ने क्रोवेल बनाम बेनसन के मामले में निर्णीत किया था कि जहां तक अंतिम न्यायिक समीक्षा हेतु प्रावधान किए जाते हैं तब तक संस्थाएं मामलों का न्यायिक निर्णय कर सकती हैं।

प्रशासनिक न्यायालय सामान्य रूप से अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध किन्हीं व्यक्तियों के अधिकारों एवं दायित्वों का निर्धारण करने में प्रवृत्त नहीं रहते हैं। उल्टे, वे विशिष्ट रूप से सरकार के कार्यों के द्वारा प्राप्त हुए लाभों या उत्पन्न हुई अक्षमताओं के संबंध में सरकार के संबंध में व्यक्तियों से व्यवहार करते हैं यह वह कार्य है जो नागरिक न्यायालयों को प्रशासनिक अधिकरणों से मुख्य रूप से पृथक करता है। दण्ड न्यायालयों के विपरीत प्रशासनिक अधिकरणों को विभिन्न जुर्मानों, जैसे कि किसी कानूनी या प्रशासनिक अधिनियम के उल्लंघन हेतु लाइसेंस की ज़ब्ती, के निर्धारण हेतु शक्ति प्रदान की जाती है। यद्यपि, कुछ प्रशासनिक संस्थाओं को न्यायिक निर्णय हेतु शक्तियां नहीं प्रदान की जाती हैं और उनके लिए आवश्यक रूप से उल्लंघनों हेतु नागरिक या फौजदारी दण्ड के लिए नियमित न्यायालयों की प्रक्रिया से गुजरना अनिवार्य होता है।

प्रशासनिक अधिकरणों एवं न्यायालयों के मध्य एक अन्य मूलभूत भिन्नता विषय–वस्तु के क्षेत्राधिकार की प्रकृति के संबंध में होती है। किसी संस्था के प्रशासनिक अधिनियम एवं न्यायिक निर्णय की विषय–वस्तु सामान्यतया एक एकल आर्थिक गतिविधि, घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई आर्थिक गतिविधियों का एक समूह या सरकार के द्वारा प्रदत्त विशिष्ट लाभ होती है। श्रम संबंधों के साथ नेशनल लेबर रिलेशंस बोर्ड का उपक्रम प्रथम गतिविधि का उदाहरण है; रेडियो, दूरदर्शन एवं दूरभाष पर फेडेरल कम्युनिकेशंस कमिशन का क्षेत्राधिकार दूसरी गतिविधियों के समूह का उदाहरण है; वेटेरन्स एडमिनिस्ट्रेशन जैसी संस्थाओं के द्वारा लाभ के दावों की वैधता का न्यायिक निर्णय सरकार के द्वारा प्रदत्त विशिष्ट लाभ का उदाहरण है। इसके विपरीत, न्यायालयों के क्षेत्राधिकार की विषय–वस्तु नागरिक एवं दण्डात्मक कानून के एक बड़े भाग पर लागू होती है।

टिप्पणी

सन् 1946 का एडमिनिस्ट्रेटिव प्रोसीजर एक्ट (एपीए) अधिकतर अमेरिकी संस्थाओं पर समान प्रक्रिया संबंधी आवश्यकताओं को लागू करता है और इसके अनुसार संस्थाओं के भीतर वैधानिक एवं कार्यकारी पहलुओं से न्यायिक कार्य को पृथक रखना आवश्यक है। कुछ संस्थाएं जो इस अधिनियम के द्वारा आवरित नहीं की गई हैं उनके संस्थागत कानूनों में वैकल्पिक प्रावधान किए जाते हैं; और कुछ अतिरिक्त प्रक्रिया संबंधी आवश्यकताओं को लागू किये जाते हैं।

एपीए अपने क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत संस्थाओं की अधिसूचना एवं सुनवाई हेतु आवश्यकताओं का वर्णन करता है। जब कांग्रेस ने यह निर्दिष्ट किया है कि प्रशासनिक न्यायिक निर्णय आवश्यक रूप से औपचारिक होने चाहिए, तो एपीए के अनुसार यह आवश्यक है कि एक ट्रायल–टाइप सुनवाई में स्थापित रिकॉर्ड के अनुरूप संस्था के द्वारा निर्णय किया जाना चाहिए और यह कि साक्ष्य को सुनने वाले अधिकारी के द्वारा प्रारंभिक निर्णय किया जाए। यह "एडमिनिस्ट्रेटिव लॉ जज" कहलाने वाला सुनवाई परीक्षक तार्किक विश्लेषण, तथ्य के लिखित निष्कर्ष परिणामों एवं कानून के निष्कर्षों पर आधारित प्रारंभिक निर्णय करता है। प्रारंभिक निर्णय के विरुद्ध अक्सर अंतर–संस्था मंडल में याचिका दायर की जाती है, जो कि संस्था का उच्चतम प्रशासनिक प्राधिकरण होता है। यह अधिनियम अतिरिक्त रूप से न्यायालयों को संस्था के न्यायिक निर्णय की समीक्षा का विस्तृत अधिकार प्रदान करता है। सामान्य रूप से, संस्था के औपचारिक न्यायिक निर्णय की न्यायिक समीक्षा न्याय के प्रश्नों तक सीमित होती है और तथ्य के प्रशासनिक निष्कर्ष परिणाम तब तक न्यायालयों के लिए मान्य होंगे जब तक कि उसे ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि संतोषजनक साक्ष्य का समर्थन उपलब्ध नहीं है। कानून के प्रश्न में यह आरोप सम्मिलित होते हैं कि संवैधानिक या कानूनी अधिकारों का हनन हुआ है, आवश्यक प्रक्रियाओं को नहीं अपनाया गया है। क्योंकि कांग्रेस ने यह नहीं व्यक्त किया है कि प्रशासनिक न्यायिक निर्णय आवश्यक रूप से औपचारिक होना चाहिए, इसलिए एपीए प्रयोग में ली जाने वाली प्रक्रियाओं के संबंध में मौन है। कार्यविधि संबंधी यथोचित प्रक्रिया की संवैधानिक आवश्यकताओं और न्यायालयों के एकपक्षीय, स्वेच्छाचारी, विवेक–विरुद्ध या कानून का उल्लंघन करने वाले संस्था के कार्यों को पलटने के अधिकार से ऐसे अनौपचारिक न्यायिक निर्णय हेतु बाध्यताओं की आवश्यकता उत्पन्न होती है।

प्रशासनिक अधिनियम एवं न्यायिक निर्णय राष्ट्रीय सरकार के स्तर तक ही सीमित नहीं है। यह राज्यों एवं नगरपालिकाओं में बड़े रूप में जन सुविधाओं, प्राकृतिक संसाधनों, बैंकों, प्रतिभूतियों, कर्मचारियों के मुआवजों, बेरोजगारी बीमा, रोजगार में भेद–भाव, किरायों, वाहन संचालन व निरीक्षण, निगमों, चुनावों, कल्याण, व्यापारिक बीमा, भूमि उपयोग एवं पर्यावरण व उपभोक्ता संरक्षण के क्षेत्र में लागू किया जा रहा है। कई राज्यों में 1946 के संघीय अधिनियम की तुलना में एडमिनिस्ट्रेटिव प्रोसीजर्स एक्ट है, किन्तु राज्यों में संघीय अधिनियम की तुलना में न्यायिक समीक्षा विशेष रूप से विस्तृत होती है।

4.6.2 प्रशासनिक न्यायिक निर्णयण के प्रकार

न्यायिक निर्णय की एक असाधारण विशेषता निर्णय–निर्माण की प्रक्रिया का मार्गदर्शन करने वाली पूर्व–निर्धारित प्रक्रियाओं की उपस्थिति होना है। निर्णय से पूर्व न्यायिक

टिप्पणी

प्रक्रियाओं या अनौपचारिक प्रक्रिया के समान पूर्ण–विकसित औपचारिक सुनवाइयां की जा सकती हैं, जो कि किसी संक्षिप्त कार्यवाही के समान ही हैं जिसमें पक्षों की भागीदारी बहुत ही कम होती है। सामान्य रूप से, न्यायिक निर्णय की प्रक्रिया की शुरुआत किसी निजी व्यक्ति, व्यवसाय या यहां तक कि किसी संस्था के विरुद्ध शिकायत दर्ज करने से होती है। शिकायत में जिस पक्ष पर आरोप लगाए जाते हैं वह प्रत्यर्थी/प्रतिवादी (उत्तरदायी) कहलाता है। प्रतिवादी के पास शिकायत के विरुद्ध उत्तर प्रस्तुत करने का अधिकार होता है। सैद्धांतिक रूप से, प्रतिवादी को मामले का न्यायिक निर्णय करने वाली संस्था के समक्ष सुनवाई का अधिकार प्राप्त होता है। यद्यपि, एक स्थित से दूसरी स्थिति में सुनवाई की गहनता भिन्न हो सकती है।

(अ) अनौपचारिक न्याय निर्णयन (Informal Adjudications)

प्रशासनिक न्यायिक निर्णयों में बहुत बड़ी मात्रा में अनौपचारिक कार्यवाहियां सम्मिलित होती हैं। प्रशासनिक न्यायिक निर्णय की प्रक्रिया की अनौपचारिकता प्रशासनिक संस्थाओं की न्यायिक शक्तियों के प्रत्यायोजन को समर्थन प्रदान करने वाले तर्कों में सम्मिलित है। यद्यपि, न्यायिक निर्णय का अनौपचारिक तरीका अंतर्वस्तुओं के संबंध में हर देश और मामले में भिन्न हो सकता है और यह व्यक्तियों के मौलिक अधिकारों की सुरक्षा हेतु न्यूनतम वैधानिक संरक्षण प्रदान करने का प्रयास करता है।

संयुक्त राष्ट्र एडमिनिस्ट्रेटिव प्रोसीजर एक्ट (एपीए) को विशेष उदाहरण के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। अमेरिका में, एडमिनिस्ट्रेटिव प्रोसीजर एक्ट (एपीए) सामान्य रूप से संघीय संस्था के न्यायिक निर्णय की प्रक्रिया को नियंत्रित करता है। यद्यपि, अधिकतर राज्यों का स्वयं का एपीए का प्रतिरूप होता है। एपीए के तहत यथोचित प्रक्रियाओं के सबसे अधिक मूलभूत तत्वों की आवश्यकता होती है, अर्थात् सूचना पत्र एवं सुनवाई। सूचना पत्र के संबंध में, एपीए यह वर्णन करता है कि "जिन व्यक्तियों को किसी संस्था के द्वारा सुनवाई के लिए सूचना पत्र भेजा जाना है उन्हें उसके द्वारा ठीक समय पर सुनवाई के समय, स्थान एवं प्रकृति के बारे में, कानूनी प्राधिकार एवं जिस क्षेत्राधिकार के तहत सुनवाई होनी है उसके बारे में, और तथ्य की विषय–वस्तु व जिस कानून के तहत मामला दर्ज किया गया है उसके बारे में सूचित किया जायेगा। सुनवाई के संबंध में, संस्था को आवश्यक रूप से सभी संबंधित पक्षों को कार्यवाहियों के समय व प्रकृति अनुसार तथ्यों, तर्क–वितर्कों, समझौते के प्रस्तावों या समायोजन के प्रस्तावों को प्रस्तुत करने व उन पर विचार करने तथा जनहित अनुमति हेतु अवसर प्रदान करना होता है....।" प्रशासनिक सुनवाइयों हेतु एपीए न्यूनतम बाध्यताओं या आवश्यकताओं का वर्णन करता है, जिससे संस्थाएं औपचारिक रूप से कार्य कर पाती हैं। यद्यपि इस अर्थ में सुनवाई को प्रक्रिया संबंधी कानून की यथोचित प्रक्रिया के एक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में समझा जा सकता है, इसका आवश्यक रूप से यह तात्पर्य नहीं है कि सघन मौखिक सुनवाई करनी होगी। मामले की प्रकृति के आधार पर, विचार की लिखित रूप में, बहस, डेटा या अन्य किसी उपयुक्त तरीके से प्रस्तुति की जा सकती है। अतः, अधिकतर मामलों में, एपीए दूसरों के अधिकारों को प्रभावित करने वाले मामलों में कार्यवाही करने से पूर्व सूचना पत्र एवं सुनवाई की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रशासनिक संस्थाओं को निर्देश देता है। वास्तव में, समय व अंतर्वस्तुओं के संबंध में पर्याप्त सूचना सूचना पत्र में होना आवश्यक

टिप्पणी

है। किन्तु सुनवाई अनौपचारिक हो सकती है जैसे कि लिखित प्रस्तुतियां एवं मौखिक संवादों के समान लिखित साक्षात्कार। सभी मामलों में, अमेरिकी संविधान के पांचवें व चौथे संशोधनों के यथोचित प्रक्रिया से संबंधित अनुच्छेद यह निर्देशित करते हैं कि कानून की यथोचित प्रक्रिया के बिना जीवन, स्वतंत्रता या सम्पत्ति से न तो संघ और न ही राज्य सरकारें वंचित कर सकती हैं। विधान की यथोचित प्रक्रिया की धारणा दो विषयों का संकेत करती है। कार्यवाही का मूल पहलू कि संस्था का निर्णय कानूनी प्राधिकार के द्वारा आवश्यक रूप से समर्थित होना चाहिए तथा प्रक्रिया संबंधी पहलू कि निर्णय निर्माण की प्रक्रिया पूर्व–निर्धारित प्रक्रियाओं या इसके अभाव में एपीए के अन्तर्गत नियत न्यूनतम आवश्यकताओं के द्वारा आवश्यक रूप से निर्देशित होनी चाहिए। सामान्य रूप से कहें तो संबंधित मूल कानूनों के अन्तर्गत और संबंधित कानूनों के अन्तर्गत निश्चित प्रक्रिया के अनुसार स्पष्ट रूप से ठोस कारणों के अतिरिक्त किसी भी व्यक्ति को उसके जीवन, स्वतंत्रता व सम्पत्ति के अधिकारों से वंचित नहीं किया जा सकता है।

न्यायालय की कार्यवाहियों को नियंत्रित करने वाली प्रक्रिया व साक्ष्यों के साधारण नियम पूर्ण रूप से प्रशासनिक/अधिकरण की कार्यवाहियों पर लागू नहीं होते हैं अतः, सामान्य कानूनी परंपरा में न्यायालयों ने सामान्य सिद्धांतों को विकसित किया है जिनके द्वारा संस्था के न्यायिक निर्णय में न्यायोचितता को सुनिश्चित करने की अपेक्षा की जा सकती है। ये सिद्धांत प्राकृतिक न्याय एवं न्यायोचितता के नियम कहलाते हैं। इन नियमों में दो सिद्धांत सम्मिलित हैं। प्रथम, किसी भी व्यक्ति को बिना उचित सुनवाई के दोषी नहीं ठहराया जा सकता। दूसरा, किसी को भी किसी भी मामले में न्यायाधीश के रूप में कार्य नहीं करना चाहिए अगर उसका निर्णय में किसी प्रकार का हित निहित है क्योंकि सभी निर्णय पक्षपात से मुक्त होने चाहिए। यूनाइटेड किंगडम में, निम्नलिखित प्रकार की स्थितियों में प्राकृतिक न्याय के नियमों के क्रियान्वयन के संबंध में एक स्थापित उदाहरण है–

- जहां किसी को कार्यालय से बर्खास्त किया गया है; या
- जहां किसी को किसी व्यावसायिक या सामाजिक संस्था की सदस्यता से वंचित किया गया है;
- जहां किसी को सम्पत्ति अधिकारों या सुविधाओं से वंचित किया गया है।

जहां पूर्ण रूप से प्राकृतिक न्याय के नियमों को लागू किया जाता है, वहां किसी न्यायोचित सुनवाई में निम्नलिखित तत्वों के सम्मिलित होने की अपेक्षा की जाती है :

(क) प्रभावित व्यक्ति को उचित सूचना पत्र आवश्यक रूप से प्रदान किया जाना चाहिए;

(ख) प्रभावित व्यक्ति को उसके विरुद्ध संपूर्ण मामले के बारे में आवश्यक रूप से सूचित किया जाना चाहिए;

(ग) उस व्यक्ति को अपने मामले को तैयार करने के लिए आवश्यक रूप से पर्याप्त समय दिया जाना चाहिए;

(घ) प्रभावित व्यक्ति को उसके मामले को प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक रूप से पर्याप्त अवसर प्रदान किया जाना चाहिए;

(ङ) निर्णय निर्माता से उसके निर्णय हेतु कारण प्रदान करने की मांग की जा सकती है।

(च) प्रभावित व्यक्ति गवाहों के साथ जिरह कर सकता है;

(छ) प्रभावित व्यक्ति को वैधानिक अभिवेदन प्रस्तुत करने का अधिकार प्रदान किया जा सकता है।

टिप्पणी

किन्तु यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि न्यायोचित सुनवाई का सिद्धांत का तात्पर्य सभी परिस्थितियों में एक तरीके से लागू नहीं होता है। (क) से (घ) तक सूचीबद्ध आवश्यकताओं को अनिवार्य बनाया गया है– इन्हें न्यायोचित निर्णय हेतु न्यूनतम आवश्यकता के रूप में वर्णित किया गया है, जबकि (ङ) से (छ) तक सूचीबद्ध आवश्यकताएं इस अर्थ में विवेकाधीन हैं कि उनका अनुप्रयोग करने की आवश्यकता प्रत्येक विशिष्ट प्रकार के मामले की प्रकृति के संबंध में प्रकट हो सकती है। मेकइन्नेस बनाम ऑन्सलॉ–फेन (1978) 1 डब्ल्यूएलआर 1520 के मामले में वी–सी ने कहा है कि प्राकृतिक न्याय एक लचीला शब्द है जिसके अन्तर्गत मामले की प्रकृति के अनुसार विभिन्न आवश्यकताओं को लागू किया जाता है। जितना अधिक कोई निर्णय 'न्यायिक' कहे जाने के निकट पहुंचता है, प्राकृतिक न्याय के नियमों के संपूर्ण तत्व उतने अधिक लागू होते हैं। यद्यपि, जितना अधिक कोई निर्णय प्राकृतिक रूप से 'प्रशासनिक' कहे जाने के निकट हपुंचता है, उतना अधिक 'न्यायोचितता' की आवश्यकता के बारे में वार्ता करना उचित होता है। (कम्पर एण्ड वाटर्स : पृष्ठ 311)। सामान्य रूप से, लाइसेंस के लिए किसी प्रार्थनापत्र पर विचार करना एक प्रशासनिक कार्य होता है – इसमें प्राकृतिक न्याय के सभी नियम लागू नहीं होते हैं– इसमें केवल प्रार्थनापत्र पर उचित रूप से विचार करने की आवश्यकता होती है। इसके विपरीत, किसी लाइसेंस का विखंडन अधिक रूप से एक न्यायिक निर्णय होता है– इसमें किसी के अधिकारों को ले लेना सम्मिलित होता है– इसलिए यहां प्राकृतिक न्याय के नियमों के संपूर्ण संरक्षण का अधिकार लागू होता है।

(ब) औपचारिक न्याय निर्णयन (Formal Adjudications)

अनौपचारिक प्रशासनिक न्यायिक निर्णय सूचना पत्र एवं सुनवाई के संबंध में न्यूनतम वैधानिक सुरक्षा उपाय प्रदान करता है; और अधिकतर मामलों में सुनवाई में मौखिक सुनवाई नहीं बल्कि विचारों, बहस, डेटा आदि को लिखित रूप में प्रस्तुत किया जाता है। किन्तु औपचारिक न्यायिक निर्णय में लगभग पूर्ण–विकसित मुकदमे में होने वाली सुनवाई के समान सुनवाई सम्मिलित होती है। दाव पर लगे हुए व्यक्तिगत हित की मात्रा को ध्यान में रखते हुए, अधिकार प्रदान करने वाला कानून (मूल–अधिनियम) या अन्य कानून संबंधित प्रशासनिक संस्थाओं को निर्णयों को पारित करने से पूर्व एक औपचारिक सुनवाई करने का आदेश दे सकते हैं। अन्य विषयों में, औपचारिक न्यायिक निर्णय प्रतिवादी को निम्नलिखित प्रक्रिया संबंधी सुरक्षा उपाय प्रदान कर सकता है–

- आरोपों की अधिसूचना;
- अधिसूचना की सुनवाई;
- किसी अधिवक्ता के द्वारा प्रतिनिधित्व;
- एक निष्पक्ष अधिकरण/प्रशासनिक विधि न्यायाधीश;

- साक्ष्य का प्रस्तुतीकरण;
- संस्था के गवाह से जिरह;
- अधिनियमों पर आधारित निर्णय।

टिप्पणी

किसी औपचारिक न्यायिक निर्णय में, प्रतिवादी को किसी संस्था के गवाहों का सामना करने का अधिकार होता है। अतः, मौखिक सुनवाई आवश्यक रूप से होनी चाहिए। वहां भी जहां न्यायोचितता को सुनिश्चित करने या व्यक्तियों के मूलभूत अधिकारों की रक्षा करने के लिए संस्था की न्यायिक निर्णय प्रक्रिया के संबंध में वैधानिक आवश्यकताएं अपर्याप्त प्रतीत होती हैं। अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय ने "कानून की यथोचित प्रक्रिया के बिना जीवन, स्वतंत्रता या सम्पत्ति से व्यक्तियों को वंचित कर सकती हैं। ऐसा आदेश देने वाले अनुच्छेद की यथोचित प्रक्रिया के पांचवें व चौथे संशोधनों को लागू किया है। प्रशासनिक यथोचित प्रक्रिया की धारणा के संबंध में, प्राधिकारों का अग्रानुसार वर्णन किया जाता है–

प्रशासनिक यथोचित प्रक्रिया के मामलों में, न्यायालयों को आवश्यक रूप से दो निर्णय करने चाहिए। प्रथम, उसे आवश्यक रूप से यह निर्णय करना चाहिए कि क्या यथोचित प्रक्रिया का अनुच्छेद लागू होता है या नहीं। प्रशासनिक निर्णय यथोचित प्रक्रिया अनुच्छेद के द्वारा केवल तभी निरुद्ध किए जाते हैं अगर वे किसी अर्थपूर्ण तरीके से किसी व्यक्ति को "जीवन, स्वतंत्रता या संपत्ति" से वंचित करते हैं। यह सत्य है कि आज उन हितों को विस्तारपूर्वक परिभाषित किया जाता है। दूसरे, यह मानते हुए कि यथोचित प्रक्रिया का अनुच्छेद लागू होता है, तो न्यायालय को यह आवश्यक रूप से निर्धारित करना चाहिए कि मूलभूत न्यायोचितता को सुनिश्चित करने के लिए किस "प्रक्रिया" की आवश्यकता है। यहां, प्रशासनिक यथोचित प्रक्रिया में सभी दृष्टिकोणों के लिए एक ही प्रक्रिया अपनाने में न्यायालय अनिच्छुक रहा है। मेथ्यू बनाम एल्लडरिज़ के मामले में, न्यायालय ने कहा है कि, "यथोचित प्रक्रिया लचीली होती है तथा विशिष्ट स्थिति की मांगों के अनुसार प्रक्रिया संबंधी संरक्षणों की मांग करती है।" न्यायोचित सूचना पत्र एवं सुनवाई की सामान्य आवश्यकताओं के परे, यह स्पष्ट तौर पर कहना मुश्किल है कि किस विशिष्ट प्रशासनिक संदर्भ में किस यथोचित प्रक्रिया की आवश्यकता होगी। किन्तु एक मार्गदर्शक सिद्धांत यह है कि व्यक्ति के जीवन, उसकी स्वतंत्रता या सम्पत्ति के हित की मात्रा जितनी अधिक होगी, उतनी ही अधिक आवश्यकता प्रक्रिया संबंधी सुरक्षा की होगी।

किसी संस्था के कार्य व्यक्तियों के मूलभूत संवैधानिक अधिकारों का अतिक्रमण करने के लिए जितने अधिक प्रवृत्त होंगे, उतनी ही अधिक प्रक्रिया संबंधी सुरक्षा ऐसे व्यक्तियों को प्रदान की जानी चाहिए। यह आदेश पूर्व के उप–संभाग में वर्णित प्राकृतिक न्याय के सिद्धांत एवं न्यायोचितता के सिद्धांत के द्वारा भी दिया गया है। अतः, ऐसी परिस्थितियां हैं जहां प्रशासनिक संस्थाओं/अधिकरणों के लिए आवश्यक होता है कि वे एक संपूर्ण औपचारिक प्रशासनिक न्यायिक निर्णय का संचालन करें, उन्हें अधिकतर मामलों में ऐसा करने के आदेश अधिकार प्रदान करने वाले कानूनों या अन्य संबंधित कानूनों, कानून की यथोचित प्रक्रिया की गारंटी देने वाले संवैधानिक सिद्धांतों, प्राकृतिक न्याय एवं मौलिक न्यायोचितता के सिद्धांतों के द्वारा दिया जा सकता है।

टिप्पणी

आज तक इथिओपिया ऐसे किसी ज़रिये को प्रस्तुत नहीं कर सका है जो प्रशासनिक संस्थाओं की न्यायिक निर्णय की प्रक्रिया को नियंत्रित करने वाले समरूप मानकों या दिशा–निर्देशों को प्रदान कर सके। संघीय व क्षेत्रीय दोनों स्तरों पर, ऐसा कोई समरूप वैधानिक दिशा–निर्देशन उपलब्ध नहीं है जो प्रशासनिक संस्थाओं को मामलों का न्यायिक निर्णय प्रदान करते हुए आवश्यक रूप से उठाये जाने वाले कदमों के संबंध में आदेश प्रदान कर सके। अतः, ऐसी प्रक्रियाओं की खोज संबंधित संस्थाओं की रचना करने वाले, अधिकार प्रदान करने वाले कानूनों के प्रत्येक भाग में की जाती है। संघीय स्तर पर, 2001 में एक संघीय प्रशासनिक प्रक्रिया घोषणा को अपनाने के लिए परिणामरहित प्रयास किया गया था ताकि संघीय प्रशासनिक संस्थाओं के द्वारा नियम–निर्माण एवं न्यायिक निर्णय की प्रक्रिया को नियंत्रित किया जा सके। किन्तु अज्ञात कारणों से लगभग एक दशक से यह एक मसौदे के रूप में ही बना हुआ है। संघीय प्रशासनिक संस्थाएं अपने विवेकानुसार किसी अन्य अबाध्यकारी कानूनी साहित्य के समान इस मसौदा पत्र से संदर्भ प्राप्त कर सकती हैं; मसौदा पत्र ऐसी संस्थाओं के निर्णयों को आदेश नहीं प्रदान कर सकते, क्योंकि इसे अभी कानून के रूप में अपनाया नहीं गया है।

यद्यपि, आवश्यक रूप से इसका आशय यह नहीं है कि इथिओपिया में प्रशासनिक न्यायनिर्णयन पूर्णतया निरंकुश है। आप उन अधिकार प्रदान करने वाले कानूनों में यहां–वहां विस्तृत कुछ प्रक्रिया संबंधी आवश्यकताओं का अवलोकन कर सकते हैं जो विशिष्ट संस्थाओं की रचना व उनका सशक्तिकरण करते हैं। यहां तक कि जहां ऐसे विशिष्ट कानूनों में, व्यक्तियों के मूलभूत संवैधानिक अधिकारों की रक्षा करने में अनुपयुक्त, प्रदान किए गए प्रक्रिया संबंधी सुरक्षा उपाय पाए जाते हैं, वहां संघीय संविधान के अंतर्गत प्रतिष्ठापित कानून की यथोचित प्रक्रिया के सिद्धांतों के लिए उपाय करना पड़ता है। हमारा संविधान, अन्य विषयों के साथ–साथ, स्पष्ट रूप से जीवन, स्वतंत्रता एवं सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा करता है। इन अधिकारों को किसी व्यक्ति या प्रशासनिक प्राधिकार के द्वारा निरंकुश तरीके से प्रतिबंधित नहीं किया जा सकता है या छीना नहीं जा सकता है। उल्टे, संघीय एवं क्षेत्रीय सरकार के सभी नागरिकों व अंगों का दायित्व संविधान का पालन सुनिश्चित करना होता है। अतः, जैसा संयुक्त राष्ट्र अमेरीका में होता है, हमारे संविधान में शामिल कानून की यथोचित प्रक्रिया के सिद्धांतों को सुनिश्चित करने में हमारे न्यायालय एक विस्तृत सक्रिय भूमिका निभा सकते हैं। न्यायोचित सूचना पत्र एवं न्यायोचित सुनवाई की प्रमुख आवश्यकताएं कानून की यथोचित प्रक्रिया के सिद्धांत में हमेशा अंतर्निहित होती हैं।

प्रशासनिक संस्थाओं से व्यक्तिगत अधिकारों को सुरक्षा प्रदान करने की प्रक्रिया संबंधी सुरक्षा उपाय प्रदान करने के प्रयास में, इथिओपिया के फेडेरल एडमिनिस्ट्रेटिव प्रोसीजर प्रोक्लेमेशन के मसौदे (यहां से आगे इसे मसौदे के द्वारा संदर्भित किया गया है) में सूचना पत्र एवं सुनवाई जैसी कानून की यथोचित प्रक्रिया के मुख्य सिद्धांतों को सम्मिलित किया गया। अनुच्छेद 24 व 26 का संयुक्त रूप से पठन करने से आवश्यकताओं के तौर पर सूचना पत्र एवं सुनवाई के संकेत प्राप्त होते हैं। व्यक्तियों के अधिकार को प्रभावित करने वाले किसी प्रशासनिक कार्य से पूर्व, ऐसे संबंधित

टिप्पणी

व्यक्तियों की संस्था के द्वारा उपयुक्त सूचना व एक न्यायोचित सुनवाई का अवसर प्रदान किया जाना चाहिए। मसौदे के अनुच्छेद 24 के अंतर्गत सूचना पत्र की सामान्य आवश्यकता प्रशासनिक संस्थाओं को आदेश करती है कि उनके द्वारा उठाये जाने वाले मामले के संबंध में की जाने वाली कार्यवाही के कारण, सुनवाई के समय, स्थान एवं प्रकृति के बारे में सूचना प्रदान की जायेगी। सूचना पत्र का उद्देश्य व्यक्तियों को किसी संस्था के द्वारा वास्तव में जिन मामलों में उनका वैध हित सम्मिलित है उनके संबंध में की जाने वाली कार्यवाही की योजना से अवगत करवाना होता है। किसी प्रशासनिक कार्यवाही से पूर्व सुनवाई का अधिकार मसौदे के अनुच्छेद 26 के अन्तर्गत प्रदान किया गया है। विभिन्न कारणों हेतु कानून के अंतर्गत स्पष्ट रूप से वर्णित परिस्थितियों हेतु जबतक सुनवाई को अनावश्यक नहीं व्यक्त किया गया हो, तब तक संस्था जन सुनवाई के लिए बाध्य होती है (अनुच्छेद 26 सहित अनुच्छेद 28)। सुनवाई मामले के पक्ष को निर्णय के विरुद्ध अपनी आपत्तियां एवं तर्क उठाने का अधिकार प्रदान करती है। मसौदे का अनुच्छेद 28(3) प्रशासनिक कार्यवाहियों के पक्षों को दस्तावेज़ी एवं अन्य साक्ष्य प्रस्तुत करने का अधिकार प्रदान करता है ताकि गवाहों को बुलवाया जा सके तथा दूसरे पक्ष के आरोपों पर जिरह की जा सके। मसौदे का अनुच्छेद 25 प्रशासनिक कार्यवाहियों के पक्षों को बहस करने और अपने प्रतिनिधि के तौर पर किसी लाइसेंस धारक अधिवक्ता या अन्य किसी व्यक्ति को प्रस्तुत करने का अधिकार प्रदान करता है।

सुनवाई के दौरान, संस्थाओं के लिए निर्णय प्रदान करने के लिए हुई सभी कार्यवाहियों का रिकॉर्ड रखना तथा मांगने पर पक्षों या उनके प्रतिनिधियों को रिकॉर्ड की प्रति प्रदान करना आवश्यकता होता है। इसके अतिरिक्त, मसौदे का अनुच्छेद 32 प्रशासनिक संस्थाओं को यह आदेश करता है कि वे अपने निर्णय को लिखित रूप में प्रस्तुत करें और तथ्य व साक्ष्य के स्रोत, तथ्यों के निष्कर्ष परिणामों और निर्णय जिन पर आधारित है उन साक्ष्यों के मूल्यांकन, मुद्दे के निर्धारण और ऐसे निर्णय के आधार पर की जाने वाली कार्यवाही सहित विचाराधीन विवादास्पद तथ्यों को सम्मिलित करें।

4.6.3 प्रशासनिक न्यायिक निर्णयन की संवृद्धि के कारण

1. लोक हितकारी राज्य की अवधारणा के कारण राज्य के कार्यों में वृद्धि हो गई है। इससे विभिन्न प्रकार की स्थितियां उत्पन्न हो गई हैं जहां नागरिकों के मध्य या नागरिकों व राज्य के मध्य विवाद होते हैं और इसलिए ऐसे विवादों का निपटारा करने के लिए एक उचित तंत्र की आवश्यकता होती है।
2. आज के न्यायालय पहले से ही मामलों के अत्यधिक बोझ से दबे हुए हैं।
3. न्यायालय की प्रक्रिया बहुत समय खपाने वाली तथा विलंबकारी होती है और कई प्रकार की औपचारिकताओं को पूर्ण करना पड़ता है। प्रशासनिक न्यायिक निर्णय में ऐसी प्रक्रिया संबंधी आवश्यकताएं सम्मिलित नहीं होती हैं और इसलिए वह तीव्र होता है।
4. न्यायालय की प्रक्रिया का पालन करने से न केवल न्यायपालिका अत्यधिक बोझ तले दब जाती है बल्कि धीमी एवं भारी–भरकम प्रक्रिया के कारण, प्रशासनिक निर्णय एवं नीतियां भी बाधित हो जाती हैं।

टिप्पणी

5. इसके अतिरिक्त, समाज में परिवर्तनों के कारण कुछ नई सामाजिक–आर्थिक समस्याएं उत्पन्न हो गई हैं जिन्हें न केवल कानून व तथ्यों के आधार पर निर्णीत करने की आवश्यकता होती है बल्कि उन्हें नीति के लिहाज से भी निर्णीत करना होता है।
6. न्यायाधीश आम तौर पर प्रत्येक समस्या हेतु कानून के केवल उसके शाब्दिक अर्थ पर बहुत सख्त एवं तकनीकी दृष्टिकोण अपनाते हैं। यह एक प्रायोगिक दृष्टिकोण नहीं है जब ऐसी नई समस्याओं का समाधान करने की बात आती है जिनका कानून के पास हमेशा समाधान उपलब्ध नहीं होता है।
7. इसके अतिरिक्त, न्यायाधीश अनेक विषयों की जानकारी रखते हैं तथा कानून के सामान्य सिद्धांतों को लागू करते हैं। समाज की समस्याओं के लिए विशेषज्ञता और विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है जो प्रशासनिक प्राधिकारियों के पास होता है।
8. यद्यपि, प्रशासनिक न्यायिक निर्णय में भी कुछ कमियां निहित हैं। न्यायपालिका सरकार के अन्य अंगों से स्वतंत्र होती है जबकि प्रशासनिक अधिकरण संभवतया उनके प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकते हैं। न्यायपालिका के द्वारा पालन की जाने वाली प्रक्रिया जैसे कि गवाहों के साथ जिरह, तर्कपूर्ण निर्णय आदि कदाचित प्रशासनिक न्यायिक निर्णय के मामले में हमेशा उपस्थित न हों।

4.6.4 प्रशासनिक न्याय निर्णयन के गुण एवं दोष

तकनीकी रूप से कहें तो न्यायिक शक्ति/कार्य न्यायालयों का प्राथमिक कार्य होता है। एफडीआरई संविधान स्पष्ट तौर पर संघीय एवं राज्य स्तर के न्यायालयों को न्यायिक शक्ति प्रदान करता है। यह राज्य शक्तियों के अलगाव के सिद्धांत के अनुरूप है। यद्यपि, यह आवश्यक नहीं है कि केवल नियमित न्यायालय ही न्यायिक शक्ति का प्रयोग करेंगे। ऐसी भी संभावनाएं हैं जहां सामान्य न्यायालयों की संरचना के बाहर की अन्य संस्थाओं को न्यायिक शक्ति प्रदान की जा सकती है। जैसा कि संविधान के अनुच्छेद 37(1) व 80(4 व 5) के शब्दों से अनुमान लगाया जा सकता है कि ऐसी संभावनाओं को प्रतिबंधित नहीं किया गया है। आगे हम प्रशासनिक संस्थाओं को प्रदान की जाने वाली न्यायिक शक्ति के लाभों एवं दोषों के संबंध में दिए जाने वाले तर्क–वितर्कों पर परिचर्चा करते हैं।

लाभों से आरंभ करते हुए प्रशासनिक संस्थाओं/अधिकरणों को अक्सर सस्ता, सुलभ, अनौपचारिक, तीव्र एवं विशेषीकृत न्याय प्रदान करने के उद्देश्य के साथ न्यायिक शक्ति प्रदान की जाती है। सामान्य न्यायालयों के द्वारा न्यायिक निर्णय की तुलना में प्रशासनिक न्यायिक निर्णय के संबंध में प्रमुख लाभ–

"...वे (प्रशासनिक अधिकरण) छोटे दावों की बड़ी संख्या वाली कल्याण योजनाओं के प्रबंधन हेतु आवश्यक तीव्र, सस्ता एवं अधिक सुलभ न्याय प्रदान कर सकते हैं... न्यायालयों की प्रक्रिया लंबी, धीमी एवं महंगी होती है...यह (न्यायालय की प्रक्रिया) उच्चतम मानक का न्याय प्रदान करने के लिए होती है; साधारणतया कहें तो जनता का सबसे उत्तम संभव न्याय प्राप्त करना चाहती है और वह इसके लिए भुगतान करने

टिप्पणी

के लिए तैयार है....सामाजिक न्याय दिलाने... का उद्देश्य किसी भी मूल्य पर सबसे उत्तम न्याय प्राप्त करना नहीं बल्कि कुशल प्रशासन के अनुरूप उत्तम न्याय प्राप्त करना है। विवादों का निपटान जनता के साथ–साथ वादी की जेब के लाभ हेतु आवश्यक रूप से शीघ्र एवं सस्ते में होना चाहिए। (फिलिप्स, एण्ड लीपोल्डः पृष्ठ 886)

प्रशासनिक संस्थाओं को न्यायिक निर्णय करने की शक्ति प्रदान करने के पक्ष में प्रस्तुत तर्कों को निम्नानुसार संक्षिप्त रूप में देखा जा सकता है–

- प्रशासनिक संस्थाएं समय पर मामलों का निपटान करने के संबंध में सामान्य न्यायालयों से बेहतर होती हैं।
- प्रशासनिक न्यायिक निर्णय न्यायालय के न्यायिक निर्णय से सस्ता होता है।
- प्रशासनिक न्यायिक निर्णय सामान्य न्यायालयों की तुलना में अधिक सुविधाजनक और सुगम होता है।
- प्रशासनिक संस्थाओं में न्यायिक निर्णय की प्रक्रिया सामान्य न्यायालय की कठोर, सख्त एवं अधिक विस्तृत प्रक्रियाओं की तुलना में लचीली तथा अनौपचारिक होती है।
- प्रशासनिक अधिकरण ऐसे व्यक्तियों से भरा जाता है, जिन्हें उनके द्वारा निर्णीत किए जाने वाले जटिल विवादों से संबंधित विशेष कौशल व विशेषज्ञता प्राप्त होती है। जबकि सामान्य न्यायालय के न्यायाधीश कानून में सभी विषयों का ज्ञान रखते हैं मगर विशेषज्ञता पूर्ण ज्ञान का उनमें अभाव होता है।

संक्षेप में, अनौपचारिक न्यायिक निर्णय की प्रक्रिया के कारण, प्रशासनिक न्यायिक निर्णय में साक्ष्य के उदार मानक और प्रशासनिक अधिकरणों की विशेषज्ञता यह दर्शाते हैं कि यहां समय पर व सस्ते में उत्तम न्याय प्राप्त करने की संभावना बहुत अधिक है। यद्यपि प्रशासनिक/अधिकरण का न्यायिक निर्णय आलोचनाओं से मुक्त नहीं है। प्रमुख आलोचनाएं इस प्रकार हैं–

- **कानूनी विशेषज्ञता का अभाव** (Lack of Legal Expertise) : न्यायिक निर्णय करने वाले समूह में चुने जाने वाले अधिकतर सदस्य जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से आते हैं और उनकी बहुत अल्प कानूनी पृष्ठभूमि होती है या कोई कानूनी पृष्ठभूमि होती ही नहीं है, उनमें विवादों का न्यायिक निर्णय प्रदान करने हेतु अपेक्षित कानूनी विशेषज्ञता का अभाव हो सकता है।
- **पक्षपात** (Partiality) : यहां भय यह है कि प्रशासनिक अधिकरण के अधिकार या सभी सदस्य उसी समय विभिन्न कार्यालयों या संस्थाओं के कर्मचारी होते हैं, हो सकता है कि वे संस्था के प्रति पक्षपात से मुक्त न हों।
- **शक्तियों के अलगाव के सिद्धांत और कानून के नियम का उल्लंघन** (Theory of Separation of Powers and Violations of Rule of Law) : न्यायिक निर्णय सामान्य न्यायालयों का प्रमुख कार्य होता है। अतः, कुछ प्राधिकारियों के द्वारा यह तर्क दिया जाता है कि प्रशासनिक संस्थाओं को शक्ति का हस्तांतरण इस सिद्धांत का उल्लंघन है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

11. संसद ने अधिकरण और जांच अधिनियम कब पारित किया।

    (क) सन् 1948 (ख) सन् 1958

    (ग) सन् 1968 (घ) सन् 1978

12. किस अनुच्छेद में प्रशासनिक कार्यवाहियों के पक्षों को दस्तावेजी एवं अन्य साक्ष्य प्रस्तुत करने का अधिकार प्रदान करता है?

    (क) अनुच्छेद 28 (3) (ख) अनुच्छेद 37 (1)

    (ग) अनुच्छेद 80 (4 व 5) (घ) अनुच्छेद 44 (4)

4.7 प्रत्यायोजित विधायन

प्रत्यायोजित विधायन की विषय–वस्तु अपने विभिन्न निहितार्थों के कारण विधिक विचारधारा के क्षेत्र में एक अत्यधिक विचारणीय विषय है। विद्वानों ने विधि बनाने की शक्ति के प्रत्यायोजन के बारे में भिन्न एवं विरोधाभासी दृष्टिकोण लगातार प्रस्तुत किये हैं तथा भिन्न–भिन्न निष्कर्ष निकाले हैं। यद्यपि, प्रत्यायोजित विधायन वर्तमान समय में विस्तृत रूप से व्यवहारिता में है तथा एक आदर्श के रूप में भी लगभग स्थापित हो चुका है परंतु उसके बारे में अभी भी विरोधाभासी विचारधाराएं हैं।

4.7.1 प्रत्यायोजित विधायन का अर्थ (Meaning of Delegated Legislation)

भारत में प्रत्यायोजित विधायन को सामान्यतः वैधानिक नियमों एवं आदेशों के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है। किंतु 'विनियम', 'अधिसूचना', 'उपनियम', 'योजनाएं', 'निर्देश' आदि अभिव्यक्तियां भी इसी संदर्भ के अंतर्गत आती हैं।

अत्यधिक मात्रा में विधि विधायिका से बाहर अर्थात सरकारी विभागों में निर्मित होती है। कार्यकारिणी को विधि निर्माण की ऐसी कोई सामान्य शक्ति प्रदान नहीं की गयी है। वह केवल विधायिका की अधिकारिता के अधीन विधि की अनुपूर्ति करते हैं, विधान अनुपूर्ति की शक्ति के प्रकार की गतिविधियों को प्रत्यायोजित या अधीनस्थ विधान भी कहते हैं।

प्रत्यायोजित विधायन की आवश्यकता (Need of Delegated Legislation)

वर्तमान समय में सरकार द्वारा विधायिका के लिए यह संभव नहीं होता कि वह उनसे संबंधित विधानों को उनकी संपूर्ण तकनीकी अपेक्षाओं के साथ पारित करे जो उसे प्रभावित बनाने के लिए आवश्यक हैं। विधायिका उसकी तकनीकी जटिलता को नहीं समझती क्योंकि वह विशेषज्ञ नहीं होते तथा न ही तकनीकी ज्ञान रखते हैं। अतः इस प्रकार के मामलों में विधानों को अंतिम रूप में लाने के लिए उन प्रशासनिक अधिकारियों की सहायता ली जाती है जिनको विधान की विषय–वस्तु के संदर्भ में विशेषतः ज्ञान प्राप्त होती है। प्रशासनिक अधिकारी नियम व विनियम बनाकर विधान के दोषों को दूर करते हैं।

टिप्पणी

प्रत्यायोजित विधायन का विकास (Growth of Delegated Legislation)– प्रत्यायोजित विधयान के वर्तमान विकास का प्रारंभ 1834 में हुआ जबकि पुअर्स लाज संशोधन अधिनियम ने इंग्लैंड में पुअर्स लाज आयुक्त को, जिसके पास संसद के प्रति कोई जिम्मेदारी नहीं थी, गरीबों के प्रबंध के नियम बनाने के लिए अधिकृत किया था। आयुक्त की यह शक्ति लगभग एक शताब्दी तक चलती रही जो प्रत्यायोजित शक्ति के उदाहरण रूप में थी, जिसमें मौलिक नीतियों का कार्यान्वयन ही नहीं बल्कि उसका निर्धारण भी सम्मिलित था।

सन 1863 में समस्त प्रत्यायोजित विधायनों का वैधानिक नियम तथा आदेश (Statutory Rules and Orders) के नाम से संग्रह हुआ तथा उनको प्रकाशित किया गया। सन 1863 में पब्लिकेशन रूल्स अधिनियम (Publication Rules Act) पारित किया गया जिसमें इन नियमों के मुद्रण, प्रकाशन व पंजीकरण के नियम उपबंधित किए गए। इन सभी साधनों द्वारा जनता का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ, क्योंकि 1891 में बनाए गए विधानों की यह दो गुनी थी।

प्रो. जे.ए. ग्राफिथ के अनुसार उन्नीसवीं व बीसवीं सदी में गौण विधान का विकास सरकार के कार्यों के संबंध में सैद्धांतिक व व्यावहारिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप अनिवार्य हो गया था। केंद्रीय तथा स्थानीय सकरार द्वारा अधिक से अधिक कार्य अपना लिए गए हैं जिनको पूर्ण करना प्रशासनिक प्राधिकारियों का ही दायित्व माना जाता है। सरकार ने जिन विधायी शक्तियों को अपना लिया उनके संबंध में विधायिका में कोई हस्तक्षेप नहीं किया गया। उन्नीसवीं सदी की हस्तक्षेपरहित की कल्पना एक समाज कल्याणकारी राज्य में बदल चुकी है जिसके कारण सरकार के कृत्यों में अभूतपूर्व वृद्धि और अनेक प्रकार के विधानों की आवश्यकता प्रतीत हुई। संसद का कार्यभार अत्यधिक बढ़ गया था। उसके पास समयाभाव होने के कारण सभी विधानों को उचित रूप में पूर्ण करने में कठिनाई उत्पन्न होने लगी। संसद अपनी सक्षमता का आभास करते हुए इस बात पर बल देने लगी कि आवश्यक विधायी–सिद्धांतों एवं नीतियों का निर्धारण वह स्वयं करे तथा विधानों के विस्तार को पूर्ण करने का कार्य प्रशासनिक प्राधिकारी को सौंप दे। इसके अतिरिक्त संसद को यह कठिनाई हो रही थी कि वह कुछ नये विधानों के क्षेत्र में उपबंधों को सम्मिलित करती जिसके विषय में उसको न कोई ज्ञान था न ही कोई कुशलता ही प्राप्त थी।

प्रो. वेड एवं फिलिप्स के अनुसार, वर्तमान समय में प्रशासन के विस्तृत कार्यों तथा आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में राज्यों के कार्यों के संदर्भ संसद के लिए आवश्यक हो गया है कि वह वैधानिक उपकरणों को निर्मित करने का कार्य मंत्रियों को सौंप दे।

4.7.2 भारत में प्रत्यायोजित विधि निर्माण का ऐतिहासिक विकास (Historical Growth of Delegated Legislation in India)

प्रत्यायोजित विधायन के ऐतिहासिक विकास को अध्ययन की दृष्टि से तीन भागों में बांटा जा सकता है–

1. प्रथम काल (सन 1833 से सन् 1915 तक)
2. द्वितीय काल (सन 1916 से स्वतंत्रता प्राप्ति तक)

3. तृतीय काल (स्वतंत्रता उपरांत)

टिप्पणी

1. **प्रथम काल** (First Period)– भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी ने एक व्यापारी के रूप में प्रवेश किया था किंतु कुछ ही समयान्तराल में राजनैतिक प्रभाव स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। सन् 1833 के राजलेख (Charter) ने ईस्ट इंडिया कंपनी के संघटन के साथ भारतीय प्रशासन की प्रणाली में महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिया। कंपनी द्वारा अर्जित राज्य क्षेत्र को अब वह केवल एक न्यास के रूप में ही धारण कर सकती थी, जबकि विद्यायी शक्तियां गवर्नर जनरल–इन–कौंसिल में पूर्ण रूप से निहित कर दी गयीं जो कार्यकारिणी का प्रधान था। गवर्नर जनरल को स्पष्ट रूप से सभी लोगों के लिए, न्यायालयों के लिए, क्षेत्रों के लिए, सारे राज्य क्षेत्र तथा उसके प्रत्येक भाग में तत्कालीन प्रवृत्त किसी विधि या विनियम के निरसन, संशोधन या परिवर्तन करने के लिए प्राधिकृत किया गया।

2. **द्वितीय काल** (Second Period)– सन 1915 से ब्रिटिश सरकार ने समग्र देश के या उस क्षेत्र के संबंध में, जो कंपनी के नियंत्रण में आ गया था, विधायी प्राधिकार प्राप्त कर लिया था। उसने विविध प्रेसीडेंसी नगरों की सरकारों को अपने–अपने राज्या क्षेत्रों के प्रशासन के लिए प्राधिकृत कर दिया था। बाद में उन प्रेसीडेंसी सरकारों को नियम व विनियम बनाने की शक्तियों की मात्रा में अप्रत्याशित वृद्धि हो गयी थी। यह दूसरे काल का आरंभ था जिसका अंत सन 1935 में गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट लागू किये जाने पर हुआ। सन 1935 का अधिनियम प्रत्यायोजन की एक विस्तृत योजना लाया जिसमें मंत्रियों की शक्तियों से संबंधित समिति का विवरण प्रस्तुत एवं अनुमोदित किया गया। प्रत्यायोजित विधायन पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया गया तथा भारत में भी प्रत्यायोजित विधायन को अपरिहार्य रूप से आवश्यक समझा जाने लगा। सन 1935 के अधिनियम के अनुसार राज्यपाल को एक अस्थायी अध्यादेश या स्थायी अधिनियम द्वारा किसी आरक्षित विषय पर विधान–रचना की पूर्ण शक्ति प्राप्त थी। मंत्रियों की मंत्रणा के स्थायी अध्यादेश जारी करने के लिए भी वह प्राधिकृत किया गया।

3. **तृतीय काल** (Third Period)– भारतीय संविधान के लागू होने के साथ ही प्रत्यायोजित विधायन का तृतीय काल आरंभ माना जा सकता है। जो प्रत्यक्षतः शक्ति–पृथक्करण के सिद्धांत पर आधारित था। किंतु जैसा कि पूर्ण पृथक्करण असंभव था, इसलिए पृथक्करण के सिद्धांत की आंतरिक पवित्रता को वर्तमान अर्थ में अपनाया गया। हमारे संविधान में कार्यकारिणी की विधायी शक्तियों के प्रत्यायोजन से निषेध नहीं करता। संविधान में अनेक अनुच्छेदों में कार्यकारिणी को प्रत्यायोजित विधायन की रचना की शक्ति प्रदान की गयी। राष्ट्रपति, जो कार्यकारिणी का प्रधान है, को अनेक विधायी शक्तियों से संपन्न किया गया है जिसमें अनुच्छेद 123 के अधीन अध्यादेश जारी करने का अधिकार, अनुच्छेद 240 के अधीन संघ राज्य–क्षेत्रों की शांति, सुरक्षा तथा अच्छे शासन के लिए विनियम बनाने का अनिर्बबंधित अधिकार प्राप्त है। वह संघ लोक सेवा आयोग के संघटन, सदस्यों की संख्या तथा आयोग के सदस्यों एवं कर्मचारियों की सेवा शर्तों को

टिप्पणी

निर्धारण करने वाले विनियमों की रचना कर सकता है। अनुच्छेद 357 के उपबंधों में संसद के द्वारा राष्ट्रपति को पूर्ण विधायी शक्तियों के प्रत्यायोजन का एक अन्य दृष्टांत पाया जाता है। इसके अतिरिक्त विधायिका द्वारा कार्यकारिणी के विभिन्न निकायों को विधायी शक्तियों के प्रत्यायोजन का तथ्य न्यायालयों द्वारा भी स्थापित किया गया है। यह मत उच्चतम न्यायालय द्वारा देहली लाज एक्ट, ए.आई.आर. 1951 एस.सी 332 के मामले में तथा उसके उपरांत के मामलों में सुस्पष्ट रूप से व्यक्त किया है।

प्रत्यायोजित विधायन के विकास के कारण (Causes of Growth of Delegated Legislation)– प्रत्यायोजित विधायन का विकास किसी पृथक घटना का परिणाम नहीं बल्कि राज्य के बढ़े हुए कार्यों का एक परिणाम था। 19वीं सदी के व्यक्तिवादी सिद्धांत के अंतर्गत यह प्रतिपादित किया गया था कि व्यक्ति ही अपने हितों का सबसे बड़ा निर्णायक है। राज्य का विधि कर्तव्य यह था कि वह राज्य के अंतर्गत तथा बाहर शांति व व्यवस्था बनाए रखे। किंतु आज स्थिति भिन्न है। आज राज्यों के पास नागरिकों के कल्याण के लिए, उनके स्वास्थ्य, शिक्षा, रोजगार का प्रबंध करने का दायित्व या व्यापार तथा उद्योग–वाणिज्य को नियमित करने एवं अन्य प्रकार की जन–सेवा की योजनाओं को कार्यान्वित करने का दायित्व है। जिस कारण कार्यकारिणी को प्रत्यायोजित विधायन सहित अत्यधिक शक्तियां प्रदान किये जाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। प्रत्यायोजित विधायन के विकास के लिए उत्तरदायी कारण इस प्रकार हैं–

1. **संसद की व्यवस्था** (Load on Parliament works)– संसद एक अत्यंत व्यस्त निकास है। संसद पर कार्यों का इतना अधिक बोझ होता है कि उससे यह अपेक्षा करना कि वह समस्त अधिनियमों को विस्तार के साथ पारित करेगी, असंभव है तथा इसीलिए अधिनियमों के अंतर्गत पूरक विधि बनाने का कार्य उसे कार्यकारिणी को प्रदान करना पड़ता है।
2. **विधि की विषय–वस्तु की विशिष्टता एवं प्राविधिकता** (Speciality and Legality of the Subjects of Law)– अधिनियमों की नीति को कार्यान्वित करने के लिए अनेक नियमों का विनियमन करना पड़ता है जो विशिष्ट विषयों से संबंधित होते हैं तथा उनके लिए विशेषज्ञों के परामर्श की आवश्यकता होती है। ऐसे में इस प्रकार के अधिनियमों के अधीन नियम बनाने का अधिकार उन विषयों के विशेषज्ञों को प्रदान किया जाना आवश्यक हो जाता है, जो कि कार्यकारिणी की संरचना करते हैं।
3. **लोकहित की मान्यताएं** (Recognition to Public Interests)– लोकहित की दृष्टि से मामलों में यह आवश्यक है कि विधि के उपबंध को क्रियान्वित करने का नियत समय जब तक न आ जाए उन्हें प्रकट न होने दें। अतः ऐसे मामलों में ऐसे नियमों तथा विनियमों की रचना के लिए कार्यकारिणी को पर्याप्त रूप से सशक्त होना आवश्यक है क्योंकि विधायी शक्ति के प्रत्यायोजन के अभाव में उचित रूप से ऐसी आकस्मिक घटना का सामना नहीं किया जा सकता है। दूसरी परिस्थिति यह है कि जब संसद के द्वारा कोई अधिनियम पारित किया जाए तो यह अपेक्षा की जाए कि उसको भिन्न–भिन्न समय तथा भिन्न तिथियों में लागू किया जाए। इस संबंध में कार्यकारिणी ही आदेश पारित करके या

विनियम की रचना करके सम्यक् रूप से तय कर सकती है कि कब व कहां अधिनियमों को प्रवृत्त किया जाएगा तथा प्रयोग में लाया जाएगा।

4. **नमनशीलता** (Flexibility)– अधिनियम में समय–समय पर होने वाले संशोधनों की क्रिया को पूर्ण करने के लिए अनेक प्रक्रिया संबंधी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जिसमें अनावश्यक विलंब होता है। किंतु शीघ्र क्रियान्वयन की दृष्टि से प्रत्यायोजित विधायन अत्यंत प्रभावशाली होता है। यदि नियम–विनियम दोषपूर्ण पाए जाएं तो उनमें शीघ्र ही संशोधन लाकर उन्हें ठीक किया जा सकता है या अपवर्जित किया जा सकता है। इस प्रकार सुविधा की दृष्टि से भी कार्यकारिणी की रचना की शक्ति को सरलता से स्वीकार कर लिया गया।

टिप्पणी

5. **आपात स्थिति का समाधान** (Solution to Emergency Situations)– वर्तमान युग में आपातकालीन स्थितियों का सामना करने के लिए भी कार्यकारिणी को विधि निर्माण की शक्ति देने की आवश्यकता है। क्योंकि संसद की बैठक सदैव नहीं होती किंतु कार्यकारिणी तत्काल कार्यवाही कर सकती है। अतः आपात स्थितियों का सामना करने के लिए यह आवश्यक है कि कार्यकारिणी विधि निर्माण एवं अन्य शक्तियों से युक्त हो, नहीं तो शासन की शक्ति के लोप होने का भय रहता है।

6. **प्रायोगिक कृत्यों का संपादन** (Execution of Practical Works)– संसद के अधिनियमों में कुछ ऐसे उपबंध उपलब्ध रहते हैं जो कि अपने उपयुक्तता के अनुसार व प्रयोग के एक विषय के रूप में विभिन्न तिथियों में भिन्न–भिन्न क्षेत्रों में लागू किए जाते हैं तथा इस संबंध में कार्यकारिणी को इनके लागू होने की तिथि के बारे में आदेश देने की शक्तियां प्रदान की जाती हैं।

7. **विवेकी विषय** (Discretionary Issues)– जहां किसी सरकारी कार्य का संपादन करने में विवेक अंतर्निहित रहता है, तो वहां प्रत्यायोजित विधायन की तकनीक ही सबसे उपयुक्त प्रतीत होती है, जैसे लोकोपयोगी सेवाएं।

वर्तमान समय में प्रत्यायोजित विधायन एक अनिवार्यता बन गयी है जो कि तकनीकी दृष्टि से उपयोगी, अनिवार्य तथा अपरिहार्य मानी जाती है। ऐसी विधियों का प्रत्यायोजन किया जाना तभी संभव हो सकता है जबकि इसके संबंध में विधायिका द्वारा स्पष्ट दिशा–निर्देश प्रदान किए गए हों।

इस प्रकार प्रत्यायोजित विधायन के विकास के अनेक कारण हैं तथा प्रशासनिक विधायन का तरीका अपरिहार्य तथा सुविधाजनक साबित हुआ परंतु कार्यकारिणी को असीमित विधायी शक्तियों के प्रत्यायोजन का संवैधानिक संरक्षण देना एक प्रजातंत्रीय व्यवस्था व दायित्वपूर्ण सरकार की भावना के लिए घातक होगा।

कुछ आलोचकों द्वारा प्रत्यायोजित विधायन के विकास की तीव्र आलोचना की गई। इन आलोचकों का मानना था कि विधान एवं प्रत्यायोजित विधायन दोनों ही समान रूप से उपयोगी है। यदि कोई विधान उचित नहीं है तो निर्वाचन के समय विधायिका को बदला जा सकता है किंतु प्रत्यायोजित विधायन जो कार्यकारिणी द्वारा बनाया जाता है और ऐसी कार्यकारिणी को बदलना जनता के हाथ में नहीं रहता क्योंकि कार्यकारिणी जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं होती। कुछ विद्वान आलोचकों का मानना है कि प्रत्यायोजित विधायन व न्यायिक नियंत्रण पूर्ण नहीं है। विधायिका कार्य के कारण इस

टिप्पणी

पर उचित नियंत्रण नहीं रख पाती। यद्यपि कुछ विद्वानों ने न्यायिक अपवर्जन को अपूर्ण माना है क्योंकि न्यायिक अपवर्जन की धारा के द्वारा इसे सीमित कर दिया जाता है। आलोचकों ने इस आधार पर भी प्रत्यायोजित विधायन के विकास की आलोचना की है कि एक ओर अधिनियम का पूर्ण प्रचार होता है किंतु दूसरी ओर प्रत्योयाजित विधायन को जानना एवं उसको ढूंढ़ना एक कठिन कार्य होता है।

प्रत्यायोजित विधायन के विकास की आलोचना का आकलन करने से यह निष्कर्ष निकलकर सामने आता है कि आलोचना प्रत्यायोजित विधायन की प्रणाली की नहीं वरन उसकी विशेषताओं व मात्रा की है। (मंत्रियों की शक्ति समिति, रिपोर्ट (1932) पृ. 23)

प्रत्यायोजित विधायन की संवैधानिकता (Constitutionality of Delegated Legislation)– प्रत्यायोजित विधायन के अध्ययन का आवश्यक पहलू है कि क्या विधायिका को अपनी विधायी शक्तियां किसी दूसरे अभिकरण को हस्तांतरित करने का संवैधानिक अधिकार प्राप्त है? क्योंकि इस पहलू का अध्ययन करने पर ही प्रत्यायोजित विधायन की संवैधानिक स्थिति स्पष्ट होगी।

ऐसे देशों में जहां संविधान विधायिका को विधि निर्माण की शक्ति प्रदान करता है तथा विधायिका सर्वोच्च नहीं हुआ करती, वहां जब तक प्रत्यायोजित विधायन को स्पष्ट रूप से प्रतिषिद्ध नहीं कर दिया जाता, तब तक उसको व्यावहारिक कारणों से विधि सम्मत मान लिया जाता है। वर्तमान में विधायिका स्वयं उन सभी विधियों का निर्माण नहीं कर सकती जो किसी भी देश में विविध कार्य–क्षेत्रों को सन्नियंत्रित करने के लिए आवश्यक है।

विधायिका द्वारा अपनी शक्तियों के प्रत्यायोजन के संदर्भ में दो विचारधाराएं चलन में हैं। एक, विधायिका से संबंधित क्षेत्राधिकार के अधीन विधायी शक्ति को असीमित सीमा तक प्रत्यायोजित किया जा सकता है। दूसरे, विधायिका बिना अपनी आवश्यक विधायी शक्ति का प्रयोग किए अपनी शक्तियों का प्रत्यायोजन नहीं कर सती। जिसका तात्पर्य है कि विधायिका को विधि निर्माण में नीति तथा ऐसे मानकों का निर्धारण कर देना चाहिए जिससे प्रत्यायोजित विधायन का निर्माण करने वाले अभिकरण को पर्याप्त मार्ग निर्देशन प्राप्त हो सके। यदि संविधान में प्रत्यायोजन की आवश्यक सीमाओं के संबंध में कोई उपबंध नहीं है तो ऐसी सीमाओं की निर्धारित करने का कार्य सामान्य रूप से न्यायालय का है। किंतु यदि विधायिका प्रत्यायोजित विधायन की असीमित शक्ति कार्यपालिका को प्रदान कर देती है तथा कार्यपालिका के लिए कोई सीमा निर्धारित नहीं करती है तो इस प्रकार के प्रत्यायोजन को न्यायालय अविधि मान्य तथा अधिकारातीत घोषित कर देगा।

इंग्लैंड में, जहां प्रत्यायोजित विधायन का प्रावधान है तथा संसद सर्वोच्च व संप्रभुता सम्पन्न है वहा संसद विधि–निर्माण स्वयं कर सकती है या विधि निर्माण के अधिकार अन्य अभिकरणों को प्रदान कर सकती है। अपनी शक्तियों के प्रत्यायोजन की सीमा के निर्धारण का निर्णय भी संसद स्वयं करती है। न्यायालयों की इसमें कोई भूमिका नहीं होती है। इंग्लैंड में न्यायालय संसद द्वारा निर्मित किसी विधि की वैधता पर विचार नहीं कर सकता। भारत में संविधान के अंतर्गत ऐसा कोई उपबंध नहीं है जो विधायिका को अपनी विधायी शक्तियों के प्रत्यायोजन से निषिद्ध करता हो। भारतीय

टिप्पणी

संविधान के अनुच्छेद 245 व 246 के अंतर्गत संसद के अनेक अनुच्छेद ऐसे हैं जिनमें, विशेष परिस्थितियों में, कार्यकारिणी के प्रमुख राष्ट्रपति व राज्यपाल को भी विधि निर्माण करने के अधिकार प्रदान किए गए हैं विशेषकर जब संसद व राज्य के विधान मण्डल सत्र में नहीं होते। जब किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जाता है तब कार्यकारिणी को यह अधिकार प्रदान कर दिया जाता है कि वह उस राज्य के लिए विधि निर्मित करे। इससे यह स्पष्ट होता है कि संविधान निर्माता यह आशय नहीं रखते थे कि केन्द्र एवं राज्यों में केवल संसद व विधान मण्डल ही विधि निर्माण करे। संभवतः विधायी शक्तियों को प्रत्यायोजन की अनिवार्यता को दृष्टिगत करते हुए ही उन्होंने संविधान में प्रत्यायोजित विधायन को निषिद्ध नहीं किया। संविधान के अनुच्छेद–13 (3) (ज) में यह विहित किया गया है कि विधि शब्द अध्यादेशों, आदेशों, उपनियमों, विनियम, अधिसूचनाओं आदि को सम्मिलित करता है जिनको मौलिक अधिकारों के विरुद्ध होने की स्थिति में शून्य या प्रभावहीन घोषित किया जाएगा।

सशर्त विधान (Conditional Legislation)

प्रायः विधायिका ऐसी विधि पारित करती है, जिनमें वे कार्यकारिणी के ऊपर यह तय करने की बात छोड़ देती है कि वह पारित अधिनियमों का अब क्रियान्वयन करेगी। इस प्रकार के विधान को सशर्त विधान कहते हैं। इसमें अधिनियमों का लागू किया जाना, उसका विस्तार क्षेत्र लागू होने की तिथि आदि कार्यकारिणी तय करती है तथा इस आशय की अधिसूचना जारी करती है। इसके समय या स्थान के संबंध में या दोनों के संबंध में प्रवर्तनीय प्रभाव कुछ शर्तों को पूर्ण होने पर निर्भर करता है। शर्तों का उल्लेख विधायिका द्वारा अधिनियम में कर दिया जाता है, किन्तु यह विधायिका के विवेक पर निर्भर करता है कि अधिनियम में उल्लेखित शर्तों के पूर्ण होने या न होने के संबंध में निर्णय करे। विधि का लागू किया जाना शर्तों के पूर्ण होने पर निर्भर करता है। प्रायः अधिनियम के लागू किये जाने की तिथि का निश्चय सरकार के विवेक पर पूर्ण रूप से छोड़ दिया जाता है तथा राह स्पष्ट रूप से लिख दिया जाता है कि यह ऐसी तिथि से लागू की जाएगी जैसा कि केन्द्रीय सरकार अधिसूचना द्वारा निश्चत करे। अधिनियम के विभिन्न प्रावधानों के लिए विभिन्न तिथियां निश्चित की जा सकती हैं।

सशर्त विधान की आलोचना (Criticism of Conditional Legislation)

संवैधानिक रूप से सशर्त विधायन की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि किसी अधिनियम की किसी क्षेत्र में विस्तृत करने की या किसी व्यवसाय या उद्योग या व्यक्तियों के समूह के प्रति लागू करने की सरकारी शक्ति एवं विवेक का स्वभाव विधि निर्माण जैसा होता है। जिस कारण इसकी अनुज्ञा नहीं दी जा सकती। इसके अतिरिक्त सरकार का विवेकाधिकार बहुत अधिक व्यापक होता है जिससे प्राधिकार औचित्य के आधार पर किसी विधान को लागू होने से रोकने की अनियंत्रित शक्ति प्राप्त हो जाती है जिससे विधान पारित करने का उद्देश्य ही असफल होने की सम्भावना बन जाती है। किसी क्षेत्र में विधि को विस्तारित करना विधायी प्रकृति का कार्य है, जो विधायिका द्वारा ही किया जाना चाहिए। यह तात्विक रूप से एक विधायी शक्ति है जो किसी अन्य को प्रदान नहीं की जानी चाहिए। किन्तु प्रिवी कौंसिल ने इस तर्क को अस्वीकार करते हुए प्रतिपादित किया कि विधायिका को अत्यधिक विधायी शक्ति प्रदान की गयी है जो विधि का सशर्त निर्माण कर सकती है। यह केवल विधायी शक्ति का स्थूल रूप से प्रत्यायोजन

टिप्पणी

नहीं कर सकती। कभी यह तर्क दिया जाता है कि किसी आक्षेपित अधिनियम में विधायिका ने आवश्यक रूप से विधायी शक्ति का प्रत्यायोजन कर दिया है तो इसको इस रूप में स्थापित घोषित किया जाता है कि विधायी शक्ति का प्रत्यायोजन हुआ ही नहीं है। सशर्त विधान वहां प्रकट होता है जहां विधायिका निम्नलिखित मामलों में प्राधिकार प्रदान करती है–

1. प्रचलित किसी विधि को किसी क्षेत्र या भूभाग में विस्तार देने के संबंध में,
2. किसी विशेष क्षेत्र में किसी अधिनियम के लागू रखने के समय को निर्धारित करने के संबंध में
3. अधिनियम की सीमा तथा दायरा, जिसके अंतर्गत इसे लागू करना है, निश्चय करने के संबंध में,
4. किसी अस्थायी अधिनियम की अवधि को बढ़ाने के संबंध में जबकि विधायिका ने अधिकतम सीमा निर्धारित कर दी हो,
5. किसी विशेष विधि को लागू करने के संबंध में जिसको सरकार समझे या किसी अनुध्यात स्थिति के आविर्भाव से सन्तुष्ट हो गयी हो,
6. ऐसे तथ्यों तथा आंकड़ों को निश्चित करने के संबंध में जिसके ऊपर किसी विधि को लागू करना निर्भर करता हो।

प्रत्यायोजित विधायन के प्रकार (Types of Delegated Legislation)

प्रत्यायोजित विधायन को सामान्यतः निम्नलिखित भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

1. सामान्य प्रकार (Normal)
2. असामान्य प्रकार (Exceptional)
3. हेनरी अष्टम खण्ड के प्रकार (Henry VIII Clause type)

1. सामान्य प्रकार

सामान्य प्रत्यायोजन विधान के दो रूप हैं–

1. **निश्चयात्मक** (Positive)– निश्चयात्मक लक्षण यह होता है कि प्रत्यायोजित विधायी शक्ति की सीमा इतने स्पष्ट रूप से पितृ अधिनियम (Parent Act) में परिभाषित कर दी जाती है तथा न्यायपालिका द्वारा तत्काल लागू कर दिया जाता है।
2. **नकारात्मक** (Negative)– नकारात्मक लक्षण यह है कि प्रत्यायोजित शक्तियां कुछ निश्चित बातें करने की अनुमति नहीं प्रदान करतीं, जैसे कि–
   (अ) सिद्धांतों के संबंध में या करों को आरोपित करने के संबंध में विधान बनाया।
   (ब) संसद के उन अधिनियमों को संशोधित करना जिनके द्वारा शक्तियां प्रत्यायोजित की जाती हैं या अन्य अधिनियमों को संशोधित करना।

टिप्पणी

2. असामान्य प्रकार

असामान्य प्रकार के प्रत्यायोजित विधायन को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

1. सिद्धांत संबंधी मामलों में तथा करों को अधिरोपित करने के संबंध में विधान बनाने की शक्ति के उदाहरण।
2. संसद के उन अधिनियमों को संशोधित करने की शक्ति का या अन्य अधिनियमों को संशोधित करने की शक्ति का उदाहरण।
3. ऐसी शक्तियों का उदाहरण जिसके परिणामस्वरूप मंत्री को इतना विशाल विवेक प्रदान कर दिया जाता है कि यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि विधायिका किस सीमा तक विधायी शक्तियां प्रत्यायोजित करना चाहती थी।
4. ऐसी उदाहरण जहां विधायिका अपनी सामान्य प्रणाली का बिना त्याग किए जिसके अनुसार प्रत्यायोजित विधायन की सीमाएं निर्धारित कर देते हैं, किंतु न्यायालय द्वारा उसके नियंत्रण को अपवर्जित कर दिया जाता है।

3. हेनरी अष्टम खण्ड के प्रकार

इसको हेनरी अष्टम खण्ड का प्रत्यायोजन इसलिए कहा जाता है क्योंकि इंग्लैंड के सम्राट हेनरी अष्टम कार्यकारिणी की स्वेच्छाचारिता के प्रतीक थे। हेनरी अष्टम 1509 से 1547 तक शासन आरूढ़ रहे तथा अपने राज्य काल में अपनी इच्छा को प्रवर्तित एवं आरोपित करने में सभी कठिनाइयों को कार्यकारिणी को प्रत्यायोजित कर दिया। इस प्रकार के प्रत्यायोजन में कार्यकारिणी को किसी भी विनियम को संशोधित करने का विशाल अधिकार दे दिया जाता है। कार्यपालिका किसी अधिनियम के प्रावधानों को परिवर्तित करने में सक्षम हो जाती है।

प्रत्यायोजित विधायन जो न्यायिक पुनर्विलोकन को अपवर्जित करता है (Delegated Legislation Excluding Judicial Review)

इस प्रकार के प्रत्यायोजन में कार्यकारिणी को विधायिका द्वारा यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह किसी ऐसे नियम तथा विनियम को बनाए जिसकी वैधता किसी न्यायालय में विवादित नहीं की जा सकती। इस प्रकार का प्रत्यायोजन उन नियमों तथा विनियमों के न्यायिक नियंत्रण को अपवर्जित करता है जो प्रत्यायोजन के परिणामस्वरूप कार्यकारिणी निर्मित करती है।

प्रत्यायोजित विधायन पर नियंत्रण (Control over Delegated Legislation)

प्रत्यायोजित विधायन सदैव के लिए स्थापित हो चुका है किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कार्यपालिका प्रशासनिक एवं विधि निर्मात्री शक्तियों से युक्त होकर मनमाना व्यवहार कर सकती है। प्रत्यायोजित विधायन की शक्तियों का कार्यपालिका द्वारा दुरुपयोग रोकने के उद्देश्य से प्रत्यायोजित विधायन पर तीन प्रकार से नियंत्रण स्थापित करने की व्यवस्था की गई है, जो कि निम्न प्रकार हैं–

1. प्रक्रियात्मक नियंत्रण (Procedural Control)
2. संसदीय नियंत्रण (Parliamentary Control)
3. न्यायिक नियंत्रण (Judicial Control)

टिप्पणी

1. प्रक्रियात्मक नियंत्रण : संसद के लिए यह संभव नहीं है कि वह प्रत्यायोजित विधायन पर प्रभावकारी नियंत्रण करे। अतः कुछ प्रक्रियात्मक रक्षोपाय (Safeguards) विहित किए गए हैं जो प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा प्रयुक्त इस प्रकार के अधिकारों पर लगातार निगरानी रखते हैं। सर सेसिल कार (Sir Cecil Carr) ने प्रक्रियात्मक नियंत्रण हेतु पांच आवश्यकताओं की संस्तुति निम्नलिखित रूप में की है–

(क) प्रत्यायुक्त विधान का निर्माण करने वाला प्राधिकारी विश्वसनीय तथा पहचान किए जाने योग्य होना चाहिए।

(ख) प्रत्यायोजन के प्राधिकार की सीमाएं स्पष्ट रूप से परिभाषित होनी चाहिए।

(ग) प्रभावित हितों का स्पष्टतः परामर्श लिया जाना चाहिए।

(घ) नियमों आदि का पर्याप्त विज्ञापन होना चाहिए।

(ङ) नियमों के विखंडन तथा संशोधन के लिए उपयुक्त प्रावधान होने चाहिए।

2. संसदीय नियंत्रण : भारत में प्रत्यायोजित विधायन पर नियंत्रण की जो प्रणाली अपनायी गई है वह इंग्लैंड की प्रणाली पर आधारित है। इंग्लैंड में प्रत्यायोजित विधायन पर संसदीय नियंत्रण बहुत ही व्यापक तथा प्रभावी है। नियंत्रण का संपूर्ण तंत्र 'संसद के समक्ष प्रस्तुतीकरण' के माध्यम से प्रवर्तमान होता है क्योंकि स्टेट्यूटरी इंस्ट्रूमेंट क्ट' (Statutory Instrument Act, 1944) के प्रावधानों के अंतर्गत प्रशासन द्वारा निर्मित सभी विधियां परिभाषित विधियों के संबंध में बनी हुई सेलेक्ट कमेटी के माध्यम से संसद के नियंत्रण के अधीन हैं।

सन 1950 में डॉ. अंबेडकर ने सदन को यह सुझाव दिया कि इंग्लैंड की स्थायी समिति के आधार पर जो वहां की लोकसभा में नियुक्त की गयी है, भारत में भी लोकसभा की एक स्थायी समिति बनायी जाए जो इस बात का परीक्षण करेगी कि 'क्या प्रत्यायोजित विधायन ने संसद के मूल आशयों का अतिरेक कर दिया है, या उससे विचलन किया है या उसके किसी मूलभूत सिद्धांत को प्रभावित किया है?' तदनुसार 1 दिसंबर, 1953 में लोक सभा की एक समिति बनायी गयी। लोकसभा का प्रत्यायोजित विधायन पर समिति का नामकरण किया गया। उसके सदस्यों की संख्या दस थी जो बाद में पंद्रह कर दी गयी। यह समिति किसी प्रशासनिक निकाय के द्वारा बनाए गए परिनियम, नियम, आदेश, उपनियम, उपविधियों आदि का परिनिरीक्षण करती है, तथा सदन से यह प्रतिवेदन करती है कि क्या प्रत्यायोजित शक्ति का उचित रीति से मूल अधिनियम या संविधान के अधीन उपबंधित सीमाओं के भीतर प्रयोग किया गया है? समिति निम्नलिखित का भी परीक्षण करती है–

1. क्या प्रत्यायोजित विधायन संविधान में दिए गए सामान्य उद्देश्यों के अनुरूप है या उस अधिनियम के अनुरूप है जिसके अनुसरण में यह बनाया गया है?
2. क्या उसमें ऐसा कोई नियम अंतर्विष्ट किया गया है जिसके अधिक उचित रूप से संसद के एक अधिनियम द्वारा संव्यवहृत किया जाना चाहिए था?
3. क्या उसमें किसी कर का आरोपित किया जाना अंतर्विष्ट है?
4. क्या वह किसी उपलबंध को भूतलक्षी प्रभाव प्रदान करता है जिसके विषय में संविधान या संबंधित अधिनियम में स्पष्ट रूप से कोई ऐसी शक्ति प्रदान नहीं की गई है?

5. क्या वह प्रत्यक्ष या परोक्ष में न्यायालय में अधिकार–क्षेत्र को प्रभावित करता है?
6. क्या उससे भारत की संचित विधि या उसके राजस्व में कोई व्यय अंतर्ग्रस्त है।
7. क्या यह प्रतीत होता है कि संविधान या संबंधित अधिनियम द्वारा जिसके अनुसरण में वह बनाया गया है, प्रदान की गयी शक्तियों पर कोई असामान्य या अप्रत्याशित उपयोग किया गया है?
8. क्या ऐसा प्रतीत होता है कि उसके प्रकाशन या संसद के समक्ष प्रस्तुत किए जाने में अनुचित विलंब हुआ है?
9. क्या किसी कारण उसके प्रारूप या प्रयोजन को किसी स्पष्टीकरण की आवश्यकता है?

टिप्पणी

3. न्यायिक नियंत्रण : भारत में प्रत्यायोजित विधायन का उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालय द्वारा पर्याप्त न्यायिक नियंत्रण किया जाता है। प्रत्यायोजित विधायन भारत के उच्चतर न्यायालयों के न्यायिक पुनर्विलोकन के क्षेत्राधिकार के बाहर नहीं है। भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों की एक लंबी सूची को अंतर्विहित करके न्यायालयों के न्यायिक पुनर्विलोकन के क्षेत्राधिकार का विस्तार कर दिया गया है। भारत में, प्रत्यायोजित विधायन के संदर्भ में संविधान संसद को उतना सुदृढ़ नहीं बनता जितनी कि इंग्लैंड की संसद। इंग्लैंड में संसद अपनी विधायी शक्ति को किसी भी सीमा तक प्रत्यायोजित कर सकती है किंतु भारत में संसद केवल उन्हीं शक्तियों का प्रत्यायोजन कर सकती है जो गौण विधायी हैं। संसद को यह अधिकार नहीं है कि वह प्रत्यायोजित विधायन का पुनर्विलोकन करने की विधि को प्रत्यक्ष रूप से न्यायालय के क्षेत्राधिकार से बाहर कर दे।

भारत में प्रत्यायोजित विधायन को निम्नलिखित में से किसी भी एक कारण से अवैध घोषित किया जा सकता है–

(क) प्रथम परिस्थिति, पितृ अधिनियम (Parent Act) की असंवैधानिकता– जिसमें प्रत्यायोजित विधायन के उपबंध को अंतर्विहित करने वाला अधिनियम ही असंवैधानिक है।

(ख) द्वितीय परिस्थिति, प्रत्यायोजित विधायन की असंवैधानिकता– जहां प्रत्यायोजित विधयन संविधान का उल्लंघन करता है।

(ग) तृतीय परिस्थिति, प्रत्यायोजित विधायन के पितृ अधिनियम का अधिकारातीत होना– जहां प्रत्यायोजित विधायन प्रत्यायोजित किए जाने वाले अधिनियम के अधिकारातीत है।

सशर्त विधान तथा प्रत्यायोजित विधायन में अंतर (Distnction between Conditional Legislation and Delegated Legislation)

कोई उपयुक्त विधायिका किसी बाह्य प्राधिकारी को उपयुक्त विधि निर्मित कर यह प्राधिकार प्रदान करती है जिससे वह ऐसे क्षेत्र या ऐसे समय पर उसके द्वारा निर्मित विधि को लागू करे, जिसे वह स्वयं निश्चित करे तो वह सशर्त विधान होता है, न कि प्रत्यायोजित विधायन तथा इस प्रकार का विधान विधि मान्य है, न कि प्रत्यायोजित विधायन तथा इस प्रकार का विधान विधिमान्य है। (देहली लाज एक्ट, 1951 ए.सी.आर. 741) प्रत्यायोजित विधायन एवं सर्शत विधान के अंतर को स्पष्ट करते हुए उच्चतम

टिप्पणी

न्यायालय ने हमदर्द दवाखाना बनाम यूनियन ऑफ इंडिया, ए.आई.आर. 1960 एस.सी. 554 के मामले में अभिनिर्धारित किया कि सशर्त विधान तथा प्रत्यायोजित विधायन में अंतर यह है कि सशर्त विधान में प्रत्योजित किए गए अधिकारी पर निर्भर करता है कि वह विधायिका द्वारा उल्लिखित आचरण के नियम को कब प्रवर्तित करेगा तथा बाद में विधि बनाने की शक्ति को ही गौण रूप में असंवैधानिक रूप से प्रशासनिक अभिकरण को प्रदान कर दिया जाता है। जिसका तात्पर्य यह है कि विधायिका अपनी नीति के व्यापक सिद्धांतों को विधान में उल्लिखित करके विस्तार से उसकी पूर्ति को प्रशासनिक प्राधिकारों को प्रदान कर सकती है। प्रत्यायोजित विधायन द्वारा प्रत्यायोजित किया हुआ अधिकारी विधान में निर्धारित सीमा के अंतर्गत विस्तार को प्रदान करके विधान की कमी को पूर्ण करता है तथा सशर्त विधान के विधायन की शक्ति विधायिका द्वारा इस प्रकार प्रयुक्त होती है कि बाह्य अधिकारी के विवेक पर विधान को लागू करने का समय तथा उसे लागू करने का प्रकार निश्चित करने हेतु छोड़ दिया जाता है। इसके अतिरिक्त यह निश्चित करना भी कि किन क्षेत्रों में उसका विस्तार किया जाएगा, कार्यपालिका पर छोड़ दिया जाता है।

तमिलनाडु राज्य बनाम के. सबनायगम्, ए.आई.आर. 1998 एस.सी. 344 के मामले में उच्चतम न्यायालय के प्रतिपादित किया कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 254 के अधीन यद्यपि सशर्त विधान अपने में पूर्ण है किंतु उसका कार्यान्वयन कुछ शर्तों के पूर्ण होने पर ही आधारित होता है जिसका निर्धारण कार्यपालिका के द्वारा किया जाता है। जहां तक सशर्त विधान एवं प्रत्यायोजित विधायन का प्रश्न है सशर्त विधान के अंतर्गत अत्यधिक शक्तियों के प्रत्यायोजन होने पर भी उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता जबकि प्रत्यायोजित विधायन में अत्यधिक शक्तियों के प्रत्यायोजित होने पर विधायिका को यह पूर्ण अधिकार है कि वह इन शक्तियों पर रोक लगाकर उसे निष्प्रभावी बना दे। जबकि अनुच्छेद 254 के अंतर्गत सशर्त विधान में इस बात को स्पष्ट किया गया है कि पीड़ित पक्षकार को सुनने का अधिकार बाधित किया जा सकता है। जबकि प्रत्यायोजित विधायन में पीड़ित पक्षकारों को सुनने को आवश्यक तत्व माना गया है।

वर्तमान में सामाजिक, आर्थिक व कल्याणकारी विधानों के बढ़ते परिवेश में सशर्त विधान की प्रणाली अत्यधिक लाभप्रद सिद्ध हुई है। विधायिका द्वारा अक्सर विकास योजनाओं तथा आर्थिक एवं सामाजिक कल्याण हेतु अन्य योजनाओं को अपनाना पड़ता है, जिनके क्रियान्वयन के लिए विधि उपबंधों द्वारा विधिक मान्यता की आवश्यकता होती है किंतु विधायिका के लिए यह कठिन कार्य है कि वह यह निश्चित करे कि किन क्षेत्रों में तथा व्यक्तियों व व्यक्तियों के समूहों के लिए योजना को विस्तारित व क्रियान्वित किया जाना है। अतः यह कार्यपालिका के विवेक पर छोड़ दिया जाता है।

प्रत्यायोजित विधायन की आलोचना (Criticism of Delegated Legislation)

प्रत्यायोजित विधायन की प्रथा शक्ति पृथक्करण के सिद्धांता का विरोध है। प्रत्यायोजित विधायन एक बहुत बड़ी मात्रा में उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। इसके विरुद्ध अधिक आलोचना इसके स्वभाव तथा मात्रा के संबंध में नहीं है वरन् प्रत्यायोजन की पद्धति के ऊपर है। डोनोग्मोर कमेटी ने प्रत्यायोजित विधायन की जो आलोचना की है, वह निम्न है–

1. अधिनियम प्रायः ढांचागत रूप में ही पास किए जाते हैं, उसमें आवश्यक विवरण मंत्रियों द्वारा बनाए विनियमों से भरा जाता है। विवरणों के संबंध में बनाये गए

विनियम व्यावहारिक रूप में प्रायः वही होते हैं जो जन सामान्य के लिए हैं। कदाचित यह असमीचीन होगा कि कितने महत्वपूर्ण विधान कार्यपालिका के कक्ष में बनाए जाएं या कि संसद में राष्ट्र के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा।

टिप्पणी

2. प्रत्यायोजित विधायन पर बहुत ही अपर्याप्त नियंत्रण होता है। संसद के पास न तो समय है और न ही अवसर है कि वह जो कुछ प्रत्यायोजित करती है उस पर निगरानी रखे। न्यायालय का नियंत्रण प्रायः संसद द्वारा ही अपवर्जित कर दिया जाता है अथवा यह प्रभावहीन हो जाता है, क्योंकि उसको बेहद शिथिल भाषा एवं भाव में प्रस्तुत किया जाता है। जहां न्यायिक नियंत्रण अपवर्जित नहीं किया जाता वहां आवश्यक रूप से असंतोषजनक हो जाता है तथा नुकसान पहुंचाने के बाद बहुत ही विलंब से उसके विरुद्ध आक्षेप उठाया जाता है। कुछ मामलों में आक्षेप उठाया ही नहीं जाता, क्योंकि उससे पीड़ित व्यक्ति अज्ञानतावश अथवा निष्क्रियतावश अथवा उदासीनतावश अथवा व्यय के भय से उनको चुनौती नहीं देता।
3. यह सदैव संभव या व्यावहारिक नहीं है कि उसको पर्याप्त रूप से प्रकाशित किया जाए। विधि बनाने की वास्तविक प्रक्रिया संतोषजनक नहीं है।
4. एक अन्य आलोचना यह है कि विधान की प्रक्रिया निर्देशन द्वारा कानून बनाने की पद्धति है। कानून बनाने की प्रक्रिया तुलनात्मक रूप से सरल है अतः प्रारूप नियम विनियम को बनाने वाले विभागीय अधिकारी कठिनता से इस पर पर्याप्त ध्यान देते हैं कि उसमें संशोधन यदि आवश्यक है तो बहुत ही सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिए। जहां तक आलोचना का प्रश्न है कि कार्यपालिका विधायिका के अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण करती है इसमें कोई विशेष बल नहीं है। यह कहना बहुत उचित नहीं है कि कार्यपालिका संसद के कार्य क्षेत्र का अतिक्रमण करके उसे आत्मसात कर रही है। विधायन का कार्य आधुनिक युग में मोटे तौर पर सरकारी कृत्य हो चुका है। इस संबंध में प्रो. ग्रिफिथ ने बहुत ही उचित कहा है कि संसद प्रशासन नहीं करती, न ही वह सरकार पर नियंत्रण करती है; यद्यपि संसद की घटनाएं तथा वहां की गई आलोचनाएं सरकार को प्रभावित करती है। संसद विधान नहीं बनाती जब तक यह न समझा जाये कि 'विधान' शब्द से विधायी प्रस्तावों का औपचारिक रूप से सहमति देने का अर्थ होता है जिसका संसद ने परीक्षण किया, जिसको प्रमाणित तथा परिभाषित किया।

अपनी प्रगति जांचिए

13. भारत में प्रत्यायोजित विधि के ऐतिहासिक विकास को कितने भागों में बांटा गया है?

    (क) दो (ख) तीन

    (ग) चार (घ) पांच

14. प्रत्यायोजित विधायन की शक्तियों का कार्यपालिका द्वारा दुरुपयोग रोकने के उद्देश्य से किस प्रकार के नियंत्रण को स्थापित करने की व्यवस्था की गई है?

    (क) प्रक्रियात्मक नियंत्रण (ख) संसदीय नियंत्रण

    (ग) न्यायिक नियंत्रण (घ) उपर्युक्त सभी।

टिप्पणी

4.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (घ)
3. (ग)
4. (ख)
5. (घ)
6. (ख)
7. (क)
8. (क)
9. (घ)
10. (घ)
11. (ख)
12. (क)
13. (ख)
14. (घ)

4.9 सारांश

शासन का कोई भी कार्य वित्त के अभाव में पूरा नहीं हो सकता है। शासन की नीतियां और योजनाएं तब तक निरर्थक हैं, जब तक उन्हें कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक वित्त उपलब्ध न हो। अतः वित्त को लोक प्रशासन की 'चालक शक्ति' कहा जा सकता है। जिस प्रकार मोटर कार बिना पेट्रोल एवं डीजल के नहीं चल सकती, उसी प्रकार सरकार भी बिना वित्त के कोई कार्य नहीं कर सकती।

बजट के माध्यम से विधायिका को कार्यपालिका पर नियंत्रण करने का अवसर प्राप्त होता है। पहले यह नियंत्रण केवल राजस्व के स्रोतों एवं मात्रा को बढ़ाने की दृष्टि से किया जाता था, किंतु बाद में इसमें व्यय को भी समाविष्ट किया गया। देश में बजट का निर्माण करने का उत्तरदायित्व वित्त मंत्रालय को सौंपा गया है। वित्तमंत्री को, जो मंत्रिपरिषद में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है, राष्ट्र के कोष का संरक्षक तथा देश की वित्तीय नीति का कर्णधार माना जाता है। वह लोक वित्त के उचित प्रयोग के प्रति उत्तरदायी होता है।

बजट के क्रियान्वयन के प्रारंभिक चरण के रूप में सभी मंत्रालय अपने निर्धारित कार्य संपन्न करते हैं। वे बजट के अनुरूप कर एकत्रित करते हैं तथा बजट के अनुरूप ही व्यय करना शुरू करते हैं। वित्त मंत्रालय सभी मंत्रालयों के वित्तीय पर्यवेक्षण का कार्य करता है।

टिप्पणी

विशिष्ट प्रयोजनों के लिए धन पर मतदान करने के संसद के अधिकार का तब तक कोई औचित्य नहीं है जब तक उसे यह निश्चित करने का अधिकार न मिले कि संसद द्वारा स्वीकृत धनराशि का कार्यपालिका द्वारा उन्हीं प्रयोजनों के लिए जिनके लिए संसद ने उन्हें स्वीकृत किया है; उपयोग किया जाता है।

प्रशासनिक विधि को राष्ट्र के बढ़ते सामाजिक आर्थिक कार्यों तथा शासन की शक्तियों की वृद्धि का उप–उत्पादन कहा जा सकता है क्योंकि पिछले कुछ दशकों में समाज का अतीव विकास हुआ है। जिसके परिणामस्वरूप देश के विकास योजना तथा जनकल्याण आदि समस्त कार्य राष्ट्र के दायित्व अधीन आ गये हैं। प्रशासनिक विधि प्रशासन के विभिन्न अंगों की रचना और शक्तियों, उनकी शक्तियों की सीमाओं, वह प्रक्रिया जो प्रशासनिक प्राधिकारी अपनी शक्तियों के प्रयोग में अपनाते हैं तथा विशेषकर उनके द्वारा प्रयोग की जाने वाली शक्तियों के विभिन्न प्रकारों के न्यायिक नियंत्रण सहित, नियंत्रण के विभिन्न प्रकारों से संबंधित है।

प्रशासनिक न्याय निर्णयन इस धारणा पर आधारित है कि जनता को इस योग्य बनाना है कि वह इस विधि पर निर्भर करे। सरकार जितनी अधिक शक्ति ग्रहण करती है, जनमत उतना ही उसके दुरुपयोग के बारे में संवेदनशील हो जाता है। न्यायपालिका ने इस विषय में विधिक मानकों को स्थापित किया है। अनेक सीमितताओं के उपरांत भी यह एक अत्यंत सशक्त प्रक्रिया है। प्रशासनिक न्यायिक–निर्णय, किसी विधान मंडल के द्वारा किसी संस्था को प्रदत्त न्यायिक शक्तियों का किसी प्रशासनिक संस्था के द्वारा क्रियान्वयन होता है। संस्थाओं के पास अपने प्राधिकार के क्षेत्र में वैधानिक एवं न्यायिक दोनों प्रकार की शक्तियां होती हैं।

प्रत्यायोजन में कार्यकारिणी को विधायिका द्वारा यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह किसी ऐसे नियम तथा विनियम को बनाए जिसकी वैधता किसी न्यायालय में विवादित नहीं की जा सकती। इस प्रकार का प्रत्यायोजन उन नियमों तथा विनियमों के न्यायिक नियंत्रण को अपवर्जित करता है जो प्रत्यायोजन के परिणामस्वरूप कार्यकारिणी निर्मित करती है।

4.10 मुख्य शब्दावली

- **वित्तीय प्रशासन** : सरकार के वित्तीय मामलों का नियमन, नियंत्रण तथा व्यवस्थापन।
- **बजट** : वह प्रक्रिया जिसके द्वारा किसी सरकारी अभिकरण की वित्तीय नीति निर्धारित और संचालित की जाती है।
- **कार्य निष्पादन बजट** : सरकार की गतिविधियों को कार्यों, कार्यक्रमों तथा परियोजनाओं के रूप में प्रस्तुत करने की एक प्रविधि।
- **प्रशासनिक विधि** : वह विधि जो शासन करती है और सरकार की कार्यपालिका शाखा द्वारा लागू की जाती है।
- **प्रशासनिक न्याय निर्णयन** : प्रशासनिक निकाय और किसी व्यक्ति के मध्य हुए विवाद का निस्तारण प्रशासन द्वारा किया जाना।

टिप्पणी

4.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. वित्तीय प्रशासन से आप क्या समझते है?
2. बजट से क्या तात्पर्य है?
3. धन विधेयक क्या है?
4. कार्य निष्पादन बजट के विभिन्न चरणों का उल्लेख कीजिए।
5. लोक उपक्रम समिति के मुख्य कार्य कौन–कौन से हैं?
6. प्रशासनिक विधि किसे कहते है?
7. औपचारिक न्याय निर्णयन से क्या तात्पर्य है?
8. प्रत्यायोजित विधायन की आवश्यकता क्यों होती है?
9. सशर्त विधान किसे कहते है?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. वित्तीय प्रशासन के कार्यक्षेत्रों का विश्लेषण कीजिए।
2. वित्तीय प्रशासन की समस्याओं पर प्रकाश डालिए।
3. बजट के महत्वपूर्ण सिद्धांतों का वर्णन कीजिए।
4. संयुक्त राज्य अमेरिका के वित्तीय प्रशासन की विवेचना कीजिए।
5. भारत में संसदीय वित्तीय समितियों का परिचय दीजिए।
6. लोक लेखा समिति के कार्यों का वर्णन कीजिए।
7. प्रशासनिक विधि की प्रकृति एवं विस्तार क्षेत्र का विश्लेषण कीजिए।
8. प्रशासनिक न्याय निर्णयन को समझाते हुए इसकी समस्याओं को स्पष्ट कीजिए।
9. भारत में प्रत्यायोजित विधि के विकास का रेखांकन कीजिए।

4.12 सहायक पाठ्य सामग्री

Pfiffner, J.M. *Public Administration*, New York: The Ronald Company, 1946.

Waldo, D. *The Study of Public Administration*, New York: Random House, 1967.

Riggs, F.W. *The Ecology of Public Administration*, New York: Asia Publishing House, 1961.

Maheshwari, S.R. *Theories and Concepts in Public Administration*, New Delhi: Allied Publishers Ltd., 1991.

इकाई 5 प्रशासन पर नियंत्रण

टिप्पणी

संरचना

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 प्रशासन पर विधायी नियंत्रण
5.3 प्रशासन पर कार्यकारी नियंत्रण
5.4 प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण
5.5 जनसंपर्क
5.6 प्रशासनिक सुधार
  5.6.1 भारत में प्रशासनिक सुधार
  5.6.2 प्रशासनिक सुधार आयोग
5.7 लोकपाल
  5.7.1 लोकपाल का अर्थ एवं उद्देश्य
  5.7.2 संसद में प्रस्तुत विभिन्न लोकपाल विधेयकों की विवेचना
  5.7.3 लोकपाल और लोकायुक्त अधिनियम, 2013
5.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.9 सारांश
5.10 मुख्य शब्दावली
5.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.12 सहायक पाठ्य सामग्री

5.0 परिचय

लोकतांत्रिक देश में दो प्रकार की कार्यपालिका होती है–अस्थायी कार्यपालिका व स्थायी कार्यपालिका। अस्थायी कार्यपालिका का मुखिया राष्ट्रपति होता है। यह जनता के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से एक निश्चित अवधि के लिए चुना जाता है। यह जनता के प्रति प्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार होता है। राष्ट्रपति अपनी सुविधा के अनुसार एक टीम का गठन करता है। इस टीम का प्रत्येक सदस्य किसी न किसी विभाग का मुखिया होता है तथा अपने विभाग के प्रशासन के सुचारु संचालन के लिए राष्ट्रपति के प्रति जवाबदेह होता है। दूसरी ओर संसदीय प्रणाली वाले राज्यों में प्रधानमंत्री व मंत्री परिषद् अस्थायी कार्यपालिका होती है। इसका गठन जनता के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से एक निश्चित अवधि के लिए होता है। प्रत्येक मंत्री के पास एक विभाग होता है जिसका वह राजनैतिक मुखिया होता है। प्रधानमंत्री व मंत्री परिषद् व्यक्तिगत रूप से व सामूहिक रूप से लोगों के प्रति अप्रत्यक्ष रूप से जवाबदेह होते हैं।

स्थायी कार्यपालिका उस देश का लोक प्रशासन होता है जिसके अधिकारी निर्वाचित न होकर स्थायी तौर पर नियुक्त किए जाते हैं। इनकी नियुक्ति उन नीतियों को चलाने के लिए की जाती है। इनकी नियुक्ति व्यवस्थापिका कमेटी या सरकार द्वारा की जाती है। इनकी नीतियों को लागू करने के लिए इनको शक्तियां दी जाती हैं। इन शक्तियों के द्वारा यह प्रशासनिक अधिकारी आम नागरिकों के जीवन को प्रभावित करते हैं। जबकि यह जनता के प्रति प्रत्यक्ष रूप से जवाबदेह नहीं होते हैं। यही कारण है

टिप्पणी

कि इनको शक्ति देते समय हमेशा यह भय बना रहता है कि कहीं शक्ति की उपेक्षा या दुरुपयोग तो नहीं किया जाएगा। भारत में आपात काल (26 जून, 1975 से 23 मार्च, 1977) में लोक प्रशासन द्वारा की गई ज्यादतियां इस बात की आवश्यकता पर बल देती हैं कि इन्हें नियंत्रित करने के लिए प्रभावशाली प्रणाली का विकास आवश्यक है।

इस इकाई में प्रशासन पर विधायी नियंत्रण, कार्यकारी नियंत्रण, न्यायिक नियंत्रण, जनसंपर्क, प्रशासनिक सुधार एवं लोकपाल संदर्भित तथ्यों की विवेचना की जा रही है।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- प्रशासन पर विधायी नियंत्रण को समझ पाएंगे;
- प्रशासन पर कार्यकारी नियंत्रण का आकलन कर पाएंगे;
- प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण की समीक्षा कर पाएंगे;
- जनसंपर्क संबंधी तथ्यों से परिचित हो पाएंगे;
- प्रशासनिक सुधार की विवेचना कर पाएंगे;
- लोकपाल के महत्व को जान पाएंगे।

5.2 प्रशासन पर विधायी नियंत्रण

लोक प्रशासन जिन नीतियों को लागू करता है उनकी रचना यद्यपि कार्यपालिका द्वारा की जाती है, फिर भी संसद की स्वीकृति के बिना वे लोक सेवकों की प्रेरणा नहीं बन सकती हैं। इनका परिवर्तन संसद की इच्छा के अनुसार ही किया जाता है।

पारस्परिक संबंध के आधार

(1) **संसद वित्तीय शक्ति का स्रोत** – संसद धन का स्वामी या संरक्षक होता है लेकिन दूसरी तरफ धन लोक प्रशासन का एक आवश्यक तत्व है। प्रशासनिक क्रियाओं के संचालन के लिए वित्त को ईंधन माना जाता है। इसका लोक प्रशासन में उतना ही महत्व है जितना एक यंत्र में विद्युत शक्ति का। यदि संसद धन की स्वीकृति न दे या पर्याप्त मात्रा में न दे तो प्रशासन अधिकारी अपने कार्य संतोषजनक रूप में नही कर पाएंगे। इस प्रकार वित्त एक ऐसी कड़ी है जो लोक प्रशासन व संसद के बीच घनिष्ठ संबंधों की रचना करती है।

(2) **संसद लोक प्रशासन के व्यवहार पर बहस कर सकती है** – संसद देखती है कि उसकी नीति एवं कानूनों का उचित क्रियान्वयन नहीं किया गया है तो संबंधित लोक अधिकारी को ऐसा करने के लिए निर्देशित कर सकती है। लोक प्रशासकों के व्यवहार पर विचार विमर्श संसद को इस योग्य बनाता है कि वह प्रशासन की गतिविधियों से परिचित रहे और जहां कहीं भी आवश्यक समझे लोक अधिकारियों को उचित कार्य करने की चेतावनी दे सकती है। ''विलोबी'' के अनुसार व्यवस्थापिका का कार्य प्रशासन द्वारा किए जाने वाले कार्य की

प्रकृति तय करना और उस कार्य को सम्पन्न करने के लिए अपनाए जाने वाले साधनों को निश्चित करना है।

टिप्पणी

(3) व्यवस्थापिका शक्तियों का प्रत्यायोजन करती है – संसद के पास कानून बनाने की जो शक्ति है उसका संपूर्ण प्रयोग वह स्वयं नहीं कर सकती है। उसके पास इतना अधिक कार्य होता है कि वह उन सबकी जिम्मेदारी स्वयं वहन करने में स्वयं को असमर्थ पाती है। इसके लिए इन कार्यों की अवहेलना करनी पड़ती है या निवारण के लिए शक्तियों का प्रत्यायोजन करना पड़ता है। प्रत्यायोजन विधान का एक कारण यह भी है कि उसके द्वारा विधान में लचीलापन लाया जा सकता है। आवश्यकतानुसार कार्यपालिका जो चाहे, और जैसे उचित हो विधान में परिवर्तन कर सकती है। प्रत्यायोजन विधान में भी गुण दोष होते हैं। प्रत्यायोजन विधान की संस्था ने संसद को तो कार्य भार से मुक्ति प्रदान की है लेकिन कार्यपालिका की जिम्मेदारी कई गुना बढ़ जाती है। इसके परिणामस्वरूप कार्यपालिका प्रत्यायोजन से प्राप्त अपनी इन शक्तियों का पूरी तरह से प्रयोग नहीं कर पाती है।

लोक प्रशासन पर संसदीय नियंत्रण के साधन

लोक प्रशासन विधायिका के प्रति अनिवार्य रूप से जिम्मेदार होता है। विधायिका के नियंत्रण को संसदीय नियंत्रण भी कहते हैं कारण यह कि शासन की चाहे कोई प्रणाली क्यों न हो प्रशासन पर संसद का किसी न किसी रूप में नियंत्रण अवश्य होता है। लेकिन जहां पर संसदीय शासन पद्धति को अपनाया जाता है वहां पर नियंत्रण और भी महत्वपूर्ण व प्रभावी हो जाता है।

संसदीय व्यवस्था में विधायी नियंत्रण

(1) प्रश्नकाल – प्रत्येक सांसद को अधिकार है कि अपने क्षेत्र या किसी प्रकार की समस्या संबंधी प्रश्न संसद में उठा सकता है। वह संबंधित मंत्री से अपनी समस्या का समाधान करवा सकता है। संसद में तीन प्रकार के प्रश्न किए जाते हैं– (1) मौखिक (2) लिखित (3) पूरक व लिखित। संसद में प्रश्नकाल असैनिक सेवकों को चौकन्ना रखता है। संसद की कार्यवाही के प्रत्येक दिन के प्रारम्भ का एक घण्टा प्रश्न पूछने के लिए निर्धारित किया गया है।

(2) ध्यानाकर्षण प्रस्ताव – संसद के सदस्य कुछ महत्वपूर्ण मामलों और प्रशासन से संबंधित किसी भी गंभीर समस्या की ओर पक्षकार का ध्यानाकर्षण करने के लिए प्रस्ताव पेश कर सकते है। इसके लिए सदस्यों को लिखित सूचना देनी पड़ती है। लोक सभा अध्यक्ष द्वारा ऐसे ध्यानाकर्षण प्रस्ताव को स्वीकार कर लेने के बाद सरकार को उसका उत्तर देना पड़ता है। यदि उस प्रश्न का उत्तर तुरंत सरकार नहीं दे पाती है तो वह संसद से थोड़ा समय मांग सकती है।

(3) अविश्वास प्रस्ताव – संसद के कुछ सदस्य ऐसा मानते हैं कि संसद के प्रति विश्वास नहीं रहा है तो उस समय संसद में मतदान करवा कर अविश्वास को जांचा जा सकता है कि इसके पक्ष व विपक्ष में कितने सदस्य हैं। यदि बहुमत सरकार के पक्ष में नहीं है तो सरकार को त्याग पत्र देना पड़ता है।

टिप्पणी

(4) कानून निर्माण प्रक्रिया – मुख्य रूप से विधायक कानून को बनाते हैं। विधायक कानून के दायरे में रहकर ही प्रशासन को चलाया जाता है। विधायिका द्वारा अनेक ऐसे कानूनों का भी निर्माण किया जाता है जिसमें प्रशासन के संगठन कार्यों, नियमों, तथा अधिकार क्षेत्रों का निर्धारण कानून में ही कर दिया जाता है।

(5) राज्याध्यक्ष का भाषण – राज्याध्यक्ष राष्ट्रपति होता है। इनके भाषण में शासन की प्रमुख नीतियां वर्तमान एवं भावी योजनाओं, राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय गतिविधियों के प्रति सरकार के कार्यों की चर्चा होती है। इस भाषण पर तीन चार दिन का समय दिया जाता है। इस दौरान सरकार की प्रशासनिक नीतियों की जमकर आलोचना की जाती है इसके फलस्वरूप जनमत जागरूक होता है व प्रशासन सतर्क होता है।

(6) बहस व विचार विमर्श – प्रश्नकाल के अलावा संसद में कई ऐसे अवसर आते है जब सरकार की नीतियों एवं लोक प्रशासकों के संदर्भ में बहस, विचार विमर्श, वाद–विवाद होते हैं। यदि संबंधित मंत्री प्रश्नकाल में पूछे गए प्रश्न का सही तरीके से उत्तर नहीं दे पाता है तो उपरोक्त विषय पर आधे घण्टे की बहस की मांग की जा सकती है। उपरोक्त वाद–विवाद के सभी अवसरों पर प्रशासन की नीतियां, प्रशासकीय संगठनों तथा प्रशासकीय अधिकारियों के संबंध में आलोचना प्रत्यालोचना व जांच की मांग की जा सकती है।

(7) बजट पर वाद–विवाद – इसका मूलभूत सिद्धांत यह है कि किसी भी नागरिक से तब तक कर नहीं लिया जा सकता जब तक संसद के माध्यम से उसे अपने विचार प्रस्तुत करने तथा असंतोष प्रकट करने का भरपूर अवसर प्राप्त न हो जाये। वित्त विधायक पर पूरी बहस की जाती है। वित्त विधेयक और बजट पर होने वाली आलोचनाओं की वजह से सरकार सजग रहती है। लेकिन जब तक सरकार का संसद में स्पष्ट बहुमत रहता है तब तक उसके द्वारा प्रस्तुत बजट अस्वीकृत नहीं हो सकता है।

(8) लेखा परीक्षण – प्रशासन को जो धन खर्च करने की अनुमति दी है उसी धन का उपयोग हुआ है या दुरुपयोग कितना धन किस जगह या कहां लगाया गया, यह सब बातें जानने का अधिकार संसद का है। अतः लेखा परीक्षण पद्धति प्रशासन पर नियंत्रण बनाये रखने में काफी सरल होती है।

संसदीय नियंत्रण की समस्याएं एवं सीमाएं

इस संबंध में निम्न बाधाओं का उल्लेख किया जा सकता है–

(1) समय का अभाव या कमी – आधुनिक कल्याणकारी राज्यों में विधायिकाओं के पास समयाभाव का अनुमान एक उदाहरण की सहायता से लगाया जा सकता है। 10 अगस्त 1990 को बिहार विधान सभा अध्यक्ष श्री गुलाम शेखर ने बताया कि दशम् बिहार विधान सभा का दूसरा सत्र 9 अगस्त 1990 को पूरा हुआ था जिसमें 28 बैठक हुईं। 9041 प्रश्नों की सूचना मिली थी, 5370 प्रश्नों को स्वीकार किया गया था। 1366 प्रश्नों के उत्तर सदन में लिखित या मौखिक रूप

से दिये गये थे। बाकी प्रश्न टाल दिये गये या अगले सत्र के लिए रख दिये गये, कारण कि उनका समय ही नहीं मिला।

टिप्पणी

(2) विशेषज्ञता की कमी – संसद सदस्य विशेषज्ञ नहीं होने के कारण प्रशासनिक कठिनाइयों को नहीं समझ पाते हैं। यही कारण है कि लोक सेवकों की रचनात्मक आलोचना नहीं कर पाते हैं। लोक सेवक अपनी शक्तियों का प्रयोग इस प्रकार कर देते हैं कि इन सांसदों को समझ में ही नहीं आता है।

(3) जिम्मेदारी का प्रश्न – मंत्री प्रायः इसी बात पर जोर देते रहते हैं कि उनकी नीति तो ठीक थी लेकिन संबंधित अधिकारियों द्वारा उसे सही रूप में क्रियान्वित नहीं किया गया।

(4) अनुभवहीनता – कई बार संसदीय आलोचनाएं केवल तिल का ताड़ बनाने के लिए होती हैं जिसका प्रशासन की कार्य कुशलता पर प्रभाव पड़ता है। नियंत्रण के शिकंजे से सुरक्षा पाने के लिए लोक प्रशासन में राजनीतिज्ञों को अनुचित आश्रय ग्रहण करने की प्रवृत्ति बढ़ती है।

भारत में संसदीय नियंत्रण की स्थिति

विभाग में होने वाली प्रत्येक गड़बड़ी अनियमितता आदि के लिए मंत्रियों को ही जिम्मेदार ठहराया जाना चाहिए लोक सेवकों को नहीं। संसद में होने वाली बहस पर मंत्रियों के विरुद्ध ही तर्क वितर्क किए जाने चाहिए। लोक सेवकों पर प्रत्यक्ष रूप से लांछन नहीं लगाना चाहिए।

प्रशासनिक नीति का निर्धारण करने के अलावा मंत्रिगण नागरिक अधिकारियों पर कई प्रकार से नियंत्रण कर सकते हैं–

1. संघीय मंत्रियों के हाथों में एक ऐसा अस्त्र है जिसके आधार पर वे अधिकारियों को नियंत्रण में रख सकते हैं। यदि मंत्री अपने विभाग के बजट की प्राथमिकता का क्रम बदल दे तो संपूर्ण विभाग के व्यवहार पर अनुकूल प्रभाव पड़ सकता है।
2. संधीय लोक सेवा आयोग के माध्यम से भी मंत्री विभागीय अधिकारियों पर नियंत्रण बनाए रख सकते हैं।
3. इन अधिकारियों की नियुक्ति प्रायः मंत्रियों की इच्छा अनुसार ही की जाती है।
4. मंत्री अपने विभाग के अधिकारियों से संबंधित नियम बना सकते हैं और अवहेलना करने वाले लोक सेवकों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही कर सकते हैं।
5. मंत्री जनता के सीधे संपर्क में रहते हैं अतः स्वेच्छाचारी प्रशासनिक अधिकारियों के विरुद्ध लोकमत तैयार कर सकते हैं।
6. मंत्रियों के हाथ में धन होता है यदि प्रशासकीय संगठन के अधिकारी धन की मांग करते हैं तो मंत्री यह कहकर टाल देते हैं कि वह योजना आयोग को इसकी सिफारिश कर देंगे। उन्हें केवल आश्वासन ही देकर काम चला सकते हैं। इन आवश्यकता की पूर्ति तक वे अधिकारियों के कार्यों पर प्रभावशील नियंत्रण बनाए रखते हैं।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

1. संसद में किस प्रकार के प्रश्न किए जाते हैं?
   (क) मौखिक (ख) लिखित
   (ग) पूरक व लिखित (घ) उपर्युक्त सभी।
2. संसद की कार्यवाही में प्रत्येक दिन के प्रारंभ में प्रश्न पूछने के लिए कितने घंटे निर्धारित किए गए है?
   (क) एक घंटा (ख) दो घंटा
   (ग) चार घंटा (घ) छह घंटा

5.3 प्रशासन पर कार्यकारी नियंत्रण

कार्यपालिका द्वारा प्रशासन की गतिविधियों को नियंत्रित एवं निर्देशित करना–लोक सेवा में प्रत्येक देश में बाधक है। वह मुख्य कार्यपालिका द्वारा निर्धारित कार्यक्रम तथा नवीन योजनाओं के प्रति पूरी निष्ठा का प्रदर्शन भी नहीं करती हैं। इतना ही नहीं प्रशासकीय यंत्र के विभिन्न विभागों में एक दूसरे से मतभेद होते हैं।

कार्यपालिका के द्वारा जिन प्रमुख साधनों का प्रयोग प्रशासन पर नियंत्रण करने के लिए किया जाता है वह निम्न है–

(1) **नीति निर्माण द्वारा नियंत्रण** – संसदीय प्रणाली में मंत्रीमण्डल ही नीतियों का प्रारूप तैयार करता है व सदन में बहुमत होने के कारण उन नीतियों पर स्वीकृति प्रदान करता है। इसके अलावा विभागीय मंत्री मुख्य कार्यपालिका एवं मंत्रिमण्डल से सलाह लेकर स्वयं भी अनेक नीतियों को निर्धारित करता है। विभागीय मंत्री के पास निर्देशन, निरीक्षण, पर्यवेक्षण व नियंत्रण की शक्ति होती है जिसका प्रयोग वह लोक सेवा से संबंधित विभागों के लिए करता है। प्रत्येक उच्चाधिकारी व कर्मचारी अपने विभागीय मंत्री के प्रति जिम्मेदार होते हैं। मंत्री विभागीय अधिकारियों को आवश्यक आदेश और निर्देश भी देता है। मंत्री उच्चाधिकारी का एक शाखा से दूसरी शाखा में तबादला भी कर सकता है, अर्थात मंत्री का विभाग पर पूरा नियंत्रण होता है।

(2) **संगठन एवं संरचनाओं का गठन व पुनर्गठन** – व्यवस्थापिका केवल संगठन की विस्तृत रूपरेखा ही निश्चित करती है, संगठन के आंतरिक स्वरूप का निर्धारण करने का कार्य तो कार्यपालिका पर छोड़ दिया जाता है। कार्यपालिका ही संगठन की रूपरेखा बनाती है जिनके द्वारा नीति के लक्ष्य पूरे किए जाते हैं। विभिन्न प्रशासकीय निकायों के गठन तथा पुनर्गठन व उनके कार्यों के निर्धारण के द्वारा कार्यपालिका प्रशासन के ऊपर नियंत्रण रहता है।

(3) **बजट प्रणाली द्वारा नियंत्रण** – कार्यपालिका ही बजट तैयार करती है। व्यय को निर्धारित करती है व आय के साधनों की व्यख्या करती है। कार्यपालिका

टिप्पणी

द्वारा ही उसे अलग–अलग विभागों में बांट दिया जाता है। अतः बजट प्रणाली भी प्रशासन पर कार्यपालिका के नियंत्रण का एक साधन है।

(4) समन्वय द्वारा नियंत्रण – जब तक कि प्रशासन के द्वारा किए जाने वाले कार्यों का आपस में तालमेल नहीं होता है तब तक संसाधनों के अपव्यय की संभावना बनी रहती है। प्रत्येक विभाग की आंतरिक क्रियाओं के मध्य समन्वय स्थापित करने का अधिकार विभागीय अध्यक्ष का होता है। लेकिन एक से अधिक विभागों की क्रियाओं को समन्वित करने का कार्य मंत्री परिषद् करती है।

(5) नियुक्ति व निष्कासन के द्वारा नियंत्रण – मंत्री अपने सचिव और विभागाध्यक्ष का चयन करते हैं ताकि उसके साथ मंत्री सामंजस्यपूर्ण वातावरण में कार्य कर सकें। लोक सेवा के कार्मिकों की भर्ती प्रायः संघ लोक सेवा आयोग और राज्यों के लोक सेवा आयोग द्वारा ही की जाती है लेकिन भर्ती के नियम कार्यपालिका द्वारा निर्धारित किए जाते हैं।

प्रशासन पर कार्यपालिका के नियंत्रण की समस्या

मुख्य रूप से कार्यपालिका के प्रशासन पर प्रभावी नियंत्रण के रास्ते में निम्न समस्याएं आती हैं–

1. भारतीय राजनीति का यह एक मंनोरजक तथ्य है कि यहां दार्शनिक या पत्रकारों को युद्ध मंत्री, प्रोफेसर को वाणिज्य मंत्री, राजा को पर्यटन मंत्री, वकील को जहाजरानी मंत्री, अशिक्षित अंगूठा छाप को शिक्षा मंत्री बना दिया जाता है। ''आंख का अंधा नाम नयनसुख'' वाली कहावत अनेक मंत्रियों के साथ चरितार्थ होती है। इसके लिए कोई योग्यता और अनुभव निर्धारित नहीं रहता है।
2. राजनीतिक चालें, उठापटक, विरोधी दल के साथ दांवपेच चुनाव के लिए मतदाता को पूर्व से ही प्रभावित करने इत्यादि में वे इतने व्यस्त होते हैं कि विभागीय मामलों को समझने के लिए समय नहीं दे पाते हैं व उनके ज्ञान अनुभव और तकनीक में विकास नहीं हो पाता है।
3. मंत्री को विभाग का चार्ज सौंपे जाने से पूर्व कोई प्रशिक्षण नहीं दिया जाता है। वे संबंधित विभागीय मामलों के विशेषज्ञ नहीं होते हैं।
4. मंत्रियों के विपरीत लोक प्रशासन के उच्चाधिकारी और कर्मचारी योग्य व कुशल होते हैं। वे अपने मामले के विशेषज्ञ होते हैं। उनमें तकनीकी ज्ञान का भण्डार होता है। लेकिन वे मंत्रियों को ज्यादा जागरूक नहीं बनाना चाहते है क्योंकि उनका मानना है कि यदि मंत्रियों को ज्यादा जागरूक बना दिया गया तो मंत्री उनके द्वारा बताई गई तकनीकी से ही उनको ज्यादा परेशान कर सकते हैं। यही कारण है कि वे मंत्रियों को उतनी ही जानकारी देते हैं जितनी उनके लिए सरदर्द नहीं बने।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

3. विभागीय मंत्री के पास कौन–सी शक्ति होती है?

(क) निर्देशन (ख) निरीक्षण

(ग) पर्यवेक्षण (घ) उपर्युक्त सभी

4. बजट पर नियंत्रण किसके द्वारा किया जाता है

(क) न्यायपालिक (ख) कार्यपालिका

(ग) लोकपाल (घ) व्यवस्थापिका

5.4 प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण

प्रजातांत्रिक देशों में न्यायपालिका नागरिक अधिकारों और स्वतंत्रताओं की रक्षा करती है। न्यायपालिका इस बात पर भी नजर रखती है कि प्रशासकीय अधिकारी अपनी सीमाओं में रहकर कार्य करें। प्रशासकीय अधिकारी किसी नागरिक पर अत्याचार करते हैं तो उसकी शिकायत की न्यायालय में सुनवाई होती है। जब तक सरकारी कर्मचारी में पक्षपात करने, भूल करने, की संभावना है तब तक व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना उतना ही आवश्यक है जितना किसी सरकारी नीति का प्रभावशाली होना। जिस अनुपात से उनके कार्यों में वृद्धि हुई है उसी अनुपात से राज्य की शक्तियां बढ़ी हैं। अगर उनकी शक्तियों पर नियंत्रण न रखा गया तो प्रशासन निरंकुश और तानाशाह बन जाएगा।

कोई भी मनुष्य तब तक दण्डित या विधिवत शारीरिक या सांपतिक रूप से पीड़ित नहीं किया जाना चाहिए जब तक कि उसने उस देश के साधारण न्यायालयों की दृष्टि में साधारण विधि रूप में मान्य किसी कानून को स्पष्टतः भंग न किया हो।

न्यायिक नियंत्रण के अवसर

एल.डी. व्हाइट ने ऐसे पांच अवसरों की ओर संकेत किया है कि जिनमें न्यायपालिका हस्तक्षेप कर सकती है–

(1) **सत्ता का दुरुपयोग** – जब लोक सेवा अधिकारी अपनी सत्ता और पद का प्रयोग अपने विरोधी को जान बूझकर हानि पहुंचाने या किसी के प्रति बदले की भावना से करें तो प्रभावित व्यक्ति न्यायालय की शरण ले सकता है।

(2) **वैधानिक त्रुटि** – प्रभावित व्यक्ति न्यायालय में जाकर अपने अधिकारों की रक्षा हेतु उन कार्यवाहियों की जांच की मांग कर सकता है जो वैधानिक दृष्टि से गलत हों।

(3) **अधिकार क्षेत्र का अभाव** – प्रभावित नागरिक जब न्यायालय में आवेदन पत्र देकर यह स्पष्ट करता है कि अधिकारी द्वारा किया गया कार्य उसके अधिकार क्षेत्र या भौगौलिक क्षेत्र में नहीं आते और तथ्यों की जांच के आधार

पर क्षेत्र का दुरुपयोग प्रमाणित हो जाता है तो न्यायालय उन कार्यों को असंवैधानिक घोषित कर देता है। इसे न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार कहा जाता है।

टिप्पणी

(4) तथ्यों की प्राप्ति में त्रुटि – लोक सेवा में अधिकारी कभी–कभी किसी मामले की जांच करने में या तथ्यों का पता लगाने में त्रुटि कर सकते हैं। तो भी वे प्रभावित व्यक्ति को न्यायालय की शरण लेने के लिए एक आधार प्रदान करते हैं।

(5) प्रक्रिया की गलती – निर्धारित प्रक्रियाओं के अंदर रहकर ही सभी विभाग और उसके अधिकारी कार्य करते हैं लेकिन जब अधिकारी या विभाग कोई ऐसा कार्य करते हैं जिसमें निर्धारित प्रक्रिया का पालन नहीं किया गया है तो नागरिक अपने अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायालय की शरण ले सकता है। जैसे किसी कर्मचारी पर भ्रष्टाचार का आरोप लगता है तो उसको पहले कारण बताओ नोटिस दिया जाता है। यदि किसी अधिकारी द्वारा ऐसा नहीं किया जाता है और उसको निकाल दिया जाता है तो वह कर्मचारी न्यायालय की शरण ले सकता है।

न्यायिक नियंत्रण के रूप एवं साधन

प्रशासन पर नियंत्रण रखने के लिए न्यायपालिका के पास उपलब्ध साधनों को हम दो भागों में वर्गीकृत कर सकते हैं–

(अ) सामान्य साधन या उपचार। (ब) असाधारण न्यायिक उपचार।

(अ) सामान्य उपचार

इसमें निम्न उपचारों का उपयोग किया जाता है

(1) सरकार के विरुद्ध अभियोग – भारतीय संविधान के अनुच्छेद 300 के अनुसार भारत सरकार के विरुद्ध अभियोग प्रस्तुत किया जा सकता है। केवल केंद्र सरकार व राज्य सरकार द्वारा ही मुकद्दमा दायर नहीं किया जाता है बल्कि केंद्र सरकार और राज्य सरकार के विरुद्ध भी मुकद्दमा दायर किया जाता है और सरकार को एक विरोधी पक्ष के रूप में न्यायालय में ले जाया जा सकता है। 1947 के पहले सम्राट पर कोई मुकद्दमा नहीं चलाया जा सकता था।

(2) सरकारी अधिकारियों के विरुद्ध अभियोग – जब किसी नागरिक को यह आभास हो कि किसी सरकारी अधिकारी ने अपनी सत्ता का दुरुपयोग किया है किसी तथ्य का पता लगाने के पक्षपात किया है तो उपयुक्त परिस्थितियों में उस सरकारी अधिकारी के विरुद्ध मुकद्दमा चलाया जा सकता है। इस स्थिति में सरकारी अधिकारी पर उसी तरह मुकद्दमा चलाया जाता है जैसे एक सामान्य व्यक्ति पर।

(3) प्रशासनिक कार्यों तथा निर्णयों का न्यायिक पुनरावलोकन – भारत व संयुक्त राज्य अमेरिका में न्यायपालिका को यह अधिकार प्राप्त है कि वह समय–समय पर प्रशासनिक कार्यों की देखभाल करती है। अगर कोई प्रशासकीय

निर्णय संविधान के विरुद्ध है तो उसके विरुद्ध पुनरीक्षित कर असंवैधानिक घोषित कर सकता है लेकिन न्यायालय में ऐसा नहीं कर सकते हैं। तभी कर सकते हैं जब कोई प्रभावित व्यक्ति न्यायालय का दरवाजा खटखटाए।

टिप्पणी

(4) कानूनी अपील – प्रशासकीय आज्ञाओं व निर्णयों के विरुद्ध न्यायालयों में कानूनी अपील की जा सकती है। इसके अलावा अगर प्रत्याशित विधान द्वारा प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग करके कार्यपालिका कोई ऐसा कानून बनाये जो असंवैधानिक हो तो उसकी भी न्यायालय जांच कर सकता है।

(ब) असाधारण न्यायिक उपचार

भारतीय संविधान की धारा 32 में सर्वोच्च न्यायालय को धारा 326 के अंदर उच्च न्यायालयों को कुछ विशिष्ट प्रकार के लेख जारी करने का अधिकार प्रदान किया गया है–

(1) निषेध आज्ञा – इसका अर्थ रोकना होता है। यह आज्ञा उच्च श्रेणी न्यायालय द्वारा निम्न श्रेणी के न्यायालय को दी जाती है एवं इसका उद्देश्य निम्न न्यायालय को अपने अधिकार क्षेत्र के बाहर अतिक्रमण करने से रोकना है।

(2) परामर्श – प्रो. व्हाइट के अनुसार यह लेख न्यायालय द्वारा समान्य रूप से किसी व्यक्ति की याचिका पर जारी किया जाता है जिससे संबंधित अपने कर्तव्यों का पालन करें। यह न्यायालय द्वारा उस संगठन या ऑफिस को देता है जिसके अधिकारी नियमानुसार पालन नहीं कर रहे हों।

(3) उत्प्रेषण आदेश – बावीरा के सिद्धांत के अनुसार, "उत्प्रेषण एक प्रकार का लेख है जो कोई उच्च न्यायालय अपने नीचे के न्यायालय या न्यायिक कार्य करने वाले किसी अन्य अधिकारी के प्रति जारी करता है।"

उत्प्रेषण आदेश का महत्व प्रशासकीय अधिकारियों तथा न्यायाधिकरणों के अर्द्ध न्यायिक कार्यों के संबंध में काफी है। निषेध आज्ञा तथा उत्प्रेषण लेख में मूल अंतर यह है कि उत्प्रेषण लेख तो निषेधात्मक तथा स्वीकारात्मक दोनों ही किन्तु निषेध आज्ञा केवल निवारक ही होती है।

न्यायिक नियंत्रण की सीमाएं

न्यायिक नियंत्रण की सीमाएं निम्नलिखित हैं–

हेरिड व वार्ड के अनुसार – पूर्ण न्यायिक नियंत्रण शासन की नियामकता एवं कुशल संचालन को रोक सकता है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए न्यायपालिका बहुत जरूरी है लेकिन प्रशासकीय क्षेत्र में इसका अधिक प्रयोग करने से प्रशासन अपंग हो जाता है। यह इसका **पहला दोष** होता है।

दूसरा दोष – प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण न्यायपालिका स्वयं नहीं करती है। नियंत्रण के लिए इसके पास शक्ति नहीं होती है। यह जब कार्यवाही कर सकती है जब उसमें कोई व्यक्ति शिकायत का आवेदन करता है। अधिकार क्षेत्र का दुरुपयोग न्यायपालिका के आंखों के सामने हो रहा हो तो भी न्यायपालिका कार्यवाही नहीं कर सकती। जब तक उस व्यक्ति द्वारा लिखित शिकायत नहीं कर दी जाती है।

तीसरा दोष – न्याय प्रक्रियाएं कठिन हैं। इसमें नियमों, कानूनों, तथ्यों, प्रमाणों व गवाहों आदि की कार्यवाहियां इतनी जटिल हैं कि व्यक्ति प्रशासकीय अन्याय का शिकार होते हुए भी चुप रहना ज्यादा पसंद करता है।

टिप्पणी

चौथा दोष – न्याय प्रक्रियाएं देरी से होने वाली प्रक्रिया होती है। कई बार निर्णय इतनी देरी से होता है कि निर्णय आने तक उस व्यक्ति की काफी हानि हो जाती है जिसकी वापसी भरपाई करवाने की कोई संभावना ही नहीं होती है। जैसे गलत आरोपों में बर्खास्त कर्मचारी को न्याय मिलने में कम से कम 10–12 वर्ष तक भी लग जाता है। इस दौरान उसे वेतन न मिलने के कारण आर्थिक संकट व भुखमरी का सामना करना पड़ जाता है।

पांचवां दोष – न्याय प्रक्रिया सुस्त व कठिन प्रक्रिया है। इसके साथ यह मंहगी भी होती है। जैसे स्टाम्प फीस, वकीलों की फीस, गवाहों का खर्चा आदि। इनको लम्बे समय तक वहन करना पड़ता है।

छठा दोष – न्याय प्रक्रिया के कई कार्य ऐसे होते हैं जो न्यायपालिका से बाहर के होते हैं। ऐसे प्रशासकीय कार्य का न्यायिक पुनरावलोकन या समीक्षा नहीं की जाती है।

सातवां दोष – न्याय प्रक्रिया, में न्यायाधीश विशेष तकनीकों के अभाव में समुचित निर्णय देने की स्थिति में नहीं होते हैं। आजकल प्रशासन का कार्य अत्यधिक तकनीकी पूर्ण होता है जिससे प्रार्थियों के साथ न्यायपालिका पूरा न्याय नहीं कर पाती है।

आठवां दोष – न्याय प्रक्रिया कोई घटना घटने के बाद क्रियान्वित होती है। न्यायिक नियंत्रण में इस तरह का कोई प्रावधान नहीं है जिसके लागू होने से संभावित अव्यवस्था और घटना पर नियंत्रण रखा जाता हो।

अपनी प्रगति जांचिए

5. न्यायपालिका किन अवसरों पर हस्तक्षेप कर सकती है?

   (क) सत्ता का दुरुपयोग (ख) वैधानिक त्रुटि

   (ग) तथ्यों की प्राप्ति में त्रुटि (घ) उपर्युक्त सभी

6. भारतीय संविधान के किस अनुच्छेद के अनुसार सरकार के विरुद्ध अभियोग प्रस्तुत किया जा सकता है?

   (क) अनुच्छेद 280 (ख) अनुच्छेद 290

   (ग) अनुच्छेद 300 (घ) अनुच्छेद 310

5.5 जनसंपर्क

जनसंपर्क (पब्लिक रिलेशन्स) का सीधा अर्थ है जनता से संपर्क। जनसंपर्क वह प्रक्रिया है जो एक उद्देश्य से व्यक्ति या वस्तु की छवि, महत्व एवं विश्वास को समूह अथवा समाज में स्थापित करने में सहायक सिद्ध होती है। जनसंचार के विभिन्न उपकरणों

टिप्पणी

द्वारा व्यक्ति या संगठन से (जैसे व्यवसाय, सरकारी एजेंसी या एक गैर–लाभकारी संगठन के रूप में) जीवन संबंध बनाने में यह सेतु का कार्य होता है। जनसंपर्क की प्रक्रिया विज्ञापन या विक्रय–प्रमोशन से अलग होती है क्योंकि इसमें जानकारी को उसके वास्तविक रूप में प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। आज सभी छोटे–बड़े संस्थानों में जनसंपर्क अधिकारी सूचना संप्रेषण तथा विचारों की अभिव्यक्ति का दायित्व निभा रहे हैं और कैरियर निर्माण की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण क्षेत्र माना जाता है। जनसंपर्क का अर्थ केवल दफ्तर खोलकर बैठना नहीं है बल्कि इसमें कई तरह के काम को अंजाम देना पड़ता है। इसके अंतर्गत मीडिया रिलेशन, मार्केटिंग कम्युनिकेशन, फाइनेंसिल, पब्लिक रिलेशंस, सरकारी संबंध, औद्योगिक संबंध आदि कार्य शामिल होते हैं। जनसंपर्क किसी भी व्यावसायिक संगठन का अंग होता है।

जनसंपर्क का अर्थ एवं परिभाषाएं

जनसंपर्क की अवधारणा राजनीतिक संस्था और जन–सामान्य के बीच संचार आधारित संबंधों की स्थापना है। जनसंपर्क के माध्यम से जनता में लोक कल्याणकारी कार्यों को स्थापित किया जा सकता है और उसको स्थिर बनाकर रखा जा सकता है।

जनसंपर्क किसी भी व्यावसायिक संगठन के लिए एक अत्यधिक आवश्यक तत्व है क्योंकि कोई भी सरकार लोगों की धारणा जानने तथा उनकी प्रतिक्रियाओं का उन्मूलन करने में जनसंपर्क विभाग पर ही निर्भर होता है क्योंकि किसी भी संस्थान की कुशलता, विकास तथा प्रगति के लिए यह जानना आवश्यक है कि लोकशक्ति किस सीमा तक उसके अनुकूल है। लोकमत की अनुकूलता के अभाव में संस्था के विकास की दर कम होती जाती है जिसके परिणामस्वरूप लोगों में उस संस्था के प्रति भिन्न–भिन्न प्रकार की भ्रांतियां उत्पन्न होने लगती हैं।

एक तरफ तो जनसंपर्क के माध्यम से संस्था की नीतियों एवं कार्यों के विषय में लोगों को जानकारी प्रदान की जा सकती है और उनका सहयोग प्राप्त किया जा सकता है और दूसरी तरफ लोगों की विचारधारा को संस्था तक पहुंचाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, लोगों में उस संस्था के प्रति उत्पन्न भिन्न–भिन्न प्रकार की भ्रांतियों को जनसंपर्क के माध्यम से दूर किया जा सकता है। जैसेकि हाल ही में मैगी के नूडल्स में कुछ अखाद्य पदार्थों का मिश्रण होने की सूचना प्रसारित होने पर मैगी ने अपने नूडल्स को बाजार से पूर्ण रूप से हटा लिया और जनसंपर्क के माध्यम से इस तथ्य को प्रसारित किया। इसके उपरांत, जनसंपर्क के माध्यम से लोगों के इस प्रसारित सूचना पर विश्वास की पुष्टि की गयी तथा लोगों की प्रतिक्रियाएं एकत्रित की गयी। पूर्ण संतुष्टि होने पर बाजार में नए सिरे से उत्पाद को प्रस्तुत करने का सन्देश प्रसारित किया गया तथा लोगों की जिज्ञासा को देखते हुए नूडल्स को पुनः प्रस्तुत किया गया। इसी प्रकार, डबल रोटी (ब्रेड) में भी कुछ हानिकारक तत्व होने की सूचना प्रसारित हुई। जिसके परिणामस्वरूप डबल रोटी की बिक्री पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा और बिक्री की मात्रा बहुत कम हो गयी। ब्रेड एसोसिएशन ने यह सार्वजानिक सूचना प्रसारित की कि डबल रोटी में ऐसे किसी तत्व का प्रयोग नहीं किया जाता है। साथ ही सभी डबल रोटी निर्माताओं को यह निर्देश जारी किया कि वह सभी डबल रोटियों के रैपर पर इस

सन्देश को अंकित करेंगे कि डबल रोटी के उत्पादन में इस हानिकारक तत्व का उपयोग नहीं किया गया है।

पूर्व में कैडबरीज चोकलेट में कीड़े होने की सूचना प्रसारित हुई थी। तब कैडबरीज ने अपनी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए अपनी उत्पादन और पैकिंग प्रक्रिया को जनसंपर्क के माध्यम से जनता तक पहुंचाया था और साथ ही अपनी नई सीलबंद पैकिंग के विषय में भी लोगों को जागरूक किया था।

टिप्पणी

वर्तमान में जनसंपर्क को विपणन का एक महत्वपूर्ण कार्य माना जाने लगा है। एक व्यावसायिक उपक्रम के प्रति ख्याति निर्माण की प्रक्रिया ही जनसंपर्क कहलाता है। इससे व्यवसाय संचालन हेतु अनुकूल वातावरण का सृजन होता है।

किसी संस्थान व उपभोक्ताओं के मध्यप्रभावी संचार की स्थिति तभी संभव है जबकि दोनों के मध्य पारस्परिक समझ व विश्वास की स्थिति स्थापित हो। जनसंपर्क समाज के विभिन्न वर्गों के मध्य संस्थान की अच्छी छवि स्थापित करता है तथा उसको बनाये रखता है। सशक्त जन सम्पर्क न होने पर संस्थान के उत्पाद या सेवाओं का दुष्प्रचार कदाचित संभव है।

जनता के विभिन्न समूह ही संस्थान के उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक या बाधक सिद्ध होते हैं। एक बेहतर संस्थान इन समूहों के साथ अच्छे संबंध बनाये रखने का प्रयास करती है। अधिकांश संस्थान जनसंपर्क विभाग की स्थापना इसी उद्देश्य को दृष्टिगत करते हुए करते हैं। एक अच्छा जन सम्पर्क विभाग अपनी संस्थान के उच्च प्रबंधकों से निरंतर परामर्श करता रहता है। उन्हें सकारात्मक कार्यक्रम व नीतियों के लिए प्रेरित करता है जिससे संस्थान की कुप्रथाओं को समाप्त किया जा सके तथा बाजार में नकारात्मक प्रचार से बचा जा सके।

राजनीतिक संस्था की भ्रान्ति या अफवाह के उन्मूलन के संबंध में जो तर्क प्रस्तुत करना है, उन्हें साधारण जन के सम्मुख प्रस्तुत करे तथा प्रभावी रूप से वास्तविकता को उजागर करे।

विभिन्न विद्वानों ने जनसंपर्क की विभिन्न परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं। उनमें से कुछ मुख्य परिभाषाएं निम्नलिखित हैं–

फ्रैंक जेफकिंस कहते हैं, "जनसंपर्क में वह समस्त आंतरिक व बाह्य नियोजन सन्देश सम्मिलित हैं, जोकि एक संगठन व उसकी जनता के मध्य विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु आपसी तालमेल से संबंधित होते हैं।"

रोबर्ट एस. कोल लिखते हैं, "जनसंपर्क के अंतर्गत वह गतिविधियां आती हैं जोकि एक संस्थान की नीतियों व कार्यों की जागरूकता व अभिमूल्यन करने का लक्ष्य करते हैं। ऐसी भी क्रियायें हैं जोकि सूचनाओं के दो तरफा प्रवाह को बनाये रखने के लिए बनायी गयी हैं, जिससे कि प्रबंधन जनता की इच्छाओं व आवश्यकताओं को समझ सके तथा बदले में जनता को प्रबंधन की प्रतिक्रियाओं की सूचना दी जा सके।"

जॉर्ज एफ. मेरेडिथ के अनुसार, "जनसंपर्क में किसी संगठन द्वारा किये गये वह सभी प्रयास समाविष्ट हैं जोकि जनता के मन–मस्तिष्क में उस संगठन के प्रति अनुकूल विचार बनाने में सहायक होते हैं।"

टिप्पणी

ब्रिटिश इंस्टिट्यूट ऑफ पब्लिक रिलेशनस के अनुसार, "जनसंपर्क क्रियायें किसी संगठन व उसकी जनता के मध्य पारस्परिक समझ व ख्याति स्थापित करने व बनाये रखने के लिए नियोजित व निरंतर चलने वाले प्रयास हैं।"

रेक्स हार्लो के अनुसार, "जनसंपर्क एक विज्ञान है, जिसके द्वारा संगठन यथार्थ रूप से अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को पूर्ण करता है।"

डेमैक के अनुसार, "जनसंपर्क प्रबंध कार्य का एक भाग है जिसके अंतर्गत वह इस बात का पता लगाता है कि लोग उसके संगठन तथा कार्यक्रम के बारे में क्या सोचते हैं। जन सम्पर्क का उद्देश्य संगठन को अनाधिकृत आलोचनाओं से बचाकर उसकी प्रतिष्ठा व ख्याति में वृद्धि करना तथा उसके जीवन की रक्षा करना है। इस प्रकार जन सम्पर्क का प्रत्येक कार्यक्रम निश्चयात्मक व परिरक्षात्मक होती है।"

जनसंपर्क के उद्देश्य

जनसंपर्क के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं–

जनसंपर्क का अर्थ है जनता से संपर्क। शाब्दिक रूप से जनसंपर्क दो शब्दों के मिलने से बना है ये शब्द 'जन' या 'लोक' तथा सम्पर्क, जिससे पता चलता है कि 'जनता' से सम्पर्क बनाए रखना ही इसका उदेश्य है।''

जनसंपर्क के प्रमुख उद्देश्य हैं :

1. जन आकांक्षाओं को जानना
2. जनसेवाओं की उपलब्धियों को बताना
3. जनमत निर्माण
4. कार्यक्रमों एवं नीतियों का प्रचार

जनसंपर्क की प्रमुख विशेषताएं

1. जनसंपर्क एक ऐसा माध्यम है जिसमें सरकारी एवं गैर–सरकारी संगठन तथा जनता एक–दूसरे की भावनाओं के अनुकूल व्यवहार करने के लिए एक–दूसरे को राजी करने का प्रयास करते हैं।

   जनसंपर्क में जनता की इच्छाओं एवं आवश्यकताओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की जाती है।
2. जनसंपर्क जनता तथा सरकार के कर्मचारियों के बीच सन्तोषजनक सम्बन्ध स्थापित करता है।
3. विभिन्न सरकारी अभिकरण क्या कार्य कर रहे हैं इस सम्बन्ध में जनता को सूचित करने का काम भी जनसंपर्क द्वारा किया जाता है।
4. जनसंपर्क किसी निश्चित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जनता और सरकार के मध्य जीवित सम्बन्धों की स्थापना करता है ताकि एक–दूसरे की भावनाओं को समझा जा सके।
5. जनसंपर्क लोक कल्याणकारी राज्य की प्रमुख अनिवार्यता है।
6. जनसंपर्क जनता की भावनाओं और समस्याओं को समझने का एक साधन है।

7. जनसंपर्क सरकारी नीतियों और कार्यक्रमों का जनता पर पड़ने वाले प्रभावों, लाभों अथवा हानियों को जानने वाला एक माध्यम है।
8. जनसंपर्क के द्वारा यह जानने का प्रयास किया जाता है कि जनता किसी सरकारी अथवा गैर सरकारी संगठन से क्या–क्या अपेक्षाएं रखती है?
9. जनसंपर्क के द्वारा यह बताने का प्रयास किया जाता है कि को संगठन जनसाधारण के लिए क्या–क्या कार्य कर रहा है और वह उनके लिए कितना महत्वपूर्ण है?

टिप्पणी

जनसंपर्क का महत्व

जनसंपर्क का क्षेत्र आज बेहद बड़ा गया हो गया है। इसके अंतर्गत नए नए प्रयोग हो रहे हैं और इससे जनसंपर्क के उद्देश्यों का दायरा भी लगातार बढ़ता जा रहा है। जनसंपर्क एक क्रिया विशेष न रहकर अब कला हो गयी है। वर्तमान में लोक प्रशासन में जनसंपर्क की महत्ता इस प्रकार हैं :

1. जन आकांक्षाओं को जानने के लिए – लोक कल्याणकारी राज्यों में सरकार के समस्त कार्य जनहित को ही ध्यान में रखकर किए जाते हैं। जनहित के कार्यों के संपादन के पूर्व यह जानना आवश्यक हो जाता है कि जनता की अपेक्षाएं सरकार से क्या है? उसकी आकांक्षा को जान लेने के बाद सरकार को उसके लिए कार्य करना आसान हो जाता है। जनसंपर्क के विभिन्न अभिकरणों के द्वारा जनता की आकांक्षाओं और अनिवार्यताओं को जानने का प्रयास किया जाता है। तत्पश्चात् इसके आधार पर उनके लिए योजनाओं का निर्माण किया जाता है तथा कार्यक्रम तैयार करके उन्हें कार्यान्वित किया जाता है।

2. जनसेवाओं की उपलब्धियों को बताने के लिए – जनता के लिए सरकार अर्थात् लोकसेवा क्या क्या कार्य कर रही हैं, सरकार की क्या उपलब्धियां हैं, इन उपलब्धियों से जनता को कहां तक लाभ पहुंचा है, इसे बताने के लिए सरकार जनता के मध्य प्रचार करती है। जनसंचार के विभिन्न साधनों के माध्यम से उन तक अपनी उपलब्धियों के बारे में जानकारी पहुंचाती है। इन महत्वपूर्ण कार्यों और उपलब्धियों के बारे में जब जनता जानकारी प्राप्त कर लेती है तो जनसाधारण का विश्वास जन सेवाओं के प्रति बढ़ता है और जनता का यह विश्वास जनसेवा के लिए बहुत बड़ा सम्बल होता है। जनता भी अपने आपको महत्वपूर्ण समझने लगती है तथा लोकसेवा के कार्यों के प्रति उसकी जागरूकता बढ़ती है।

3. लोक सेवा के अनुकूल जनमत तैयार करने हेतु – लोक सेवा एवं प्रशासकीय कार्यों के प्रति अनुकूल जनमत तैयार किया जा सके, यह देखना भी सरकार का कार्य है। ऐसा तभी संभव है जब जनसंपर्क के विभिन्न अभिकरण सही दिशा में कार्य करते हुए जनता की मनोदशा को समझें, क्योंकि कोई भी सरकार अथवा प्रशासन यह नहीं चाहेगा कि उसके कार्यों के प्रतिकूल जनमत हो। जनमत को अपने अनुकूल करने के लिए न सिर्फ वर्तमान कार्यों को समझाया जाता है, बल्कि लोक संपर्क के साधन उन्हें यह भी बताते हैं कि भावी योजनाएं क्या क्या है? अगर जनता प्रशासन के वर्तमान कार्यों से संतुष्ट हैं और भावी कार्यक्रमों के प्रति आशान्वित है तो निश्चय ही उसे जनसमर्थन प्राप्त होता है।

टिप्पणी

4. जनता व सरकार के मध्य एक कड़ी के रूप में – जनसंपर्क जनता एवं सरकार के मध्य एक कड़ी के रूप में भी काम करता है। जनसंपर्क का कार्य सिर्फ सरकार की उपलब्धियों और कार्यों को जनता को बताना ही नहीं है अपितु यह जनता की भावनाओं और आकांक्षाओं को भी सरकार तक पहुंचाता है। अगर सरकार के किसी कार्य के प्रति जनता में अत्यधिक आक्रोश है तो सरकार अपने उस निर्णय पर विचार करती है तथा कभी कभी जन आक्रोश को देखते हुए अपने निर्णय को बदल देती है अर्थात् यह कहा जा सकता है कि जनसंपर्क के विभिन्न अभिकरण जनता एवं सरकार के मध्य एक समन्वयकर्ता की भी भूमिका अदा करते हैं।

5. प्रशासनिक सुधार से सम्बन्धित सुझाव प्राप्त करने के लिए – संसार में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं जो सब कुछ जानता है तथा संसार में कोई ऐसा भी व्यक्ति नहीं है जो कुछ नहीं जानता है। हालांकि सरकार प्रशासन के संचालन लिए योग्यतम अधिकारियों और कर्मचारियों का चुनाव करती है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रशासनिक कार्यों के संचालन के लिए उनके द्वारा किये गये प्रयास ही सर्वोत्तम हैं और उससे बेहतर उपाय हो ही नहीं सकते हैं। समाज के विभिन्न वर्गों से भी विभिन्न प्रकार की समस्याओं से सम्बन्धित प्रशासनिक सुझाव प्रस्तुत किये जाते हैं और कई मामलों में सरकार उनके इस ठोस सुझाव को मान लेती है। जनसंपर्क के विभिन्न माध्यम इन सुझावों को सरकार तक पहुंचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

6. सरकार की व्यथा और असमर्थता को बताने के लिए – कभी कभी ऐसी स्थिति आ जाती है कि सरकार को देश के हित में कुछ ऐसे कड़े निर्णय लेने पड़ते हैं जो जनता को पसन्द नहीं होते हैं। कुछ सीमा तक तात्कालिक रूप से ये निर्णय जन विरोधी होते हैं। ऐसी स्थिति में सरकार अपनी व्यथा और असमर्थता को बताने के लिए व्यग्र हो उठती हैं। मौजूदा दौर में महंगाई नियंत्रण रोकने में विफल सरकार को बार–बार ऐसा करना पड़ रहा है। इस तरह के कड़वे निर्णय क्यों लेने पड़े? देश की व्यथा क्या है? सरकार की असमर्थता क्या है? तथा ऐसा संकट क्यों आया? इन तमाम बातों की जानकारी जनता तक पहुंचाने में जनसंपर्क के विभिन्न अभिकरण अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाते हैं।

7. जनता को अफवाहों और गलतफहमियों से दूर रखने के लिए – जनसम्पर्क के साधनों का महत्व इसलिए भी अधिक है कि इन साधनों के माध्यम से सरकार जनता को सजग और सचेष्ट बनाती है तथा यह बताती है कि वे अफवाहों से दूर रहें। भारत जैसे देश में अधिकांशतः साम्प्रदायिक दंगे अफवाहों और गलतफहमियों के चलते ही हैं। सरकार जनता को सलाह देती है कि इन अफवाहों से दूर रहें। इसके अलावा समाज के कुछ स्वार्थी तत्व सरकार के अच्छे से अच्छे कार्यों को भी तोड़–मरोड़कर गलत ढंग से जनता के समक्ष रखते हैं तथा सरकार के प्रति जनता में घृणा उत्पन्न करते हैं, जो वास्तविकता से काफी भिन्न होता है। अतः ऐसी परिस्थिति में सरकार जनसम्पर्क के साधनों का सहारा लेती है तथा अपने ऊपर लगाए गए आरोपों का जवाब देती है, लोगों को तथ्यों से अवगत कराती है तथा जनता के मध्य गलतफहमी को दूर करती है। शासन अपने पक्ष को सही ढंग से प्रस्तुत करने के लिए ही जन सम्पर्क स्थापित करता है और इस कार्य को पूरा करने के लिए जनसम्पर्क अधिकारी नियुक्त करता है।

टिप्पणी

8. कार्यक्रमों एवं नीतियों की सफलता के लिए – जन कल्याणकारी राज्य में सरकार के कार्यक्रमों और नीतियों की सफलता इस बात पर निर्भर करती हैं कि जनता उसे कहां तक स्वीकार करती है। जब जनता उन कार्यक्रमों और नीतियों के बारे में सही और विस्तृत ढंग से जानेगी नहीं तो उसे स्वीकार कैसे करेगी? अतः सरकार के किसी भी नये कार्यक्रम नीति एवं योजना की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि जनता के मध्य उनका भरपूर प्रचार किया जाए। नयी नीतियों के पक्ष में अगर तर्क नहीं रखे जाएंगे तो जनता अनभिज्ञता के कारण उसके विरुद्ध अपना निर्णय घोषित कर देगी। उदाहरणतः सरकार अभी कम्प्यूटर का प्रयोग हर जगह कर रही है। सामान्य जनता में पहले यह धारणा बैठ गई थी कि इससे रोजगार कम हो जाएंगे और बेरोजगारी बढ़ेगी। अतः जनता को यह पसंद नहीं आया लेकिन जब सरकार ने अपने तर्कों के द्वारा यह बताया कि ऐसा करना देश के विकास और प्रगति के लिए आवश्यक है, इससे कार्य आसान और जल्द हो जाता है तथा अप्रत्यक्ष रूप से इसमें रोजगार के अवसर बढ़ेंगे तब जनता ने वक्त के साथ साथ इसे आवश्यक माना और स्वीकार कर लिया। लेकिन आज जनसंपर्क सिर्फ सरकार के लिए ही उपयोगी नहीं रह गया है बल्कि अब तो सार्वजनिक क्षेत्र, कारपोरेट हाउस और निजी क्षेत्र यहां तक कि राजनीतिक दल भी जनसंपर्क का महत्व भी समझने लगे हैं। निजी क्षेत्र के लिए जनसंपर्क से प्रमुख उद्देश्यों में वे सारे उद्देश्य तो शामिल हैं ही जो सरकारों के लिए होते हैं लेकिन निजी क्षेत्र के लिए जनसंपर्क के अनके अन्य उद्देश्य और उपयोग भी हैं। निजी क्षेत्र में जनसंपर्क एक प्रकार से विज्ञापन का भी कार्य करता है। कोई तथ्य जब किसी कंपनी द्वारा विज्ञापन के रूप में प्रस्तुत होता है तो उसका एक अलग प्रभाव होता है। लेकिन वहीं तथ्य जब कंपनी के जनसंपर्क विभाग के प्रयासों से समाचार के रूप में प्रस्तुत हो जाता है। जनसंपर्क की इस ताकत को अब निजी क्षेत्र ने भली भांति समझ लिया है और बड़े–बड़े कॉरपोरेट घरानों में अब कॉरपोरेट कम्युनिकेशन जैसे विभाग बनाए लगे हैं। निजी क्षेत्र में जनसंपर्क का उपयोग अपनी छवि सुधारने के लिए और अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने के लिए भी किया जाता है। इसके अलावा अपने प्रति कुप्रचार, जन आकोश और लोगों के मन में उत्पन्न दुर्भावना को खत्म करने के लिए भी जनसंपर्क की बहुत उपयोगिता है।

अपनी प्रगति जांचिए

7. "जनसंपर्क एक विज्ञान है जिसके द्वारा संगठन यथार्थ रूप से अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को पूर्ण करता है।" यह कथन किस विद्वान का है?

   (क) डैमिक (ख) रोबर्ट एस. कोल

   (ग) रेक्स हार्लो (घ) जार्ज एफ. मेरेडिथ

8. जनसंपर्क का उद्देश्य क्या है?

   (क) जन आकांक्षाओं को जानना

   (ख) जनमत तैयार करना

   (ग) कार्यक्रम एवं नीतियों का प्रचार करना

   (घ) उपर्युक्त सभी

5.6 प्रशासनिक सुधार

टिप्पणी

द्वितीय महायुद्ध के बाद संसार के अनेक देशों को अपने प्रशासन की त्रुटियों को दूर करने के लिए उसमें सुधार की आवश्यकता महसूस हुई और उन्होंने इस दिशा में गंभीरता से सोचना शुरू किया। सुधार का शब्दार्थ वर्तमान पद्धति में उत्पन्न हुई बुराइयों को दूर करना है। प्रशासन को दक्ष तथा कार्यकुशल बनाने के लिए उसमें निरंतर सुधार की आवश्यकता होती है। बदलती परिस्थितियों के अनुरूप प्रशासनिक मशीनरी में उपयोगी, संरचनात्मक एवं कार्यात्मक परिवर्तन ही प्रशासनिक सुधार है।

जेराल्ड ने प्रशासनिक सुधार का अर्थ प्रतिपादित करते हुए लिखा है, ''प्रतिरोध के बावजूद प्रशासन में परिवर्तन का सृजनात्मक प्रयत्न प्रशासनिक सुधार है।'' लीमैंस के अनुसार प्रशासनिक सुधार प्रशासनिक मशीनरी में परिवर्तन लाने की प्रक्रिया है।

संक्षेप में, प्रशासन में सुधार का तात्पर्य निम्नलिखित बातों से है–

1. प्रशासनिक संगठन में सुधार
2. प्रशासनिक प्रणाली में सुधार
3. कार्मिकों की कुशलता व ईमानदारी में वृद्धि

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य – सन् 1700 ई. के आसपास कुछ जर्मन विद्वानों ने राज्य वित्त का गहरा अध्ययन किया और वित्तीय प्रशासन के प्रति अपने मूल्यावान सुझाव दिए। ये जर्मन विद्वान 'राज्य वित्तवेत्ता समूह' के नाम से जाने जाते हैं। इनमें जॉर्ज जिंकी सबसे प्रसिद्ध था। इन विद्वानों ने राज्य वित्त पर दो हजार से अधिक ग्रंथों की रचना की। इनमें 500 ग्रंथ तो केवल वित्त प्रशासन पर थे।

20वीं शताब्दी में यह माना जाने लगा कि उद्यम का कुशल एवं उचित प्रबंधन करने की परम्परागत विधियों के स्थान पर वैज्ञानिक सिद्धांतों पर आधारित प्रबंधन पद्धति को अपनाना आवश्यक है। न्यूनतम व्यय पर अधिकतम लाभ प्राप्त करने की इच्छा ने वैज्ञानिक प्रबंधन को जन्म दिया। इसका मुख्य उद्देश्य श्रम लागत को यथासंभव कम तथा यंत्रों का अधिक से अधिक प्रयोग करना है।

फ्रेडरिक विन्स्लाव टेलर एक इंजीनियर था, जिसने वैज्ञानिक औद्योगिक प्रबंधन की नींव डाली। टेलर की मान्यता थी कि वैज्ञानिक प्रबंधन के तीन तत्व होते हैं – प्रत्येक कार्य का विशेष पद्धति से अध्ययन करना, कर्मचारियों को उत्कृष्ठ वैज्ञानिक ढंग से चुनना और प्रशिक्षित करना और कर्मचारियों एवं प्रबंधन के मध्य घनिष्ठता तथा मैत्रीपूर्ण सहयोग की भावना का विकास करना।

टेलर के पश्चात अनेक लोगों ने इस पद्धति को प्रोत्साहन दिया। इनमें एच.एल. गैंट, फ्रैंक गिल्ब्रेथ, एच. मौरिस कुक, हेनरी फेयोल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। हैरिंगटन इमर्सन ने ट्वेल्व प्रिंसिपल्स ऑफ एफिसिएंसी नामक पुस्तक लिखी, जिसमें उसने कुशल प्रबंधन के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। इस नई प्रणाली के अनुसार,

औद्योगिक प्रबंधन पुरानी परिपाटी के स्थान पर नई वैज्ञानिक विधियों से होने लगा। अन्य विज्ञानों के समान ही औद्योगिक प्रबंधन को भी विज्ञान माना गया।

टिप्पणी

वैज्ञानिक प्रबंधन ने कार्य को श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण के आधार पर विभाजित कर श्रम को मशीन की तरह बना दिया। इससे मानवीय पहलू की घोर उपेक्षा हुई। धीरे–धीरे लोगों का ध्यान इस त्रुटि की ओर गया और मानव को मशीन से ऊपर रखा गया तथा श्रमिक वर्ग के साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार की प्रवृत्ति का विकास हुआ।

इस प्रकार वैज्ञानिक प्रबंधन सर्वांगीण विकास को बढ़ावा देकर मितव्ययिता को प्रोत्साहित करता है तथा परम्परागत प्रबंधन के स्थान पर प्रयोगों व अनुसंधान द्वारा प्रबंधन की नवीन तकनीकों का विकास करता है।

हॉथोर्न प्रयोग : वैज्ञानिक प्रबंधन आंदोलन की कटु आलोचना इस आधार पर की गई है कि इसने श्रमिकों को समुदाय से अलग माना और व्यक्तियों के संगठन का निर्माण करने वाले पारस्परिक संबंधों पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। इसके विपरीत, 'मानवीय संबंध आंदोलन' का उद्‌भव एल्टन मेयो तथा उसके सहयोगियों के हॉथोर्न प्रयोगों के समय सन् 1924 से 1940 के बीच हुआ। एल्टन मेयो को सामान्यतः इस विचारधारा का जनक माना जाता है। इसके विकास में डीवे ने अप्रत्यक्ष तथा कर्ट लेविन ने प्रत्यक्ष रूप से पर्याप्त योगदान किया है। इसके पश्चात् चेस्टर आई. बर्नार्ड तथा अन्य लेखकों ने इस आंदोलन को गति प्रदान की। इन प्रयोगों ने यह सिद्ध कर दिया कि भौतिक वातावरण की अपेक्षा कर्मचरियों के कार्य परिणाम पर मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक वातावरण का अधिक प्रभाव पड़ता है।

एल्टन मेयो हारवर्ड विश्वविद्यालय में प्रोफेसर थे। उन्होंने उत्पादन पर थकान तथा अवकाश एवं विश्राम की व्यवस्था के प्रभाव का अध्ययन किया। ये अध्ययन उन्होंने वेस्टर्न इलेक्ट्रिक कंपनी, शिकागो के हॉथोर्न प्लांट में किए, इसी कारण इन्हें हॉथोर्न प्रयोग कहा जाता है। सामाजिक तथ्यों की खोज हॉथोर्न प्रयोगों की सबसे प्रमुख देन मानी जाती है। प्रयोगों के परिणाम से यह निष्कर्ष निकाला गया कि उत्पादन में परिवर्तन भौतिक स्थितियों में परिवर्तन के कारण नहीं बल्कि कार्यस्थल की सामाजिक स्थितियों अभिप्रेरणा, संतुष्टि तथा पर्यवेक्षण के ढंग में परिवर्तन के कारण होते हैं। इन प्रयोगों से दो काम की स्थिति पर सामाजिक तत्वों के तथा उत्पादन पर औपचारिक संबंधों के प्रभाव का पता चला।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् उद्योग में मानवीय संबंधों पर गंभीरता से चिंतन शुरू हुआ और समझा जाने लगा कि उद्योगों तथा व्यवसायों की संचालन संबंधी समस्याओं का हल उनमें निहित मानवीय पक्ष को अच्छी तरह समझे बिना असंभव है। इसी विचारधारा के अंतर्गत इस बात पर बल दिया गया कि प्रत्येक कर्मचारी के व्यक्तित्व को समझकर उसके प्रति मानवीय दृष्टिकोण एवं उदार व्यवहार की नीति अपनाने पर उसके आत्मविश्वास, संतोष, कर्तव्यनिष्ठा, स्वामिभक्ति तथा ईमानदारी को जाग्रत करना संभव हो सकता है और उत्पादन का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है।

टिप्पणी

संक्षेप में, उचित मानवीय संबंध सेविवर्गीय प्रबंधन नीति की आधारशिला है। अतः इस नीति का मनोवैज्ञानिक आधार पर विचार करने पर ही मानवीय संबंधों को सुदृढ़ बनाया जा सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि संगठन की संरचना, स्टाफ प्रबन्धन, उत्तरदायित्वों का निर्धारण, समुचित संप्रेषण व्यवस्था, उचित नेतृत्व का विकास, कार्य निष्पादन, स्वास्थ्य कारकों पर ध्यान, पारितोषिक व्यवस्था, आदि कुछ ऐसे उपाय हैं जिन्हें अपना कर कर्मचारियों में संस्था के प्रति अपनत्व को बढ़ावा दिया जा सकता है, उनमें संस्था के लक्ष्यों की प्राप्ति में ही अपने हितों की सुरक्षा की भावना का संचार किया जा सकता है।

हम देखते हैं कि हॉथोर्न प्रयोगों के परिणामस्वरूप लोक प्रशासन में मानव संबंध उपागम का सूत्रपात हुआ। वस्तुतः मानव संबंध का उपागम एक विचार आंदोलन है, जिसका मार्ग हॉथोर्न प्रयोगों ने तैयार किया।

5.6.1 भारत में प्रशासनिक सुधार

स्वतंत्रता के बाद भारत में संघीय शासन व्यवस्था लागू की गई। इस शासन व्यवस्था तथा विभाजन के फलस्वरूप देश भर में प्रशासन में सुधार की प्रबल आवश्यकता अनुभव हुई। इस हेतु अनेक समितियों का गठन किया गया। इनमें से कुछ प्रमुख समितियों व उनके प्रतिवेदनों का उल्लेख यहां किया जा रहा है।

- **आयंगर समिति प्रतिवेदन, 1949**

सन् 1949 में भारत सरकार ने श्री एन. गोपालस्वामी आयंगर को केंद्र सरकार के पुनर्गठन का अध्ययन करने के लिए नियुक्त किया। श्री आयंगर ने सरकारी तंत्र के पुनर्गठन पर दिए गए अपने प्रतिवेदन में केंद्रीय सचिवालय के संगठनात्मक एवं प्रक्रियात्मक परिवर्तन के विस्तृत विवेचन के साथ कुछ सिफारिशें प्रस्तुत कीं। इनमें केंद्रीय मंत्रालयों को चार ब्यूरो में विभाजित की सिफारिश प्रमुख थी। जिन ब्यूरो के गठन की सिफारिश की गई, वे थे – (क) प्राकृतिक संसाधन एवं कृषि ब्यूरो, (ख) उद्योग एवं व्यापार ब्यूरो, (ग) यातायात एवं संचार ब्यूरो और (घ) श्रम और सामाजिक सेवा ब्यूरो। किंतु, किन्हीं कारणों से इस सिफारिश को मंजूरी नहीं मिल सकी।

- **गोरवाला रिपोर्ट, 1951**

सन् 1951 में योजना आयोग की स्थापना के बाद इस बात पर विचार करने की आवश्यकता महसूस हुई कि नियोजित विकास के संदर्भ में तत्कालीन प्रशासन तथा इसकी प्रणालियों की उपयुक्तता की जांच की जाए। एक अवकाशप्राप्त प्रशासनिक पदाधिकारी ए. डी. गोरवाला को योजना आयोग के लिए एक रिपोर्ट तैयार करने का कार्य सौंपा गया। मार्च 1951 से उन्होंने कार्य प्रारंभ किया और 30 अप्रैल को भारतीय प्रशासन का अध्ययन कर लोक प्रशासन पर 70 पृष्ठों वाला एक प्रतिवेदन सरकार के सम्मुख प्रस्तुत किया।

टिप्पणी

गोरवाला ने भारत में प्रचलित लोक प्रशासन व्यवस्था और नौकरशाही ढांचे की मौलिक धारणाओं को बिना किसी प्रकार की क्षति पहुंचाए ढांचे में व्याप्त बुराइयों को दूर करने एवं उसे अधिक दृढ़ तथा सक्षम बनाने का सुझाव दिया। प्रतिवेदन में प्रस्तुत उनके सुझाव इस प्रकार हैं।

1. संसाधनों की उपलब्धता के आधार पर अधिक महत्वपूर्ण कार्यों को प्राथमिकता देनी चाहिए।
2. किसी योजना में यदि अत्यधिक मात्रा में खर्च की मंजूरी हो, तो जांच और मूल्यांकन कार्य के लिए किसी व्यवस्था का गठन किया जाना चाहिए, जो परिणामों का व्यय के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन करे।
3. नीतियों को लागू करने वाले अधिकारियों में ईमानदारी और सत्यनिष्ठा होनी चाहिए। उन्हें जातिवाद, सांप्रदायिकता, भाइ–भतीजावाद आदि से बचना चाहिए।
4. मंत्रियों को विभाग के वरिष्ठ अधिकारियों से सलाह लेनी चाहिए। मंत्री और उसके विभाग के लोक सेवक के बीच अच्छे संबंध पर ही प्रशासन की कुशलता निर्भर करती है।
5. मंत्रियों, विधायकों और प्रशासकों में जो विचलन या पंथभ्रष्टता देखने को मिलती है, उसके प्रतिकार के लिए विधायकों में चरित्र बल, मंत्रियों में उत्तरदायित्व की भावना तथा प्रशासकों के स्वभाव को उन्नत बनाया जाए। राजनीतिक दलों को उम्मीदवारों के चयन में सावधानी रखनी चाहिए।
6. नियोजन के लिए उन्हीं तत्वों की जरूरत है, जो साधारण प्रशासन के लिए आवश्यक माने गए हैं। भर्ती उचित ढंग से हो, भर्ती कर्मचारियों के प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था तथा कार्यों का उचित आबंटन हो।

डॉ. डी. पी. शर्मा के अनुसार श्री गोरवाला ने केंद्र एवं राज्य दोनों स्तरों पर मौलिक प्रशासनिक सुधारों के लिए योजनाबद्ध सुझाव दिए, किंतु आयंगर समिति के सुझावों की भांति ही इन्हें भी लागू नहीं किया जा सका।

● गोपालस्वामी प्रतिवेदन, 1952

सन् 1952 में आर.ए. गोपालस्वामी ने 'सरकारी तंत्र की कार्यकुशलता की अभिवृद्धि' पर अपना प्रतिवेदन सरकार के विचारार्थ प्रस्तुत किया। इस प्रतिवेदन में श्री गोपलास्वामी ने केंद्र सरकार के संपूर्ण प्रशासनिक संगठन तथा कार्य–प्रणाली की समीक्षा की।

● पॉल एच. एपिलबी प्रतिवेदन

सितंबर सन् 1952 में सरकार ने भारत में प्रशासनिक सुधारों पर विचार करने के लिए पॉल एपिलबी की नियुक्ति की। सन् 1952 में भारतीय लोक प्रशासन का अध्ययन करने के लिए भारत सरकार के आमंत्रण पर वे भारत आए। उन्होंने विभिन्न सरकारी दस्तावेजों और पत्रों का अध्ययन किया, सैकड़ों अधिकारियों और मंत्रियों से वार्तालाप किया, और देश के विभिन्न क्षेत्रों का दौरा करने के बाद 15 जनवरी सन् 1953 को 3,000 शब्दों का 'भारत में लोक प्रशासन का प्रतिवेदन' सरकार को प्रस्तुत किया।

टिप्पणी

अपने प्रतिवेदन में एपिलबी ने लिखा कि भारत विश्व के लगभग उन एक दर्जन राष्ट्रों में से एक है, जहां का लोक प्रशासन पर्याप्त रूप से संगठित एवं विकसित है। उन्होंने जो सिफारिशें प्रस्तुत कीं उनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं–

1. भारतीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए भारत संघ में राज्यों को अधिक स्वतंत्रता देना उचित नहीं होगा।
2. सरकारी कर्मचारियों को उनके सेवा काल के दौरान समुचित प्रशिक्षण देने के लिए एक भारतीय लोक प्रशासन संस्थान की स्थापना की जानी चाहिए। नई दिल्ली स्थित 'इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' इसी अनुशंसा के क्रियान्वयन का परिणाम है।
3. सरकारी प्रशासन तंत्र में संगठन एवं प्रक्रियात्मक समस्याओं के अध्ययन और इस क्षेत्र में आवश्यक सुधार हेतु केंद्र सरकार में एक संगठनात्मक एवं प्रक्रिया इकाई की स्थापना की जानी चाहिए। भारत सरकार ने इस महत्वपूर्ण सिफारिश का तुरंत क्रियान्वयन किया और सन् 1954 में केंद्रीय मंत्रिमंडल सचिवालय में एक संगठन एवं प्रक्रिया संभाग का गठन किया।
4. योजना आयोग का कार्य केवल योजना बनाने तक सीमित रहना चाहिए। इस सुझाव के आधार पर योजना आयोग को कार्यपालिका के सभी उत्तरदायित्व से मुक्त रखा गया है।
5. भारतीय प्रशासन में सूत्र तथा स्टाफ में स्पष्ट अंतर होना चाहिए।
6. केंद्रीय सचिवालय को दोषमुक्त किया जाए।
7. प्रत्येक विभाग में मध्यवर्गीय अधिकारियों की बहाली की जाए, जो निर्णय–निर्धारण प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करें।
8. विकास कार्यक्रमों में कर्मचारियों की परिचालन प्रभावकारिता में वृद्धि की जानी चाहिए।
9. कर्मचारियों के प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था हो।
10. पिरामिडी प्रशासनिक संरचना में विकेंद्रीकरण का प्रावधान होना चाहिए।

सन् 1953 के पश्चात् एपिलबी दो बार भारत पधारे तथा सन् 1956 में 59 पृष्ठों का दूसरा प्रतिवेदन 'भारतीय प्रशासन व्यवस्था की पुनः परीक्षा – सरकार के औद्योगिक और वाणिज्य उपक्रमों के संदर्भ में' प्रस्तुत किया। अपनी दूसरी रिपोर्ट में उन्होंने अपने विचारों में संशोधन कर लोक निगमों की स्वायत्तता में वृद्धि की जोरदार वकालत की। उन्होंने कहा कि भारतीय नौकरशाही अधीनस्थ कर्मचरियों की योग्यता का उपयोग नहीं करती।

इस प्रकार एपिलबी ने अपने इस प्रतिवेदन में भारत के केंद्रीय प्रशासन की संगठन एवं समन्वयात्मक समस्याओं की ओर देश के प्रबुद्ध वर्ग का ध्यान आकृष्ट किया, किंतु इन सिफारिशों का क्रियान्वयन अभी तक लगभग नहीं के बराबर हुआ है।

5.6.2 प्रशासनिक सुधार आयोग

टिप्पणी

देश की प्रशासनिक व्यवस्था की जांच करने हेतु 5 जनवरी, 1966 को भारत सरकार ने भारतीय प्रशासनिक सुधार आयोग का गठन किया। श्री मोरारजी देसाई को आयोग के अध्यक्ष नियुक्त किया गया। किंतु उनके संघीय मंत्रिमंडल में शामिल होने पर श्री के. हनुमंतैया को इसका अध्यक्ष नियुक्त किया गया।

प्रशासनिक सुधार आयोग को ऐसे उपायों तथा साधनों पर विचार करने के लिए कहा गया जिनकी सहायता से लोक सेवकों में उच्च स्तर की कार्यकुशलता और निष्ठा का विकास किया जा सके और लोक प्रशासन को एक ऐसा उपयोगी यंत्र बनाया जा सके, जिसके माध्यम से सरकार की आर्थिक और सामाजिक नीतियों को क्रियान्वित करके विकास के आर्थिक और सामाजिक उद्देश्यों और लक्ष्यों को पूरा किया जा सके।

स्पष्ट है कि आयोग का क्षेत्राधिकार काफी व्यापक था। यहां यह उल्लेखनीय है कि रेल, प्रतिरक्षा, विदेश तथा सुरक्षा और गुप्तचर प्रशासन को आयोग की व्यापक जांच की सीमा से बाहर रखा गया।

सुधार आयोग ने सौंपे गए उत्तरदायित्वों को पूरा करने की दृष्टि से एक बृहद कार्यकारी समूह का गठन किया, जिसमें मंत्री, मुख्यमंत्री, रिजर्व बैंक के गर्वनर, महा न्यायवादी एवं विश्वविद्यालय के कुलपति तथा प्रोफेसर आदि शामिल किए गए। आयोग ने अपना प्रथम प्रतिवेदन 'नागरिकों की परिवेदना को दूर करने की समस्या' 20 अक्टूबर, सन् 1966 को तथा अंतिम प्रतिवेदन 'वैज्ञानिक विभाग' 30 जून, सन् 1970 को प्रस्तुत किया। सुधार आयोग ने प्रशासन को दोषरहित बनाने के लिए कुल 578 सुझाव प्रस्तुत किए। इनमें 51 राज्य सरकारों से, 519 केंद्र सरकार से और 8 केंद्र और राज्य सरकारों से सामूहिक रूप से संबंधित थे।

प्रशासनिक सुधार आयोग की प्रमुख सिफारिशें—प्रशासनिक सुधार आयोग की प्रमुख सिफारिशें इस प्रकार हैं—

1. लोक प्रशासकों के विरुद्ध जनता के अभियोगों के निराकरण के लिए दो संस्थाओं का निर्माण होना चाहिए। केंद्र व राज्यों के मंत्रियों तथा सचिव स्तर के लोक सेवकों के विरुद्ध अभियोगों की जांच के लिए लोकपाल नाम से एक अखिल भारतीय अधिकारी नियुक्त किया जाए। सचिव स्तर से नीचे के लिए केंद्र सरकार तथा प्रत्येक राज्य सरकार में एक–एक लोक आयुक्त बहाल किया जाए।
2. मंत्रिपरिषद् का आकार आवश्यकता के आधार पर निर्धारित किया जाए तथा मंत्रियों के विभागों के वितरण में मंत्रालयों का विवेकपूर्ण समायोजन किया जाए।
3. प्रधानमंत्री एवं वित्तमंत्री को योजना आयोग का अध्यक्ष नहीं बनाया जाना चाहिए, किंतु उसके कार्यों का संपादन प्रधानमंत्री की देखरेख में किया जाए। आयोग के सदस्यों की संख्या 7 से अधिक नहीं होनी चाहिए। इनका चयन अनुभव एवं विशेषज्ञता के आधार पर किया जाना चाहिए। सदस्यों को राज्य मंत्री और उपाध्यक्ष को कैबिनेट मंत्री का स्तर दिया जाए।

टिप्पणी

4. संविधान के अनुच्छेद 263 के तहत अंतर्राज्यीय परिषद की स्थापना की जानी चाहिए, जिसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री हो तथा वित्त मंत्री, गृहमंत्री, विरोधी दल का नेता तथा प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद् का एक प्रतिनिधि भी इसके सदस्य हों।
5. सरकारी कर्मचारियों को किसी प्रकार की हड़ताल का अधिकार नहीं होना चाहिए। उनकी शिकायतों को संयुक्त विमर्श परिषद् और नागरिक सेवक न्यायाधिकरण के माध्यम से ही हल किया जाना चाहिए।
6. विकास कार्यों से संबंधित विभागों को निष्पादन बजट पद्धति अपनानी चाहिए, लेखा परीक्षा का दृष्टिकोण सकारात्मक और रचनात्मक हो और प्रचलित आंतरिक वित्त के परामर्श की पद्धति को दृढ़ बनाया जाए।
7. सरकारी अधिकारियों को अस्थायी रूप से लोक उपक्रमों में भेजने की प्रथा समाप्त की जाए और मुख्य क्षेत्रों के लोक उपक्रमों के लिए निगम प्रणाली स्थापित की जाए।
8. कार्मिक प्रशासन पर प्रशासनिक सुधार आयोग ने अपनी रिपोर्ट अप्रैल 1969 में प्रस्तुत की। इस प्रतिवेदन के संबंध में स्वयं हनुमंतैया ने कहा कि यह अति महत्वपूर्ण प्रलेखों में से एक है। आयोग का विचार था कि सरकार के कार्य बढ़ गए हैं, इसलिए सेवाओं का गठन कार्यात्मक आधार पर किया जाए। इस दृष्टि से सेवाओं को आठ भागों में विभाजित किया गया–(क) आर्थिक प्रशासन, (ख) औद्योगिक प्रशासन, (ग) कृषि एवं ग्रामीण विकास प्रशासन, (घ) सामाजिक एवं शैक्षणिक प्रशासन, (च) कार्मिक समस्या अथवा प्रशासन, (छ) वित्तीय प्रशासन, (ज) प्रतिरक्षा प्रशासन तथा आंतरिक सुरक्षा और (झ) नियोजन।
9. राज्य में राष्ट्रपति शासन के समय संघ सरकार द्वारा अधिक हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए तथा राज्यपाल एवं उसके परामर्शदाताओं को उनकी इच्छानुसार शासन चलाने देना चाहिए। राज्य में लोकायुक्त की नियुक्ति की जानी चाहिए।
10. जिला प्रशासन को दो भागों में विभाजित किया जाए – नियामकीय तथा विकासात्मक। नियामकीय का अध्यक्ष जिला कलेक्टर को होना चाहिए। किसी वरिष्ठ अधिकारी को जिले का विकास अधिकारी नियुक्त किया जाए जो जिला परिषद् का अधिशासी पदाधिकारी हो।

प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिशों का क्रियान्वयन–प्रशासनिक सुधार आयोग की सारी सिफारिशें सरकार ने स्वीकार नहीं की हैं। फिर भी उनमें से कुछ सिफारिशों को क्रियान्वित किया गया है। जैसे– सरकार ने लोकपाल और लोक आयुक्त के प्रति आयोग की सिफारिश को मान लिया। पदाधिकारियों के लिए पृथक कार्मिक विभाग स्थापित कर दिया गया है। आयोग की सिफारिश पर ही 1967 में योजना आयोग और राष्ट्रीय विकास परिषद का पुनर्गठन किया गया।

दूसरा प्रशासनिक सुधार आयोग : 31 अगस्त, 2005

परिणाम–उन्मुखी जवाबदेह और प्रभावी प्रशासनिक व्यवस्था उपलब्ध कराने के उद्देश्य से सरकार ने अगस्त 2005 में कर्नाटक के पूर्व मुख्यमंत्री एम. वीरप्पा मोइली की

टिप्पणी

अध्यक्षता में दूसरे प्रशासनिक आयोग के गठन की घोषणा की गई। कार्मिक व प्रशासनिक सुधार विभाग द्वारा गठित इस दूसरे आयोग में अध्यक्ष सहित छह सदस्य थे। आयोग के अन्य सदस्यों में तमिलनाडु के पूर्व मुख्य सचिव बी. रामचन्द्रन, सीबीआई के पूर्व निदेशक ए.पी. मुखर्जी, अहमदाबाद स्थित भारतीय प्रबंधन संस्थान के ए.एच. कार्लो, पूर्व राजस्व सचिव विनीता राय तथा गैर–सरकारी क्षेत्र से राष्ट्रीय सलाहकार परिषद के सदस्य जय प्रकाश नारायण शामिल किए गए। सरकार द्वारा कहा गया कि, आयोग को 13 मुख्य बिंदुओं के आधार पर प्रचलित प्रशासनिक ढांचे एवं प्रक्रिया में सुधार हेतु अनुशंसाएं देनी हैं, ताकि कुशल, मितव्ययी, स्वच्छ, संवेदनशील, पारदर्शी लोक प्रशासन की दिशा में देश आगे बढ़ सके।

आयोग ने सरकार को सात रिपोर्ट प्रस्तुत की जिनके शीर्षक हैं : 1) सूचना का अधिकार सुशासन की प्रमुख कुंजी, 2) मानव पूंजी को मुक्त करना, 3) आपदा प्रबंधन निराशा से आशा की ओर, 4) शासन में नैतिकता, 5) लोक व्यवस्था, 6) स्थानीय शासन एवं 7) विवादों के समाधान हेतु क्षमता निर्माण।

भारत में प्रशासनिक सुधार और लोक शिकायत विभाग द्वारा किए जा रहे प्रयास

भारत में प्रशासनिक सुधार की दिशा में निम्नांकित कार्य किए जा रहे हैं–

ईगवर्नेंस की शुरुआत : सरकार में सूचना प्रौद्योगिकी का उपयोग करके प्रशासनिक कार्यकुशलता में सुधार लाने के विशिष्ट उद्देश्य से मंत्रिमंडल के सचिव की अध्यक्षता में एक उच्च स्तरीय समिति का गठन किया गया है। साथ ही सूचना प्रौद्योगिकी के प्रबंधकों की सहायता से ई–गवर्नेंस के लिए एक न्यूनतम एजेंडा तैयार किया गया है।

विभिन्न मंत्रालयों/विभागों तथा अन्य सरकारी संगठनों ने अपनी वेबसाइट संस्थापित कर ली है। इससे नागरिकों को सरकार से प्राथमिक सेवाओं की सूचना प्राप्त करने में सहायता मिलेगी।

सरकारी तंत्र में गुणवत्ता – गुणवत्ता की अवधारणा निजी क्षेत्र में व्यापक रूप में लागू की गई है ताकि संगठनों के कार्य निष्पादन में सुधार हो सके और उन्हें प्रतिस्पर्धा में आगे बढ़ने का अवसर मिल सके। इसका प्रमुख लक्ष्य सतत सुधार लाना है। सरकारी संगठनों में समग्र गुणवत्ता प्रबंधन की सार्थकता को नागरिक हितैषी, पारदर्शी और जवाबदेह सरकार की धारणा पर अधिकाधिक जोर देते हुए विशेष स्थान दिया गया है।

प्रशासनिक विधि की समीक्षा : संगठनों की कार्यकुशलता में सुधार लाने की दृष्टि से सरकार ने कानूनों, नियमों और कार्य विधियों के सरलीकरण का कार्य शुरू किया है। अपनी कार्य प्रणाली में पारदर्शिता लाने और सेवा सुपुर्दगी में सुधार करने हेतु सरकार ने मई 1998 में प्रशासनिक कानूनों की समीक्षा से संबंधित एक आयोग का गठन किया था। आयोग ने 30 सितंबर, 1998 को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसकी महत्वपूर्ण

टिप्पणी

सिफारिशों में केंद्रीय कानूनों के लगभग 50 प्रतिशत कानूनों (2,500 में से 1,382) को निरस्त करना, 109 अधिनियमों में शीघ्र संशोधन करना, सभी मंत्रालयों/विभागों द्वारा प्रशासनिक कानूनों का प्रलेखन, एक व्यवहार्य वैकल्पिक विवाद समाधान तंत्र का विकास आदि शामिल हैं।

सूचना और सुविधा पटल : भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों/विभागों/संगठनों में कम्प्यूटरीकृत सूचना और सुविधा पटलों का गठन किया गया है, जिन पर जनता को संबंधित संगठन की योजनाओं एवं कार्यविधियों से संबंधित सूचना और सहायता तथा व्यक्तिगत आवेदनपत्रों की शिकायतों की स्थिति के बारें में जानकारी उपलब्ध कराई जाती है।

सूचना और सुविधा पटल प्रत्येक कार्यालय के सुरक्षा क्षेत्र के बाहर स्थापित किए गए हैं ताकि किसी भी नागरिक को इसके लिए प्रवेश पत्र लेने हेतु परेशान न होना पड़े और उन्हें सूचना एक ही जगह उपलब्ध हो जाए।

भारत में प्रशासनिक सुधार के इतने सारे प्रयासों के बावजूद प्रशासन के बुनियादी ढांचे और कार्य करने की प्रक्रियाओं में कोई मूलभूत अंतर नहीं आ पाया है। स्वतंत्रता के इतने वर्षों बाद भी भारत में प्रशासन बदलाव के लिए बेचैन दिखाई देता है।

अपनी प्रगति जांचिए

9. भारत सरकार ने 5 जनवरी, 1966 को भारतीय प्रशासनिक सुधार आयोग का अध्यक्ष किसको नियुक्त किया?

(क) एम.वीरप्पा मोइली (ख) हनुमंतैया

(ग) बी रामचंद्रन (घ) ए.पी. मुखर्ची

10. दूसरों प्रशासनिक सुधार आयोग के गठन की घोषण कब की गयी?

(क) 25 अगस्त, 2005 (ख) 27 अगस्त, 2005

(ग) 29 अगस्त, 2005 (घ) 31 अगस्त, 2005

5.7 लोकपाल

नागरिक और प्रशासन के संबंधों को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए जन–शिकायत निवारण का अध्ययन आवश्यक है। कौटिल्य का कथन है कि ''प्रजा के सुख में राजा का सुख निहित है तथा प्रजा के कल्याण में ही उसका कल्याण होता है। राजा का निजी हित उसे प्रिय नहीं होता, अपितु प्रजा का हित ही प्रिय होता है।''

किसी भी सभ्य समाज, विशेषकर लोकतांत्रिक समाज, का मुख्य उद्देश्य जनता की खुशहाली, संतोष तथा कल्याण होता है। सच तो यह है कि सरकार की शक्ति जनता की समृद्धि पर निर्भर करती है और जन–संतोष पर ही लोकतंत्र की सुरक्षा तथा स्थायित्व निर्भर है। इस तथ्य के बावजूद साधारण नागरिक उस सेवा तथा व्यवहार से वंचित रहता है, जिसका वह हकदार होता है। लोक प्रशासन की एक कठिन समस्या

यह है कि प्रशासन के सबसे निचले तबके के कर्मचारी नागरिकों के प्रति व्यावहारिक, उत्तरदायी, संवेदनशील तथा शिष्ट नहीं होते, जबकि नागरिकों के साथ इनका सीधा संबंध होता है। इस समस्या का हल अभी तक ढूंढा नहीं जा सका है।

टिप्पणी

भ्रष्टाचार निवारण समिति के प्रतिवेदन (1962) के अनुसार, ''व्यापक अर्थ में शासकीय पद अथवा सार्वजनिक जीवन की किसी विशिष्ट स्थिति में निहित शक्ति एवं प्रभाव का अनुचित और स्वार्थवश उपयोग ही भ्रष्टाचार है।'' किंतु केवल भ्रष्टाचार ही नहीं, शासकीय कर्मचारियों की उदासीनता, अक्षमता, असंवेदनशीलता आदि के कारण भी नागरिकों को कठिनाई का सामना करना पड़ता है। जन–शिकायत दो प्रकार की होती है – सामान्य तथा व्यक्तिगत। सामान्य जन शिकायतें सरकार की नीतियों और कार्यों के विरुद्ध होती हैं। वे समाज के सभी वर्गों पर एकसमान लागू होती हैं। इनके उदाहरण हैं खाद्यान्नों की कमी, मूल्यों में वृद्धि, यातायात में अव्यवस्था, ट्रेनों के आने–जाने में बिलंब आदि। इसके विपरीत, व्यक्तिगत शिकायतें वे हैं, जो व्यक्ति विशेष तक सीमित रहती हैं। ये शिकायतें सरकार के कार्यपालिका अंग के विरुद्ध होती हैं, जिसमें राजनीतिज्ञ वर्ग के लोग और कर्मचारी दोनों शामिल होते हैं। सरकार द्वारा उठाए गए कुछ कदम, शासन की अकर्मण्यता आदि, जिनका प्रभाव व्यक्तिगत रूप से नागरिकों पर पड़ता है, ऐसी शिकायतों के आधार होते हैं। आज का नागरिक शासकीय कर्मचारियों से यह अपेक्षा रखता है कि वे ईमानदार, परिश्रमी, सक्षम, शिष्ट तथा उचित व्यवहार करने वाले हों।

जन शिकायतों में वृद्धि के कारण एवं निवारण–राज्य के उद्देश्यों के स्वरूप में परिवर्तन तथा सरकार के कार्यों में वृद्धि के कारण नागरिकों के दैनिक जीवन में प्रशासन का हस्तक्षेप बढ़ गया है। अब शासकीय क्रियाकलापों का क्षेत्र 'समस्तरीय एवं विषमस्तरीय' दोनों ही हो गया है। प्रशासन की समस्तरीय परिधि के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के कार्य आते हैं, जैसे परमिट जारी करना, आवश्यक सामाग्रियों का वितरण, जनकल्याण सेवा, शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई, यातायात आदि की व्यवस्था, बैंकों और बीमा कर्मचारियों के लिए भविष्य निधि आदि सुविधाओं की व्यवस्था तथा निजी संपत्ति का परिग्रहण अथवा अधिग्रहण आदि। विषमस्तरीय क्षेत्र का अर्थ प्रशासकीय सोपान के उस स्तर से है, जहां से आदेश प्रसारित होते हैं। यहां यह ध्यातव्य है कि ''आदेश हमेशा सर्वोच्च स्तर पर सचिवालय के अधिकारियों द्वारा अथवा मंत्रियों के निर्देश पर ही नहीं दिए जाते, बल्कि जिलाधीशों, उपसंभागीय वरिष्ठ तथा कनिष्ठ अधिकारियों द्वारा भी जारी किए जाते हैं।

सरकार द्वारा नवीन उत्तरदायित्व ग्रहण करने के कारण प्रशासकीय कार्यों में बहुत अधिक वृद्धि हो गई है। विधि आयोग ने अपने चौहदवें प्रतिवेदन में कहा है कि ''प्रशासनिक कार्यों का एक बृहत क्षेत्र ऐसा है, जिसमें प्रशासनिक सत्ताधारी विधि एवं औचित्य की शाब्दिक परिधि के बाहर कार्य कर सकतें है, जिससे पीड़ित नागरिक का कोई प्रभावशाली निवारण नहीं मिल सकता है। प्रशासनिक अधिकारियों को कार्यपालिका के विभिन्न स्तरों की न तो समझ होती है और न चारित्रिक दृढ़ता। जहां शक्ति तथा विकास साथ होते हैं, वहां उनके दुरुपयोग की संभावना भी बनी रहती है, विशेषतः उन परिस्थितियों में जहां उनका उपयोग नियंत्रण तथा लोकनिधि के व्यय के दबाव की पृष्ठभूमि में किया जाता है। प्रशासनिक सोपान के बाहर अपीलीय तथा शिकायतों के

निवारण की व्यवस्थाओं के अभाव में प्रशासनिक अधिकारियों के द्वारा मनमानी करने की प्रवृत्ति में वृद्धि होती गई है।''

टिप्पणी

उक्त तथ्यों के मद्देनजर इस समस्या के निराकरण के नवीन एवं प्रभावकारी उपकरण की खोज प्रारंभ हुई। सन् 1963 से संसद सदस्यों, समाचार पत्रों, विधिवेत्ताओं तथा प्रसिद्व लोकनायकों द्वारा ओम्बुड्समैन सदृश संस्था की स्थापना की मांग लगातार की जाती रही है। संतानम समिति, राजस्थान प्रशासनिक सुधार आयोग (1963) एवं 1966 में गठित केंद्रीय प्रशासकीय सुधार आयोग ने नागरिकों की शिकायतों के निवारणार्थ दो विशिष्ट पदों के सृजन की सिफारिश की। केंद्र तथा राज्यों में मंत्रियों एवं सरकार के सचिवों के प्रशासनिक क्रियाकलापों के विरुद्ध शिकायतों की जांच करने के लिए लोकपाल और केंद्र के अन्य अधिकारियों के प्रशासनिक कार्योंके विरुद्ध शिकायतों पर विचार करने के लिए लोकायुक्त की नियुक्ति की सिफारिश की गई।

5.7.1 लोकपाल का अर्थ एवं उद्देश्य

लोकपाल (ओम्बड्समैन) का शाब्दिक अर्थ वह प्रतिनिधि है, जो सरकार अथवा उसके पदाधिकारियों तथा कर्यों के विरुद्ध जन शिकायतों की जांच करता है। कालांतर में इसे एक संस्था का रूप दिया गया। इसका सर्वप्रथम सृजन 1809 में स्वीडन में किया गया। फिर आगे चल कर सन् 1918 में फिनलैंड तथा 1954 में डेनमार्क ने इसे अपनाया। वर्ष 1967 के मध्य तक संसार के अन्य 12 देशों ने अपने प्रशासनिक ढांचे में इसे शामिल किया। भारत ने 1968 में इसे सिद्धांत रूप में स्वीकार किया, परंतु संविधान में इसे अभी तक कोई स्थान प्राप्त नहीं हो पाया है।

लोकपाल के उद्देश्य – लोकपाल न प्रशासनिक अधिकारी है न न्यायिक, वह लोक निष्ठा का सही रूप में प्रतिनिधि है। वह नीति के क्रियान्वयन के प्रवाह को प्रभावित तो करता है, परंतु उसे नीति निर्धारण में हस्तक्षेप की कोई सुविधा नहीं है। वह जनता के कष्टों को दूर करने वाला तथा उनके हितों का संरक्षक है। उसके प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार हैं–

1. संसद के विश्वास को बनाये रखना।
2. कानून के रक्षक की भावना का प्रतिनिधित्व करना।
3. प्रशासकीय यंत्र की देखभाल करना।
4. जनता में आत्मविश्वास की भावना पैदा करना।

लोकपाल की विशेषताएं – लोकपाल की प्रमुख विशेशताएं निम्नलिखित हैं–

1. यह मंत्रियों तथा लोक सेवकों के व्यवहारों का निरीक्षण कर सकता है।
2. जनता के समक्ष वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करना, जिसमें सरकार की उपलब्धियों से अधिक उसके दोषों का विवरण होता है।
3. संसद की ओर से सरकार के कार्यों का निरीक्षण करना।
4. यह एक सलाहकार समिति है। किसी प्रकार का कोई अनुशासनात्मक कदम स्वयं नहीं उठा सकती।

5. इसे सच्चाई का पता लगाने के लिए प्रत्येक गुप्त दस्तावेज को देखने का अधिकार है।
6. इसका कार्य–क्षेत्र केवल कार्यपालिका तक ही सीमित है।

टिप्पणी

लोकपाल के कार्य – लोकपाल का प्रमुख कार्य नागरिकों की रक्षा करना है। यद्यपि नागरिकों की रक्षा का कार्य न्यायालय करते हैं, किंतु न्यायिक प्रक्रिया इतनी जटिल और मंद है कि साधारणतया नागरिक इसे नहीं अपनाते। संसद भी नागरिकों के कष्टों को दूर करने में बहुत योगदान करती है, परंतु कोई व्यक्ति विशेष निजी शिकायतों की याचिका इसमें प्रस्तुत नहीं कर सकता। ऐसे में उसकी सहायता ओम्बड्समैन की संस्था कर सकती है। यदि सरकार कहीं जनता के हितों के प्रति उदासीन हो जाती है, तो वहां यह संस्था जनहित की रक्षा करती है।

लोकपाल एक ऐसी संस्था है, जिसके भय से लोक सेवक अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने से बचते हैं। यह जनता की शिकायतों को दूर करने का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। इसके कार्यकर्ता भेदभाव पूर्ण व्यवहार नहीं करते। यह संस्था प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था के मानदंड के अनुरूप कार्य करती है तथा उसे उसके कामकाज में सहायता पहुंचाती है। यही कारण है कि नागरिक इसका समर्थन करते हैं।

लोकपाल की तर्ज पर भारत में भी बढ़ते भ्रष्टाचार के मद्देनजर इस तरह के एक पद की कल्पना की गई जिसे लोकपाल या लोकायुक्त की संज्ञा से अभिहित किया गया। वर्ष 1967 में सरकार ने लोकपाल के पद के सृजन के प्रति एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया। उसके पश्चात् वर्ष 1977 से 2001 तक विभिन्न सरकारों ने समय–समय पर लोकपाल विधेयक संसद में प्रस्तुत किए। लेकिन विभिन्न कारणों से इनमें से कोई भी विधेयक आज तक पारित नहीं हो पाया है।

लोकपाल की आलोचना

इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रशासनिक भ्रष्टाचार को समाप्त करने की दिशा में लोकपाल की नियुक्ति एक अच्छा कदम है, परंतु भारत में यह अपने उद्देश्य में सफल होगा इसमें अभी भी संदेह है। इसकी आलोचना निम्नलिखित तर्कों के आधार पर की जाती है–

1. लोकपाल का महत्व यूरोप के छोटे देशों में बहुत है, परंतु भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले देश में लोकपाल के समक्ष अपार संख्या में भ्रष्टाचार की शिकायतें पेश हो सकती हैं, जिनके आधार पर कार्यवाही करना तो दूर, लोकपाल के लिए उनकी जांच करना भी कठिन हो सकता है।
2. जांच कार्यों के लिए भी लोकपाल को कार्यपालिका पर निर्भर रहना पड़ेगा। ऐसे में निष्पक्ष जांच की आशा नहीं की जा सकती।
3. अपने निर्णयों के क्रियान्वयन के लिए भी लोकपाल को कार्यापालिका की मशीनरी का ही सहारा लेना पड़ेगा, जो अपनी नौकरशाही के विरुद्ध कोई कठोर कदम उठाएगी इसमें संदेह है।
4. लोकपाल द्वारा जांच का कार्य बंद कमरे में किया जाएगा, सार्वजनिक रूप से नहीं। इससे पारदर्शिता नहीं रह जाएगी जिसका नकारात्मक संकेत जनता के बीच जा सकता है।

5. लोकपाल के पास अपनी अभियोजन एजेंसी न होने के कारण भी उसके कार्य में व्यवधान उत्पन्न होगा।

टिप्पणी

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए यह कहना कठिन है कि भारत जैसे देश में, जहां भ्रष्टाचार प्रशासन में ऊपर से नीचे तक व्यापक रूप में विद्यमान है, लोकपाल की संस्था भ्रष्टाचार को दूर करने में सफल होगी। उसके लिए यह कार्य असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

5.7.2 संसद में प्रस्तुत विभिन्न लोकपाल विधेयकों की विवेचना

भारत में लोकपाल अथवा लोकायुक्त के पद के सृजन के लिए समय–समय पर अनेक प्रयत्न किए गए। वर्ष 1967 में भारतीय प्रशासनिक सुधार आयोग ने अपनी रिपोर्ट में ओम्बड्समैन जैसी संस्था की स्थापना की सिफारिश की। इस पर सरकार ने वर्ष 1968 में इसका प्रस्ताव संसद में प्रस्तुत किया, जिसे बाद में विचारार्थ संसद की संयुक्त समिति को प्रेषित कर दिया गया। समिति ने अप्रैल, 1969 में लोकपाल तथा लोकायुक्त की सिफारिश की। लोकसभा द्वारा स्वीकार कर लिए जाने के पश्चात् इसे राज्यसभा में भेजा गया। परंतु इस बीच 27 दिसंबर, 1970 को संसद भंग हो गई और प्रस्ताव स्वतः ही समाप्त हो गया। उसके पश्चात् समय–समय पर इस दिशा में प्रयत्न किए गए परंतु उनका कोई स्पष्ट परिणाम नहीं निकल पाया। वर्ष 1977 से पुनः लोकपाल विधेयकों का सिलसिला प्रारंभ हुआ जिसका विवरण निम्नांकित है–

लोकपाल विधेयक (1977) – जुलाई 1977 में जनता सरकार ने लोकसभा में यह विधेयक प्रस्तुत किया, जिसमें लोकपाल को प्रधानमंत्री के विरुद्ध भी भ्रष्टाचार के आरोपों की जांच का अधिकार दिए जाने और जांच के लिए लोकपाल की अपनी प्रशासनिक व्यवस्था की सिफारिश की गई। परंतु इस विधेयक के पारित होने से पहले ही लोकसभा भंग हो गई।

लोकपाल विधेयक (1985) – प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने 26 अगस्त, 1985 को नया लोकपाल विधेयक लोकसभा में प्रस्तवित किया। इस विधेयक की कटु आलोचना हुई क्योंकि इसमें प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, राज्यपाल, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश, मुख्य चुनाव आयुक्त, संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष व सदस्य तथा सांसदों को लोकपाल के अधिकार क्षेत्र से बाहर रखे जाने की सिफारिश की गई थी। इस आलोचना के कारण सरकार ने समीक्षा के पश्चात एक नया विधेयक लाने का आश्वासन देकर विधेयक वापस ले लिया।

लोकपाल विधेयक (1986) – राष्ट्रीय मोर्चा सरकार की ओर से दिसंबर, 1986 में फिर लोकपाल विधेयक पेश किया गया। यह अब तक प्रस्तुत लोकपाल विधेयकों से इन बातों में भिन्न था इसमें एक सदस्य के स्थान पर तीन सदस्यों को शामिल करने की सिफारिश की गई थी – एक अध्यक्ष और दो सदस्य। साथ ही इसमें प्रधानमंत्री को भी लोकपाल के दायरे में लाने की सिफारिश की गई थी। परंतु कुछ कारणों से यह विधेयक भी अधिनियम का रूप ले सका।

टिप्पणी

लोकपाल विधेयक (1996) – 13 सितंबर 1996 को तत्कालीन देवगौड़ा सरकार ने भी लोकपाल विधेयक प्रस्तुत किया, परंतु 4 दिसंबर, 1997 को लोकसभा के भंग हो जाने का कारण यह भी समाप्त हो गया।

लोकपाल विधेयक (1998) – प्रधानमंत्री अटल बिहारी बाजपेयी द्वारा 3 अगस्त, 1998 को फिर से लोकपाल विधेयक प्रस्तुत किया गया, जिसे लोक सभा ने उस पर विचार करने के लिए संसद की स्थायी समिति को भेज दिया। समिति ने अपनी रिपोर्ट 25 फरवरी, 1999 को प्रस्तुत की। किंतु 26 अप्रैल, 1999 को लोकसभा के भंग हो जाने के कारण इस विधेयक का भी अंत हो गया।

लोकपाल विधेयक (2001) – अंतिम बार 14 अगस्त 2001 को तत्कालीन प्रधानमंत्री बाजपेयी ने पुनः लोकपाल विधेयक सदन में प्रस्तुत किया, किंतु यह भी पारित नही हो सका।

- वर्ष 2002 में एम. एन. वेंकटचलैया की अध्यक्षता में संविधान की कार्यप्रणाली की समीक्षा के लिये गठित आयोग ने लोकपाल व लोकायुक्तों की नियुक्ति की सिफारिश करते हुए प्रधानमंत्री को इसके दायरे से बाहर रखने की बात कही।
- वर्ष 2005 में वीरप्पा मोइली की अध्यक्षता में द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग ने सिफारिश की कि लोकपाल का पद जल्द–से–जल्द स्थापित किया जाए।
- वर्ष 2011 में सरकार ने प्रणब मुखर्जी की अध्यक्षता में मंत्रियों का एक समूह भ्रष्टाचार पर लगाम लगाने हेतु सुझाव देने तथा लोकपाल विधेयक के प्रस्ताव का परीक्षण करने के लिये गठित किया।
- अन्ना हजारे के नेतृत्व में 'भ्रष्टाचार के विरुद्ध भारत आंदोलन' ने केंद्र में तत्कालीन UPA सरकार पर दवाब बनाया और इसके परिणामस्वरूप संसद के दोनों सदनों में लोकपाल व लोकायुक्त विधेयक, 2013 पारित हुआ।
- 1 जनवरी, 2014 को राष्ट्रपति ने इसे अपनी सम्मति दे दी और 16 जनवरी, 2014 को यह लागू हो गया।

5.7.3 लोकपाल और लोकायुक्त अधिनियम, 2013

लोकपाल और लोकायुक्त अधिनियम, 2013 कुछ सार्वजनिक कार्यकारियों के खिलाफ भ्रष्टाचार के आरोपों की जांच करने और संबंधित मामलों के लिए राज्यों के लिए संघ और लोकायुक्त के लिए लोकपाल की स्थापना का प्रावधान करना चाहता है। यह अधिनियम जम्मू और कश्मीर सहित पूरे भारत में फैला हुआ है और भारत के भीतर और बाहर 'लोक सेवकों' पर लागू है। अधिनियम में राज्यों के लिए संघ और लोकायुक्त के लिए लोकपाल के निर्माण का प्रावधान है।

- 2013 का अधिनियम यह भी प्रावधान करता है कि सभी राज्य सरकारें इस अधिनियम के लागू होने के एक साल के अंदर लोकायुक्त का पद स्थापित करें।

यह विधेयक 22 दिसंबर, 2011 को लोकसभा में पेश किया गया था और 27 दिसंबर को लोकपाल और लोकायुक्त विधेयक, 2011 के रूप में सदन द्वारा पारित किया

टिप्पणी

गया था। बाद में इसे 29 दिसंबर को राज्यसभा में पेश किया गया। मैराथन बहस के बाद, समय की कमी के कारण वोट नहीं हो पाया। 21 मई, 2012 को, इसे विचार के लिए राज्य सभा की प्रवर समिति को भेजा गया। पहले विधेयक और लोकसभा में अगले दिन कुछ संशोधन करने के बाद इसे 17 दिसंबर, 2013 को राज्यसभा में पारित किया गया था। इसे 1 जनवरी, 2014 को राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी से स्वीकृति मिली और यह 16 जनवरी से लागू हुआ।

लोकपाल की संस्था भारतीय राजनीति के इतिहास में एक ऐतिहासिक कदम रही है, लोकपाल और लोकायुक्त अधिनियम 2013 ने भ्रष्टाचार के कभी न खत्म होने वाले खतरे का मुकाबला करने के लिए एक उत्पादक समाधान की पेशकश की है।

लोकपाल एवं लोकायुक्त (संशोधन) विधेयक, 2016

- लोकपाल एवं लोकायुक्त अधिनियम, 2013 को संशोधित करने के लिये यह विधेयक संसद ने जुलाई 2016 में पारित किया।
- इसके द्वारा यह निर्धारित किया गया कि विपक्ष के मान्यता प्राप्त नेता के अभाव में लोकसभा में सबसे बड़े एकल विरोधी दल का नेता चयन समिति का सदस्य होगा।
- इसके द्वारा वर्ष 2013 के अधिनियम की धारा 44 में भी संशोधन किया गया जिसमें प्रावधान है कि सरकारी सेवा में आने के 30 दिनों के भीतर लोकसेवक को अपनी संपत्तियों और दायित्वों का विवरण प्रस्तुत करना होगा।
- संशोधन विधेयक के द्वारा 30 दिन की समय–सीमा समाप्त कर दी गई, अब लोकसेवक अपनी संपत्तियों और दायित्वों की घोषणा सरकार द्वारा निर्धारित रूप में एवं तरीके से करेंगे।
- यह ट्रस्टियों और बोर्ड के सदस्यों को भी अपनी तथा पति/पत्नी की परिसंपत्तियों की घोषणा करने के लिये दिये गए समय में भी बढ़ोतरी करता है, उन मामलों में जहां वे एक करोड़ रुपये से अधिक सरकारी या 10 लाख रुपये से अधिक विदेशी धन प्राप्त करते हों।

प्रथम लोकपाल की नियुक्ति, 2019

सुप्रीम कोर्ट के पूर्व न्यायाधीश पिनाकी चंद्र घोष 19 मार्च, 2019 को अन्य आठ सदस्यों सहित अपनी नियुक्ति के साथ देश के पहले लोकपाल बने।

लोकायुक्त

केंद्र में लोकपाल की तरह ही राज्यों में लोकायुक्त नामक संस्था कि स्थापना की गई है। महाराष्ट्र इस काम में सबसे आगे है। उसके बाद मध्य प्रदेश और फिर राजस्थान में उसकी स्थापना की गई। राजस्थान में प्रदेश के मंत्रियों, लोक सेवकों, जिला परिषदों के अध्यक्षों आदि के खिलाफ शिकायत मिलने पर लोकायुक्त जांच कर सकता है। इसी तरह बिहार सहित अधिकांश राज्यों में लोकायुक्त की व्यवस्था की जा चुकी है।

टिप्पणी

विशेषताएं : लोकायुक्त की प्रमुख विशेषताओं का विवरण निम्नांकित है–

1. लोकायुक्त की नियुक्ति राज्यपाल के द्वारा उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश एवं विरोधी दल के नेता के परामर्श से की जाती है।
2. लोकायुक्त के वेतन, भत्ते तथा सेवा की शर्तें लगभग वही होती हैं जो राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की होती हैं। अन्य सदस्यों के वेतन, भत्ते एवं सेवा की शर्तें उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के समान होती हैं।
3. राज्यों में लोकायुक्त के लिए अलग सचिवालय एवं प्रशासन की वयवस्था की गई है।
4. लोकायुक्त अपने दैनिक कार्यों और निर्णयों के प्रति पूर्णतः स्वतंत्र और निष्पक्ष होते हैं। उन पर सरकार का किसी तरह का आंतरिक या बाह्य नियंत्रण नहीं होता।
5. इनका कार्यकाल पांच वर्ष का होता है।
6. इन्हें हटाए जाने की प्रक्रिया प्रायः वही है जो राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को हटाए जाने की है।
7. लोकायुक्त राज्यपाल को हर वर्ष अपने कार्यों से संबंधित एक प्रतिवेदन देता है, जिसे राज्यपाल विधानमंडल के दोनों सदनों में प्रस्तुत करता है।

इस तरह, केंद्र में लोकपाल के लिए निर्धारित अधिकारों और कर्तव्यों की तरह ही राज्य में राज्य सरकार की सीमा के भीतर लोकायुक्त को भी कुछ अधिकार और कर्तव्य दिए गए हैं, जिनका उपयोग वह राज्य प्रशासन के पदाधिकारियों की भ्रष्टाचार के विरुद्ध शिकायतों को दूर करने में कर सकता है।

आलोचनाएं : लोकपाल एवं लोकायुक्त की कुछ त्रुटियां भी हैं जिनकी विभिन्न विद्वानों ने अपने–अपने ढंग से आलोचनाएं की हैं। इन विद्वानों के तर्कों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

1. लोकपाल और लोकायुक्त की व्यवस्था से भारतीय न्यायापालिका की उपेक्षा होगी।
2. ये संस्थाएं भारतीय संविधान की मान्यताओं से मेल नहीं खातीं।
3. भारत जैसे विशाल देश में समस्याएं अपरंपार हैं और लोकपाल का पद केवल एक है। ऐसे में सभी समस्याओं के निदान की संभावनाएं क्षीण हैं।
4. वर्ष 1990 के अधिनियम के अनुसार लोकपाल की नियुक्ति प्रधानमंत्री की सलाह पर राष्ट्रपति द्वारा करने की व्यवस्था है। स्वाभाविक है कि प्रधानमंत्री अपने समर्थक को ही यह पद देना चाहेगा और वह प्रधानमंत्री के विरुद्ध निष्पक्षता से जांच नहीं कर सकेगा।
5. यह एक विदेशी प्रणाली है जो हमारे देश के अनुकूल नहीं है।
6. लोकपाल के पद को सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के समकक्ष करने से दोनों के मध्य तनाव उत्पन्न हो सकता है।

7. विभिन्न राज्यों के लोकायुक्तों के क्षेत्राधिकारों में अंतर है।
8. लोकपाल को प्रधानमंत्री की जांच का अधिकार है लेकिन लोकायुक्त को मुख्य मंत्री के विरुद्ध जांच का अधिकार नहीं है।

टिप्पणी

इस प्रकार लोकपाल और लोकायुक्त संस्थाओं की अपने–अपने गुण और अपने–अपने दोष हैं। दोषों के बावजूद आशा की जा सकती है कि इनकी स्थापना से जनता की शिकायतों का निवारण सरल हो जाएगा। लोक जीवन से भ्रष्टाचार मिटाने में ये संस्थाएं अहम भूमिका का निर्वाह कर सकती हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

11. जनता सरकार ने लोकसभा में लोकपाल विधेयक किस सन् में प्रस्तुत किया?

(क) सन् 1970 (ख) सन् 1977

(ग) सन् 1978 (घ) सन् 1979

12. प्रथम लोकपाल की नियुक्ति कब हुई?

(क) 19 मार्च 2017 (ख) 19 मार्च 2018

(ग) 19 मार्च 2019 (घ) 19 मार्च 2020

5.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (घ)
2. (क)
3. (घ)
4. (ख)
5. (घ)
6. (ग)
7. (ग)
8. (घ)
9. (ख)
10. (घ)
11. (ख)
12. (ग)

5.9 सारांश

विधायिका के नियंत्रण को संसदीय नियंत्रण भी कहते हैं। इसलिए कि शासन की चाहे कोई प्रणाली क्यों न हो प्रशासन पर संसद का किसी न किसी रूप में नियंत्रण अवश्य

होता है। जहां पर संसदीय शासन पद्धति को अपनाया जाता है वहां पर नियंत्रण और भी महत्वपूर्ण व प्रभावी हो जाता है।

टिप्पणी

लोक सभा अध्यक्ष द्वारा ऐसे ध्यानाकर्षण प्रस्ताव को स्वीकार कर लेने के बाद सरकार को उसका उत्तर देना पड़ता है। यदि उस प्रश्न का उत्तर तुरंत सरकार नहीं दे पाती है तो वह संसद से थोड़ा समय मांग सकती है।

व्यवस्थापिका केवल संगठन की विस्तृत रूपरेखा ही निश्चित करती है, संगठन के आंतरिक स्वरूप का निर्धारण करने का कार्य तो कार्यपालिका पर छोड़ दिया जाता है। कार्यपालिका ही संगठन की रूपरेखा बनाती है जिनके द्वारा नीति के लक्ष्य पूरे किए जाते हैं।

प्रजातांत्रिक देशों में न्यायपालिका नागरिक अधिकारों और स्वतंत्रताओं की रक्षा करती है। न्यायपालिका इस बात पर भी नजर रखती है कि प्रशासकीय अधिकारी अपनी सीमाओं में रहकर कार्य करें। प्रशासकीय अधिकारी किसी नागरिक पर अत्याचार करते हैं तो उसकी शिकायत की न्यायालय में सुनवाई होती है।

जनसंपर्क (पब्लिक रिलेशन्स) का सीधा अर्थ है जनता से संपर्क। जनसंपर्क वह प्रक्रिया है जो एक उद्देश्य से व्यक्ति या वस्तु की छवि, महत्व एवं विश्वास को समूह अथवा समाज में स्थापित करने में सहायक सिद्ध होती है। जनसंपर्क किसी भी व्यावसायिक संगठन के लिए एक अत्यधिक आवश्यक तत्व है क्योंकि कोई भी संगठन या संस्थान लोगों की धारणा जानने तथा उनकी प्रतिक्रियाओं का उन्मूलन करने में जनसंपर्क विभाग पर ही निर्भर होता है क्योंकि किसी भी संस्थान की कुशलता, विकास तथा प्रगति के लिए यह जानना आवश्यक है कि लोकशक्ति किस सीमा तक उसके अनुकूल है।

देश की प्रशासनिक व्यवस्था की जांच करने हेतु 5 जनवरी, 1966 को भारत सरकार ने भारतीय प्रशासनिक सुधार आयोग की नियुक्ति की। श्री मोरारजी देसाई को आयोग के अध्यक्ष नियुक्त किया गया। किंतु उनके संघीय मंत्रिमंडल में शामिल होने पर श्री के. हनुमंतैया को इसका अध्यक्ष नियुक्त किया गया।

लोकपाल और लोकायुक्त अधिनियम, 2013 कुछ सार्वजनिक कार्यकारियों के खिलाफ भ्रष्टाचार के आरोपों की जांच करने और संबंधित मामलों के लिए राज्यों के लिए संघ और लोकायुक्त के लिए लोकपाल की स्थापना का प्रावधान करना चाहता है। यह अधिनियम जम्मू और कश्मीर सहित पूरे भारत में फैला हुआ है और भारत के भीतर और बाहर 'लोक सेवकों' पर लागू है।

5.10 मुख्य शब्दावली

- **जनसंपर्क** : जन संचार के माध्यम से जनता से संपर्क बनाने की प्रक्रिया।
- **प्रचार** : किसी संस्था या इसके उत्पादों के बारे में लोगों को जानकारी देना, जिसमें संदेश देने के लिए संगठन द्वारा किसी प्रकार का कोई भुगतान नहीं किया जाता है।

- **प्रशासनिक सुधार** : प्रशासन में परिवर्तन का सृजनात्मक प्रयत्न।
- **लोकपाल** : उच्च सरकारी पदों पर आसीन व्यक्तियों के भ्रष्टाचार की शिकायतें सुनने एवं उस पर कार्यवाही करने के निमित्त पद।

टिप्पणी

5.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. कार्यपालिका द्वारा किन साधनों का प्रयोग प्रशासन पर नियंत्रण करने के लिए किया जाता है?
2. जनसंपर्क से आप क्या समझते हो?
3. जनसंपर्क का महत्व संक्षेप में समझाइए।
4. प्रशासनिक सुधार से क्या तात्पर्य है?
5. लोकपाल के मुख्य उद्देश्य बताइए।
6. लोकपाल की तीन विशेषताएं बताइए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. लोक प्रशासन के विधायी उत्तरदायित्व एवं उसके आधार को स्पष्ट कीजिए।
2. लोक प्रशासन में प्रशासन के नियंत्रण संबंधी समस्याओं एवं कमियों पर प्रकाश डालिए।
3. लोक प्रशासन के कार्यकारी उत्तरदायित्व का वर्णन कीजिए।
4. लोक प्रशासन के न्यायिक उत्तरदायित्व, उसके आधार एवं नियंत्रण के रूप को स्पष्ट कीजिए।
5. जन संपर्क के अर्थ को स्पष्ट करते हुए इसके मुख्य उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।
6. प्रसाशनिक सुधार को समझते हुए इसकी प्रमुख समितियों व उनके प्रतिवेदनों का उल्लेख कीजिए।
7. लोकपाल एवं लोकायुक्त की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए।

5.12 सहायक पाठ्य सामग्री

Pfiffner, J.M. *Public Administration*, New York: The Ronald Company, 1946.

Waldo, D. *The Study of Public Administration*, New York: Random House, 1967.

Riggs, F.W. *The Ecology of Public Administration*, New York: Asia Publishing House, 1961.

Maheshwari, S.R. *Theories and Concepts in Public Administration*, New Delhi: Allied Publishers Ltd., 1991.